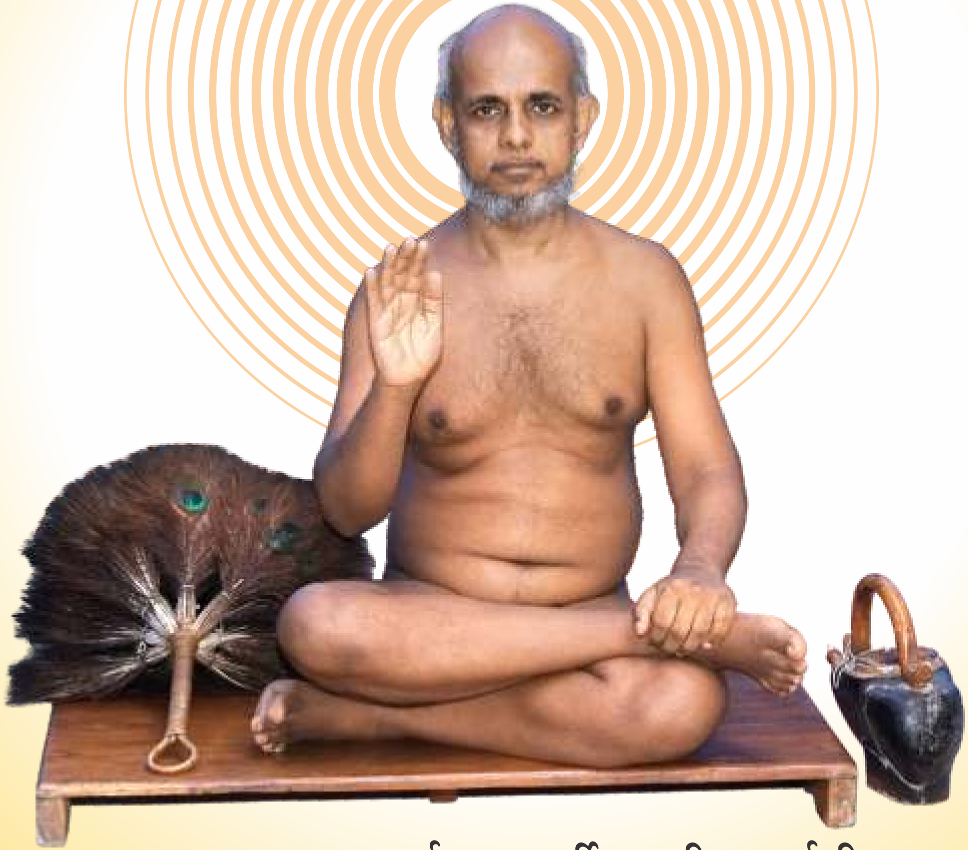

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

ॐ

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्

(द्वितीय खण्ड)

हिन्दीभाषानुवादिका
पूज्य गणिनी आर्यिका 105 श्री सुपार्श्वमती माताजी

स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेंट

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

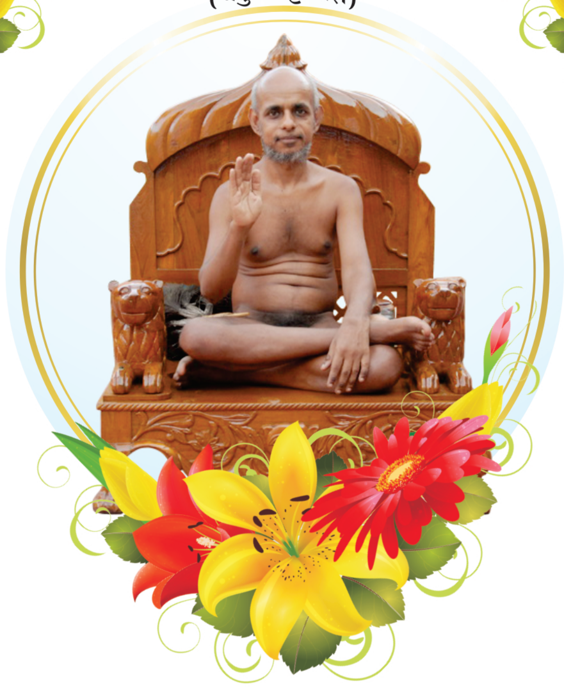

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

महर्षिविद्यानन्दविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः

卐

द्वितीय खण्ड

卐

हिन्दीभाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचित

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कार

(द्वितीय खण्ड)

卐

हिन्दी भाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

卐

प्रकाशक :

गुलाबचन्द सुरेशकुमार पाटनी

गुवाहाटी (असम)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः
(द्वितीय खण्ड)

रचयिता : महर्षि विद्यानन्द

हिन्दी अनुवादकर्त्री : गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

सम्पादक : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

अर्थसहयोग : श्रीयुत गुलाबचन्द सुरेशकुमार पाटनी, गुवाहाटी

प्राप्तिस्थान : चूड़ीवाल फार्म हाउस
ओमेक्स सिटी के सामने, जयपुर

संस्करण : प्रथम, ५०० प्रतियाँ

प्रकाशन तिथि : अक्षय तृतीया, वि.सं. २०६६

मूल्य : १५०) रुपये

संकल्पना : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर ✆ ०२९१-२४४०५७८

मुद्रक : हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर ✆ ०२९१-२४३३३४५

आर्यिकाश्री के दीक्षागुरु

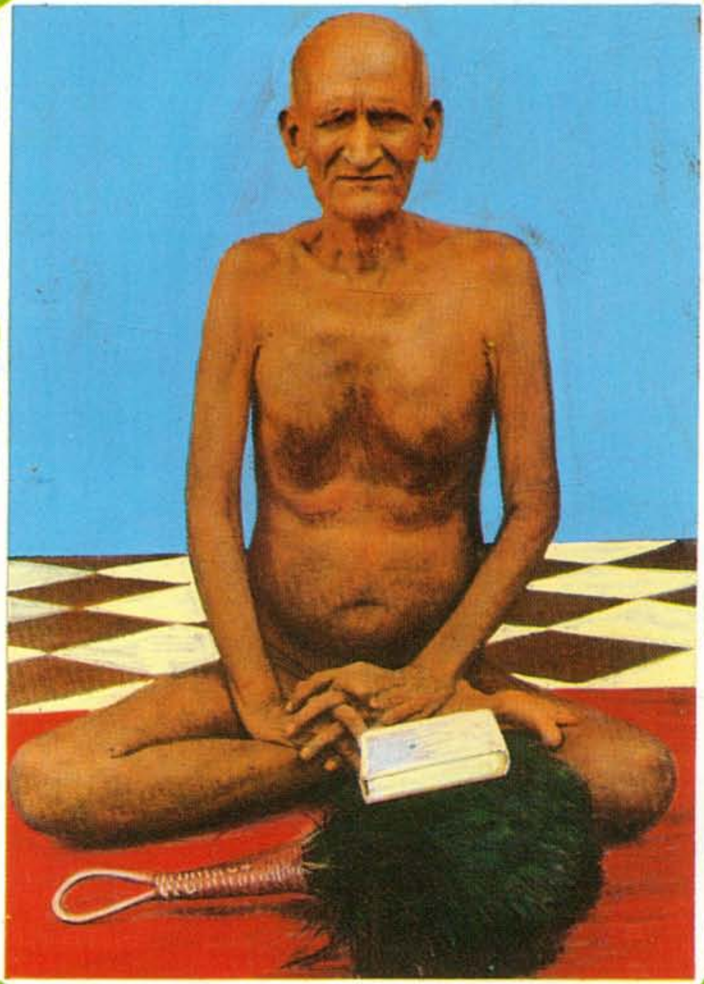

परम पूज्य (स्व.) आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज

स्वात्मैकनिष्ठं नृसुरादिपूज्यं, षड्जीवकायेषु दयार्द्रचित्तं।
श्रीवीरसिन्धुं भववार्धिपोतं, तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या॥

जिनशासनप्रभाविका, सिद्धान्तसंरक्षिका, तपोनिधि अध्यात्ममूर्ति

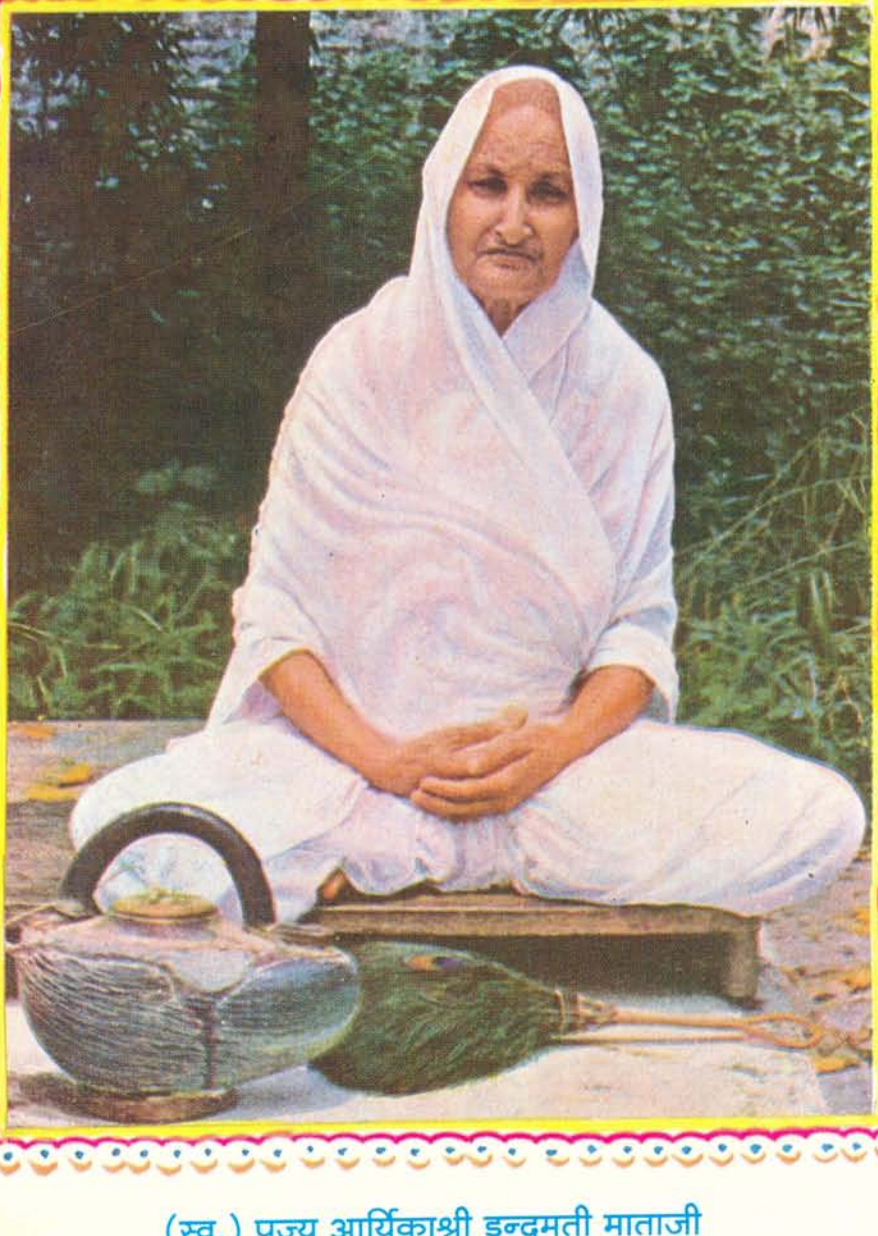

(स्व.) पूज्य आर्यिकाश्री इन्दुमती माताजी

जन्म	आर्यिका दीक्षा	समाधि
वि. सं. १९६२	वि. सं. २००६	वि. सं. २०४२
डेह (नागौर) राज.	नागौर (राज.)	सम्मेदशिखर (बिहार)

प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुवादिका

आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी

जंन्म	आर्यिका दीक्षा	गणिनी पद
वि. सं. १९८५	वि. सं. २०१४	वि. सं. २०४३
मैनसर-नागौर (राज.)	खानिया-जयपुर	कानकी (बिहार)

卐 प्रस्तुति 卐

पूज्य आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी कृत मूलानुगामी हिन्दी अनुवादसहित **तत्त्वार्थश्लोक वार्त्तिकालङ्कार** का **दूसरा खण्ड** पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है।

श्री उमास्वामिकृत **तत्त्वार्थसूत्र** एक सैद्धान्तिक सूत्र ग्रन्थ है जिसे न्यायशास्त्र की युक्तियों की कसौटी पर कस कर और परवादियों की शङ्काओं का समीचीन समाधान करते हुए **टीकाकार आचार्य महर्षि विद्यानन्द स्वामी** ने **'तत्त्वार्थचिन्तामणि'** टीका के रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य विद्यानन्द जैन श्रुत परम्परा के परम प्रभावक आचार्य हैं। उनके द्वारा प्रणीत **अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा और तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार** ग्रन्थ श्रुताकाश के दीप्तिमान नक्षत्र हैं जो जैन तत्त्वज्ञान की निर्दोषता को प्रकाशित करने में पूर्ण समर्थ हैं।

प्रस्तुत खण्ड का प्रमेय

प्रथम खण्ड में 'तत्त्वार्थसूत्र' के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक तक का प्रकरण है जिसमें मोक्ष के उपाय के सम्बन्ध में तर्कपूर्ण पद्धति से विचार किया गया है। प्रथम खण्ड में केवल प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' का ही विस्तृत विवेचन है। इस **द्वितीय खण्ड** में दूसरे सूत्र से आठवें सूत्र तक के विषयों का अर्थात् द्वितीय आह्निक पर्यन्त सूत्रों का गम्भीर विवेचन है। टीकाकार महर्षि ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्त्वों का स्वरूप और भेद, निक्षेपों का कथन, निर्देशादि पदार्थ-विज्ञानों का विस्तार, सत्संख्या तत्त्वज्ञान के साधन आदि पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। प्रसंगवश सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में बहुत गहराई से विचार किया गया है। इतना गहन गम्भीर विश्लेषण अन्यत्र देखने में नहीं आता।

सूत्र २ : सम्यग्दर्शन का निरुक्तिपरक अर्थ है- भली प्रकार से देखना। यह सूत्रकार को इष्ट नहीं। अतः उन्होंने तत्त्वार्थों का श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा है। इस श्रद्धान के होने पर ही देवदर्शन करना भी मोक्षमार्ग में सहायक है, अन्यथा नहीं। पूर्ण वस्तुरूप तत्त्व को जानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है, अकेले अर्थ और अकेले तत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन नहीं है। जिन वास्तविक स्वभावों सहित पदार्थ विद्यमान है उन्हीं स्वभावों सहित श्रद्धान किये जाने पर वह तत्त्वार्थ है। सम्यक् पद मूढ, संदिग्ध और विपरीत श्रद्धानों का निवारण करने वाला है। श्रद्धान और ज्ञान दोनों आत्मा के ही स्वतंत्र गुण हैं। सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं सराग और वीतराग। पहला चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक और दूसरा सिद्ध अवस्था तक पाया जाता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन चार गुणों से सराग सम्यक्त्व का अनुमान कर लिया जाता है। सम्यग्दर्शन का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पूर्णतया अनुभव नहीं हो पाता है।

वस्तुत: तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म गुण है। वह सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय नहीं है। ऐसी दशा में मतिज्ञान के भेदस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से वह नहीं जाना जा सकता है। वीतराग पुरुष अपने वीतराग सम्यक्त्व को स्वसंवेदन से जान लेते हैं या वह केवलज्ञान के द्वारा जाना जाता है। वीतराग सम्यक्त्व का अनुमान नहीं हो सकता है। सर्व ही सराग सम्यग्दर्शनों का अनुमान हो ही जावे, यह नियम नहीं है, वीतराग सम्यग्दर्शन का ज्ञान कर लेना तो दुस्साध्य है, प्रत्यक्षदर्शी उसको जानते हैं।

श्रद्धान जड़ पदार्थों का गुण नहीं है। श्रद्धान को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से चेतनात्मकपना सिद्ध है। ज्ञान चेतन स्वरूप है। आत्मा के सम्पूर्ण गुणों में चेतना से अन्वितपना पाया जाता है। अखण्ड आत्मा के गुणों का परस्पर में तदात्मक एक रस हो रहा है।

सूत्र ३ : सम्यग्दर्शन नित्य नहीं है, वह अपने कारणों से उत्पन्न होता है। अत: सबसे पहले आचार्यश्री ने सम्यग्दर्शन के नित्यपने, नित्यहेतुकपने और अहेतुकपने का निराकरण किया है। सभी सम्यग्दर्शनों के निसर्ग और अधिगम दोनों हेतु बन जाते हैं। परोपदेश के बिना जिनबिम्ब आदि से हुए तत्त्वार्थज्ञान को अधिगम निर्णीत किया है। निसर्ग का अर्थ स्वभाव नहीं है। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व रहे ज्ञान को सामान्य ज्ञान कहा गया है। यहाँ आचार्यश्री ने सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की समीचीनता को विद्वत्तापूर्वक परिपुष्ट किया है। इसके बाद सभी सम्यग्दर्शनों के निसर्गजत्व के एकान्त का निराकरण किया है और बताया है कि कारणों के बिना मोक्ष, सुख, सम्यग्दर्शन आदि कोई भी कार्य निष्पन्न नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के अन्तरंग और बहिरंग कारणों का व्याख्यान करके अनुमान के द्वारा उपशमादिक को सिद्ध किया है। विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप निमित्तों से अनेक योग्य नैमित्तिक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। निकट भव्य, दूरभव्य, अभव्य जीवों को स्वर्ण पाषाण और अन्ध पाषाण के दृष्टान्त से सिद्ध किया है।

सूत्र ४ : मोक्षार्थी के लिए सात ही तत्त्व श्रद्धेय हैं। ग्रन्थकर्ता आचार्यश्री ने सयुक्ति इस तथ्य की स्थापना की है कि मुमुक्षु को सात ही तत्त्व उपयोगी हैं; दो, छह, आदि नहीं। पुण्य और पाप पदार्थों को बन्ध और आस्रव तत्त्व का ही भेद माना है। जीवादिक शब्दों की निरुक्ति करके उनके क्रम का औचित्य सिद्ध किया है। आचार्यश्री ने कहा है कि तत्त्वों का उपदेश जीव के लिए ही है। इसके बाद अजीव, आस्रव आदि के निरूपण में स्वरस बतलाया है।

अनन्तर विशिष्टाद्वैतवादियों के परब्रह्मरूप एक जीवतत्त्व के ही एकान्त का अनेक युक्तियों से खण्डन कर अनेक जीवों को सिद्ध करते हुए शुद्धाद्वैतवादियों के प्रति भी अनेक सन्तानों को सिद्ध करा दिया है। अद्वैतवादियों के अनुमान, आगम और प्रत्यक्ष का प्रतिविधान कर अनेकत्व को सिद्ध करने वाले, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमों का समीचीनपना दर्शाया है। चेतनात्मक पदार्थों का सर्वज्ञ और स्वव्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य जीव को प्रत्यक्ष नहीं होता है। उपेय से उपाय भिन्न है। वचन, प्रतिपाद्य का शरीर, लिपिअक्षर, घट आदि बहिरिन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। अत: ये सब अजीव हैं। इसके आगे जीव को न मानकर

अकेले जड़तत्त्व को ही मानने वाले चार्वाक का खण्डन किया है। कई वादी आस्रव तत्त्व को नकारते हैं कि व्यापक आत्मा के कोई क्रिया नहीं हो सकती। जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी है। वह लोकालोक में व्यापक नहीं है अत: अव्यापक आत्मा में क्रिया हो जाने से क्रिया रूप आस्रव तत्त्व की सिद्धि होती है। बन्ध होना आत्मा का विभावभाव है। संसारी जीव निर्लेप नहीं है। वह बहिरंग पुद्गल से बँध कर तन्मय हो रहा है। इसके आगे संवर और निर्जरा जो अकेले जीव के ही भाव हैं, उनका वर्णन है। बन्ध के समान मोक्ष को भी जीव-पुद्गल दोनों का धर्म बताया है। मोक्षार्थी को इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान करना चाहिए। यहाँ आचार्यश्री ने नैयायिकों और वैशेषिकों द्वारा मान्य तत्त्वों को युक्तिपूर्वक मोक्ष की सिद्धि में अमान्य किया है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो धर्मी हैं। आस्रव तत्त्व अशुद्ध द्रव्य का गुण है, शेष तत्त्व पर्यायें हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय के अतिरिक्त जगत् में कोई अन्य पदार्थ नहीं है। सहभावी और क्रमभावी पर्यायों का अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है।

सूत्र ५ : पाँचवें सूत्र में चार निक्षेपों का कथन है। संज्ञाकरण को नाम कहते हैं जिसके अनेक भेद हैं। नाम निक्षेप की उत्पत्ति में वक्ता का अभिप्राय निमित्त है। इस सम्बन्ध में बौद्धों, मीमांसकों, वैयाकरणों, द्रव्यपदार्थवादियों, शब्दाद्वैतवादियों की शंकाओं व युक्तियों का बड़ी विद्वत्ता के साथ निराकरण करके शब्दजन्य ज्ञान की प्रमाणता बतायी है। शब्द का वाच्य विषय वस्तुभूत है जो जाति और व्यक्ति से तादात्म्य सम्बन्ध रखता हुआ परमार्थ वस्तु है। प्रत्यक्षादि के समान शब्द से भी वस्तु में प्रवृत्ति, प्रतिपत्ति और प्राप्ति होना पाया जाता है। सामान्य और विशेष एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रहते हैं। अत: अन्य निमित्तों की अपेक्षा न करके संज्ञा करने को **नामनिक्षेप** कहते हैं।

नाम की गयी वस्तु की कहीं प्रतिष्ठा करना **स्थापना** है। स्थापना में आदर, अनुग्रह की आकांक्षा अपेक्षित है, नाम में नहीं। भविष्य पर्याय के अभिमुख वस्तु को **द्रव्य** कहते हैं। द्रव्य की अनन्त पर्यायें एक सन्तानरूप हैं। सम्पूर्ण द्रव्यों में जीवप्रधान है जो ज्ञानगुण से जाना जाता है। वस्तु की वर्तमान पर्याय **भाव** है। नाम, स्थापना, द्रव्य निक्षेप द्रव्य की प्रधानता से है, भाव निक्षेप पर्याय की प्रधानता से पुष्ट किया गया है। द्रव्य और पर्याय समुदाय रूप वस्तु है। शब्द की अपेक्षा से निक्षेप संख्यात हैं। समान जातिवाले विकल्पज्ञान की अपेक्षा असंख्यात हैं और अर्थ की अपेक्षा से निक्षेप अनन्त हैं। न्यास और न्यस्यमान इनका कथंचित् भेद-अभेद है। नाम और स्थापना आदि निक्षेपों के विषयों में भी कथंचित् भेद है। चारों निक्षेपों की प्रवृत्ति एक स्थान पर पायी जा सकती है। प्रत्येक निक्षेप से अपने-अपने योग्य न्यारी-न्यारी अर्थक्रियाओं का होना सिद्ध है। अत: चारों ही वस्तुभूत हैं। इनके बिना लोकव्यवहार सम्भव नहीं है।

सूत्र ६ : वस्तु को सकलादेश द्वारा जानने वाले स्व-पर-प्रकाशक प्रमाणों से और वस्तु के अंश को विकलादेश द्वारा जानने वाले श्रुतज्ञानांश रूप नयों से सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादि सम्पूर्ण पदार्थों का निर्णय होता है। प्रमाण के द्वारा वस्तु को जान कर उसके अंश को जानने में विवाद होने पर नय ज्ञान प्रवर्तता है। असंज्ञी जीवों के नयज्ञान नहीं होता। केवल श्रुतज्ञान के विषय में ही नय की प्रवृत्ति है।

प्रमाण और नयरूप करणों से अधिगम रूप फल कथंचित् भिन्न है। यहाँ बौद्धों की मानी हुई प्रमाण फलव्यवस्था का और तदाकारता का खण्डन कर ज्ञानावरण के विघटन से ग्राह्य ग्राहकपन सिद्ध किया है। यथार्थ ज्ञान की साधकतम होने से भाव इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का अभिन्न फल है तथा हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धियाँ प्रमाण से भिन्न फल हैं। ज्ञान स्वरूप प्रमाण और नयों से स्व के लिए अधिगम होता है तथा वचनस्वरूप या शब्दस्वरूप प्रमाण-नयों से दूसरों के लिए अधिगम होता है। मति आदि पाँच ज्ञान हैं। अस्ति आदिक सप्त भंगों से प्रवृत्त रहा सात प्रकार का शब्द है। प्रश्नवशात् सात भंगों की प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं है। अनन्तर आचार्यश्री ने स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार सर्व व्यवस्था की योजना पर विस्तृत ऊहापोह किया है और एकान्तवादियों की आपत्तियों का निराकरण किया है। इस सूत्र के भाष्य में अनेक प्रासंगिक प्रकरणों को प्रस्तुत कर सप्तभंग प्रक्रिया को स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार प्रतिष्ठापित किया गया है।

सूत्र ७ : संक्षेप से जीवादिक का अधिगम तो प्रमाण और नय से होता है किन्तु मध्यम रुचि वाले शिष्यों के लिए इस सूत्र की रचना उमा स्वामी आचार्य ने की है वस्तु के जानने में उपयोगी निर्देशादि का कथन कर उनको शब्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप बताया गया है।

सबसे पहले पदार्थों को निस्स्वरूप और अवक्तव्य मानने वाले बौद्धों के मत का खण्डन कर पदार्थों के **निर्देश्य** स्वरूप की सिद्धि की है। बौद्ध कोई सम्बन्ध भी नहीं मानते हैं। उनकी इस मान्यता का तर्कपूर्ण खण्डन करते हुए **स्वस्वामिसम्बन्ध** को दृढ़ता से सिद्ध किया है। बौद्ध साध्यसाधन भाव को भी नहीं मानते, उनकी इस स्थापना का सबल तर्कों से निरसन करते हुए साध्य-**साधन** भाव की सिद्धि की है। आधार-आधेय को न मानने वालों के प्रति द्रव्य गुण आदि का दृष्टान्त देकर **अधिकरण** सिद्ध किया है। सम्पूर्ण द्रव्यों को आश्रय देने वाला आकाश स्वयं अपना भी आश्रय है। व्यवहार नय से आश्रय-आश्रयी भाव है, निश्चय नय से सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं अपने आप में प्रतिष्ठित हैं। **स्थिति** की सिद्धि के लिए बौद्धों के क्षणिक एकान्त का खण्डन कर सन्तान, समुदाय आदि की व्यवस्था बताई है। सबको एक स्वरूप मानने वाले ब्रह्माद्वैतवादियों के प्रति हेतुओं से पदार्थों के नाना **प्रकारों** की सिद्धि की है। इस प्रकार प्रमाणस्वरूप निर्देश आदि से और उनके विषय स्वरूप निर्देश्यत्व आदि से अधिगति और अधिगम्यमानता की जाती है।

सूत्र ८ : तत्त्वार्थों के ज्ञान के लिए आचार्य उमा स्वामी ने इस सूत्र में तीसरे विस्तृत ढंग के उपाय बताये हैं। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने इस सूत्र के भाष्य में शून्यवाद या चार्वाक, वैशेषिक, ब्रह्माद्वैत आदि की स्थापनाओं को निरस्त कर सत्ता, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, विरह, परिणमन और अल्पबहुत्व का संक्षेप में विवेचन करते हुए कहा है कि विस्तार पूर्वक ज्ञप्ति के लिए अन्य ग्रन्थों के व्याख्यान देखने चाहिए। धवल, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में इस सूत्र के प्रमेय का विशद व्याख्यान है।

यहाँ प्रथम अध्याय सम्बन्धी द्वितीय आह्निक पूर्ण होता है।

परिशिष्ट में श्लोकानुक्रमणिका संकलित है।

आभार :

पूज्य **गणिनी आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी** ने अपनी अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और तप:साधना के फलस्वरूप ही इस कठिन ग्रन्थ का मूलानुगामी अनुवाद प्रस्तुत किया है और इसके सम्पादन-प्रकाशन कर्म से मुझे जोड़ कर मुझ पर जो अनुग्रह किया है, एतदर्थ मैं आपका चिर कृतज्ञ हूँ। मैं पूज्य माताजी के दीर्घ स्वस्थ जीवन की कामना करता हुआ उनके श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

'यथाशीघ्र प्रकाशन' की प्रेरक पूज्य **आर्यिका गौरवमती माताजी** के चरणों में सादर वन्दामि निवेदन करता हूँ।

पं. मोतीचन्दजी कोठारी की तैयार की हुई पाण्डुलिपि से भी मूल संस्कृत पाठ का मिलान किया गया है। अत: उनका भी आभारी हूँ।

हिन्दी भाष्यकार **पं. माणिकचन्दजी कौन्देय न्यायाचार्य** की वन्दनीय अभिनन्दनीय प्रतिभा को सादर नमन करता हूँ जिनकी भाषा टीका 'तत्त्वार्थ चिन्तामणि' से अनुवाद कार्य में व सारांश लिखने में बहुत सहायता मिली है।

ग्रन्थ के प्रकाशक **श्रीयुत गुलाबचन्दजी सुरेशकुमारजी पाटनी, गुवाहाटी** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिए **निधि कम्प्यूटर्स** के **डॉ. क्षेमंकर पाटनी** व उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। शोभन मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस**, जोधपुर को धन्यवाद देता हूँ।

सम्यग्ज्ञान के इस महदनुष्ठान में यत्किंचित् सहयोग देने वाले सभी भव्यों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। सम्पादन-प्रकाशन कर्म में रही भूलों के लिए स्वाध्यायी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

विनीत

३१ मार्च, २००९ **डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी**

卐 卐 卐

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्यः!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः॥

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

❋

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **'श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार'** नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर-ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य **श्रीविद्यानन्दाचार्येण** विरचितं इदं शास्त्रं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।

❋

मङ्गलं भगवान् **वीरो**, मङ्गलं **गौतमो** गणी।
मङ्गलं **कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम्॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्॥

अथ सम्यग्दर्शनविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह–

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।२ ।।

ननु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेका, तामपाकरोति;—

सम्यक् शब्दे प्रशंसार्थे दृशावालोचनस्थितौ । न सम्यग्दर्शनं लभ्यमिष्टमित्याह लक्षणम् ।।१।।

सूत्रकारोऽत्र तत्त्वार्थश्रद्धानमिति दर्शनम् । धात्वनेकार्थवृत्तित्वाद् दृशेः श्रद्धार्थतागतेः ।।२।।

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्वयंतो वेति वचनात् प्रशंसार्थोयं सम्यक् शब्दः सिद्धः प्रशस्तनिःश्रेयसाभ्युदयहेतुत्वाद्दर्शनस्य प्रशस्तत्वोपपत्तेर्ज्ञानचारित्रवत् । दृशेश्चालोचने स्थितिः प्रसिद्धा, दृशिन् प्रेक्षणे इति वचनात्। तत्र सम्यक् पश्यत्यनेनेत्यादिकरणसाधनत्वादिव्यवस्थायां दर्शनशब्दनिरुक्तेरिष्टलक्षणं

अब मोक्षमार्ग का निरूपण करने के अनन्तर सम्यग्दर्शन की विप्रतिपत्ति (विवाद) का निराकरण करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं –

तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन

तत्त्वरूप से कथित अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।।२।।

शंका : सम्यक् और दर्शन इन दोनों शब्दों का जो वाच्य अर्थ है उसके सामर्थ्य से ही सम्यग्दर्शन के स्वरूप का निर्णय (निश्चय) और सम्यग्दर्शन के लक्षण सम्बन्धी अशेष विवादों के निराकरण की सिद्धि हो जाने से सम्यग्दर्शन की सिद्धि के लिए उसके लक्षण का कथन करने वाले सूत्र की रचना करना उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार की गई किसी की शंका का निराकरण करते हैं।

समाधान : सम्यक् शब्द 'प्रशंसा' अर्थ में है अर्थात् सम्यक् शब्द का अर्थ है प्रशंसा और दर्शन शब्द सामान्य 'देखने' के अर्थ में है, अतः सम्यग्दर्शन शब्द से अभीष्ट सम्यग्दर्शन का अर्थ प्राप्त नहीं होता। सो सूत्रकार ने इस में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं' को ही सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है। धातुओं की अनेक अर्थों में वृत्ति (प्रवृत्ति) होती है अतः दर्शन का अर्थ यहाँ श्रद्धान होता है।।१-२।।

'सम्यक्' यह प्रशंसार्थक शब्द निपात या क्विप प्रत्ययान्त है। इस कथन से यह सम्यक् शब्द प्रशंसार्थ में सिद्ध है क्योंकि यह सम्यक् शब्द प्रशंसनीय निःश्रेयस (मोक्ष) और अभ्युदय (सांसारिक चक्रवर्ती, इन्द्र, तीर्थंकर आदि) का कारण है अतः सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समान दर्शन का प्रशस्तत्व उपपत्ति युक्त है अर्थात् मोक्ष और अभ्युदय का कारण होने से दर्शन प्रशंसनीय है।

"दृशिन् प्रेक्षणे" इस वचन से दृश् धातु आलोचन, देखने अर्थ में प्रसिद्ध है। अतः यहाँ जिसके द्वारा समीचीन देखा जा सकता है इस प्रकार करण साधनत्व, भाव साधनत्व आदि व्यवस्था होने पर दर्शन शब्द का निरुक्ति अर्थ से इष्ट लक्षण सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। अर्थात्-जिसके द्वारा देखा जाता है, इस प्रकार दृशि धातु से ल्युट् प्रत्यय करके करणादि साधन से उत्पन्न हुआ दर्शन शब्द सम्यग्दर्शन का द्योतक

सम्यग्दर्शनं न लभ्यत एव ततः प्रशस्तालोचनमात्रस्य लब्धेः। न च तदेवेष्टमतिव्यापित्वादभव्यस्य मिथ्यादृष्टेः प्रशस्तालोचनस्य सम्यग्दर्शनप्रसंगात्। ततः सूत्रकारोऽत्र ''तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'' इति तल्लक्षणं ब्रवीति, तद्वचनमंतरेणातिव्याप्तेः परिहर्तुमशक्तेः। शब्दार्थातिक्रमः श्रद्धानार्थत्वाभावाद् दृशेरिति चेत् न, अनेकार्थत्वाद् धातूनां दृशेः श्रद्धानार्थत्वगतेः। कथमनेकस्मिन्नर्थे सम्भवत्यपि श्रद्धानार्थस्यैव गतिरिति चेत्, प्रकरणविशेषात्। मोक्षकारणत्वं हि प्रकृतं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य युज्यते नालोचनादेरर्थांतरस्य। भगवदर्हदाद्यालोचनस्य मोक्षकारणत्वोपपत्तेस्तत्प्रकरणादपि न तन्निवृत्तिरिति चेत्, तत्त्वार्थश्रद्धानेन रहितस्य मोक्षकारणत्वेऽतिप्रसंगात्, तेन सहितस्य तु तत्कारणत्वे तदेव मोक्षस्य कारणं तदालोचनाभावेपि श्रद्धानस्य तद्भावाविरोधात्॥

अर्थग्रहणतोनर्थश्रद्धानं विनिवारितम्। कल्पितार्थव्यवच्छेदोर्थस्य तत्त्वविशेषणात् ॥३॥

नहीं है। क्योंकि इससे तो भले प्रकार देखना ही अर्थ ध्वनित होता है तथा देखना अर्थ अतिव्याप्ति[1] दोष से दूषित होने से इष्ट नहीं है क्योंकि सम्यगवलोकन करने वाले अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी सम्यग्दर्शन का प्रसंग आता है। अर्थात् सम्यग्देखना तो अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी होता है। इसलिए सूत्रकार ने यहाँ 'तत्त्वार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है' यह लक्षण कहा है। सम्यग्दर्शन के इस लक्षण के कथन बिना अतिव्याप्ति को दूर करना शक्य नहीं है।

शंका : दृश् धातु के श्रद्धान अर्थ का अभाव होने से इसका श्रद्धान अर्थ करना शब्दार्थ का अतिक्रम है।

समाधान : ऐसा नहीं कहना, क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, दृश् धातु का अर्थ श्रद्धान भी होता है।

शंका : *दृश् धातु के जब अनेक अर्थ होते हैं तो श्रद्धान अर्थ की ज्ञप्ति कैसे होती है ?*

समाधान : दृश् धातु के अनेक अर्थ संभव होने पर भी प्रकरण विशेष से श्रद्धान अर्थ का ज्ञान होता है। *क्योंकि यहाँ मोक्ष के कारणत्व का प्रकरण होने से सम्यग्दर्शन का अर्थ 'तत्त्वार्थश्रद्धान' करना ही* श्रेयस्कर है। देखना आदि अर्थ करना उपयुक्त नहीं है, यह अर्थान्तर है।

शंका : अर्हन्त देव आदि का दर्शन करने के भी मोक्षकारणत्व सिद्ध है अतः दर्शन का प्रकरण होने से देखने अर्थ की निवृत्ति नहीं होती ? **समाधान :** तत्त्वार्थ श्रद्धान से रहित प्राणी के अर्हन्त आदि के दर्शन को मोक्ष-कारणत्व मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी अर्हन्त आदि का दर्शन मोक्ष का कारण हो जायेगा। सम्यग्दर्शन सहित के अर्हन्त आदि के दर्शन को मोक्ष का कारण मान लेने पर मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन ही सिद्ध होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि के अर्हन्त आदि के दर्शन के अभाव में भी सम्यग्दर्शन रहता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने वाले सूत्र में 'अर्थ' के ग्रहण से अनर्थ श्रद्धान का निराकरण किया गया है और अर्थ के तत्त्व विशेषण से कल्पितार्थ श्रद्धान के सम्यग्दर्शन हो जाने की व्यावृत्ति की गई है॥३॥

---

१. जो लक्षण लक्ष्य- अलक्ष्य दोनों में जाता है उसे अतिव्याप्ति कहते हैं अतः सम्यग्देखना ऐसा सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ करने पर यह अर्थ मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन दोनों में जाता है। अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

लक्षणस्य ततो नातिव्याप्तिर्दृग्मोहवर्जितम्। पुंरूपं तदिति ध्वस्ता तस्याव्याप्तिरपि स्फुटम् ॥४॥

श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युच्यमानेऽनर्थश्रद्धानमपि तत्स्यादित्यतिव्याप्तिर्लक्षणस्य माभूत् अर्थग्रहणात्।न चार्थानर्थविभागो दुर्घट: प्रमाणोपदर्शितस्यार्थत्वसिद्धेरितरस्यानर्थत्वव्यवस्थानात्। सर्वो वाग्विकल्पगोचरोर्थ एव प्रमाणोपदर्शितत्वादन्यथा तदनुपपत्ते:, प्रमाणोपदर्शितत्वं तु सर्वस्य विकल्पवाग्गोचरत्वान्यथानुपपत्ते: ततो नानर्थ: कश्चिदित्यन्ये। तेप्येवं प्रष्टव्या:। सर्वोनर्थ एवेति पक्षोऽर्थे स्याद्वा न वा ? स्याच्चेत्सर्वस्यार्थत्वव्याघातो दुर्निवार:, न स्याच्चेत्तेन व्यभिचारी हेतुर्वाग्विकल्पगोचरत्वेन प्रमाणोपदर्शितत्वस्यार्थत्वमंतरेणापि भावात्। यदि पुन: प्रमाणोपदर्शित एव न भवति तदा विकल्पवाग्गोचरत्वं तेनानैकांतिकं साध्याभावेपि भावात्। यदि पुन:सर्वोनर्थ एवेति पक्षो विकल्पवाग्गोचरो न भवतीति ब्रुवते तदा स्ववचनविरोध:। कुतश्चिदविद्याविशेषात् सर्वोनर्थ इति व्यवहारो न तात्त्विक इति चेत्, स तर्ह्यविद्याविशेषोऽर्थोऽनर्थो वा ? यद्यर्थस्तदा कथमेतन्निबंधनो व्यवहारोऽतात्त्विक: स्यात्सर्वोर्थ एवेति

इसलिए 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' सम्यग्दर्शन का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से रहित है। दर्शनमोह रहित सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप है, अत: ''तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'' इस लक्षण से सम्यग्दर्शन के अव्याप्ति [1] दोष का भी निराकरण कर दिया गया है। अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का लक्षण तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में जाता है। अत: अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है ॥४॥

अर्थ का ग्रहण 'अनर्थ' की निवृत्ति के लिए है

श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहने पर अनर्थों (अवास्तविक पदार्थों) का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शनत्व को प्राप्त होगा, अत: लक्षण में अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए 'अर्थ' पद का ग्रहण किया गया है। तथा अर्थ और अनर्थ का विभाग दुर्घट (दुष्कर) भी नहीं है। क्योंकि प्रमाण के द्वारा निरूपित अर्थ के अर्थत्व और उससे विपरीत के अनर्थत्व प्रसिद्ध ही है।

दूसरा कोई कहता है कि प्रमाण के द्वारा उपदर्शित हो जाने से सर्व अर्थ ही वचन और विकल्प के गोचर हैं। अन्यथा (शब्द और विकल्प के गोचर न हों तो) प्रमाण के द्वारा उपदर्शित्व (कथित) नहीं हो सकता। सर्व ही पदार्थों के प्रमाण के द्वारा उपदर्शित्व है अत: सर्व पदार्थों के बिकल्पवाग्गोचरत्व अन्यथा अनुपपत्ति है, इसलिए कोई अनर्थ नहीं है अर्थात् सर्व ही अर्थ हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि -उनको इस प्रकार पूछना चाहिए कि 'सर्व अनर्थ ही है' यह पक्ष अर्थ में है कि नहीं ? यदि अर्थ में यह पक्ष है तो सर्व के अर्थत्व का व्याघात दुर्निवार होगा। यदि यह पक्ष अर्थ में नहीं है तो वाग् विकल्प गोचरत्व से हेतु व्यभिचारी होगा क्योंकि प्रमाणोपदर्शित्व के अर्थत्व के बिना भी सद्भाव पाया जाता है। यदि वह अर्थ प्रमाणोपदर्शित ही नहीं होता है तो वाग् विकल्प गोचरत्व हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित होगा क्योंकि साध्य अर्थ के अभाव में भी वाग् विकल्प गोचरत्व हेतु का सद्भाव पाया जाता है। यदि कहो कि सर्व अनर्थ (पदार्थ नहीं) ही है और वह विकल्प वचन के अगोचर होता है तो स्ववचन का विरोध होता है। अर्थात् सर्व अर्थ नहीं है, यह शब्द से बोला भी जा रहा है और विकल्प ज्ञान एवं वचन के गोचर भी कहा जा रहा है, अत: स्ववचन बाधित है।

कोई कहता है- ''सर्व अनर्थ है'' इस प्रकार का व्यवहार किसी विशिष्ट अविद्या से होता है, वास्तविक नहीं है। तो हम कहते हैं कि वह अविद्या विशेष अर्थ (पदार्थ) है कि अनर्थ (अपदार्थ) है ?

---

१. पूरे लक्ष्य में नहीं जाने वाले लक्षण को अव्याप्त कहते हैं।

व्यवहारवत्। सोनर्थश्चेत्, कथं सर्वोर्थ एवेत्येकांतः सिध्येत् ? सर्वोनर्थ एवेत्येकांतोपि न साधीयान्, तद्व्यवस्थापकस्यानर्थत्वे ततस्तत्सिध्ययोगादर्थत्वे सर्वानर्थतैकांतहानेः। संविन्मात्रमर्थानर्थविभागरहितमित्यपि न श्रेयः, संविन्मात्रस्यैवार्थत्वात्ततोन्यस्यानर्थत्वसिद्धेः। सर्वस्याप्यर्थानर्थविभागसिद्धेरवश्यंभावाद्युक्तमर्थग्रहणमनर्थश्रद्धाननिवृत्त्यर्थं। कल्पितार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमेवं स्यात्ततः सैवातिव्याप्तिरिति, चेत् न, तत्त्वविशेषणात्। नन्वर्थग्रहणादेव कल्पितार्थस्य निवृत्तेस्तस्यानर्थत्वात्व्यर्थं तत्त्वविशेषणमिति चेत् न, धनप्रयोजनाभिधेयविशेषाभावानामर्थशब्दवाच्यानां ग्रहणप्रसंगात्। न च तेषां श्रद्धानं *सम्यग्दर्शनस्य लक्षणं युक्तं, धर्मादर्थो धनमिति श्रद्दधानस्याभव्यादेरपि सम्यग्दर्शनप्रसक्तेः। ''कोर्थः पुत्रेण*

यदि अविद्या विशेष वस्तुभूत अर्थ है तो उस वस्तुभूत अविद्या से होने वाला निबन्धन व्यवहार अवास्तविक कैसे होगा। जैसे सर्व अर्थ ही है, इस व्यवहार के समान अर्थात् जैसे सर्व अर्थ है, यह व्यवहार अवास्तविक नहीं है उसी प्रकार यह भी अवास्तविक नहीं होगा।

यदि कहो कि 'सर्व अनर्थ ही है' तो 'सर्व अर्थ ही है' ऐसा एकान्त सिद्ध कैसे हो सकता है?

सर्व अनर्थ (अपदार्थ) ही है, इस प्रकार का एकान्त भी सिद्ध नहीं होता अर्थात् पदार्थ है ही नहीं, ऐसा मिथ्याभास होता है। ऐसा भी एकान्त सिद्ध नही होता। क्योंकि, उस अनर्थ के व्यवस्थापक प्रमाण के भी अनर्थत्व हो जाने पर उस प्रमाण से अनर्थत्व की सिद्धि का अयोग होता है। तथा प्रमाण को अर्थत्व मान लेने पर 'सर्व पदार्थ अनर्थत्व है' इस एकान्त मान्यता की हानि होती है।

''*अर्थ - अनर्थ के विभाग से रहित संवेदन मात्र (विज्ञान) ही है।'' 'संसार में पदार्थ नहीं हैं केवल* विज्ञान मात्र है' ऐसा कहना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि विज्ञान मात्र को अर्थत्व (वास्तविक) स्वीकार कर लेने पर प्रमाण से भिन्न सर्व पदार्थों में अनर्थत्व की सिद्धि हो जाती है। अतः सभी पदार्थों की विवक्षा से अर्थत्व और अनर्थत्व का विभाग अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए सूत्र में 'अर्थ' का ग्रहण अनर्थ-श्रद्धान की निवृत्ति के लिए है।

'तत्त्व' विशेषण देने का हेतु

'कल्पित अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' ऐसा होने पर वही अतिव्याप्ति दोष है अर्थात् '*अर्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है' ऐसा सम्यग्दर्शन का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है? ऐसा नहीं कहना चाहिए* क्योंकि अर्थ के साथ 'तत्त्व' यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न : अर्थग्रहण से ही कल्पित अर्थ की निवृत्ति हो जाने से तत्त्व विशेषण निरर्थक है क्योंकि अर्थ ही वास्तविक है, शेष अवास्तविक है। **उत्तर :** तत्त्व विशेषण व्यर्थ नहीं है क्योंकि तत्त्व विशेषण न होने से धन, प्रयोजन, अभिधेय विशेष, अभाव (निवृत्ति) आदि अर्थ शब्द के सर्व वाच्यों के ग्रहण का प्रसंग आता है। परन्तु धन आदि का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का ठीक लक्षण नहीं है क्योंकि धर्म से अर्थ, धन प्राप्त होता है। ऐसा श्रद्धान करने वाले अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रसंग आता है।

जातेन यो न विद्वान्न धार्मिक'' इति प्रयोजनवाचिनोर्थशब्दात् प्रयोजनं श्रद्दधतोपि सद्दृष्टित्वापत्तेः।धनप्रयोजनयोरर्थाभिप्रायो मोहोदयादवास्तव एव प्रक्षीणमोहानामुदासीनानामिव ममेदं स्वं धनं प्रयोजनं चेति संप्रत्ययानुपपत्तेः। सुवर्णादेर्देशकालनरांतरापेक्षायां धनप्रयोजनत्वाप्रतीतेर्वस्तुधर्मस्य तदयोगात्सुवर्णत्वादिवदिति केचित् । तेषां क्रोधादयोप्यात्मनः पारमार्थिका न स्युर्मोहोदयनिबंधनत्वाद्धनप्रयोजनयोरर्थाभिप्रायवत्। तेषामौदयिकत्वेन वास्तवत्वमिति चेत्, अन्यत्र समानं। वस्तुस्वरूपं धनं प्रयोजनं वा न भवतीति चेत्, सत्यं, वैश्रसिकत्वापेक्षया तस्य वस्तुरूपत्वव्यवस्थानासंभवात्। परोपाधिकृतत्वेन तु तस्य वास्तवत्वमनिषिद्धमेवेति नानर्थत्वं, येनार्थग्रहणादेव तन्निवर्तनं सिध्द्येत्। तथाभिधेये

''उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या अर्थ (प्रयोजन) है जो धार्मिक नहीं है और विद्वान् भी नहीं है।'' इस प्रकार प्रयोजनवाची 'अर्थ' शब्द से प्रयोजन का श्रद्धान करने वाले के भी सम्यग्दर्शनत्व का प्रसंग आयेगा।

धन, प्रयोजन में अर्थ का अभिप्राय मोह कर्म के उदय से होता है अतः वास्तविक नहीं है। जैसे उदासीनों के 'यह धन, प्रयोजन मेरे हैं।' इस प्रकार का संप्रत्यय (ज्ञान) नहीं होता, उसी प्रकार प्रक्षीणमोही के भी 'यह धन, प्रयोजन मेरा है' इत्यादि रूप विकल्प नहीं होता तथा देश (भोगभूमि), काल (सुषमादि), नर (धनाढ्यादि) की अपेक्षा से सुवर्ण आदि में धनप्रयोजनत्व आदि की अप्रतीति है। अर्थात् भोगभूमि आदि के मनुष्यों के धन से कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः सुवर्णत्व आदि के समान अर्थ में वस्तु धर्म की अयोगता है अर्थात् धन प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है, ऐसा कोई कहते हैं अर्थात् धनादि मोह के उदय से प्रयोजनभूत हैं, अन्यथा नहीं।

आचार्य उनको उत्तर देते हैं कि जैसे 'धन मेरा प्रयोजनीभूत है'-यह भाव मोहनीय कर्म के उदय से होने से अपरमार्थिक है, उसी प्रकार उनके क्रोधादिक भाव भी आत्मा के अपरमार्थिक होंगे-क्योंकि वे भी मोहनीय कर्म के उदय के कारण से होते हैं। क्रोधादिक भाव औदयिक होने से आत्मा के हैं और वास्तविक हैं, ऐसा भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा वास्तविकपना तो अन्यत्र भी समान रूप से लागू होता है। अर्थात् स्वर्ण मेरा धन है, स्वर्ण प्राप्त करना मेरा प्रयोजन है, ऐसा प्रत्यय (विज्ञान) चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से भी होता है। अतः यह भी वास्तविक है।

कोई कहता है- ''धन और प्रयोजन वस्तु स्वरूप (वास्तविक) नहीं हैं अर्थात् रागादिक वास्तविक हो सकते हैं, परन्तु धन आदि वास्तविक नहीं हैं।

उत्तर :''धनादिक वस्तु का स्वरूप नहीं हैं।'' यह तुम्हारा कहना सत्य है क्योंकि स्वाभाविक परिणाम की अपेक्षा स्वर्ण के वस्तुरूपत्व व्यवस्थान की असंभवता है परन्तु पर-उपाधिकृतत्व निमित्त की अपेक्षा धन और प्रयोजन के वास्तवपने का निषेध नहीं है। अतः सर्वथा धनत्व और प्रयोजनत्व अनर्थ ही नहीं है अर्थात् कथंचित् अर्थरूप (वास्तविक) भी है। यदि सर्वथा धनादि अनर्थ होते तो सूत्र में अर्थ ग्रहण करने से अनर्थ की निवृत्ति सिद्ध हो जाती। अर्थात् धन और प्रयोजन अर्थ हैं, इनका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन हो जाने से अतिव्याप्ति दोष आता (यह लक्षण मिथ्यादृष्टि में भी चला जाता) अतः उसका निराकरण करने के लिए अर्थपद का विशेषण, तत्त्व कहा गया है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है (अर्थ श्रद्धान नहीं)।

विशेषे अभावे चार्थे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणमव्यापि प्रसज्यते, सर्वस्याभिधेयत्वाभावाद् व्यंजनपर्यायाणामेवाभिधेयतया व्यवस्थापितत्वादर्थपर्यायाणामाख्यातुमशक्तेरननुगमनात् संकेतस्य तत्र वैयर्थ्याद् व्यवहारासिद्धेर्नाभिधेयस्यार्थस्य श्रद्धानं तल्लक्षणं युक्तं। नापि विशेषस्य सामान्यश्रद्धानस्य दर्शनत्वाभावप्रसंगात्। तथैवाभावस्यार्थस्य श्रद्धानं न तल्लक्षणं भावश्रद्धानस्यासंग्रहादव्याप्तिप्रसक्तेः। नन्वेवमर्थग्रहणादिवत्तत्त्ववचनादपि कथमभिधेयविशेषाभावानां निवृत्तिस्तेषां कल्पितत्वाभावादिति चेत् न, अभिधेयस्य शब्दनयोपकल्पितत्वाद्विशेषस्य ऋजुसूत्रोपकल्पितत्वादभावस्य च धनप्रयोजनवत्कल्पितत्वसिद्धेस्तावन्मात्रस्य सकलवस्तुत्वाभावाद्वस्त्वेक देशतया स्थितत्वात्।

तथा अभिधेय (वाच्य) विशेष और अभाव अर्थ में भी अर्थ शब्द का प्रयोग होता है। अत: उनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, यह लक्षण भी अव्याप्ति दोष से दूषित है। जैसे सर्व पदार्थ के अभिधेयत्व (शब्द के द्वारा वाच्यत्व) का अभाव है क्योंकि व्यञ्जन पर्यायों के ही वाच्यता के द्वारा निरूपण करना व्यवस्थित है, अर्थपर्यायों का वचन के द्वारा कथन करना शक्य नहीं है क्योंकि वहाँ संकेत का अनुगम नहीं है। वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेत का अनुगमन करने वाले होते हैं अर्थात् अन्य पदार्थों के सादृश्य को लेकर ही शब्दों की प्रवृत्ति होती है।(जैसे घट शब्द सुनकर घट सदृश अन्य घट में भी घट शब्द का प्रयोग हो जाता है।) तथा अर्थपर्याय में व्यवहार की असिद्धि होने से संकेत की व्यर्थता होती है।

अर्थात्-अर्थपर्याय प्रतिक्षण विलक्षण ही उत्पन्न होती है वा संकेत काल में वे सूक्ष्म पर्यायें हमारे प्रत्यक्ष ही नहीं हैं; उनका वचन के द्वारा कथन कैसे हो सकता है? अत: वे अभिधेय नहीं हैं परन्तु उनका श्रद्धान सम्यग्दृष्टि को अवश्य है अत: अभिधेय अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा सम्यग्दर्शन का लक्षण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस समय सम्यग्दृष्टि अनभिधेय (वचन के अगोचर) तत्त्व का चिंतन करता है, उस समय वह लक्षण घटित नहीं होता। अत: वह अव्याप्ति दोष से दूषित लक्षण है।

विशेष का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सामान्य का श्रद्धान करने वाले के सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है। अर्थात् 'अर्थ' का अर्थ विशेष है और विशेष का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहने से सामान्य श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं होता परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव विशेष के साथ सामान्य का भी श्रद्धान करता है। क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के तदात्मक अंश हैं। उसी प्रकार अभाव रूप अर्थ का श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन का दोषयुक्त लक्षण है। इस लक्षण में भी भावरूप श्रद्धान का संग्रह न होने से अव्याप्ति दोष का प्रसंग आता है।

शंका : जैसे अकेले अर्थ शब्द का ग्रहण करने से अभिधेय, विशेष और अभाव की निवृत्ति होती है वैसे 'तत्त्व' के ग्रहण करने से अभिधेय, विशेष और अभाव का निराकरण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि अभिधेय आदि के भी कल्पितत्व का अभाव है। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि धन एवं प्रयोजन के समान अभिधेयादि में भी कल्पितपना है। जैसे अभिधेय का शब्दनय की अपेक्षा कल्पितत्व है, विशेष के ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा कल्पितपना है और अभाव के परचतुष्टय की अपेक्षा कल्पितपना है क्योंकि निरपेक्ष अभिधेय विशेष और अभाव वस्तु का स्वभाव नहीं है। किन्तु अर्थ में अभिधेयपना आदि वस्तु के एकदेश रूप से स्थित हैं। अत: अर्थ को तत्त्व विशेषण लगा देने से एकान्त अभिधेय आदि का निराकरण हो जाता है और इससे अव्याप्ति दोष दूर हो जाने से सम्यग्दर्शन का लक्षण दोषरहित हो जाता है।

तत्त्वश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वादतिव्याप्त्यव्याप्त्योरसंभवादित्यपर:। सोपि न परानुग्रहबुद्धिस्तत्त्वशब्दार्थे संदेहात्। तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वस्य वा तत्त्वे वा तत्त्वेन वेत्यादिपक्ष: संभवेत् क्वचिन्निर्णयानुपपत्ते:। न हि तत्त्वमिति श्रद्धानं तत्त्वश्रद्धानमित्ययं पक्ष: श्रेयान् "पुरुष एवेदं सर्वं नेह नानास्ति किंचन" इति सर्वैकत्वस्य तत्त्वस्य, ज्ञानाद्वैतादेर्वा श्रद्धानप्रसंगात्। नापि तत्त्वस्य तत्त्वे तत्त्वेन वा श्रद्धानमिति पक्षा: संगच्छंते कस्य कस्मिन् वेति प्रश्नाविनिवृत्ते:। तत्त्वविशेषणे त्वर्थे श्रद्धानस्य न किंचिदवद्यं दर्शनमोहरहितस्य पुरुषस्वरूपस्य वा तत्त्वार्थश्रद्धानशब्देनाभिधानात्, सरागवीतरागसम्यग्दर्शनयोस्तस्य सद्भावादव्याप्ते: स्फुटं विध्वंसनात्। कथं तर्हि तत्त्वेनार्थो विशेष्यते ? इत्युच्यते;—

यत्त्वेनावस्थितो भावस्तत्त्वेनैवार्यमाणक:। तत्त्वार्थ: सकलोन्यस्तु मिथ्यार्थ इति गम्यते॥५॥

कोई कहता है- सूत्र में लाघवता होने से तथा अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोषों की असम्भवता होने से 'तत्त्वश्रद्धानं' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए। आचार्य विद्यानन्दी कहते हैं कि लाघवता (सूत्र में मात्रा कम) होने से 'तत्त्वश्रद्धानं' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए, कहने वाला परोपकारबुद्धि वाला नहीं है, क्योंकि ऐसा बनाने से अर्थ में संशय हो जाता है तत्त्व का श्रद्धान, तत्त्व में श्रद्धान अथवा तत्त्व के द्वारा श्रद्धान आदि अनेक अर्थ होने की संभावना है, कहीं पर भी निर्णय नहीं हो सकता। अर्थात् अकेले तत्त्व शब्द का उच्चारण करने से "तत्त्व है" इस प्रकार श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है या तत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा "तत्त्व में श्रद्धान करना" किंवा तत्त्व के द्वारा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इत्यादि अनेक पक्ष संभव हैं; किसी एक अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता। इसमें 'तत्त्वमिति' 'तत्त्व' है, ऐसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, यह पक्ष तो श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी कहता है, 'पुरुष ही सब कुछ है, वही तत्त्व है अन्य नाना कुछ भी नहीं हैं, उसके श्रद्धान करने का वा ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं "सबका एकपना ही वस्तुभूत तत्त्व पदार्थ है, अन्य कुछ नहीं" इस ज्ञानाद्वैत के श्रद्धान करने का प्रसंग आता है अर्थात् ब्रह्माद्वैत एवं ज्ञानाद्वैत का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा अर्थ होने से लक्षण सदोष होता है। तथा तत्त्व का श्रद्धान, तत्त्व में श्रद्धान और तत्त्व के द्वारा श्रद्धान ऐसी षष्ठी, तत्पुरुष सप्तमी एवं तृतीया तत्पुरुष समास करना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर किस का श्रद्धान, किस तत्त्व में श्रद्धान और किस तत्त्व के द्वारा श्रद्धान इत्यादि प्रश्नों की निवृत्ति नहीं हो सकती।

'तत्त्व' विशेषण सहित अर्थ कहने पर, तत्त्व से निर्णीत अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने पर सम्यग्दर्शन का लक्षण निर्दोष होता है, इसमें कोई दोष नहीं रहता। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से रहित पुरुषस्वरूप का तत्त्वार्थ श्रद्धान शब्द से अभिधान होने से सराग वीतराग दोनों सम्यग्दर्शनों में इस लक्षण का सद्भाव होने से अव्याप्ति दोष का स्फुटरूप से विध्वंस हो जाता है। अर्थात् **तत्त्व से निर्णीत अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का लक्षण सराग-वीतराग दोनों सम्यग्दर्शनों में जाता ह** अत: अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष से रहित है। **प्रश्न :** तत्त्वरूप से निर्णीत अर्थ की क्या विशिष्टता है? ऐसा पूछने पर **उत्तर** देते हैं- जो पदार्थ जिस प्रकार से अवस्थित है, वह उसी प्रकार गम्यमान होता है, वह सकल तत्त्वार्थ है, उससे अन्य सर्व मिथ्यार्थ जाना जाता है, कहा जाता है। अर्थात् स्वभाव से भिन्न कल्पित जानना मिथ्यार्थ है, **वस्तु के स्वभाव का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है,** अन्य कल्पना करके वस्तु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है, अपितु मिथ्यादर्शन है॥५॥

तदिति सामान्याभिधायिनी प्रकृतिः सर्वनामत्वात्, तदपेक्षत्वात्प्रत्ययार्थस्य भावसामान्यसंप्रत्ययस्तत्त्ववचनात्, तस्य भावस्तत्त्वमिति, न तु गुणादिसंप्रत्ययस्तदनपेक्षत्वात् प्रत्ययार्थस्य। तत्र तत्त्वेनार्यमाणस्तत्त्वार्थ इत्युक्ते सामर्थ्याद्गम्यते यत्त्वेनावस्थित इति, यत्तदोर्नित्यसंबंधात्। तेनैतदुक्तं भवति, यत्त्वेन जीवादित्वेनावस्थितः प्रमाणनयैर्भावस्तत्त्वेनैवार्यमाणस्तत्त्वार्थः सकलो जीवादिर्न पुनस्तदंशमात्रमुपकल्पितं कुतश्चिदिति। ततोन्यस्तु सर्वथैकांतवादिभिरभिमन्यमानो मिथ्यार्थस्तस्य प्रमाणनयैस्तथार्यमाणत्वाभावादिति स्वयं प्रेक्षावद्भिर्गम्यते किं नश्चिंतया ॥

मोहारेकाविपर्यासविच्छेदात्तत्र दर्शनम् । सम्यगित्यभिधानात्तु ज्ञानमप्येवमीरितम् ॥६॥

तत्र तत्त्वार्थे कस्यचिदव्युत्पत्तिर्मोहोध्यवसायापाय इति यावत्। चलिता प्रतिपत्तिरारेका, किमयं जीवादिः किमित्थमिति वा धर्मिणि धर्मे वा क्वचिदवस्थानाभावात्। अतस्मिंस्तदध्यवसायो विपर्यासः । इति

तत्त्व शब्द प्रकृति अपेक्षा भाव सामान्य वाचक है, सर्वनाम होने से। 'तत्' उस विवक्षित पदार्थ का जो भाव है परिणाम है वह तत्त्व है अतः तत्त्व शब्द के प्रत्यय अर्थ से सामान्य भावों का ज्ञान होता है, ''तस्य भावस्तत्त्वं'' उसका भाव तत्त्व कहलाता है। इस प्रकार तत्त्व शब्द से गुण, अर्थ पर्याय, व्यञ्जन पर्याय आदि विशेषों का ज्ञान नहीं होता क्योंकि तत् प्रत्ययार्थ के विशेष की अपेक्षा नहीं है। (यह भाव वाची है अतः इसमें भाव सामान्य की अपेक्षा है) इस सूत्र में ''तत्त्व के द्वारा जो गम्य है वा तत्त्व से जाना जाता है वह तत्त्वार्थ है'' ऐसा कहने पर सूत्र के सामर्थ्य से यह जाना जाता है कि जो पदार्थ जिस स्वभाव से अवस्थित है, उसका उसी रूप से होना तत्त्वार्थ है क्योंकि यत् जो , तत् वह, यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध है, एक के होने पर दूसरा होता ही है अतः तत्त्वार्थ का अर्थ है कि जिन जीवादि स्वरूप से पदार्थ अवस्थित है उसी स्वभाव से प्रमाण नय के द्वारा जाने गये वे तत्त्वार्थ हैं अतः सभी जीव, अजीव, आस्रव, बंध आदि पदार्थ तत्त्व हैं।

अज्ञानियों के द्वारा कल्पित उनका नित्य आदि एक अंश मात्र तत्त्वार्थ नहीं हो सकता, उनके अंश में अर्थपना होना किसी प्रकार भी संभव नहीं है अतः सामान्य विशेषात्मक जीवादि पदार्थों से भिन्न सर्वथा नित्यादि एकान्तवादियों के द्वारा अभिमान्य (कथित) तत्त्व मिथ्यार्थ है क्योंकि उसके प्रमाण और नय के द्वारा वस्तुस्थिति अनुसार ज्ञायमानत्व (समीचीन रूप से कथितत्व) का अभाव है, इस बात को विद्वान् स्वयं जानते हैं, हमारी विशेष चिंता से क्या प्रयोजन है।

'सम्यक्' विशेषण का अभिप्राय

इस सूत्र में 'सम्यक्' इस शब्द के अभिधान (कथन वा ग्रहण) से मोह (अनध्यवसाय), संशय और विपरीतता रहित दर्शन (श्रद्धान) सम्यग्दर्शन कहा गया है तथा इस 'सम्यक्' शब्द का ज्ञान के साथ प्रयोग करके अनध्यवसाय, संशय, विपर्यय रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, ऐसा कथन करना चाहिए ॥६॥

उस तत्त्वार्थ के विषय में किसी के अव्युत्पत्ति (अज्ञान) मिथ्यात्व है जिसमें मोह है और अध्यवसाय का अपाय है अर्थात् अनध्यवसाय है। अव्युत्पन्न-हिताहित के विवेक से रहित होने से अज्ञान रूप है। चलित प्रतिपत्ति संशय मिथ्यात्व कहलाता है। जिसमें यह जीव है ? या अजीव है ? यह क्या है ? इस प्रकार धर्म और धर्मी में कहीं पर अवस्थान (निश्चय) का अभाव रहता है अर्थात् पदार्थ का निर्णय नहीं होता । अतद् वस्तु में तत् रूप का विपरीत निश्चय (निर्णय) होना विपरीत मिथ्यात्व है। इस प्रकर संक्षेप में अव्युत्पन्न

संक्षेपतस्त्रिविधमिथ्यादर्शनव्यवच्छेदादुपजायमानं सम्यगिति विज्ञापयते। ज्ञानमप्येवमेव सम्यगिति निवेदितं, तस्य मोहादिव्यवच्छेदेन तत्त्वार्थाध्यवसायस्य व्यवस्थापनात्। तर्हि सूत्रकारेण सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणं कस्माद्भेदेन नोक्तम् ?—

सामर्थ्यादादिसूत्रे तन्निरुक्त्या लक्षितं यतः। चारित्रवत्ततो नोक्तं ज्ञानादेर्लक्षणं पृथक् ॥७॥

यथा पावकशब्दस्योच्चारणात् संप्रतीयते। तदर्थलक्षणं तद्वज्ज्ञानचारित्रशब्दनात् ॥८॥

ज्ञानादिलक्षणं तस्य सिद्धेर्यत्नांतरं वृथा। शब्दार्थाव्यभिचारेण न पृथग्लक्षणं क्वचित् ॥९॥

नन्वेवं मत्यादीनां पृथग्लक्षणसूत्रं वक्तव्यं शब्दार्थव्यभिचारादिति न चोद्यं, कारणादिविशेषसूत्रैस्त-

---

(अज्ञान), संशय और विपरीत के भेद से मिथ्यात्व तीन प्रकार का है। इन तीनों मिथ्यात्वदर्शन के व्यवच्छेद से उत्पन्न सम्यग्दर्शन 'सम्यक्' शब्द से जाना जाता है अर्थात् दर्शन के साथ 'सम्यक्' विशेषण से इन तीनों मिथ्यादर्शनों का उच्छेद हो जाता है।

इसी प्रकार ज्ञान भी 'सम्यक्' विशेषण से विशिष्ट है, ऐसा कथन किया है क्योंकि मोह, संशय और विपरीतता से रहित तत्त्वार्थ का निर्णय करने वाले ज्ञान का मोह, संशय और अनध्यवसाय के व्यवच्छेद (विनाश) से ही व्यवस्थापन (सम्यग्निर्णय) होता है।

शंका : क्या सम्यग्दर्शन के समान ही सम्यग्ज्ञान का लक्षण है? सूत्रकार ने सम्यग्ज्ञान का लक्षण भेद (पृथक्) रूप से क्यों नहीं कहा? **समाधान :** इस शंका का आचार्य उत्तर देते हैं-

जैसे आदि (प्रथम) सूत्र में कथित चारित्र का लक्षण उसकी निरुक्ति (यथार्थ नाम) के सामर्थ्य से जाना जाता है, उसी प्रकार ज्ञानादि का भी लक्षण 'ज्ञान' इस नाम से जाना जाता है। अर्थात् सम्यक् स्व में चरण (आचरण) सम्यक्चारित्र जाना जाता है। उसी प्रकार सम्यक् , जैसे का तैसा स्व-पर का ज्ञान (जानना) सम्यक् ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान शब्द से जाना जाता है। अतः ज्ञानादि का पृथक् लक्षण नहीं कहा गया है। जैसे 'पावक' इस शब्द का उच्चारण करने से पवित्र करने वाली अग्नि का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र शब्द का उच्चारण करने पर उनके लक्षण (स्वरूप) का ज्ञान हो जाता है। अतः ज्ञानादि के लक्षण की सिद्धि हो जाने से पुनः उसके सिद्ध करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, क्योंकि शब्दार्थ के साथ स्व का व्यभिचार होने से, लक्षण का ज्ञान होने से कहीं भी पृथक् लक्षण नहीं कहा जाता है ॥ ७-८-९॥

शंका : 'यदि वाच्यार्थ के साथ लक्षण नहीं जाना जाता हो तो उसका लक्षण कहना चाहिए' ऐसा है तो मतिज्ञानादि के पृथक् लक्षण सूत्र कहना चाहिए क्योंकि इसमें वाच्यार्थ के साथ व्यभिचार आता है अर्थात् 'मति' ऐसा कहने से शब्दार्थ 'मनन' होता है, मतिज्ञान के वास्तविक लक्षण का प्रतिभास नहीं होता? **समाधान :** ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनके कारण (इन्द्रिय और मन) भेद (अवग्रहादि)

दर्थव्यभिचारस्य परिहृतत्वात्। सम्यग्दर्शनस्य लक्षणसूत्रमनर्थकमेवं स्यात् कारणविशेषसूत्रादेव तच्छब्दार्थस्य व्यभिचारपरिहरणादिति चेन्न, निसर्गाधिगमकारणविशेषस्य प्रशस्तालोचनेपि भावाद्व्यभिचारस्य तदवस्थानात्। न हि परोपदेशनिरपेक्षं निसर्गजं प्रशस्तालोचनं न संभवति परोपदेशापेक्षं वाधिगमजं प्रशस्तालोचनवदिति युक्तं सम्यग्दर्शनस्य पृथग्लक्षणवचनं शब्दार्थव्यभिचारात्, तदव्यभिचारे तद्वन्नान्यस्य मत्यादेर्ज्ञानचारित्रवदेव ॥

इच्छा श्रद्धानमित्येके तदयुक्तममोहिनः। श्रद्धानविरहाशक्तेर्ज्ञानचारित्रहानितः ॥१०॥

न ह्यमोहानामिच्छास्ति तस्य मोहकार्यत्वादन्यथा मुक्तात्मनामपि तद्भावप्रसंगात्।

अधिकरण आदि विशेषताओं को कहने वाले सूत्रों क द्वारा उन वाच्यार्थ के व्यभिचारों का परिहार कर दिया गया है। अर्थात् विचार करना ही मति नहीं है अपितु इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है।

शंका : सम्यग्दर्शन का लक्षण सूत्र कहना व्यर्थ है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के अधिगमज और निसर्गज इस कारण विशेष को बताने वाले सूत्र से वाच्यार्थ (देखना रूप अर्थ) का व्यभिचार दूर हो जाता है। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि निसर्गज (परोपदेश के बिना होना) अधिगमज (परोपदेश से होना) कारण विशेष का सद्भाव तो समीचीन देखने में भी पाया जा सकताहै अत: शब्दार्थ का व्यभिचार अधिगमजादि कारण विशेष से दूर नहीं हो सकता, क्योंकि परोपदेश निरपेक्ष, स्वाभाविक, समीचीन, अवलोकन नहीं होता है, ऐसा संभव नहीं है। जैसे दूसरों के उपदेश से अधिगमज, प्रशस्त चक्षु प्रत्यक्ष (समीचीन अवलोकन) होता है। अत: वाच्यार्थ के साथ व्यभिचार होने से (शब्द का अर्थ देखने आदि में जाने से) सम्यग्दर्शन का पृथक् लक्षण कहना उपयुक्त है तथा जहाँ जिस वाच्यार्थ में व्यभिचार नहीं है, शब्द से ही अर्थ का प्रतिभास हो जाता है, वहाँ सम्यग्दर्शन के समान अन्य मतिज्ञान आदि का भी लक्षण सूत्र पृथक् नहीं कहा जाता। जैसे ज्ञान और चारित्र के लक्षण सूत्र पृथक् नहीं कहे गये हैं। अर्थात् जिन अर्थों के संज्ञा वाचक शब्द ही अपने अर्थ का भली प्रकार प्रतिपादन करते हैं, उनके लिए लक्षणसूत्र कहना निष्प्रयोजन है।

'इच्छापूर्वक श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' मान्यता का खण्डन

कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं परन्तु यह कहना उचित नहीं है क्योंकि इच्छा श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहने पर अमोही (केवली) के सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आयेगा। क्षीणमोही के इच्छा का अभाव होता है और केवली के सम्यग्दर्शन का अभाव होने से केवली के ज्ञान-चारित्र की भी हानि का प्रसंग आता है ॥१०॥

अमोही (केवली) के इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा तो मोह का कार्य है। यदि इच्छा मोह का कार्य नहीं है, तो मुक्तात्मा के भी इच्छा के सद्भाव का प्रसंग आता है।

हेयोपादेययोर्जिहासोपादित्सा च विशिष्टा श्रद्धा वीतमोहस्यापि संभवति तस्या मनःकार्यत्वादिति चेन्न, तस्या मनस्कार्यत्वे सर्वमनस्विनां तद्भावानुषंगात्। ज्ञानापेक्षं मनः कारणमिच्छाया इति चेन्न, केषांचिन्मिथ्याज्ञानभावेप्युदासीनदशायां हेयेषूपादित्सानवलोकनात् उपादेयेषु च जिहासाननुभावात्, परेषां सम्यग्ज्ञानसद्भावेपि हेयोपादेयजिहासोपादित्साविरहात्। विषयविशेषापेक्षान्मनसस्तदिच्छाप्रभव इत्यपि न युक्तं, तदभावेपि कस्यचिदिच्छोत्पत्तेस्तद्भावेपि चेच्छानुद्भवात्। कालादयोनेनैवेच्छाहेतवो विध्वस्ताः, तेषां सर्वकार्यसाधारणकारणत्वाच्च नेच्छाविशेषकारणत्वनियमः। स्वोत्पत्तावदृष्टविशेषादिच्छाविशेष इति चेत्, भावादृष्टविशेषाद् द्रव्यादृष्टविशेषाद्वा ? प्रथमकल्पनायां न तावत्साक्षात्

शंका : हेय पदार्थ को छोड़ने की और उपादेय को ग्रहण करने की जो विशिष्ट इच्छा उत्पन्न होती है उस विशिष्ट इच्छा को श्रद्धान कहते हैं और वह श्रद्धा वीतमोही के भी संभव है क्योंकि वह मन का कार्य है? **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि इच्छा को मन का कार्यत्व मान लेने पर सर्व मनस्वियों (मनवालों) के हेय को छोड़ने की इच्छा और उपादेय को ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होने से उन मिथ्यादृष्टियों के भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव का प्रसंग आता है।

प्रश्न : सर्व जीवों की इच्छा मन का कार्य नहीं है अपितु सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा रखने वाला मनः रूप कारण कार्य विशिष्ट इच्छा का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ? **उत्तर :** ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञान के होते हुए भी किन्हीं मिथ्यादृष्टि जीवों के उदासीन अवस्था होने पर हेय पदार्थों के ग्रहण करने की अभिलाषा का अभाव और उपादेय को छोड़ने की इच्छा का अननुभाव (अभाव) देखा जाता है। और किसी सम्यग्दृष्टि श्रावक के सम्यग्ज्ञान होने पर भी छोड़ने योग्य धन, आरंभ आदि में हेय बुद्धि नहीं है और ग्रहण करने योग्य व्रतादि में उपादेय की इच्छा नहीं है।

प्रश्न : विशेष विषयों की अपेक्षा रखने वाले मन से श्रद्धान रूप इच्छा की उत्पत्ति होती है वह सम्यग्दर्शन है? **उत्तर :** ऐसा कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि किसी के विषय विशेष की अपेक्षा न होते हुए भी इच्छा की उत्पत्ति होती है और किसी के विशेष विषय की अपेक्षा होते हुए भी इच्छा उत्पन्न नहीं होती। अतः विशेष विषय की अपेक्षा से होने वाली इच्छा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है।

विशिष्ट काल, क्षेत्र आदि इच्छा के सहकारी कारण होते हैं। इस कथन का भी उपर्युक्त हेतु से खण्डन कर दिया है, क्योंकि काल आदि के सर्व कार्यों के प्रति साधारण कारणत्व है, हेय उपादेय विशिष्ट इच्छा के प्रति कारणत्व का नियम नहीं है। अर्थात् कालादि सभी कार्यों के साधारण कारण है, वे विशिष्ट कार्य के होने में नियामक नहीं हैं।

यदि कहें कि अपनी उत्पत्ति में विशेष अदृष्ट (पुण्य, पाप) से इच्छा होती है, अतः पुण्य, पाप इच्छा विशेष के नियामक हैं; जैसे ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ज्ञानोत्पत्ति का नियामक और असाता कर्म का उदय रोग आदि की उत्पत्ति का नियामक है, तो हम पूछते हैं कि इच्छा विशेष की उत्पत्ति का कारण भाव अदृष्ट विशेष है कि द्रव्य अदृष्ट (पुण्य पाप) विशेष है ? प्रथम कल्पना (भाव अदृष्ट विशेष को इच्छा

भावादृष्टस्यात्मपरिणामस्येच्छाव्यभिचारित्वात्। परंपरया चेत्तर्हि द्रव्यादृष्टादेव साक्षादिच्छोत्पत्तिस्तच्च द्रव्यादृष्टं मोहनीयाख्यं कर्म पौद्गलिकमात्मपारतंत्र्यहेतुत्वादुन्मत्तकरसादिवदिति मोहकार्यमिच्छा कथममोहानामुद्भवेत् यतस्तल्लक्षणं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेषां स्यात्। तदभावे न सम्यग्ज्ञानं तत्पूर्वकं वा सम्यक्चारित्रमिति क्षीणमोहानां रत्नत्रयापायान्मुक्त्यपायः प्रसज्येत। ततस्तेषां तद्व्यवस्थामिच्छता नेच्छा श्रद्धानं वक्तव्यम्॥

निर्देशाल्पबहुत्वादिचिंतनस्याविरोधतः। श्रद्धाने जीवरूपेस्मिन्न दोषः कश्चिदीक्ष्यते॥११॥

न हि निर्देशादयो दर्शनमोहरहितजीवस्वरूपे श्रद्धाने विरुद्ध्यंते तथैव निर्देशादिसूत्रे विवरणात्, नाप्यल्पबहुत्वसंख्याभेदांतरभावाः पुरुषपरिणामस्य नानात्वसिद्धेः। पुरुषरूपस्यैकत्वात् तत्र तद्विरोध एवेति

का उत्पादक कहने) में तो भाव कर्मों का और इच्छा का साक्षात् (अव्यवहित रूप से) कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मपरिणामरूप भावकर्म का इच्छा के साथ व्यभिचार है; क्योंकि आत्मा में *कर्मफल के होने पर इच्छा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। यदि कहो कि भाव कर्म का इच्छा* के साथ साक्षात् कार्य-कारण भाव नहीं है, परम्परा से है तब तो द्रव्य कर्म से ही साक्षात् इच्छा की उत्पत्ति होती है और वह द्रव्य कर्म मोहनीय संज्ञक पौद्गलिक है और वही पौद्गलिक मोहनीय कर्म उन्माद करने वाले धतूरे का रस, शराब आदि के समान आत्मा को परतन्त्र (पराधीन) करने का हेतु है। अतः पौद्गलिक *मोहनीय कर्म का कार्य इच्छा अमोही जीवों* के कैसे उत्पन्न हो सकती है तथा जो श्रद्धान लक्षण सम्यग्दर्शन है वह निर्मोह केवलज्ञानी के कैसे हो सकता है और सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने वाला सम्यक्चारित्र भी नहीं हो सकता तथा रत्नत्रय के अभाव में उनके मुक्तिप्राप्ति के अभाव का प्रसंग आता है। अतः मोहरहित जीवों के रत्नत्रय की व्यवस्था चाहने वाले विद्वानों को इच्छा श्रद्धान को सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिए, अपितु तत्त्वार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहना चाहिए।

''तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है'' ऐसा सम्यग्दर्शन का लक्षण स्वीकार करने पर ही आगे कहे जाने वाले निर्देश, स्वामित्व, अल्पबहुत्व आदि सूत्र के अनुसार कथन के साथ विरोध नहीं आता अर्थात् सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने पर ही सम्यग्दर्शन किसका परिणाम है, उसका साधन क्या है' आदि चिन्तन होता है। तथा जीवपरिणाम रूप इस तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन में अतिव्याप्ति आदि कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता॥११॥

तथा दर्शन मोह रहित जीव के स्वभाव के श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) में निर्देशादि का निरूपण विरुद्ध भी नहीं है - क्योंकि इस प्रकार से ही निर्देशादि सूत्र में सम्यग्दर्शन का निरूपण किया गया है तथा अल्प-बहुत्व, संख्या, भेद, अन्तर, भाव आदि भी इस सम्यग्दर्शन के लक्षण में विरुद्ध नहीं हैं। अर्थात् आत्मपरिणाम सम्यग्दर्शन के अल्प-बहुत्व, संख्या, भेद, अन्तर भाव भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि आत्मा के परिणामों का नानापना सिद्ध ही है अर्थात् आत्मा के औपशमिकादि अनेक परिणाम होते हैं, उनमें भेद, अन्तर आदि भी पाये जाते हैं।

किसी का अभिमत है कि आत्मा एक है, अतः उस आत्मा में अल्पबहुत्व, संख्या आदि के द्वारा भेद मानना विरोधयुक्त है। परन्तु उसका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा वाले आत्मा के एकत्व का अयोग है। यदि दर्शन मोहनीय कर्म के उपशमादि की अपेक्षा

चेन्न, दर्शनमोहोपशमादिभेदापेक्षस्य तस्यैकत्वायोगात्। अन्यथा सर्वस्यैकत्वापत्तिः कारणादिभेदस्याभेदकत्वात्, **क्वचित्तस्य** भेदकत्वे वा सिद्धः पुरुषस्य स्वभावभेदः। इति जीवद्रव्याद्भेदेन निर्देशादयस्तत्र साधीयांसोल्पबहुत्वादिवदिति वक्ष्यते। कर्मरूपत्वेपि श्रद्धानस्य तदविरोध इति चेन्न, तस्य मोक्षकारणत्वाभावात्, स्वपरिणामस्यैव तत्कारणत्वोपपत्तेः। कर्मणोपि मुक्तिकारणत्वमविरुद्धं स्वपरनिमित्तत्वान्मोक्षस्येति चेन्न, कर्मणोन्यस्यैव कालादेः परनिमित्तस्य सद्भावात्। ननु च यथा मोक्षो जीवकर्मणोः परिणामस्तस्य द्विष्ठत्वात्, तथा मोक्षकारणश्रद्धानमपि तदुभयविवर्तरूपं भवत्विति चेन्न, मोक्षावस्थायां तदभावप्रसंगात्, स्वपरिणामिनोऽसत्त्वे परिणामस्याघटनात्, पुरुषपरिणामादेव च कर्मसामर्थ्यहननात्तस्य कर्मरूपत्वायोगात्।

में भी आत्मा में एकत्व मान लिया जाए तो सर्व जीवादि पदार्थों में एकत्व की आपत्ति आयेगी अर्थात् सर्व पदार्थ एक हो जायेंगे।

क्योंकि आपने कारणभेद, गुणभेद, आकारभेद आदि भेदों से द्रव्यों में भेद नहीं माना है। यदि कहीं पर कारण, गुण, आकार आदि में भेदकत्व स्वीकार करेंगे तो आत्मा के स्वभावभेद सिद्ध हो जाता है। अर्थात् सत् , संख्या आदि की अपेक्षा वस्तु में भेद है अतः जीवद्रव्य से श्रद्धा गुण की भेदविवक्षा करने पर उसमें अल्पबहुत्व आदि के समान निर्देश आदि भी भली प्रकार सिद्ध होते हैं, ऐसा आगे कहेंगे।

शंका : मोहनीय कर्म प्रकृतियों में भी सम्यक्त्व नाम की प्रकृति है अतः सम्यग्दर्शन को कर्मत्व मानने में कोई विरोध नहीं है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस कर्मप्रकृति में मोक्ष के कारणत्व का अभाव है, आत्मपरिणाम के ही मोक्षकारणत्व की उत्पत्ति होती है अर्थात् आत्मपरिणाम रूप औपशमिकादि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का कारण होता है। **सम्यक्त्व प्रकृति आदि मोक्ष का कारण नहीं है।**

प्रश्न : कर्म रूप सम्यक्त्व प्रकृति को मोक्ष का कारण मानने में कोई दोष नहीं है (अविरुद्ध है) क्योंकि मोक्ष की उत्पत्ति स्व-पर निमित्त से होती है। **उत्तर :** ऐसा कथन उचित नहीं है, मोक्ष की उत्पत्ति में सम्यक्त्व प्रकृति को कारण मानना ठीक नहीं है क्योंकि मोक्ष की उत्पत्ति में उपादान कारण तो आत्मपरिणाम ही हैं तथा अन्य काल आदि परनिमित्त के कारणत्व का सद्भाव है। इससे भिन्न कर्म मोक्ष का कारण नहीं है। अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृति को मोक्ष का कारण मानना उचित नहीं है।

शंका : जैसे मोक्ष जीव और कर्म की पर्याय है, अर्थात् आत्मा और पौद्गलिक कर्मों का पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष है। अतः दोनों में रहने वाला धर्म है। उसी प्रकार मोक्ष का कारण श्रद्धान भी दोनों की पर्याय होनी चाहिए।

समाधान : ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि यदि श्रद्धान गुण को जीव और पुद्गल दोनों का परिणाम माना जायेगा तो मोक्ष अवस्था में श्रद्धान गुण के अभाव का प्रसंग आयेगा। स्वपरिणामी (परिणमन करने वाले धर्मी) के अभाव में उसकी परिणमन रूप पर्याय का रहना भी घटित नहीं हो सकता।

तथा आत्मा के परिणाम से ही कर्म (सम्यक्त्वप्रकृति) के सामर्थ्य (रस) का घात होता है, अतः सम्यग्दर्शन के कर्मरूपत्व होने का अयोग है। इसलिए सम्यग्ज्ञान के समान अहेय (जिसका त्यजन-त्याग नहीं होता उसे अहेय कहते हैं) होने से तथा मोक्ष का प्रधान कारण होने से सम्यग्दर्शन कर्मप्रकृति रूप नहीं

ततो न कर्मरूपं सम्यग्दर्शनं निःश्रयसप्रधानकारणत्वादहेयत्वात्सम्यग्ज्ञानवत्। निःश्रेयसस्य प्रधानं कारणं सम्यग्दर्शनमसाधारणस्वधर्मत्वात्तद्वत्। असाधारणः स्वधर्मः सद्दर्शनं मुक्तियोग्यस्य ततोन्यस्यासंभवात्तद्वत्। इति जीवरूपे श्रद्धाने सद्दर्शनस्य लक्षणे न कश्चिद्दोषोसंभवोतिव्याप्तिरव्याप्तिर्वा समीक्ष्यते ॥

सरागे वीतरागे च तस्य संभवतोंजसा। प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्राच्च चेतसः ॥१२॥

यथैव हि विशिष्टात्मस्वरूपं श्रद्धानं सरागेषु संभवति तथा वीतरागेष्वपीति तस्याव्याप्तिरपि दोषो न शंकनीयः। कुतस्तत्र तस्याभिव्यक्तिरिति चेत्, प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्येभ्यः सरागेषु सद्दर्शनस्य वीतरागेष्वात्मविशुद्धिमात्रादित्याचक्षते। तत्रानंतानुबंधिनां रागादीनां मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः।

है। सम्यग्ज्ञान के समान असाधारण आत्मीय धर्म होने से सम्यग्दर्शन मोक्ष का प्रधान कारण है। सम्यग्ज्ञान के समान सम्यग्दर्शन भी मुक्ति योग्य भव्य का असाधारण स्व धर्म है। मुक्तियोग्य भव्य को छोड़कर अन्य मिथ्यादृष्टि के उसकी असंभवता है। इस प्रकार जीवरूप सम्यग्दर्शन के श्रद्धानरूप लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव रूप कोई भी दोष दृष्टिगोचर नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के इस लक्षण की सराग और वीतराग दोनों सम्यग्दर्शनों में संभवता है। अतः यह लक्षण निर्दोष है। **सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव से अभिव्यक्ति (प्रगटता) लक्षण वाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है ॥१२॥**

जैसे विशिष्ट आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप श्रद्धान सराग सम्यग्दर्शन में संभव है (पाया जाता है) उसी प्रकार वीतराग सम्यग्दर्शन में भी सम्यग्दर्शन का यह लक्षण पाया जाता है। इसलिए, सम्यग्दर्शन के इस लक्षण में अव्याप्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न : *सम्यग्दृष्टि जीवों में सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति (प्रगटता) किससे जानी जाती है ?*

उत्तर : प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य- इन चारों स्वभावों से सरागी जीवों में सम्यग्दर्शन जाना जाता है और वीतरागियों में आत्मविशुद्धि मात्र से सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा जाता है।

उनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप रागादिक की तथा मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व *की उदय-उदीरणा नहीं होना (अनुद्रेक होना)* **प्रशम भाव है।**

विशेषार्थ : तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं को तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्म योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण कर छोड़ दिया, पुनः अनन्तबार गृहीत, अगृहीत एवं मिश्र वर्गणाओं को ग्रहणकर तत्पश्चात् उन्हीं तीव्र मन्द भावों से पूर्व गृहीत वर्गणाओं का ग्रहण करना **द्रव्य परिवर्त्तन** है।

तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण सारे क्षेत्र का जन्मस्थान बनना क्षेत्र परिवर्तन है-अर्थात् कोई जीव घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर को धारण कर मरा, तत्पश्चात् घनांगुल के जितने असंख्यात भाग प्रमाण प्रदेश हैं उतने ही शरीर धारण कर मरता है, जन्मता है, पुनःसारे क्षेत्र को जन्म स्थान बनाना **क्षेत्र परिवर्त्तन** है।

द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनरूपात् संसाराद्भीरुता संवेगः। त्रसस्थावरेषु प्राणिषु दयानुकंपा। जीवादितत्त्वार्थेषु युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धेषु याथात्म्योपगमनमास्तिक्यं। एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदितानि, परत्र कायवाग्व्यवहारविशेषलिंगानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयंति, तदभावे मिथ्यादृष्टिष्वसंभवित्वात्, संभवे वा मिथ्यात्वायोगात्। मिथ्यादृशामपि केषांचित्क्रोधाद्यनुद्रेकदर्शनात् प्रशमोऽनैकांतिक इति चेन्न, तेषामपि

कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुनःवही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ, और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया। इस प्रकार क्रम से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के काल को जन्म और मरण कर समाप्त किया, उसको **काल परिवर्त्तन** कहते हैं अर्थात् जन्म और मरण का नैरन्तर्य लेना चाहिए।

सर्वप्रथम, प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े में दस हजार वर्ष की आयु लेकर जन्म लिया, पुनः दस हज़ार वर्ष के जितने समय हैं-उतनी बार दस हज़ार वर्ष की आयु धारण कर-कर के जन्मा और मरा-तत्पश्चात् दस हजार वर्ष एक समय, दो समय आदि की क्रम से वृद्धि करते हुए तैंतीस सागर की आयु पूर्ण करना, इसी प्रकार तिर्यंच एवं मनुष्यों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त से तीन पल्य तक और देवों की दस हजार वर्ष से इकतीस सागर तक की आयु धारण कर जन्म-मरण करना **भव परिवर्त्तन** है। इकतीस सागर से उत्कृष्ट आयु वाले देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, उनका संसार-परिभ्रमण नहीं होता।

जिसमें श्रेणी के असंख्यातवें भाग योग असंख्यात लोक प्रमाण कषायबंधाध्यवसान और उससे भी असंख्यात लोक गुणित अनुभागबंधाध्यवसान स्थानों में पूर्वोक्त क्रम से संज्ञी जीव के अन्तःकोटा कोटी प्रमाण कर्मों की स्थिति से लेकर उत्कृष्ट तीस कोटा कोटी आदि स्थिति पूर्ण की जाती है; अनन्त वर्षों में पूर्ण होने वाले इस सम्पूर्ण संसरण का नाम **भाव परिवर्तन** है।

इस प्रकार दुःखमय इस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्त्तनरूप संसार से भयभीत होना **संवेग भाव** है।

त्रस और स्थावर जीवों में दया रखना **अनुकम्पा** है। युक्ति और आगम से अविरुद्ध जीवादितत्त्वार्थों में वास्तविकत्त्व को स्वीकार करना **आस्तिक्य** गुण है।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य-इन चारों में से एक वा चारों एकत्र होकर अपनी आत्मा में स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे तथा दूसरों में शरीर की चेष्टा, वचन व्यवहार आदि विशेष ज्ञापक चिह्नों से अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शन के ज्ञापक होते हैं। अर्थात् स्वसंवेदन से जाने गये ये अपनी आत्मा में, और वचन आदि क्रियाओं से अनुमान से जाने गए ये दूसरे में सराग सम्यग्दर्शन का अनुमान कराते हैं। सम्यग्दर्शन गुण के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीवों में प्रशम आदि गुणों की असंभवता है। यदि प्रशम आदि गुणों का होना संभव है तो मिथ्यादृष्टिपना सभव नहीं है।

सर्वथैकांतेऽनंतानुबंधिनो मानस्योदयात्। स्वात्मनि चानेकांतात्मनि द्वेषोदयस्यावश्यंभावात् पृथिवीकायिकादिषु प्राणिषु हननदर्शनाच्च। एतेन संवेगानुकंपयोर्मिथ्यादृष्टिष्वसंभवकथनादनैकांतिकता हता, संविग्नस्यानुकंपावतो वा नि:शंकप्राणिघाते प्रवृत्त्यनुपपत्ते:। सद्दृष्टेरप्यज्ञानात्तत्र तथा प्रवृत्तिरिति चेत्, व्याहतमिदं 'सद्दृष्टिश्च जीवतत्त्वानभिज्ञश्चे'ति तदज्ञानस्यैव मिथ्यात्वविशेषरूपत्वात्। परेषामपि स्वाभिमततत्त्वेष्वास्तिक्यस्य भावादनैकांतिकत्वमिति चेत् न, सर्वथैकांततत्त्वानां दृष्टेष्टबाधितत्वेन व्यवस्थानायोगादेकांतवादिनां भगवदर्हत्स्याद्वादश्रद्धानविधुराणां नास्तिकत्वनिर्णयात्। तदुक्तं। "त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकांतवादिनाम्। आत्माभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते" इति। तदनेन प्रशमादिसमुदायस्यानैकांतिकत्वोद्भावनं प्रतिक्षिप्तं।

शंका : किन्हीं-किन्हीं मिथ्यादृष्टियों में भी क्रोधादि का अनुद्रेक देखा जाता है अत: सम्यग्दर्शन की सिद्धि के लिए दिया गया प्रशम हेतु अनैकान्तिक (पक्ष-विपक्ष दोनों में जाने से व्यभिचारी) है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उन मिथ्यादृष्टियों में भी अपने माने गए सर्वथा एकान्त पक्ष में अनन्तानुबन्धी मान कषाय का उदय पाया जाता है। अनेकान्तात्मक निजात्मा में तथा स्याद्वाद सिद्धान्त में द्वेष का उदय अवश्यंभावी (अवश्य रहता) है। और उन मिथ्यादृष्टियों में पृथिवीकायादि प्राणियों का घात भी दृष्टिगोचर होता है। इस कथन से संवेग और अनुकम्पा की मिथ्यादृष्टियों में असंभवता का कथन होने से व्यभिचार दोष का निराकरण कर दिया गया है। अर्थात्-सम्यग्दर्शन के गुण प्रशम-संवेग मिथ्यादृष्टियों में नहीं पाये जाते।

संवेगशील और अनुकम्पा वाले जीव की निशंक होकर प्राणिघात में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है अर्थात् संसार से भयभीत और अनुकम्पाशील प्राणी की प्राणिघात में अनर्गल प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि के भी अज्ञान भाव से जीवघात में प्रवृत्ति हो सकती है ?

उत्तर : "सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्व का ज्ञाता होता है" इस कथन से सम्यग्दृष्टि के अज्ञान भाव से जीवादि घात में प्रवृत्ति होती है, इसका खण्डन कर दिया है। क्योंकि, जीवतत्त्व में अज्ञान का होना ही मिथ्यात्व का एक विशेष स्वरूप है।

शंका : मिथ्यादृष्टियों के भी अपने-अपने अभिमत तत्त्वों में आस्तिकत्व का सद्भाव पाया जाता है, अत: सम्यग्दर्शन का आस्तिक्यगुण अनैकान्तिक दोष से दूषित है ?

समाधान : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा अभिमत सर्वथा एकान्तरूप तत्त्वों की प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित होने के कारण व्यवस्था नहीं हो सकती है। अत: भगवान अर्हन्तदेव के द्वारा उपदिष्ट स्याद्वाद श्रद्धान से विधुर (रहित) एकान्तवादियों के नास्तिकत्व का ही निर्णय है। अर्थात् वीतराग देव कथित तत्त्व से पराङ्मुख एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि नास्तिक ही हैं। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-"हे जिनेन्द्र देव। आपके मतरूपी अमृत से बहिर्भूत, स्वकीय तत्त्वों के अभिमान से दग्ध, सर्वथा एकान्तवादियों का इष्टतत्त्व (अभीष्ट पदार्थ) प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।" इस कथन के द्वारा प्रशम,

ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्याः श्रद्धानमपि तत्त्वार्थानां किन्न स्वसंवेद्यं ? यतस्तेभ्योनुमीयते। स्वसंवेद्यत्वाविशेषेपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्धीतान्यत्र परीक्षकादिति चेत्, नैतत्सारं, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात्। स्वसंवेद्यं पुनरास्तिक्यं तदभिव्यंजकं प्रशमसंवेगानुकंपावत् कथंचित्ततो भिन्नं तत्फलत्वात्। तत एव फलतद्वतोरभेदविवक्षायामास्तिक्यमेव तत्त्वार्थश्रद्धानमिति, तस्य तद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तदनुमेयत्वमपि न विरुध्यते। मतांतरापेक्षया च स्वसंविदितेपि तत्त्वार्थश्रद्धाने विप्रतिपत्तिसद्भावात्तन्निराकरणाय तत्र प्रशमादिलिंगादनुमाने दोषाभावः। सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति हि केचिद्विप्रवदंते तान् प्रति ज्ञानात् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते। ज्ञानकार्यत्वात्तेषां न तत्प्रकाशकत्वमिति चेन्न, अज्ञाननिवृत्ति-फलत्वात् ज्ञानस्य।

संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य के समुदाय रूप हेतु के अनैकान्तिक दोष के उद्भावन का खण्डन कर दिया गया है अर्थात् प्रशम आदि हेतु में अनैकान्तिक दोष नहीं है।

शंका : यदि प्रशमादि भाव अपनी आत्मा में स्वसंवेद्य (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जाने जाते) हैं-तो तत्त्वार्थ श्रद्धान भी अपनी आत्मा में स्वसंवेद्य क्यों नहीं है-जिससे कहते हो कि तत्त्वार्थ श्रद्धान प्रशमादि के द्वारा जाना जाता है ? स्वसंवेद्यत्व की अपेक्षा तत्त्वार्थ श्रद्धान में और प्रशमादि गुणों में समानता होने पर भी कहा जाता है कि प्रशमादिक के द्वारा तत्त्वार्थ श्रद्धान अभिव्यक्त होता है। श्रद्धान के द्वारा प्रशम आदि अभिव्यक्त नहीं होते हैं। अज्ञानी को छोड़कर ऐसा दूसरा कौन विश्वास करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा। अर्थात्-प्रशमादिके द्वारा तत्त्वार्थश्रद्धान गम्य है, स्वसंवेदन के द्वारा तत्त्वार्थ श्रद्धान गम्य नहीं है, इस कथन का विश्वास अन्धश्रद्धानी के अतिरिक्त भला कौन विचारशील करेगा ? कोई नहीं करेगा।

समाधान : इस कथन में कोई सार नहीं है क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न विशिष्ट आत्मस्वरूप रूप तत्त्वार्थश्रद्धान का स्वसंवेदन के द्वारा निश्चय नहीं होता। तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म गुण है। अतः वह सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय न होने से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु प्रशमादि गुणों के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

प्रशम, संवेग और अनुकम्पा के समान स्वसंवेद्य आस्तिक्य गुण भी तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का अभिव्यञ्जक है। ये चारों गुण सम्यग्दर्शन के फल हैं, फल होने से कथंचित् ये सम्यग्दर्शन से भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं। अतः कथंचित् फल और फलवान में अभेद विवक्षा करने पर आस्तिक्य भाव ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है तथा आस्तिक्य भाव के समान तत्त्वार्थ श्रद्धान के स्वसंवेदन प्रत्यक्षत्व सिद्ध हो जाने से आस्तिक्य के द्वारा श्रद्धान को अनुमेय मानना विरुद्ध नहीं है।

किञ्च : तत्त्वार्थ श्रद्धान के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाने पर भी मतान्तर की अपेक्षा (कोई सम्यग्दर्शन को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानते हैं, कोई नहीं मानते) विवाद का सद्भाव होने से उस विवाद का निराकरण करने के लिए प्रशमादि गुणों के द्वारा सम्यग्दर्शन का अनुमान कर लेने में कोई दोष नहीं है। जैसे कोई ''ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है'' -ऐसा विवाद करते हैं, उनके प्रति ज्ञान गुण से भिन्न दर्शन को प्रशमादि कार्य-विशेषों के द्वारा अभिव्यक्त (प्रकाशित) किया गया है।

साक्षादज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानस्य फलं, परंपरया प्रशमादयो हानादिबुद्धिवदिति चेत्, तर्हि हानादिबुद्धिवदेव ज्ञानादुत्तरकालं प्रशमादयोऽनुभूयेरन्, न चैवं ज्ञानसमकालं प्रशमाद्यनुभवनात्। पूर्वज्ञानफलत्वात् प्रशमादेः साम्प्रतिकज्ञानसमकालतयानुभवनमिति चेत्, तर्हि पूर्वज्ञानसमकालवर्तिनोपि प्रशमादेस्तत्पूर्वज्ञानफलत्वेन भवितव्यमित्यनादित्वप्रसक्तिरवितथा ज्ञानस्य। सम्यग्दर्शनसमसमयमनुभूयमानत्वात् प्रशमादेस्तत्फलत्वमपि मा भूत् इति चेन्न, तस्य तदभिन्नफलत्वोपगमात्तत्समसमयवृत्तित्वाविरोधात्। ततो दर्शनकार्यत्वाद्दर्शनस्य ज्ञापकाः प्रशमादयः सहचरकार्यत्वात्तु ज्ञानस्येत्यनवद्यं। परत्र प्रशमादयः संदिग्धासिद्धत्वान्न सद्दर्शनस्य गमका इति चेन्न, कायवाग्व्यवहारविशेषेभ्यस्तेषां तत्र सद्भावनिर्णयस्योक्तत्वात् । तेषां तद्व्यभिचारान्न

प्रश्न : प्रशमादिक के ज्ञान का कार्यपना होने से उनमें सम्यग्दर्शन का प्रकाशकपना नहीं है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान का फल तो अज्ञान की निवृत्ति है।

प्रश्न : ज्ञान का साक्षात् फल है अज्ञान की निवृत्ति और परम्परा फल है-प्रशम, संवेग आदि। जैसे ज्ञान का परम्परा फल है हेय पदार्थ में त्यागबुद्धि, उपादेय की ग्रहण बुद्धि और उपेक्षणीय पदार्थों में उपेक्षा बुद्धि।

उत्तर : यदि हान आदि के समान प्रशम आदि भावों को ज्ञान का फल स्वीकार किया जायेगा, तो ज्ञान के उत्तर काल में हानादि के समान प्रशमादि का अनुभव होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है, अपितु ज्ञान के सम काल में ही प्रशमादि गुणों का अनुभव होता है। यदि कहो कि पूर्व (भूतकाल के) ज्ञान का फल प्रशमादि वर्तमानकालीन ज्ञान के साथ अनुभव में आ रहा है (वर्तमानकालीन प्रशमादि वर्तमान काल के साथ अनुभव में नहीं आ रहे हैं), तो पूर्व ज्ञान के सम काल में होने वाले प्रशम, संवेग आदि का उससे भी पहले काल के ज्ञान का फलपना होना चाहिए। इस प्रकार मानने पर सम्यग्ज्ञान के अनादिपने का प्रसंग आता है (परन्तु सम्यग्ज्ञान अनादि नहीं है)।

प्रश्न : कोई कहता है-सम्यग्दर्शन के सम काल में अनुभूयमानपना होने से प्रशम आदि के सम्यग्दर्शन का फलत्व नहीं होता (क्योंकि ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन के अनादित्व का प्रसंग आता है)।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उन प्रशम आदि को सम्यग्दर्शन का अभिन्न फल स्वीकार किया गया है। अतः प्रशम आदि का सम्यग्दर्शन के काल में रहने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् अभिन्नफल कारण के समान समय में रह सकता है। अतः यह निर्दोष सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन का कार्य होने से प्रशम, संवेग आदि गुण सराग सम्यग्दर्शन के ज्ञापक हैं तथा सम्यग्ज्ञानरूप साध्य के साथ रहने वाले सम्यग्दर्शन गुण का कार्य होने से प्रशम आदि सम्यग्ज्ञान के भी ज्ञापक हैं।

प्रश्न : दूसरे प्राणियों में संदिग्ध (अनिर्णीत) होने से प्रशम आदि सम्यग्दर्शन के ज्ञापक हेतु नहीं हैं ?

तत्सद्भावनिर्णयहेतुत्वमिति चेन्न, सुपरीक्षितानामव्यभिचारात्। सुपरीक्षितं हि कार्यं कारणं गमयति नान्यथा। यदि पुनरतींद्रियत्वात् परप्रशमादीनां तद्भावे कायादिव्यवहारविशेषसद्भावोऽशक्यो निश्चेतुमिति मतिः, तदा तदभावे तद्भाव इति कथं निश्चीयते ? तत एव संशयोस्त्विति चेन्न, तस्य क्वचित्कदाचिन्निर्णयमंतरेणानुपपत्तेः स्थाणुपुरुषसंशयवत् । स्वसंताने निर्णयोस्तीति चेत्, तर्हि यादृशाः प्रशमादिषु सत्सु कायादिव्यवहारविशेषाः स्वस्मिन्निर्णीतास्तादृशाः परत्रापि तेषु सत्स्वेवेति निर्णीयतां। यादृशास्तु तेष्वसत्सु प्रतीतास्तादृशाः तदभावस्य गमकाः कथं न स्युः संशयितस्वभावास्तु तत्संशयहेतव इति युक्तं वक्तुं । नन्वेवं यथा सरागेषु तत्त्वार्थश्रद्धानं

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि हम पूर्व में कह चुके हैं कि काय, वचन आदि के व्यवहार विशेष से सम्यग्दर्शन में प्रशमादि गुणों के सद्भाव का निर्णय है। **शंका :** कायचेष्टा आदि का प्रशम आदि के साथ अविनाभाव न होने से व्यभिचारी हेतु है। अर्थात्- काय और वचन की शांत चेष्टा मिथ्यादृष्टि के भी पाई जाती है। अतः प्रशम आदि हेतु सम्यग्दर्शन के विपक्ष मिथ्यादृष्टि में भी जाने से व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है। अतः प्रशमादि सम्यग्दर्शन के सद्भाव के निर्णायक हेतु नहीं हैं।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि सुपरीक्षित (भले प्रकार निर्णीत) प्रशम आदि हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक) नहीं हैं, तथा सुपरीक्षित हेतु ही कार्य का गमक (ज्ञापक) होता है, जो सुपरीक्षित नहीं है, वह हेतु कार्य का गमक नहीं होता।

यदि तुम कहो कि परम प्रशमादि गुणों के अतीन्द्रियत्व होने से (इन्द्रियों के द्वारा गम्य न होने से) प्रशम आदि के सद्भाव में कायादि व्यवहार विशेष के सद्भाव का निश्चय करना शक्य नहीं है। अर्थात्- प्रशम आदि गुण वाले की विशेष कायादि चेष्टा है-ऐसा जानना शक्य नहीं है, तो हम पूछते हैं कि प्रशम आदि गुणों के नहीं रहने पर भी कायादि की प्रशान्त आदि रूप विशेष चेष्टा होती है, यह कैसे जाना जा सकता है ?

जिस प्रकार वचन आदि के द्वारा दूसरों के प्रशम आदि का निर्णय नहीं कर सकते, अतः वह संशययुक्त है, उसी प्रकार प्रशम आदि के न होने पर विशेष व्यवहार होता है-यह अनिर्णीत होने से संशययुक्त है। ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जैसे किसी स्थान और किसी काल में पुरुष और स्थाणु का निर्णय हुए बिना स्थाणु (ठूंठ) में 'पुरुष है या स्थाणु' ऐसा संशय नहीं हो सकता उसी प्रकार किसी स्थान पर और किसी काल में प्रशम आदि धर्मों का निश्चय किये बिना संशय नहीं हो सकता।

यदि संतान रूप अपनी आत्मा में शरीर आदि की चेष्टा से प्रशम आदि का निर्णय कर लेते हो तो जैसा प्रशमादिक के कायादिक का व्यवहार विशेष अपनी आत्मा में निर्णीत है (निश्चित है) वैसा दूसरों की आत्मा में भी उन प्रशमादिक के होने पर विशिष्ट कायादि चेष्टा का निर्णय करना चाहिए तथा जैसी काय, वचन व्यवहार आदि की विशेषतायें अपनी आत्मा में प्रशम आदि के न होने पर प्रमाणों के द्वारा जान ली जाती है, उसी प्रकार यदि विशेषतायें दूसरे को आत्मा में भी होंगी तो उस पुरुष के प्रशम आदि गुणों के

प्रशमादिभिरनुमीयते तथा वीतरागेष्वपि तत्तैः किं नानुमीयते ? इति चेन्न, तस्य स्वस्मिन्नात्मविशुद्धिमात्रत्वात् सकलमोहाभावे समारोपानवतारात् स्वसंवेदनादेव निश्चयोपपत्तेरनुमेयत्वाभावः। परत्र तु प्रशमादीनां तल्लिङ्गानां सतामपि निश्चयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामपि तदुपायानामभावात्। कथमिदानीमप्रमत्तादिषु सूक्ष्मसांपरायांतेषु सद्दर्शनं प्रशमादेरनुमातुं शक्यं? तन्निर्णयोपायानां कायादिव्यवहारविशेषाणामभावादेव। न हि तेषां कश्चिद्व्यापारोस्ति वीतरागवत्, व्यापारे वा तेषामप्रमत्तत्वादिविरोधादिति कश्चित्। सोप्यभिहितानभिज्ञः,

---

अभाव की गमक (ज्ञापक) क्यों नहीं होंगी ? और संशयित स्वभाव तो संशय का ही हेतु होता है, ऐसा युक्तियों से कह सकते हैं। अर्थात् संशय स्वभाव संशय का ही कारण है-ऐसा कहना ठीक है।

प्रश्न : जैसे सराग सम्यग्दृष्टियों में तत्त्वार्थश्रद्धान प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव के द्वारा जाना जाता है, वैसे वीतराग सम्यग्दृष्टियों में तत्त्वार्थश्रद्धान प्रशमादि भावों के द्वारा अनुमेय (गम्य) क्यों नहीं होता?

उत्तर : ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि वीतराग सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन तो केवल आत्मविशुद्धि रूप ही है। सकल मोह का अभाव हो जाने से वीतराग सम्यग्दर्शन में समारोप (संशय विपर्यय और अनध्यवसाय) का अवतरण (उत्पत्ति) भी नहीं हो सकता (मोह के कारण ही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होते हैं)। वीतरागी पुरुष को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से वीतराग सम्यग्दर्शन (आत्मविशुद्धि) का निश्चय ज्ञान हो जाने से अनुमेयत्व (दूसरे कारणों से जानने पने) का अभाव है। दूसरे, वीतराग सम्यग्दृष्टियों में सम्यग्दर्शन के ज्ञापक प्रशम आदि कारणों के होने पर भी तथा शरीर, वचन आदि की विशेष चेष्टाएँ रहने पर उन चेष्टाओं में आत्मविशुद्ध रूप वीतराग सम्यग्दर्शन के निर्णय कराने के उपायों का (शक्ति का) अभाव है।

विशेष: तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक में सात प्रकृतियों के अभाव में होने वाले सम्यक्त्व को तथा **सर्वार्थसिद्धि** में आत्मविशुद्धि मात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है। श्लोकवार्त्तिक के पठन से दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सकल मोह (दर्शन मोह)का अभाव कहने से क्षायिक सम्यक्त्व और उससे होने वाली निर्मल आत्मविशुद्धि ये दोनों एक ही हैं। सकलमोह से यहाँ सम्पूर्ण मोह के अभावरूप दसवें गुणस्थान आदि की वीतराग अवस्था का ग्रहण नहीं होता क्योंकि इस ग्रन्थ में वीतराग सम्यग्दृष्टि के कायचेष्टा और वचनव्यवहार स्वीकार किया है। अत: सकल दर्शनमोह के अभाव में जो अचल आत्मविशुद्धि उत्पन्न हुई है वह अनुमानगम्य नहीं है अपितु स्वसंवेदनगम्य है। वा केवलीगम्य है। वे ही क्षायिक या उपशम आदि के भेद को जानते हैं।

कोई कहता है कि-इस समय अप्रमत्तादि गुणस्थान से लेकर सूक्ष्म साम्पराय पर्यन्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन प्रशमादि के द्वारा कैसे गम्य हो सकता है ? क्योंकि उन गुणस्थानों में प्रशमादिक के निर्णय करने के उपाय कायादि व्यवहार विशेषों का अभाव ह। उन गुणस्थानों में वीतराग के समान चलना, बोलना आदि

सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमीयत इत्यनभिधानात्, यथासंभवं सरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वमात्मविशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात् । तत एव सयोगकेवलिनो वाग्व्यवहारविशेषदर्शनात् सूक्ष्माद्यर्थविज्ञानानुमानं न विरुध्यते।

प्रधानस्य विवर्तोऽयं श्रद्धानाख्य इतीतरे। तदसत्पुंसि सम्यक्त्वभावासंगात्ततो परे ॥ १३ ॥

न हि प्रधानस्य परिणाम: श्रद्धानं ततोऽपरस्मिन् पुरुषे सम्यक्त्वमिति युक्तं लक्ष्यलक्षणयोर्भिन्नाश्रयत्वविरोधादग्न्युष्णत्ववत्॥

प्रधानस्यैव सम्यक्त्वाच्चैतन्यं सम्यगिष्यते। बुद्ध्यध्यवसितार्थस्य पुंसा संचेतनाद्यदि ॥१४॥

तदाहंकारसम्यक्त्वात् बुद्धेः सम्यक्त्वमश्नुते। अहंकारास्पदार्थस्य तथाप्यध्यवसानतः ॥१५॥

मन:सम्यक्त्वतः सम्यगहंकारस्तथा न किम्। मन:संकल्पितार्थेषु तत्प्रवृत्तिप्रकल्पनात् ॥१६॥

कोई भी व्यापार (क्रिया) नहीं है, क्योंकि उनके चलना आदि क्रिया मान लेने पर अप्रमत्तत्व का विरोध आता है। अर्थात् शरीर आदि की क्रिया अप्रमत्त अवस्था में नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं, इस प्रकार कहने वाला हमारे अभिप्राय को जानने वाला नहीं है क्योंकि "सारे ही सरागी मानवों का सम्यग्दर्शन प्रशम आदि के द्वारा जाना जाता है" -ऐसा हमारा अभिमत नहीं है, अपितु, सरागी और वीतरागी सर्व सम्यग्दृष्टियों में सम्यग्दर्शन का अनुमेयत्व आत्मविशुद्धि मात्र ही है, ऐसा हमारा अभिप्राय है। इसलिए ही सयोगकेवली के वचन-व्यवहार-विशेष के देखने से सूक्ष्माद्यर्थ के विज्ञान का अनुमान विरुद्ध भी नहीं है। अर्थात् केवली भगवान के विशिष्ट वचनों के द्वारा प्रभु के सूक्ष्मादि अर्थों के ज्ञान (सर्वज्ञता) का अनुमान कर लिया जाता है।

कोई (**सांख्य**) कहता है कि-तत्त्वार्थ श्रद्धान नामक गुण रज, सत्व और तमो गुण की साम्य अवस्थारूप प्रधान (प्रकृति) की पर्याय है परन्तु उनकी यह धारणा प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि प्रधान से सर्वथा भिन्न आत्मा में सम्यक्त्व का सद्भाव नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा में सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है, क्योंकि आत्मा से सर्वथा भिन्न प्रधान का सम्यग्दर्शन गुण आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण की व्यवस्थापना नहीं कर सकता॥ १३ ॥

प्रधान का परिणाम श्रद्धान प्रकृति (प्रधान) से सर्वथा भिन्न दूसरे पुरुष में सम्यक्त्व गुण को उत्पन्न करता है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अग्नि और उष्णत्व के समान लक्ष्य वचन और लक्षण वचनों के वाच्यार्थों का भिन्न अधिकरणत्व मानने में विरोध आता है। अर्थात्-लक्ष्य और लक्षण का एक ही अधिकरण होता है, भिन्न-भिन्न नहीं, जैसे लक्ष्य वचन अग्नि और लक्षण वचन उष्णता का एक ही अधिकरण है। लक्ष्य और लक्षण में शब्दाधिकरण भिन्न-भिन्न होते हुए भी अर्थाधिकरण एक ही है।

कोई (**कपिल** मतानुसारी)कहता है कि प्रधान की समीचीनता से ही चैतन्य (आत्मा)समीचीन (सम्यग्दृष्टि) कहलाता है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा समीचीन रूप से निश्चित अर्थ की ही आत्मा के द्वारा संचेतना (समीचीन अनुभव) होती है॥१४॥ आचार्य कहते हैं-यदि प्रधान के सम्यक्त्व से आत्मा सम्यग्दृष्टि बनती है तो बुद्धि की पर्याय अहंकार की समीचीनता स बुद्धि को भी समीचीनता प्राप्त होगी, क्योंकि अहंकार

तथैवेंद्रियसम्यक्त्वान्मनः सम्यगुपेयताम्। इंद्रियालोचितार्थेषु मनःसंकल्पनोदयात् ॥१७॥

इंद्रियाणि च सम्यश्चि भवंतु परतस्तव। स्वाभिव्यंजकसम्यक्त्वादिभिः सम्यक्त्वतः किमु ॥१८॥

अर्थस्वव्यंजकाधीनं मुख्यं सम्यक्त्वमिष्यते। इंद्रियादिषु तद्वत्स्यात् पुंसि तत्परमार्थतः ॥१९॥

एवं प्रधानसम्यक्त्वाच्चैतन्यसम्यक्त्वेऽभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसंजनमुक्तं। तत्त्वतस्तु—

न च प्रधानधर्मत्वं श्रद्धानस्य चिदात्मनः । चैतन्यस्यैव संसिद्ध्येदन्यथा स्याद्विपर्ययः ॥२०॥

चिदात्मकत्वमसिद्धं श्रद्धानस्येति चेन्न, तस्य स्वसंवेदनतः प्रसिद्धेर्ज्ञानवत्। साधितं ज्ञानादीनां चेतनात्मकत्वं पुरस्तात् ॥

न श्रद्धत्ते प्रधानं वा जडत्वात्कलशादिवत्। प्रतीत्याश्रयणे त्वात्मा श्रद्धातास्तु निराकुलम् ॥२१॥

न हि श्रद्धाताहमिति प्रतीतिरचेतनस्य प्रधानस्य जातुचित्संभाव्यते कलशादिवत् । यतोयमात्मैव

के विषयभूत अर्थों का ही बुद्धि के द्वारा निर्णय होता है तथा अहंकार के परिणमन रूप मन की समीचीनता से अहंकार भी सम्यग् क्यों नहीं होगा ? क्योंकि मन के द्वारा संकल्पित अर्थों में ही अहंकार की प्रवृत्ति होती है॥१५-१६॥ और, इन्द्रियों के सम्यक्त्व से मन भी सम्यक्त्व को प्राप्त होगा क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा आलोचित पदार्थों में ही मन के संकल्पन का उदय होता है॥१७॥ तुम्हारे (सांख्य) मतानुसार इन्द्रियाँ भी समीचीन पर से ही होंगी, क्योंकि स्व को प्रकट करने वाले कारणों की समीचीनता, निर्मलता, इन्द्रियवृत्ति, अदृष्ट आदि के द्वारा इन्द्रियों की समीचीनता दूसरे से ही आई है। ऐसा क्यों नहीं माना जाए, यदि इन्द्रिय आदि (मन, अहंकार, बुद्धि और प्रधान) में अपने अभिव्यक्त के आधीन (स्वकीय व्यञ्जक) मुख्य अर्थ को सम्यक्त्व कहोगे तो इन्द्रियादि के समान आत्मा में ही परमार्थ समीचीनता माननी चाहिए।

अर्थात् जैसे प्रधान, बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ अपने अर्थ की अभिव्यञ्जक स्वयं हैं, अतः स्वयं समीचीनता को प्राप्त होती हैं और उनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उनके समान आत्मा में परमार्थतः समीचीनता क्यों नहीं होगी ?॥ १८-१९॥

इस प्रकार प्रधान के सम्यक्त्व से चैतन्य में सम्यक्त्व स्वीकार करने पर अतिप्रसंग दोष आता है। तत्त्व से विचार किया जाए तो चिदात्म श्रद्धान को प्रधान (प्रकृति) का धर्मत्व नहीं कह सकते, किन्तु श्रद्धान चैतन्य के ही सिद्ध होता है। अन्यथा (ऐसा न मानने पर) विपरीतता आती है॥ २० ॥

श्रद्धान के चिदात्मकत्व मानना असिद्ध है-ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जैसे ज्ञान चेतनस्वरूप है, वैसे ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) के भी चेतनत्व प्रसिद्ध है। तथा ज्ञान, दर्शन आदि के चेतनत्व की सिद्धि पहले प्रकरण में कर चुके हैं।

घट, पट आदि के समान जड़त्व (अचेतन) होने से प्रधान (प्रकृति) के श्रद्धानत्व घटित नहीं होता। अतः प्रतीति का आश्रय लेने पर आत्मा ही निर्दोष श्रद्धाता (श्रद्धान करने वाला) सिद्ध होता है॥२१॥

श्रद्धाता निराकुलं न स्यात्। भ्रांतेयमात्मनि प्रतीतिरिति चेन्न, बाधकाभावात् । नात्मधर्मः श्रद्धानं भंगुरत्वाद्घटवदित्यपि न तद्बाधकं, ज्ञानेन व्यभिचारित्वात्। न च ज्ञानस्यानात्मधर्मत्वं युक्तमात्मधर्मत्वेन प्रसाधितत्वात्। ततः सूक्तमात्मस्वरूपं दर्शनमोहरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनस्य लक्षणमिति ॥

न सम्यग्दर्शनं नित्यं नापि तन्नित्यहेतुकम् । नाहेतुकमिति प्राह द्विधा तज्जन्मकारणम् ॥—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

उत्पद्यत इति क्रियाध्याहारान्न नित्यं सम्यग्दर्शनं ज्ञायत इति। नोत्पद्यत इति क्रियाध्याहारान्नित्यं

जैसे घट, पटादि जड़ पदार्थों को ''मैं श्रद्धान करने वाला हूँ'' ऐसी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार अचेतन प्रधान (प्रकृति) को भी मैं श्रद्धाता (श्रद्धान करने वाला) हूँ -ऐसी प्रतीति करना कभी संभव नहीं है, जिससे यह आत्मा ही श्रद्धाता निर्द्वन्द्व रूप से सिद्ध नहीं हो, अर्थात् आत्मा ही निर्द्वन्द्व रूप से श्रद्धाता सिद्ध होती है।

आत्मा में श्रद्धान गुण को सिद्ध करने वाली यह प्रतीति भ्रान्त (भ्रम) रूप है, (वास्तविक नहीं है)- ऐसा कहना उचित नहीं है-

क्योंकि आत्मा में श्रद्धानगुण की प्रतीति में बाधक प्रमाण का अभाव है। अर्थात् आत्मा में श्रद्धान गुण की प्रतीति होती है-इसका खण्डन करने वाला प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है।

श्रद्धान, घटादि के समान नाशवन्त होने से आत्मधर्म नहीं है अर्थात् श्रद्धान गुण नष्ट होता है, नित्य नहीं रहता अतः घटादि नाशवन्त पदार्थ के समान श्रद्धान भी आत्मा का गुण नहीं है इसलिए आत्मा में श्रद्धान गुण की प्रतीति अनुमान बाधित है। ऐसा कहने वाले का अनुमान भी प्रतीति का बाधक नहीं है, क्योंकि यह क्षणभंगुरत्व हेतु ज्ञान के साथ अनैकान्तिक है अर्थात् ज्ञान भी कूटस्थ नित्य नहीं है, परिवर्तनशील है, फिर भी आत्मा का धर्म है। परन्तु ज्ञान को अनात्म धर्म मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के आत्मधर्मत्व को पूर्व में सिद्ध किया गया है। अर्थात्-ज्ञान आत्मा का धर्म है, यह पूर्व में सिद्ध किया है। अतः सिद्ध हुआ कि दर्शनमोह रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण आत्मा का स्वरूप है, प्रकृति का नहीं।

अब **सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण** कहते हैं-

सम्यग्दर्शन नित्य (अनादिकालीन) नहीं है, सम्यग्दर्शन नित्य हेतु भी नहीं है अर्थात्-उसको उत्पन्न करने वाले कारण भी नित्य नहीं हैं और अहेतुक भी नहीं है अर्थात् बिना कारण के भी वह उत्पन्न नहीं होता है। उसकी उत्पत्ति के दो कारण हैं। उनको अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं:-

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) और अधिगम (परोपदेश) दो प्रकार से उत्पन्न होता है ॥३॥

''उत्पद्यते'' इस क्रिया का अध्याहार करने से ''सम्यग्दर्शन नित्य नहीं है'' ऐसा जाना जाता है।

'नोत्पद्यते' इस प्रकार अध्याहार[१] करने पर तो सम्यग्दर्शन नित्य हो जायेगा। अर्थात् उत्पद्यते क्रिया का अध्याहार न करके ''नोत्पद्यते'' ऐसा कहने पर सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न नहीं होता।

१.सूत्र में जो क्रिया नहीं है प्रसंगवश अस्ति, भवति, उत्पद्यते, वर्त्तते आदि क्रिया ऊपर से ली जाती है, उसको अध्याहार कहते हैं।

तदिति चेत्, द्रव्यतः पर्यायतो वा ? द्रव्यतश्चेत् सिद्धसाध्यता। पर्यायतस्तु तस्य नित्यत्वे सततसंवेदन प्रसंगः। नित्यं तदनंतत्वाज्जीवद्रव्यवदिति चेत् न, केवलज्ञानादिभिर्व्यभिचारात् । तेषामपि पक्षीकरणे मोक्षस्य नित्यत्वप्रसक्तेः क्व संसारानुभवः ? न च मोक्षकारणस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकस्यानित्यत्वेपि मोक्षस्यानित्यत्वमुपपद्यते, मोक्षस्यानंतत्वेपि च सादित्वे सम्यक्त्वादीनामनंतत्वेपि सादित्वं कथं न भवेत् ? ततो नोत्पद्यत इति क्रियाध्याहारविरोधः। एतेनाहेतुकं सद्दर्शनमिति निरस्तं। नित्यहेतुकं तदित्यप्ययुक्तं, मिथ्यादर्शनस्यास्वसद्भावप्रसंगात् तत्कारणस्य सद्दर्शनकारणे विरोधिनि सर्वदा सति संभवादनुपपत्तेः येन च तन्नित्यं नापि नित्यहेतुकं नाहेतुकं।

अतः नित्य है, ऐसा अर्थ हो जायेगा। ऐसा कहने वाले से आचार्य कहते हैं कि वह सम्यग्दर्शन द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है कि पर्याय की अपेक्षा से? यदि द्रव्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन को नित्य कहते हो तो सिद्धसाध्यता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है। गुण गुणी से भिन्न नहीं होता, अतः आत्मा के नित्य होने से सम्यग्दर्शन भी नित्य है-ऐसा हम मानते हैं। इसलिए आपका कथन सिद्धसाध्य दोष से दूषित है। पर्याय दृष्टि से उसके नित्यपना मानने पर सतत वेदन का प्रसंग आता है (परन्तु सम्यग्दर्शन का सतत वेदन नहीं होता है)।

जीव द्रव्य के समान् सम्यग्दर्शन अनन्त काल तक रहता है। इसलिए नित्य है, ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहने पर केवलज्ञानादि के साथ व्यभिचार आता है। अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्त काल तक रहते हैं, 'परन्तु नित्य नहीं है' अतः जो अनन्त काल तक रहता है वह नित्य है-ऐसा घटित नहीं होता। तथा केवलज्ञानादि क्षायिक भावों के भी नित्यत्व स्वीकार कर लेने पर मोक्ष के भी नित्यत्व का प्रसंग आता है और मोक्ष को नित्य मान लेने पर संसार का अनुभव कहाँ, कैसे होगा अर्थात् सभी मुक्त हो जायेंगे। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रात्मक त्रयात्मक मोक्ष के कारणों में अनित्यपना होने पर भी मोक्ष के अनित्यपना नहीं उत्पन्न होता है। मोक्ष के अनन्तत्व होकर सादित्व है तो मोक्ष के समान सम्यक्त्व आदि के अनन्तत्व होने पर उनके सादित्व कैसे नहीं हो सकता ? अर्थात् अवश्य ही होता है। इसलिए 'नोत्पद्यते' इस क्रिया का अध्याहार विरुद्ध है।

इस पूर्वोक्त कथन से, सम्यग्दर्शन के अहेतुकपने का भी खण्डन कर दिया गया है। अर्थात् निसर्गज और अधिगमज शब्द से सम्यग्दर्शन कारणों से उत्पन्न होता है, बिना कारण नहीं होता, सूचित किया है।

सम्यग्दर्शन नित्य कारणों से उत्पन्न होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन को नित्य हेतुक मान लेने पर आत्मा में मिथ्यादर्शन के असद्भाव का प्रसंग आता है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के विरोधी सम्यग्दर्शन के कारणों के नित्य (सर्वकाल) विद्यमान रहने पर मिथ्यादर्शन की उत्पत्ति का प्रसंग ही नहीं आयेगा। इसलिए सम्यग्दर्शन न नित्य है, न नित्यहेतुक है और न अहेतुक है अपितु स्याद्वाद की सिद्धि से नित्य, अनित्य आदि सप्त भंग से सिद्ध है।

तेन नानादिता तस्यं सर्वदोत्पत्तिरेव वा । नित्यं तत्सत्वसंबद्धात्प्रसज्येताविशेषतः ॥१॥

ननु च मिथ्यादर्शनस्य नित्यत्वाभावेपि नानादित्वव्यवच्छेदो इति चेन्न, तस्यानादिकारणत्वात् । न च तत्कारणस्यानादित्वान्नित्यत्वप्रसक्तिः संतानापेक्षयानादित्ववचनात्, पर्यायापेक्षया तस्यापि सादित्वात्। तस्यानाद्यनंतत्वे वा सर्वदा मोक्षस्याभावापत्तेः। नित्यहेत्वहेतुकत्वाभावे सर्वदोत्पत्तिव्यवच्छेदोनुपपन्नः केषांचित्संसारस्य तादृशत्वेपि सर्वदोत्पत्तिदर्शनादिति चेन्न, तस्य नित्यहेतुसंतानत्वात् । प्रागभावस्याहेतुकत्वेपि नित्यत्वसत्त्वयोरदर्शनान्नाहेतुकस्य सम्यग्दर्शनस्य तत्प्रसंगो येन तन्निवृत्तये तस्य सहेतुकत्वमुच्यते इति चेन्न, प्रागभावस्याहेतुकत्वासिद्धेः । स हि घटोत्पत्तेः प्राक् तद्विविक्तपर्यायपरंपरारूपो वा द्रव्यमात्ररूपो वा ? प्रथमपक्षे

क्योंकि उत्पन्न होता है इसलिए सम्यग्दर्शन के अनादिता नहीं है। उसकी उत्पत्ति का हेतु नित्य न होने से उसकी सर्वदा उत्पत्ति भी नहीं है। मिथ्यादर्शन के अस्तित्व का सम्बन्ध होने से सम्यग्दर्शन के नित्यपने का प्रसंग भी नहीं है, अन्य घट, पट मिथ्यादर्शन आदि कार्यों से सम्यग्दर्शन में कार्यपने की कोई विशेषता नहीं है अर्थात् जैसे वे घट, पट आदिक नित्य, नित्यहेतुक या अहेतुक नहीं हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन भी ऐसा नहीं है। नित्य, नित्यहेतुक और अहेतुक न होने से सम्यग्दर्शन के अनादिता, सर्वदा उत्पत्ति और नित्य सम्बन्धता का प्रसंग नहीं हो सकता है॥१॥

शंका : मिथ्यादर्शन के नित्यत्व का अभाव होने पर भी अनादि का व्यवच्छेद नहीं देखा गया है (उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी नित्य न होने पर भी अनादित्व का व्यवच्छेद नहीं होना चाहिए) **समाधान:** ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि मिथ्यादर्शन का कारण मिथ्यात्व अनादि काल से है। परन्तु मिथ्यात्व के कारण के अनादि होने से मिथ्यात्व के नित्यत्व का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि संतान की (परम्परा की) अपेक्षा से मिथ्यादर्शन अनादि है, उसके भी पर्याय की अपेक्षा सादिपना है। उस मिथ्यात्व को अनादि और अनन्तत्व मान लेने पर वा सर्वकाल में रहने वाला नित्य मान लेने पर मोक्ष के अभाव का प्रसंग आता है।

शंका : नित्य हेतुत्व का अभाव होने पर भी सम्यग्दर्शन के सर्वदा उत्पत्ति का व्यवच्छेद नहीं हो सकता है, क्योंकि किन्ही जीवों के संसार का तादृशत्व (नित्य हेतु नहीं) होने पर भी सर्वदा उत्पत्ति देखी जाती है, अतः नित्यहेतु का अभाव सर्वदा उत्पत्ति का व्यवच्छेदक नहीं है।

कोई कहता है-जैसे अहेतुकत्व होने पर प्रागभाव के नित्यत्व और अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, प्रागभाव कार्य के उत्पन्न हो जाने पर नष्ट हो जाता है, अतः प्रागभाव त्रिकालवर्ती नहीं है, नित्य नहीं है तथा द्रव्य, गुण और कर्म के समान सत्ता वाला और सामान्य, विशेष और समवाय के समान रूपसत्ता (अस्तित्व) वाला भी नहीं है, अतः असत् भी है, उसी प्रकार अहेतुक सम्यग्दर्शन के भी नित्य ही अस्तित्व में रहने का प्रसंग नहीं आता, जिससे कि जैन सम्यग्दर्शन की नित्यता की निवृत्ति के लिए सम्यग्दर्शन को सहेतुक स्वीकार करते हैं (कहते हैं।) आचार्य कहते हैं-कि यह कहना युक्त नहीं है- क्योंकि प्रागभाव के अहेतुकत्व सिद्ध नहीं है। हम पूछते हैं कि वह प्रागभाव घट की उत्पत्ति के पूर्व किस स्वरूप है? घट के

पूर्वपूर्वपर्यायादुत्पत्तेः कथमसौ कार्योत्पत्तिपूर्वकालभावी पर्यायकलापोऽहेतुको नाम यतः कार्यजन्मनि तस्यासत्त्वं पूर्वं सतोऽपि विरुध्यते तदा वाऽसत्त्वेपि पूर्वं सत्त्वं न घटते। द्वितीयपक्षे तु यथा प्रागभावस्याहेतुकत्वं तथा नित्यं सत्त्वमपि द्रव्यमात्रस्य कदाचिदसत्त्वायोगात्। कार्योत्पत्तौ कार्यरहितत्वेन प्राच्येन रूपेण द्रव्यमसदेवेति चेत्, नन्वेवं कार्यरहितत्वमेव विशेषणमसन्न पुनर्द्रव्यं तस्य तन्मात्रस्वरूपत्वाभावात्। तुच्छः प्रागभावो न भावस्वभाव इति चायुक्तं, तस्य कार्योत्पत्तेः पूर्वमेव सत्त्वविरोधात् कार्यकाले वा सत्त्वायोगात्, सत्त्वासत्त्वविशेषणयोर्भावाश्रयत्वदर्शनात्। तथा च न प्रागभावस्तुच्छः सत्त्वासत्त्वविशेषणाश्रयत्वाद् द्रव्यादिवत्

पूर्व होने वाली शिविका आदि पर्यायों की परम्परारूप में अवस्थित है या द्रव्यरूप से अवस्थित है। यदि प्रथम पक्ष (शिविका आदि पर्यायों की परम्परा रूप से अवस्थित है तो) में पूर्व-पूर्व पर्याय से उत्पन्न होने से कार्य उत्पत्ति का पूर्व काल भावी पर्यायों के समूहरूप वह प्रागभाव अहेतुक कैसे हो सकता है? क्योंकि ऐसा मानने पर कार्यजन्म में प्रागभाव की असत्ता और पूर्व में उसका सत्त्व मानना विरुद्ध पड़ता है। तथा असत्त्व होने पर पूर्व सत्त्व घटित नहीं होता है। यदि दूसरा पक्ष-घट उत्पत्ति के पूर्व प्रागभाव को द्रव्य मात्र रूप मानते हो तो जैसे प्रागभाव का अहेतुकत्व है-उसी प्रकार उसके नित्यत्व और अस्तित्व भी है-क्योंकि द्रव्य मात्र के कदाचित् भी असत्ता नहीं होती।

क्योंकि पर्यायों की अपेक्षा निरंतर उत्पाद व्यय होते हुए भी द्रव्य निरंतर ध्रौव्य रहता है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता। अतः द्रव्य रूप होने से प्रागभाव के भी अनादिपना, अहेतुकपना, नित्यत्व और अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

वर्तमान कार्य की उत्पत्ति में पूर्व पर्याय रूप कार्य से रहितत्व हो जाने से पूर्ण रूप से द्रव्य असत् ही है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार कार्यरहितत्व विशेषण द्रव्य में विद्यमान नहीं है, क्योंकि द्रव्य के पर्यायरूपत्व मात्र स्वभाव का अभाव है। अर्थात्-पूर्व पर्याय के वर्त्तमान में न रहने से द्रव्य का अभाव नहीं होता है। क्योंकि द्रव्य केवल पर्याय रूप ही नहीं है, अपितु गुणों और पर्यायों का पिण्ड है।

वैशेषिक कहता है कि प्रागभाव भावस्वभाव (पर्याय-समुदाय रूप वा द्रव्यरूप) नहीं है, अपितु तुच्छ (निरुपाख्य अभाव) रूप है। आचार्य कहते हैं-ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि, उस प्रागभाव के कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत्त्व का विरोध और कार्यकाल में असत्त्व का अयोग है, तथा सत्त्व और असत्त्व विशेषण भाव (अस्तिरूप पदार्थ) के आश्रयत्व देखा जाता है। अतः, द्रव्यादि के समान सत्त्व और असत्त्व विशेषण के आश्रय युक्त होने से प्रागभाव भी तुच्छ (निरुपाख्य) नहीं है। प्रागभाव को तुच्छ मानने पर विशेष का अभाव होने से विपरीतता का प्रसंग आता है। अर्थात्-जैसे असत्ता-सत्ता का विशेषण होने से प्रागभाव तुच्छ है उसी प्रकार वैशेषिकों द्वारा माने गए गुण, कर्म सामान्य आदि सत्ता-सत्ता विशेषणयुक्त होने से तुच्छ होंगे-यह आपको इष्ट नहीं है ? अतः विपरीतता आएगी।

विपर्ययप्रसंगो वा विशेषाभावात्। कदाचित्सत्त्वमसत्त्वं च विशेषणमुपचारात्प्रागभावस्येति चेत्, तर्हि न तत्त्वत: कदाचित्सत्त्वं पुनरसत्त्वमहेतुकस्यापि भवतीति सर्वदा सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा निवृत्तये सद्दर्शनस्याहेतुकत्वं व्यवच्छेत्तव्यमेव नित्यत्वनित्यहेतुकत्ववत् ॥

निसर्गादिति निर्देशो हेतावधिगमादिति। तच्छब्देन परामृष्टं सम्यग्दर्शनमात्रकम् ॥२॥

सूत्रेस्मिन्निसर्गादिति निर्देशोधिगमादिति च हेतौ भवन् सम्यग्दर्शनमात्रपरामर्शित्वं तच्छब्दस्य ज्ञापयति तदुत्पत्तावेव तयोर्हेतुत्वघटनात्, ज्ञानचारित्रोत्पत्तौ तयोर्हेतुत्वे सिद्धांतविरोधान्न मार्गपरामर्शित्वमुपपन्नं । सम्यग्ज्ञानं हि निसर्गादेरुत्पद्यमानं नि:शेषविषयं नियतविषयं वा ? न तावदादिविकल्प: केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशान्निसर्गजत्वविरोधात्। सकलश्रुतज्ञानं निसर्गादुत्पद्यत इत्यप्यसिद्धं, परोपदेशाभावे

वैशेषिक कहता है कि-प्रागभाव का कदाचित् सत्त्व-असत्त्व विशेषण उपचार से माना गया है (वास्तविक नहीं)। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहते हो तो प्रागभाव के वास्तव में कभी सत्त्व वा असत्त्व नहीं रहा, किन्तु वस्तु मान लेने पर अहेतुक भी प्रागभाव के या तो सत्त्व रहेगा या फिर असत्त्व रहेगा।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के सर्वदा सत्त्व और असत्त्व की निवृत्ति के लिए सम्यग्दर्शन के अहेतुकत्व का व्यवच्छेद करना चाहिए, नित्य और नित्य हेतुकत्व के समान। अर्थात् यदि सम्यग्दर्शन को अहेतुक (बिना कारण उत्पन्न हुआ) माना जाता है तो आत्मा में नित्य ही उसकी सत्ता के सम्बन्ध का प्रसंग आता है, अथवा तुच्छाभाव (निरुपाख्य) कहेंगे तो आत्मा में सम्यग्दर्शन का सर्वदा अभाव हो जाता है अत: इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए सम्यग्दर्शन को सहेतुक मानना ही आवश्यक है अत: निसर्ग और अधिगम ये दो हेतु सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण कहे हैं।

सूत्र में निसर्गात् (निसर्ग से), अधिगमात् (अधिगम से) यह निर्देश (पंचमी विभक्ति) हेतु रूप अर्थ में कही है तथा **'तत्' शब्द से सम्यग्दर्शन मात्र का ही परामर्श किया गया है, ज्ञान-चारित्र का नहीं।।२।।**

''तन्निसर्गादधिगमाद्वा'' - इस सूत्र में पंचमी विभक्ति का निर्देश हेतु अर्थ में होता हुआ 'तत्' शब्द से सम्यग्दर्शन मात्र के परामर्शित्व को प्रगट कर रहा है। क्योंकि, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में ही निसर्ग और अधिगम इन दोनों को हेतुपना घटित हो सकता है। अर्थात् मात्र सम्यग्दर्शन ही इन दो कारणों से उत्पन्न होता है।, ज्ञान एवं चारित्र की उत्पत्ति में इन दोनों हेतुओं को मान लेने पर (ज्ञान और चारित्र भी निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहने पर) सिद्धान्त का विरोध आता है। अत: यह ज्ञान चारित्र का गमक नहीं है, तथा मार्ग का परामर्शिपना भी नहीं है। अर्थात् मार्ग भी दो कारणों से उत्पन्न नहीं होता। अत: यह 'तत्' शब्द सम्यग्दर्शन का ही गमक है।

यदि सम्यग्ज्ञान निसर्ग या अधिगम कारण से उत्पन्न होता है तो सम्पूर्ण विषय करने वाला ज्ञान निसर्गादि कारणों से उत्पन्न होता है या नियत विषय वाला ज्ञान ? यदि सम्पूर्ण विषय करने वाले (केवल) ज्ञान को निसर्ग (कारणों) से उत्पन्न हुआ मानते हो तो सकल श्रुत के ज्ञान पूर्वकत्व के उपदेश से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञान के निसर्गजत्व का विरोध आता है। अर्थात् केवलज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक ही होता है। यदि

तस्यानुपपत्तेः । स्वयंबुद्धश्रुतज्ञानमपरोपदेशमिति चेन्न, तस्य जन्मान्तरोपदेशपूर्वकत्वात् तज्जन्मापेक्षया स्वयंबुद्धत्वस्याविरोधात् । देशविषयं मत्यवधिमनःपर्ययज्ञानं निसर्गादिरुत्पद्यत इति द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान् तस्याधिगमजत्वासंभवात् द्विविधहेतुकत्वाघटनात् । किंचिन्निसर्गादपरमधिगमादुत्पद्यत इति ज्ञानसामान्यं द्विविधहेतुकं घटत एवेति चेत् न, दर्शनेपि तथा प्रसंगात् । न चैतद्युक्तं प्रतिव्यक्ति तस्य द्विविधहेतुकत्वप्रसिद्धेः। यथा ह्यौपशमिकं दर्शनं निसर्गादधिगमाच्चोत्पद्यते तथा क्षायोपशमिकं क्षायिकं चेति सुप्रतीतं। चारित्रं पुनरधिगमजमेव तस्य श्रुतपूर्वकत्वात्तद्विशेषस्यापि निसर्गजत्वाभावान्न द्विविधहेतुकत्वं संभवतीति न त्रयात्मको मार्गः संबध्यते, अत्र दर्शनमात्रस्यैव निसर्गादधिगमाद्वोत्पत्त्यभिसंबंधघटनात्। नन्वेवं तच्छब्दोनर्थकः

सकल श्रुतज्ञान को स्वभाव से उत्पन्न हुआ कहते हो, तो यह भी असिद्ध है। अर्थात्-श्रुतज्ञान भी निसर्गज नहीं है क्योंकि परोपदेश (गुरु के उपदेश) के अभाव में श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

बोधित बुद्ध का ज्ञान परोपदेश के बिना नहीं होता, परन्तु स्वयंबुद्ध का ज्ञान तो परोपदेश के बिना होता है? यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, स्वयंबुद्ध के ज्ञान की उत्पत्ति भी जन्मान्तर में प्राप्त पर के उपदेश पूर्वक ही होती है परन्तु, इस जन्म की अपेक्षा उनको स्वयंबुद्ध (परोपदेश के बिना ज्ञानी) कहने में कोई विरोध नहीं है अतः स्वयंबुद्ध मुनि के उत्पन्न हुआ ज्ञान भी अधिगमज ही है, निसर्गज नहीं।

नियत विषयक (देश विषयक) मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान निसर्ग से उत्पन्न होते हैं, यह दूसरा विकल्प भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि देशविषयक ज्ञान के अधिगमज की असंभवता होने से द्विविध हेतु घटित नहीं हो सकते। अर्थात् मतिज्ञानादि के भी निसर्गज और अधिगमज घटित नहीं होता है।

कोई ज्ञान (केवलज्ञान और श्रुतज्ञान) अधिगम से और कोई ज्ञान (मति, अवधि, मनःपर्यय) निसर्ग से उत्पन्न होता है अतःज्ञान सामान्य की अपेक्षा ज्ञान में दो हेतु से उत्पन्न होना घटित हो जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने से यह प्रसंग सम्यग्दर्शन में भी आयेगा। अर्थात्-सम्यग्दर्शन भी कोई निसर्ग से और कोई अधिगम से उत्पन्न हो जायेगा, परन्तु ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्रत्येक व्यक्ति में (प्रकटता में) दो हेतुओं से सिद्धि है-जैसे औपशमिक सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दो कारणों से उत्पन्न होता है, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्याग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन हेतुओं से उत्पन्न होते हैं-ऐसी सुप्रतीति होती है।

पुनः चारित्र तो अधिगमज ही है, क्योंकि उस चारित्र की उत्पत्ति श्रुतज्ञान पूर्वक होती है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा चारित्र के स्वरूप को जानकर के ही उसका पालन किया जाता है। चारित्र विशेष (सामायिक, छेदोपस्थापना आदि) की उत्पत्ति के भी निसर्गजत्व का अभाव है। इसलिए चारित्र की उत्पत्ति में निसर्ग और अधिगम ये दो हेतुकत्व (हेतुपना) संभव नहीं हैं। त्रयात्मक मोक्षमार्ग भी दो हेतुओं से सम्बन्धित नहीं है। इसलिए यहाँ सम्यग्दर्शन के ही निसर्ग और अधिगम से उत्पत्ति का सम्बन्ध घटित होता है अतः 'तत्' शब्द सम्यग्दर्शन का परामर्शी है।

सामर्थ्याद्दर्शनेनात्राभिसंबंधसिद्धेरिति चेत् न, शाब्दन्यायान्मार्गेणाभिसंबंधप्रसक्तेः। प्रत्यासत्तेस्ततोपि दर्शनस्यैवाभिसंबंध इति चेन्न, मार्गस्य प्रधानत्वाद्दर्शनस्यास्य तदवयवत्वेन गुणभूतत्वात्, प्रत्यासत्तेः प्रधानस्य बलीयस्त्वात्, सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः सन्निकृष्टे संप्रत्यय इत्येतस्य गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय इत्यनेनापोहितत्वात् सार्थक एव तच्छब्दो मार्गाभिसंबंधपरिहारार्थत्वात्। ननु च दर्शनवन्मार्गस्यापि पूर्वप्रक्रांतत्वप्रतीतेः तच्छब्दस्य च पूर्वप्रक्रांतपरामर्शित्वात् कथं शाब्दन्यायाद्दर्शनस्यैवाभिसंबंधो न तु मार्गस्येति चेत् न, अस्मात्सूत्राद्दर्शनस्य मुख्यतः पूर्वप्रक्रांतत्वात्परामर्शोपपत्तेः मार्गस्य पूर्वप्रक्रांतत्वादुपचारेण तथा भावात् परामर्शाघटनात्। तदिति नपुंसकलिंगस्यैकस्य निर्देशाच्च न मार्गस्य पुल्लिंगस्य परामर्शो नापि बहूनां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामिति शाब्दान्यायादार्थादिव सद्दर्शनं तच्छब्देन परामृष्टमुन्नीयते ।

शंका : इस सूत्र में 'तत्' शब्द का ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि दो हेतुओं के सामर्थ्य से वा सम्यग्दर्शन का प्रकरण होने से 'तत्' शब्द के बिना ही सम्यग्दर्शन का अभिसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। **समाधान:** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि 'तत्' शब्द के प्रयोग बिना शब्द सम्बन्धी व्याकरण शास्त्र के अनुसार निसर्गादि का मोक्षमार्ग के साथ अभिसम्बन्ध का प्रसंग आता है।

अत्यन्त निकट होने से अधिगम और निसर्ग का सम्बन्ध सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग की प्रधानता है, मोक्षमार्ग का अवयव (अंश) होने से सम्यग्दर्शन की गौणता है। "प्रत्यासत्ति (निकट रहने वाले) से प्रधान बलवान होता है। सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट में सन्निकृष्ट का सम्प्रत्यय (ज्ञान) होता है, दूरवर्ती का नहीं। व्याकरण की इस परिभाषा से गौण और मुख्य पदार्थ का समान प्रकरण होने पर मुख्य का ज्ञान होता है" इस प्रकार इस परिभाषा से अपवादित (बाधित) होने से मार्ग के अभिसम्बन्ध का परिहार करने के लिए 'तत्' शब्द का ग्रहण सार्थक है।

शंका : सम्यग्दर्शन के समान मोक्षमार्ग के भी पूर्व प्रकान्तत्व की प्रतीति होने से (पूर्व प्रकरण में आगत का ज्ञान होने से) और 'तत्' शब्द के पूर्व प्रकान्त परामर्शित्व होने से, शब्द न्याय से सम्यग्दर्शन का ही 'तत्' शब्द से ग्रहण क्यों होता है, मोक्षमार्ग के साथ क्यों नहीं होता ? **समाधान :** इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस सूत्र से मुख्य रूप से पूर्वप्रकान्तपना सम्यग्दर्शन के ही है, अतः सम्यग्दर्शन का ही 'तत्' शब्द से ग्रहण होता है। मार्ग के पूर्व प्रकान्तत्व उपचार से है, अतः मार्ग के मुख्य रूप से पूर्व प्रकान्तत्व का अभाव होने से 'तत्' शब्द के द्वारा मार्ग का ग्रहण होना घटित नहीं होता। अथवा 'तत्' यह नपुंसकलिंग है और मार्ग पुल्लिंग। अतः लिंग के अर्थानुसार 'तत्' शब्द से नपुंसकलिंग सम्यग्दर्शन का ग्रहण होता है। 'तत्' यह एकवचन का निर्देश होने से बहुवचनवाची सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ग्रहण नहीं होता अतः शब्द पर विशेष लक्ष्य देने वाले शब्दशास्त्र और अर्थांश पर लक्ष्य देकर शब्दबोध की प्रणाली को बताने वाले अर्थशास्त्र की नीति से 'तत्' शब्द के द्वारा सम्यग्दर्शन का ही ग्रहण होता है, मार्ग का नहीं।

कः पुनरयं निसर्गोऽधिगमो वा यस्मात्तदुत्पद्यत ? इत्याह;——

विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् । निसर्गोऽधिगमस्तेन कृतं तदिति निश्चयः ॥३॥

ततो नाप्रतिभातेऽर्थे श्रद्धानमनुषज्यते । नापि सर्वस्य तस्येह प्रत्ययोऽधिगमो भवेत् ॥४॥

न हि निसर्गः स्वभावो येन ततः सम्यग्दर्शनमुत्पद्यमानमनुपलब्धतत्त्वार्थगोचरतया रसायनवन्नोपपद्येत। न परोपदेशनिरपेक्षे ज्ञाने निसर्गशब्दस्य प्रवर्तनान्निसर्गतः शूरः सिंह इति यथा स्वकारणविशेषादभवदपि हि तस्य शौर्यं परोपदेशानपेक्षं लोके नैसर्गिकं प्रसिद्धं तद्वत्तत्त्वार्थश्रद्धानमपरोपदेशमत्यादिज्ञानाधिगते तत्त्वार्थे भवन्निसर्गान्न विरुध्यते। नन्वेवं मत्यादिज्ञानस्य दर्शनेन सहोत्पत्तिर्विहन्यते तस्य ततः प्रागपि भावादिति चेन्न, सम्यग्दर्शनोत्पादनयोग्यस्य मत्यज्ञानादेर्मतिज्ञानादिव्यपदेशाद्दर्शनसमकालं मत्यादिज्ञानोत्पत्तेः। तर्हि मिथ्याज्ञानाधिगतेऽर्थे दर्शनं मिथ्या प्रसक्तमिति चन्न, ज्ञानस्यापि मिथ्यात्वप्रसंगात् । सत्यज्ञानस्यापूर्वार्थत्वान्न

प्रश्न : जिससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह **निसर्ग** और **अधिगम** क्या है? **उत्तर :** कहते हैं **पर के उपदेश के बिना तत्त्वार्थ का प्रतिभासन होना (वह) निसर्ग है, तथा दूसरे के उपदेश** से जो **तत्त्व का निश्चय होता है वह अधिगम है।** निसर्ग कहने से अप्रतिभास (अज्ञात) पदार्थों के श्रद्धान का प्रसंग नहीं आता और परोपदेश कहने से सभी जीवों के उपदेश, सभी जीवों के अधिगमज सम्यग्दर्शन का कारण नहीं होता॥३-४॥ इस सूत्र में निसर्ग का अर्थ स्वभाव नहीं है, क्योंकि जैसे जब तक रसायन का ज्ञान नहीं होता तब तक रसायन का श्रद्धान नहीं होता, उसी प्रकार तत्त्वार्थ के गोचर तत्त्व की उपलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता।

अतः निसर्ग का अर्थ स्वभाव नहीं है, अपितु दूसरे के उपदेश की अपेक्षा नहीं रखने वाले ज्ञान में निसर्ग शब्द की प्रवृत्ति होती है, जैसे स्वभाव से सिंह शूर है। स्वकारणविशेष (जाति, शरीर आदि कारण विशेष) से उत्पन्न होने वाला सिंह का शौर्य परोपदेशनिरपेक्ष होने से लोक में नैसर्गिक कहलाता है वा नैसर्गिक प्रसिद्ध है। उसी प्रकार परोपदेश के बिना ही मतिज्ञान (मतिज्ञान पूर्वक जातिस्मरण) आदि के द्वारा ज्ञात (जाने हुए) पदार्थों में परोपदेश के बिना ही उत्पन्न तत्त्वार्थ श्रद्धान नैसर्गिक कहलाता है-इसमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार सिंह की शूरता, क्रूरता जाति विशेष कारणों से होने पर भी परोपदेश की अपेक्षा न रखने से नैसर्गिक कहलाती है, उसी प्रकार पूर्व भव का जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन आदि कारणों से उत्पन्न भी सम्यग्दर्शन परोपदेश की साक्षात् अपेक्षा न होने से नैसर्गिक कहलाता है। **शंका :** यदि मतिज्ञान से जाने हुए तत्त्व अर्थ में नैसर्गिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, ऐसा मानते हो तो सम्यग्दर्शन के साथ मति आदि ज्ञान की उत्पत्ति का व्याघात होता है। ''सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही मति आदि ज्ञान सुज्ञान होते हैं''-यह कथन घटित नहीं होगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन के पूर्व भी सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होगी। **समाधानः** ऐसा कहना उचित नहीं है, यद्यपि सम्यग्दर्शन के पूर्व काल में रहने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि सम्यग्दर्शन के उत्पादन के योग्य मति अज्ञान ज्ञानादि सामान्य ज्ञान उपचार से मतिज्ञान इस नाम के भागी होते हैं। अथवा मतिज्ञान है ऐसा व्यवहार होता है। **शंका :** मिथ्याज्ञान से जाने हुए पदार्थों के श्रद्धान से यदि सम्यग्दर्शन होता है तो उस दर्शन के मिथ्यात्व का प्रसंग आयेगा। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो मिथ्याज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में भी मिथ्यात्व का प्रसंग आयेगा।

मिथ्याज्ञानाधिगतेर्थे प्रवृत्तिरिति चेन्न, सर्वेषां सत्यज्ञानसन्तानस्यानादित्वप्रसंगात्। सत्यज्ञानात् प्राक् तदर्थे मिथ्याज्ञानवत्सत्यज्ञानस्याप्यभावान्न तस्यानादित्वप्रसक्तिरिति चेन्न,सर्वज्ञानशून्यस्य प्रमातुरनात्मत्वप्रसंगात्। न चानात्मा प्रमाता युक्तोतिप्रसंगात्। सत्यज्ञानात्पूर्वं तद्विषये ज्ञानं न मिथ्या सत्यज्ञानजननयोग्यत्वात्, नापि सत्यं पदार्थयाथात्म्यपरिच्छेदकत्वाभावात्। किं तर्हि ? सत्येतरज्ञानविविक्तं ज्ञानसामान्यं, ततो न तेनाधिगतेर्थे प्रवर्तमानं सत्यज्ञानं मिथ्याज्ञानं मिथ्याज्ञानाधिगतविषयस्य ग्राहकं नापि गृहीतग्राहीति चेत्, तर्हि कथंचिदपूर्वार्थं सत्यज्ञानं न सर्वथेत्यायातं । तथोपगमे सम्यग्दर्शनं तथैवोपगम्यमानं कथं मिथ्याज्ञानाधिगतार्थे स्यात् ? सत्यज्ञानपूर्वकं वा ? यतस्तत्समकालं मतिज्ञानाद्युपगमविरोधः। सर्वं सद्दर्शनमधिगमजमेव ज्ञानमात्राधिगते

यदि कहो कि सत्य (समीचीन) ज्ञान अपूर्वार्थ होता है इसलिए मिथ्याज्ञान से अधिगत अर्थ में सत्यज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् मिथ्याज्ञान गृहीतग्राही है और सम्यग्ज्ञान अपूर्व अर्थ को जानने वाला है। अत: मिथ्याज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों में सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती, तो ऐसा भी कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी प्राचीन सम्यग्दृष्टियों और नवीन सम्यग्दृष्टियों के सम्यग्ज्ञान की सन्तान के अनादिपने का प्रसंग आता है।

सम्यग्दर्शन के समान काल में होने वाले सत्यज्ञान से प्राक् (पहिले) मिथ्याज्ञान के समान, सम्यग्ज्ञान की भी पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए सम्यग्ज्ञान के अनादित्व का प्रसंग नहीं आता ? - ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान रूप सर्वज्ञान से रहित प्रमाता (आत्मा) के अनात्मत्व (जड़त्व) का प्रसंग आता है। तथा अतिप्रसंग दोष (आत्मा के अनात्मा होने का प्रसंग) होने से प्रमाता (ज्ञाता आत्मा) को अनात्मा (ज्ञानशून्य) कहना युक्त (ठीक) नहीं है।

कोई वादी कहता है कि- सत्य ज्ञान के पूर्व उस ज्ञेय विषय में प्रवृत्ति करने वाला ज्ञान सत्यज्ञान को उत्पन्न करने की योग्यता वाला होने से मिथ्या ज्ञान नहीं है और उसमें पदार्थों का याथात्म्य (वास्तविक) परिच्छेदकत्व (ज्ञान) का अभाव होने से (पदार्थों का वास्तविक ज्ञान कराने में समर्थ न होने से) समीचीन ज्ञान भी नहीं है। **शंका :** तो वह ज्ञान समीचीनता-असमीचीनता से रहित कौनसा ज्ञान है ? **समाधान :** परन्तु समीचीनता और असमीचीनता से रहित ज्ञान सामान्य है, इसलिए वह सामान्य ज्ञान से जाने हुए पदार्थों में प्रवृत्ति करने वाला होनेसे सत्य ज्ञान भी नहीं है और मिथ्याज्ञान के द्वारा अधिगत (जाने हुए) विषय का ग्राहक मिथ्याज्ञान भी नहीं है, तथा गृहीत ग्राही भी नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि आप ऐसा मानते हो तो यह निश्चित है कि कथंचित् सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) अपूर्वार्थग्राही है, सर्वथा नहीं।

अत: जब आप सम्यग्ज्ञान को कथंचित् अपूर्वार्थग्राही मानते हो, सम्यग्ज्ञान से पूर्व वाले ज्ञान को कथंचित् सम्यक् मानते हो तो मिथ्याज्ञान से जाने हुए पदार्थों में सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? ऐसा क्यों कहते हो ? सम्यग्दर्शन को भी उसी प्रकार स्वीकार क्यों नहीं करते ? तथा, सम्यग्ज्ञान के पूर्व सम्यग्ज्ञान की सत्ता कैसे मानोगे, जिससे सम्यग्ज्ञान के समकाल में मतिज्ञान आदि के स्वीकार का विरोध हो सके? अर्थात्

प्रवर्तमानत्वादिति चेन्न, परोपदेशापेक्षस्य तत्त्वार्थज्ञानस्याधिगमशब्देनाभिधानात्। नन्वेवमितरेतराश्रयः सति सम्यग्दर्शने परोपदेशपूर्वकं तत्त्वार्थज्ञानं तस्मिन् सति सम्यग्दर्शनमिति चेन्न, उपदेष्टृज्ञानापेक्षया तथाभिधानादित्येके समादधते। तेपि न युक्तवादिनः। परोपदेशापेक्षत्वाभावादुपदेष्टृज्ञानस्य, स्वयंबुद्धस्योपदेष्टृत्वात्, प्रतिपाद्यस्यैव परोपदेशापेक्षतत्त्वार्थज्ञानस्य संभवात्। यदैव प्रतिपाद्यस्य परोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानं तदैव सम्यग्दर्शनं तयोः सहचारित्वात् ततो नेतरेतराश्रय इत्यन्ये। तेपि न प्रकृतज्ञाः। सद्दर्शनजनकस्य परोपदेशापेक्षत्वात् तत्त्वार्थज्ञानस्य प्रकृत्वात् तस्य तत्सहचारित्वाभावात् सहचारिणस्तदजनकत्वात्। परोपदेशापेक्षस्य तत्त्वार्थज्ञानस्य सम्यग्दर्शनजननयोग्यस्य परोपदेशानपेक्षतत्त्वार्थज्ञानवत्सम्यग्दर्शनात्पूर्वं स्वकारणादुत्पत्तेर्नेतरेतराश्रयणमित्यपरे,

---

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों के ही पूर्व जो सामान्य ज्ञान है या सम्यग्दर्शन के समय में वही ज्ञान समीचीन मतिज्ञानादि रूप से परिणत हो जाता है। जैसे वादी के द्वारा माना गया सम्यग्ज्ञान के पूर्व का सामान्य ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते ही सम्यग्ज्ञान रूप परिणत हो जाता है।

ज्ञान मात्र से जाने हुए पदार्थों से प्रवर्त्तमान (उत्पन्न) होने से सभी सम्यग्दर्शन अधिगमज ही है। आचार्य कहते हैं-ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस प्रकरण में **परोपदेश की अपेक्षा रखने वाले तत्त्वार्थ ज्ञान को अधिगम शब्द से स्वीकार किया है।**

कोई प्रश्न करता है कि- अधिगमजन्य सम्यग्दर्शन में इतरेतर आश्रय (अन्योऽन्याश्रय) दोष आता है क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर परोपदेशपूर्वक होने वाला तत्त्वार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान होगा और उसके सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यग्दर्शन होगा ? कोई विद्वान् समाधान करते हैं कि इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता क्योंकि उपदेष्टा (वक्ता) के ज्ञान की अपेक्षा ऐसा कह दिया जाता है अर्थात् वक्ता का ज्ञान ही परोपदेश से उत्पन्न हुआ है। उसके ज्ञान से शिष्य के अधिगमजन्य सम्यग्दर्शन कह दिया जाता है। आचार्य कहते हैं, ऐसा कहने वाला युक्तिवादी नहीं है, क्योंकि उपदेष्टा का ज्ञान परोपदेश की अपेक्षा नहीं रखता। स्वयं अनुभव किये हुए विद्वान् ही उपदेष्टा (वक्ता) होते हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कराने वाले उपदेश का वक्ता स्वयंबुद्ध होता है। अतः उपदेष्टा की अपेक्षा परोपदेश की आवश्यकता नहीं है; अपितु प्रतिपाद्य (प्रतिपादन करने योग्य) शिष्य के ही तत्त्वार्थज्ञान को परोपदेश की अपेक्षा होना सम्भव है।

जिस समय शिष्य को परोपदेश से तत्त्वार्थ ज्ञान होता है उसी समय सम्यग्दर्शन होता है क्योंकि दोनों में सहचर भाव है अर्थात् दोनों एक साथ होते हैं। इसलिए इन दोनों में इतरेतर आश्रय दोष नहीं होता। ऐसा कथन करने वाला भी प्रकरण को जानने वाला नहीं है क्योंकि यहाँ प्रकरण में परोपदेश की अपेक्षा से उत्पन्न सम्यग्दर्शन का जनक तत्त्वार्थज्ञान है। यह सम्यग्दर्शन के सहचर ज्ञान का प्रकरण नहीं है अतः सम्यग्दर्शन के उत्पादक परोपदेशरूप तत्त्वार्थज्ञान में सम्यग्दर्शन के सहचरत्व का अभाव है क्योंकि जो सहचर होता है वह उसका उत्पादक नहीं होता।

दूसरे कोई कहते हैं - जैसे परोपदेश की अपेक्षा नहीं रखने वाला सामान्य तत्त्वार्थज्ञान सम्यग्दर्शन के पूर्व अपने ही कारणों से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार परोपदेश की अपेक्षा रखने वाला, सम्यग्दर्शन को करने की योग्यता वाला तत्त्वार्थ ज्ञान भी सम्यग्दर्शन के पूर्व क्षयोपशम आदि स्वकारणों से उत्पन्न होता है

सकलचोद्यानामसंभवादागमाविरोधात्। सर्वं सम्यग्दर्शनं स्वाभाविकमेव स्वकाले स्वयमुत्पत्तेर्निःश्रेयसवदिति चेन्न, हेतोरसिद्धत्वात्। सर्वथा ज्ञानमात्रेणाप्यनधिगतेर्थे श्रद्धानस्याप्रसिद्धेः । वेदार्थे शूद्रवत्तत्स्यादिति चेन्न, भारतादिश्रवणाधिगते शूद्रस्य तस्मिन्नेव श्रद्धानदर्शनात्। न प्रत्यक्षतः स्वयमधिगते मणौ प्रभावादिना संभवानुमानान्निर्णीते कस्यचिद्भक्तिसंभवादन्यथा तदयोगात्। साध्यसाधनविकलत्वाच्च दृष्टांतस्य न स्वाभाविकत्वसाधनं दर्शनस्य साधीयः। न हि स्वाभाविकं निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानादिकतदुपायानर्थकत्वापत्तेः। नापि स्वकाले स्वयमुत्पत्तिस्तस्य युक्ता तत एव। केचित्संख्यातेन कालेन सेत्स्यन्ति भव्याः, केचिदसंख्यातेन, केचिदनंतेन, केचिदनंतानंतेनापि कालेन न सेत्स्यंतीत्यागमान्निःश्रेयसस्य स्वकाले स्वयमुत्पत्तिरिति चेत् न,

अतः ऐसा होने पर अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं आता है। सकल कुशंकाओं की इसमें संभावना भी नहीं रहती और आगम से विरोध भी नहीं आता अर्थात् **सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में निमित्तकारण पूर्व समयवर्ती ज्ञान है और उस ज्ञान का निमित्त कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है अतः इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।**

प्रश्न : सर्व ही सम्यग्दर्शन निसर्गज ही है क्योंकि सम्यग्दर्शन स्वकाल में स्वयं उत्पन्न होता है- मोक्ष के समान। अर्थात् जैसे अपने काल में मोक्ष स्वयं उत्पन्न होता है वैसे सम्यग्दर्शन भी स्वकाल में स्वयं उत्पन्न होता है। **उत्तर :** इसमें 'स्वयं उत्पत्ति' यह हेतु असिद्ध है क्योंकि सर्वथा ज्ञान मात्र (सामान्य ज्ञान) से जाने हुए पदार्थों में श्रद्धान होना अप्रसिद्ध[१] है।

जिस प्रकार वेदार्थ को जाने बिना भी शूद्र को[२] वेद विषयक अत्यन्त भक्ति हो जाती है उसी प्रकार अनधिगत जीवादि पदार्थों में भी श्रद्धान हो जाता है, यह कथन भी उचित नहीं है। (अर्थात् यह दृष्टान्त विषम है) क्योंकि शूद्र को महाभारत आदि ग्रन्थों से वेद की महिमा सुनकर या वेद के ज्ञाताओं से वेद का महत्त्व जानकर वेद में श्रद्धान (भक्ति) होता है, ऐसा देखा जाता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वयं अधिगत मार्ग में उसका प्रभाव, चमक-दमक आदि उसमें होने वाले अनुमान से निर्णीत होने पर किसी की उसके प्रति भक्ति वा उसका ग्रहण करना होता है। अन्यथा (यदि मणि को प्रत्यक्ष नहीं जाना और प्रभाव आदि हेतुओं से उसका निर्णय नहीं हुआ है तो) उस मणि में राग का योग नहीं हो सकता तथा सम्यग्दर्शन को नैसर्गिक सिद्ध करने के लिए दिये गये मोक्षरूपी दृष्टान्तके साध्य साधन[३] विकलता होने से सम्यग्दर्शन के स्वाभाविकत्व साधन को सिद्ध नहीं कर सकता। अर्थात् सम्यग्दर्शन को नैसर्गिक सिद्ध करने के लिए दिया गया मोक्ष रूप दृष्टान्त मोक्ष पक्ष में ही नहीं है। क्योंकि मोक्ष स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता है। यदि मोक्ष नैसर्गिक है तो उसके तत्त्व-ज्ञान, दीक्षा, ध्यान आदि उपायों का पालन करना व्यर्थ होगा अतः मोक्ष की उत्पत्ति स्वकाल में स्वयं होती है, ऐसा कहना उचित नहीं है। **शङ्का :** कोई भव्य संख्यात काल में सिद्ध होंगे, कोई असंख्यात भव में और कोई अनन्त काल में। कोई ऐसे भी भव्य हैं जो अनन्तानन्त काल में भी सिद्ध नहीं होंगे, ऐसा आगम में कथन है। इस प्रकार आगम के कथन से निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति स्वकाल में स्वयं बिना यत्न होती है। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि आप आगम का जैसा

१. पक्ष में नहीं रहने वाले हेतु को असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

२. वेदान्तियों का कथन है कि स्त्री और शूद्र वेद पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। उनको वेद के प्रति स्वयं नैसर्गिक श्रद्धा उत्पन्न होती है इसलिए उसका दृष्टान्त दिया है।

३. साध्य में पक्ष में साधन के नहीं रहने को साध्य साधन विकल साधन (हेतु) कहते हैं।

आगमस्यैवंपरत्वाभावात्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमात्मीभावे सति संख्यातादिना कालेन सेत्स्यंतीत्येवमर्थतया तस्य निश्चितत्वात्, दर्शनमोहोपशमादिजन्यत्वाच्च न दर्शनं स्वकालेनैव जन्यते यत: स्वाभाविकं स्यात् ॥

अंतर्दर्शनमोहस्य भव्यस्योपशमे सति। तत्क्षयोपशमे वापि क्षये वा दर्शनोद्भव: ॥५॥

बहि: कारणसाकल्येप्यस्योत्पत्तेरपीक्षणात्। कदाचिदन्यथा तस्यानुपपत्तेरिति स्फुटम् ॥६॥

ततो न स्वाभाविकोस्ति विपरीतग्रहक्षय: स्याद्वादिनामिवान्येषामपि तथानभ्युपगमात् ॥

पापापायाद्भवत्येष विपरीतग्रहक्षय:। पुंसो धर्मविशेषाद्वेत्यन्ये संप्रतिपेदिरे ॥७॥

ननु च यदि दर्शनमोहस्योपशमादिस्तत्त्वश्रद्धानस्य कारणं तदा स सर्वस्य सर्वदा तज्जनयेत् आत्मनि

अर्थ करते हैं उस आगम की इस प्रकार अर्थ करने में तत्परता नहीं है। अर्थात् आगम का अर्थ ऐसा नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का आत्मा के साथ तदात्मक एकरस हो जाने पर कोई संख्यात, असंख्यात आदि काल से सिद्ध होंगे। आगम का यह अर्थ निश्चित है अर्थात् मोक्षप्राप्ति के कारण रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है केवल काल से नहीं। तथा सम्यग्दर्शन दर्शन मोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन स्वकाल से उत्पन्न होता है इसलिए स्वाभाविक है, ऐसा नहीं कह सकते।

दर्शन मोह के क्षय, उपशम और क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारणों के मिलने से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तथा धर्मोपदेश रूप बहिरंग कारण साकल्य का संयोग होने पर कदाचित् सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, ऐसा देखा जाता है और अन्तरंग कारणों के नहीं मिलने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती, यह निश्चित है ॥५-६॥

जैसे विपरीतग्रह (मिथ्यात्व आदि) क्षय से होने वाला तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन स्याद्वादियों के (जैन धर्मावलम्बियों के) स्वाभाविक (नैसर्गिक) नहीं है उसी प्रकार नैयायिक आदिकों के भी सम्यग्दर्शन को स्वाभाविक होना स्वीकार नहीं किया है। अन्य मतावलम्बियों ने भी कहा है-

आत्मा के इस विपरीत ग्रह का क्षय पाप के नाश से और धर्म विशेष से होता है ऐसा अन्य लोग भी मानते हैं ॥७॥ अत: मिथ्याज्ञान रूप विपरीत ग्रहों का क्षय करने वाला सम्यग्ज्ञान का अविनाभावी **सम्यग्दर्शन अपने कारणों से ही उत्पन्न होता है, सर्वथा स्वभाव से नहीं।**

शंका : यदि दर्शन मोह का उपशम, क्षय आदि तत्त्वार्थ श्रद्धान का कारण है तो वे उपशमादि कारण सभी जीवों के सर्वदा सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करावें क्योंकि अहेतुक (बिना कारण) होने से उपशमादि का सर्वदा सद्भाव रहता है।

तस्याहेतुकत्वेन सर्वदा सद्भावात्, अन्यथा कदाचित्कस्यचिन्न जनयेत् सर्वदाप्यसत्त्वात् विशेषाभावादिति चेन्न,तस्य सहेतुकत्वात्प्रतिपक्षविशेषमंतरेणाभावात् । कथं प्रतिपक्षविशेषाद्दर्शनमोहस्योपशमादिरित्युच्यते;—

दृग्मोहस्तु क्वचिज्जातु कस्यचिन्नुः प्रशाम्यति। प्रतिपक्षविशेषस्य संपत्तेस्तिमिरादिवत्॥ ८ ॥

क्षयोपशममायाति क्षयं वा तत एव सः। तद्वदेवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं स्यात्स्वहेतुतः॥ ९ ॥

यः क्वचित् कदाचित् कस्यचिदुपशाम्यति क्षयोपशममेति क्षीयते वा स स्वप्रतिपक्षप्रकर्षमपेक्षते यथा चक्षुषि तिमिरादिः। तथा च दर्शनमोह इति नाहेतुकस्तदुपशमादिः॥

प्रतिपक्षविशेषोपि दृङ्मोहस्यास्ति कश्चन। जीवव्यामोहहेतुत्वादुन्मत्तकरसादिवत्॥ १० ॥

यदि वे उपशमादि सभी जीवों के सर्वदा सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं करते हैं तो विशेषता का अभाव है और सर्वदा (सर्वकाल में भी) असत्त्व होने से किसी भी काल में किसी के भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं करेंगे। अर्थात् बिनाकारण होने से किसी के किसी काल में सम्यग्दर्शन उत्पन्न करे और किसी के न करे, ऐसा नहीं हो सकता ? **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम आदि निर्हेतुक नहीं है, सहेतुक है। कारण दर्शन मोहनीय कर्म के प्रतिपक्षी काललब्धि, ध्यान, अधःकरण आदि परिणामों के बिना दर्शन मोह के उपशम आदि होने का अभाव है अर्थात् विशेष व्यक्ति के विशेष काल में दर्शन मोह के नाशक कारणों के मिलने पर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है अतः सम्यग्दर्शन की सर्वदा उत्पत्ति वा सर्वदा अनुपपत्ति का प्रसंग नहीं आता है।

कर्मों के शत्रुरूप प्रतिपक्षी विशेष से दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम कैसे होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं- जैसे आँख का तिमिर रोग औषधि विशेष से नष्ट होता है उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म के नाशक विशेष प्रतिपक्षियों की प्राप्ति होने पर किसी क्षेत्र, काल में किसी आत्मा में दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है। जिस प्रकार विशेष कारणों से दर्शन मोह का उपशम होता है उसी प्रकार विशेष कारणों से दर्शन मोह का क्षय और क्षयोपशम भी होता है अतः तत्त्वार्थ श्रद्धान स्वहेतु (स्वकारणों) से होता है (बिना कारण नहीं)॥ ८-९॥

जैसे चक्षु में उत्पन्न तिमिरादि रोग उपशमित या क्षय होने में रोग की प्रतिकार औषधि की अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार जो दर्शनमोह किसी क्षेत्र में किसी आत्मा में क्षय, उपशम और क्षयोपशम को प्राप्त होता है वह अपने प्रतिपक्षी के प्रकर्ष की अपेक्षा करता है अतःदर्शनमोह का उपशम, क्षय और क्षयोपक्षम अहेतुक (निर्हेतुक) नहीं है।

जैसे उन्मत्त करने वाले मद्य, भांग आदि के रस की शक्ति का विघातक दही आदि कोई प्रतिपक्षी पदार्थ है, उसी प्रकार जीव के व्यामोह का हेतु होने से दर्शन मोहनीय कर्म का भी कोई प्रतिपक्षी विशेष अवश्य है॥१०॥

यो जीवव्यामोहहेतुस्तस्य प्रतिपक्षविशेषोस्ति यथोन्मत्तकरसादेः । तथा च दर्शनमोह इति न तस्य प्रतिपक्षविशेषस्य संपत्तिरसिद्धा ॥

स च द्रव्यं भवेत् क्षेत्रं कालो भावोपि वांगिनाम्। मोहहेतुसपत्नत्वाद्विषादिप्रतिपक्षवत् ॥११॥

मोहहेतोर्हि देहिनां विषादेः प्रतिपक्षो बंध्यकर्कोट्यादि द्रव्यं प्रतीयते, तथा देवतायतनादि क्षेत्रं, कालश्च मुहूर्तादिः, भावश्च ध्यानविशेषादिस्तद्वद्दर्शनमोहस्यापि सपत्नो जिनेंद्रबिंबादि द्रव्यं, समवशरणादि क्षेत्रं, कालश्चार्धपुद्गलपरिवर्तनविशेषादिर्भावश्चाधःप्रवृत्तिकरणादिरिति निश्चीयते। तदभावे तदुपशमादि प्रतिपत्तेः, अन्यथा तदभावात् ॥

तत्संपत्संभवो येषां ते प्रत्यासन्नमुक्तयः। भव्यास्ततः परेषां तु तत्संपत्तिर्न जातुचित् ॥१२॥

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः संपद्यते नान्येषां कदाचित्कारणासन्निधानात्। इति

जो पदार्थ जीव को व्यामोह करने में कारण होता है, उसका प्रतिपक्षी विशेष पदार्थ अवश्य होता है, जैसे जीव को उन्मत्त करने वाले धतूरे आदि रस का प्रतिपक्षी दही आदि होता है; उसी प्रकार दर्शन मोह भी जीव के व्यामोह का कारण है अतः उसके प्रतिपक्षी विशेष सम्पत्ति की असिद्धि नहीं है।

जैसे विष आदि के प्रतिपक्षी द्रव्य क्षेत्र काल भाव के मिलने पर विषादि नष्ट हो जाते हैं वैसे ही मोह के कारणों के प्रतिपक्षी प्राणियों के विशिष्ट द्रव्य क्षेत्र काल भाव हैं ॥११॥

जैसे संसारी प्राणियों के मोह (बेहोशी) का हेतु विष आदि का प्रतिपक्षी बन्ध्य (विषशक्ति की घातक औषधि), कर्कोटी (विशेष विषनाशक जड़ी-बूटी) द्रव्य प्रतीत होता है। देवता का आयतन, मंत्रशाला आदि क्षेत्र है; मुहूर्त्त आदि काल है और ध्यान विशेष आदि भाव है (अर्थात् ध्यान पूजा आदि करने से विष नष्ट हो जाता है) उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म की शक्ति का घातक प्रतिपक्षी द्रव्य तो जिनप्रतिमा, जिन-मन्दिर, दिगम्बर गुरु आदि हैं। क्षेत्र समवसरण सिद्धक्षेत्र आदि हैं, काल अर्धपुद्गल परिवर्तन विशेष है और भाव अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करण आदि परिणाम विशेष हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिए। इन कारणों से दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर ही उसके (दर्शन मोहनीय के) उपशमआदि की प्रतिपत्ति होती है, दूसरे कारणों से उपशम आदि नहीं होते हैं। अर्थात् जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जातिस्मरण, वेदनानुभव आदि बाह्य कारणों के और अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणादि अंतरंग कारणों के मिलने पर दर्शनमोह का उपशम, क्षय और क्षयोपशम होता है।

भव्य, अभव्य एवं दूरभव्य

जिन जीवों के दर्शन मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की प्राप्ति संभव है वे भव्य हैं और उनको मोक्ष होना अति निकट है। और जिनके मोहकर्म के उपशम आदि होना कभी संभव नहीं है वे अभव्य हैं। अर्थात् भव्य के ही दर्शन मोह का उपशम आदि होता है उनसे पर अभव्यों के दर्शन मोह का उपशम आदि संभव नहीं है ॥१२॥

निकट मुक्ति वाले भव्यों को ही दर्शनमोह की प्रतिपक्ष (नाशक) सामग्री प्राप्त होती है। निकट भव्य

युक्तिमानासन्नभव्यादिविभाग: सद्दर्शनादिशक्त्यात्मकत्वेपि सर्वसंसारिणाम् ॥

सम्यग्दर्शनशक्तेर्हि भेदाभावेपि देहिनाम्। संभवेतरतो भेदस्तद्व्यक्तेः कनकाश्मवत्॥ १३ ॥

यथा किंचित्कनकाश्मादि संभवत्कनकभावाभिव्यक्तिकमचिरादेव प्रतीयते, अपरं चिरतरेणापि कालेन संभवत्कनकभावाभिव्यक्तिकमन्यदसंभवत्कनकभावाभिव्यक्तिकं शश्वत्कनकशक्त्यात्मकत्वाविशेषेपि संभाव्यते तथा कश्चित् संसारी संभवदासन्नमुक्तिरभिव्यक्तसम्यग्दर्शनादिपरिणाम:, परोनंतेनापि कालेन संभवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिरन्य: शश्वदसंभवदभिव्यक्तसद्दर्शनादिस्तच्छक्त्यात्मकत्वाविशेषेपि संभाव्यते, इति नासन्नभव्यदूरभव्याभव्यविभागो विरुध्यते बाधकाभावात्सुखादिवत्। तत्र प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भव्यस्य

से अन्य जीवों को दर्शनमोह की नाशक सामग्री प्राप्त नहीं होती है क्योंकि उनको कभी भी मोहकर्मके नाशक कारणों का सान्निध्य प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् दर्शनमोह का उपशम, क्षय और क्षयोपशम निकट भव्य को छोड़कर और किसी के नहीं होता अत: सारे संसारी प्राणियों में सम्यग्दर्शनात्मकत्व होने की शक्ति होने पर भी भव्य, दूरभव्य और अभव्य आदि का विभाग युक्तिसंगत ही है।

सम्पूर्ण प्राणियों में सम्यग्दर्शन रूप शक्ति का भेद न होने पर भी उस शक्ति की व्यक्ति होने और न होने की अपेक्षा भेद है कनकपाषाण के समान। जैसे सुवर्ण पाषाण में सामान्य सुवर्ण की शक्ति होने पर भी सुवर्ण प्रकट होता भी है नहीं भी होता है, उसी प्रकार सभी जीवों में सम्यग्दर्शन होने की शक्ति है परन्तु प्रकट होने की अपेक्षा भेद है। किसी में शक्ति प्रकट होती है किसी में नहीं॥१३॥

जैसे किसी कनकपाषाण में विद्यमान (रहनेवाली) शक्ति की शीघ्र ही कनक भाव से व्यक्ति होती प्रतीत होती है अर्थात् शीघ्र ही प्रयोग के द्वारा सुवर्ण पर्याय प्रगट हो जाती है। किसी अन्य सुवर्णपाषाण की सुवर्णशक्ति बहुत काल से सुवर्णरूप पर्याय से व्यक्त होती है तथा किसी पाषाण में सुवर्ण शक्त्यात्मक स्वरूप की सामान्य दशा होने पर भी सुवर्ण की व्यक्ति (प्रगटता) नहीं होती। वैसे ही कोई संसारी जीव तो थोड़े ही काल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप पर्याय प्रगट करता हुआ आसन्नमुक्त होता है।

दूसरा दूरभव्य अनन्त काल में सम्यग्दर्शनादि गुणों को पर्याय रूप से संभवत: प्रगट कर सकेगा। कोई शक्ति स्वरूप की अपेक्षा अविशेषता होने से सम्यग्दर्शन आदि को कभी भी प्रगट नहीं कर सकेगा। अर्थात् उसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होने की संभावना ही नहीं है अत: जीवों में निकटभव्यता, दूरभव्यता और अभव्यता इन तीनों का विभाग करना युक्तिसंगत है। सुखादि के समान बाधक कारणों का अभाव होने से विरुद्ध नहीं है। अर्थात् जैसे छद्मस्थ के अगोचर रहने वाले सुख-दु:ख, पुण्य-पाप की सत्ता मानने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, स्वयं संवेद्य है और बाधक प्रमाण न होने से सुख दु:ख आदि माने जाते हैं उसी प्रकार संसारी जीवों में भी अतीन्द्रिय आसन्न भव्यत्व, दूर भव्यत्व और अभव्यत्व को मानने में कोई बाधक प्रमाण नही है। इन तीन प्रकार के जीवों में आसन्न भव्य के दर्शन मोहनीय का उपशम आदि अन्तरंग हेतु के होने पर परोपदेश के बिना उत्पन्न हुए तत्त्वार्थ ज्ञान से तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन और

दर्शनमोहोपशमादौ सत्यंतरंगे हेतौ बहिरंगादपरोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानात् परोपदेशापेक्षाच्च प्रजायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं निसर्गजमधिगमजं च प्रत्येतव्यम् ॥

किं तत्त्वं नाम येनार्यमाणस्तत्त्वार्थ इष्यते। इत्यशेषविवादानां निरासायाह सूत्रकृत् ॥—

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

तत्त्वस्य हि संख्यायां स्वरूपे च प्रवादिनो विप्रवदंते तद्विप्रतिपत्तिप्रतिषेधाय सूत्रमिदमुच्यते। तत्र जीवादिवचनात्।

सप्त जीवादयस्तत्त्वं न प्रकृत्यादयोऽपरे। श्रद्धानविषया ज्ञेया मुमुक्षोर्नियमादिह॥ १ ॥

तथा चानंतपर्यायं द्रव्यमेकं न सूचितम्। तत्त्वं समासतो नापि तदनंतं प्रपंचतः॥ २ ॥

मध्यमोक्त्यापि तद्व्यादिभेदेन बहुधा स्थितम्। नातः सप्तविधा तत्त्वाद्विनेयापेक्षितात्परम् ॥ ३ ॥

प्रकृत्यादयः पंचविंशतिस्तत्त्वमित्यादिसंख्यांतरनिराचिकीर्षयापि संक्षेपतस्तावदेकं द्रव्यमनंतपर्यायं

अंतरंग कारण के होने पर भी परोपदेश की अपेक्षा से उत्पन्न तत्त्वार्थज्ञान से जो श्रद्धान होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन जानना चाहिए। अर्थात् देशनालब्धि के होने पर जिसको सम्यग्दर्शन स्वयमेव हो जाता है, गुरु को विशेष समझाने का क्लेश नही होता वह **निसर्गज** है और जिसको विशेषरूप से समझाने पर होता है वह **अधिगमज** है।

तत्त्व किसे कहते हैं, जिसके द्वारा निर्णीत अर्थ को तत्त्वार्थ कहा जाता है ? इस प्रकार पूछने वाले के अशेष विवादों को दूर करने के लिए उमास्वामी तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते हैं -

जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं॥४॥

क्योंकि तत्त्वों की संख्या में और तत्त्व के स्वरूप में प्रवादी विवाद करते हैं अत: उन विवादों का प्रतिषेध (निषेध वा निराकरण) करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। इस सूत्र में जीवादि का ग्रहण होने से नियम से मुमुक्षुओं के जीवादि सात तत्त्व होते हैं। अन्य प्रकृति आदि तत्त्व नहीं हैं, ऐसा श्रद्धान का विषय जानना चाहिए। वा ऐसा श्रद्धान करना चाहिए॥१॥

तथा इस सूत्र में संक्षेप से अनन्त पर्याय वाला द्रव्य एक ही तत्त्व है, ऐसा भी नहीं कहा तथा विस्तार से द्रव्य अनन्त हैं ऐसा कथन भी नहीं किया और न मध्यम रीति से दो आदि भेदों से बहुत प्रकार से स्थित तत्त्व का वर्णन किया है अपितु शिष्यों के आशय की अपेक्षा से सात प्रकार के तत्त्वों का कथन किया है अर्थात् विनीत शिष्य को मोक्ष के लिए सात तत्त्व ही अपेक्षित हैं अत: जीवादि सप्तविध तत्त्वों का निरूपण किया है॥२-३॥

सांख्य मतावलम्बी कपिल ने प्रकृति, महान् , अहंकार, स्पर्शन इन्द्रिय, रसना,घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचनशक्ति, हाथ, पाँव, गुदास्थान, जननेन्द्रिय, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और पुरुष ये २५ तत्त्व माने हैं। वैशेषिक ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि तत्त्व माने हैं, किसी ने प्रमाण प्रमेय आदि १६ तत्त्व माने हैं। अत: प्रकृति आदि २५ तत्त्व हैं, इत्यादि संख्यान्तरों के निराकरण करने की इच्छा से संक्षेप से अनन्त पर्याय वाला द्रव्य ही

तत्त्वमित्येकाद्यनंतविकल्पोपायादौ तत्त्वस्य मध्यमस्थानाश्रयमपेक्ष्य विनेयस्य मध्यमाभिधानं सूरे: संक्षेपाभिधानं सुमेधसामेवानुग्रहाद्विस्तराभिधाने चिरेणापि प्रतिपत्तेरयोगात् । सर्वानुग्रहानुपपत्तिरित्येके । ते न सूत्रकाराभिप्रायविद:। सप्तानामेव जीवादीनां पदार्थानां नियमेन मुमुक्षो: श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थत्वादुपदेशस्य मध्यमरुचिविनेयानुरोधेन तु संक्षेपेणैकं तत्त्वं प्रपंचतश्चानंतं मा भूत् सूत्रयितव्यं। मध्यमोक्त्या तु द्व्यादिभेदेन बहुप्रकारं कथनं सूत्रयितव्यं विशेषहेत्वभावात् । सप्तविधतत्त्वोपदेशे तु विशेषहेतुरवश्यं मुमुक्षो: श्रद्धातव्यत्वमभ्यवाप्येत परै: । कथम् ?

मोक्षस्तावद्विनेयेन श्रद्धातव्यस्तदर्थिना। बंधश्च नान्यथा तस्य तदर्थित्वं घटामटेत्॥ ४ ॥

आस्रवोपि च बंधस्य हेतु: श्रद्धीयते न चेत्। क्वाहेतुकस्य बंधस्य क्षयो मोक्ष: प्रसिद्ध्यति ॥ ५ ॥

बंधहेतुनिरोधश्च संवरो निर्जरा क्षय:। पूर्वोपात्तस्य बंधस्य मोक्षहेतुस्तदाश्रय:॥ ६ ॥

एक तत्त्व है। जीव अजीव के भेद से दो तत्त्व हैं; अर्थ, शब्द और ज्ञान रूप से तीन तत्त्व हैं- इत्यादि। एक आदि अनन्त विकल्पों के उपाय की आदि में तत्त्व के मध्यम स्थान के आश्रय की अपेक्षा करके शिष्य के लिए आचार्य सूरि का मध्यम रूप से कथन है।क्योंकि यदि अत्यन्त संक्षेप से कथन किया जावे तो सुमेधसों (विद्वज्जनों) को ही प्रतीति हो सकती है और यदि अति विस्तार से निरूपण किया जाये तो चिरकाल तक भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

शंका : सात तत्त्व का कथन करने से सर्व जीवों का अनुग्रह नहीं होता। **समाधान :** ऐसा कहने वाले सूत्रकार के अभिप्राय को नहीं जानते हैं। आचार्य कहते हैं :- जीवादि सात तत्त्व के श्रद्धेयत्व का ख्यापन करने के लिए मुमुक्षुओं को मध्यम रुचिवाले शिष्य के अनुरोध से संक्षेप से एक तत्त्व का और विशेष से अनन्त तत्त्व का सूत्र में कथन नहीं करना तो ठीक है, परन्तु मध्यम रीति से दो तीन आदि बहुत प्रकार से तो तत्त्वों का सूत्र में कथन कर सकते थे क्योंकि इसमें विशेष हेतु का अभाव है। फिर भी उमास्वामी ने सात ही तत्त्व कहे हैं। इन सात तत्त्वों के कथन में कोई विशेष हेतु है, क्योंकि मुमुक्षु को वे सात श्रद्धान करने योग्य हैं तथा अन्य प्रवादियों के द्वारा भी मान्य है।

शंका : इन सात तत्त्वों के कथन करने का मुख्य हेतु क्या है ? (मध्यम रीति से कहना यह तो मुख्य हेतु नहीं है क्योंकि मध्यम रीति से तो तीन चार तत्त्वों का भी वर्णन कर सकते थे)

समाधान : मोक्षार्थी शिष्य को सर्वप्रथम मोक्ष का श्रद्धान तो अवश्य करना चाहिए और बंध का भी, क्योंकि बंध का श्रद्धान किये बिना उसके मोक्ष की अभिलाषा घटित नहीं हो सकती अर्थात् जो जीव वर्तमान में अपने को बँधा हुआ नहीं मानता वह अनन्त सुखवाली मुक्ति का इच्छुक भी नहीं हो सकता है॥४॥ यदि बंध के कारणभूत आस्रव का श्रद्धान नहीं किया जायेगा तो अकारण होने वाले बंध का क्षय रूप मोक्ष कैसे सिद्ध होगा॥५॥

बंध के कारणों का रुक जाना संवर तथा पूर्व काल में एकत्र हुए बंध का क्षय होना निर्जरा ये दोनों मोक्ष के कारण हैं, क्योंकि मोक्ष संवर और निर्जरा के आश्रय से होता है तथा बंध और मोक्ष के द्विष्ठत्व

जीवोऽजीवश्च बंधश्च द्विष्ठत्वात्तत्क्षयस्य च। श्रद्धेयो नान्यदाफल्यादिति सूत्रकृतां मतम्॥७॥

ननु च पुण्यपापपदार्थावपि वक्तव्यौ तयोर्बंधव्यत्वाद्बंधफलत्वाद्वा तदश्रद्धाने बंधस्य श्रद्धानानुपपत्तेरसंभवादफलत्वाच्चेति कश्चित्। तदसदित्याह;—

पुण्यपापपदार्थौ तु बंधास्रवविकल्पगौ। श्रद्धातव्यौ न भेदेन सप्तभ्योतिप्रसंगत: ॥८॥

न हि पुण्यपापपदार्थौ बंधव्यौ जीवाजीवबंधव्यवत्, नापि बंधफलं सुखदु:खाद्यनुभवनात्मकनिर्जरावत्। किं तर्हि? बंधविकल्पौ। पुण्यपापबंधभेदेन बंधस्य द्विविधोपदेशात्। तद्धेतुत्वास्रवविकल्पौ वा सूत्रितौ। ततो न सप्तभ्यो जीवादिभ्यो भेदेन श्रद्धातव्यौ। तथा तयो: श्रद्धानेतिप्रसंगात्। संवरविकल्पानां गुप्त्यादीनां

होने से (बंध और मोक्ष दो के संयोग और वियोग से होता है अत: द्विष्ठ है।) जीव और अजीव भी श्रद्धान करने योग्य हैं इसलिए जीव, अजीव, आस्रव, बंध ,संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षु के श्रद्धान करने योग्य हैं। इन सात तत्त्वों से अतिरिक्त तत्त्व निष्फल होने से श्रद्धान करने योग्य नहीं हैं, ऐसा सूत्रकार का मत है॥६-७॥

कोई शंकाकार कहता है कि पुण्य और पाप में बंधव्यत्व (बँधने की योग्यता) और बंध का फलत्व होने से सूत्र में पुण्य और पाप पदार्थ का भी वर्णन करना चाहिए। पुण्य-पाप का श्रद्धान नहीं करने पर बंध तत्त्व के श्रद्धान की अनुपपत्ति होगी, बंध तत्त्व की असंभवता होगी और बंध तत्त्व का फल भी प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् बंध और बंध का फल पुण्य-पाप रूप है अत: पुण्य-पाप के श्रद्धान के बिना बंध का और बंध के फल का भी श्रद्धान नहीं हो सकता अत:सूत्र में पुण्य और पाप का कथन करना चाहिए।

समाधान : ऐसा कहना असत्, अप्रशंसनीय है क्योंकि-

पुण्य और पाप पदार्थ आस्रव और बंध विकल्प गत हैं अर्थात् आस्रव और बंध के विकल्प ह अत: सात तत्त्व से अधिक तत्त्व का प्रसंग आने से भेद रूप श्रद्धान करने योग्य नहीं है। तत्त्व के भेदों का श्रद्धान करने पर जीव-अजीव के अनेक भेदों का प्रसंग होने से तत्त्वों की संख्या का निर्णय करना कठिन हो जायेगा॥८॥

किंच जैसे जीव (संसारी) अजीव (पाँचवर्गणारूप पुद्गल) बँधने योग्य है वैसे पुण्य और पाप पदार्थ बँधने योग्य नहीं हैं। अर्थात् पुण्य पाप रूप वर्गणा का पृथक् बंध नहीं होता, न प्रतिक्षण बँधने वाली वर्गणाओं में पुण्य पाप रूप भेद है। वे तो कषायों का निमित्त पाकर पुण्य-पाप रूप होती हैं। तथा सुख-दु:खादि अनुभवात्मक निर्जरा के समान पुण्य-पाप बंध का फल भी नहीं है। अर्थात् सुख-दु:ख आदि फल देकर कर्मों का झड़ जाना यही बंध का फल है, पुण्य-पाप बंध का फल नहीं है।

शंका : पुण्य-पाप क्या वस्तु है ? **उत्तर :** पुण्य बंध और पाप बंध के भेद से बंधतत्त्व का दो प्रकार का कथन (उपदेश) होने से पुण्य-पाप बंध के विकल्प हैं। अथवा ग्रन्थों में आस्रव के विकल्प रूप से पुण्य-पाप को बंध का कारण कहा गया है अर्थात् पुण्य और पाप बन्ध और आस्रव के विकल्प कहे गये हैं। जीवादि सात तत्त्वों से भिन्न (पृथक्) श्रद्धान करने योग्य तत्त्व नहीं कहा है। इन दोनों को पृथक् श्रद्धान करने

निर्जराविकल्पयोश्च यथाकालौपक्रमिकानुभवनयोः संवरनिर्जराभ्यां भेदेन श्रद्धातव्यतानुषंगात्। नन्वेवं जीवाजीवाभ्यां भेदेन नास्रवादयः श्रद्धेयास्तद्विकल्पत्वात् अन्यथातिप्रसंगादिति न चोद्यं, तेषां तद्विकल्पत्वेपि सार्वकत्वेन भिदा श्रद्धेयत्वोपपत्तेः॥

बंधो मोक्षस्तयोर्हेतू जीवाजीवौ तदाश्रयौ। ननु सूत्रे षडेवैते वाच्याः सार्वत्ववादिना॥ ९ ॥

जीवाजीवौ बंधमोक्षौ तद्धेतु च तत्त्वमिति सूत्रं वक्तव्यं सकलप्रयोजनार्थसंग्रहात्, बंधस्य हि हेतुरास्रवो मोक्षस्य हेतुर्द्विविकल्पः संवरनिर्जराभेदादिति न कस्यचिदसंग्रहस्तत्त्वस्य मोक्षहेतुविकल्पयोः पृथगभिधाने बंधास्रवविकल्पयोरपि पुण्यपापयोः पृथगभिधानप्रसंगादिति चेत्;—

सत्यं किं त्वास्रवस्यैव बंधहेतुत्वसंविदे। मिथ्यादृगादिभेदस्य वचो युक्तं परिस्फुटम्॥१०॥

योग्य तत्त्व मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है। क्योंकि इनको भेद रूप स्वीकार करने पर गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि संवर के विकल्पों का और यथाकाल सविपाक और औपक्रमिक (अविपाक) निर्जरा के विकल्पों का संवर-निर्जरा से पृथक् तत्त्वरूप से श्रद्धान करने योग्यपने का प्रसंग आता है।

अर्थात् जैसे आस्रव और बंध के विकल्प पुण्य-पाप को भिन्न तत्त्व मान लें तो संवर के गुप्ति आदि भेदों को और निर्जरा के भेद सविपाक अविपाक आदि को भी पृथक् तत्त्व मानने का प्रसंग आता है।

शंका : यदि पुण्य-पाप को पृथक् मानने से अतिप्रसंग आता है तो जीव अजीव के विकल्प होने से जीव अजीव से भिन्न आस्रव आदि को भी श्रद्धेय तत्त्व नहीं मानना चाहिए क्योंकि आस्रव आदि को पृथक् मानने पर भी अतिप्रसंग दोष आता है। **समाधान :** ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि आस्रव आदि के जीव अजीव का विकल्पत्व होने पर भी सर्व जीवों के लिए हित रूप से (हितकारी होने से) भिन्न रूप से श्रद्धेयत्व की उत्पत्ति होती है। अर्थात् यद्यपि आस्रव आदि जीव और अजीव की पर्याय हैं तथापि इनका भेद रूप कथन किये बिना सर्व जीवों का हित नहीं हो सकता इसलिए इनका पृथक् कथन किया है।

शंकाकार कहता है कि बंध, मोक्ष, बंध का कारण, मोक्ष का कारण, तथा उनके आधारभूत जीव और अजीव सर्व जीवों का अनुग्रह करने वाले स्याद्वादियों को इन छह तत्त्वों का ही कथन करना चाहिए॥९॥

जीव, अजीव, बंध, मोक्ष, बंध का कारण, मोक्ष का कारण इन छह तत्त्वों का निरूपण करने वाला सूत्र कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा कहने पर सकल प्रयोजनीभूत तत्त्वों का संग्रह हो जाता है। बंध का हेतु आस्रव है, मोक्ष का हेतु संवर और निर्जरा के भेद से दो विकल्प रूप है। इन छह तत्त्वों में किसी भी तत्त्व का असंग्रह नहीं है अतः मोक्ष हेतु विकल्पों का (संवर-निर्जरा का) पृथक् ग्रहण करने पर बंध और आस्रव के कारण पुण्य-पाप के भी पृथक् कथन का प्रसंग आता है।

समाधान : यद्यपि तुम्हारा यह कथन सत्य है तथापि बंध का हेतु आस्रव ही है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए आस्रव के भेद मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का भी तत्त्व रूप से स्वतंत्र कथन करना पड़ेगा। अन्यथा बन्ध का हेतु आस्रव ही है, ऐसा जानना कठिन होगा॥१०॥

मोक्षसंपादिके चोक्ते सम्यक् संवरनिर्जरे। रत्नत्रयादृतेन्यस्य मोक्षहेतुत्वहानये॥ ११ ॥

तेनानागतबंधस्य हेतुध्वंसाद्विमुच्यते। संचितस्य क्षयाद्वेति मिथ्यावादो निराकृतः॥ १२ ॥

संचितस्य स्वयं नाशादेष्यद्बंधस्य रोधकः । एकः कश्चिदनुष्ठेय इत्येके तदसंगतम्॥ १३ ॥

निर्हेतुकस्य नाशस्य सर्वथानुपपत्तितः । कार्योत्पादवदन्यत्र विस्रसा परिणामतः॥ १४ ॥

यतश्चानागताघौघनिरोधः क्रियतेऽमुना। तत एव क्षयः पूर्वपापौघस्येत्यहेतुकः॥ १५ ॥

सन्नप्यसौ भवत्येव मोक्षहेतुः स संवरः। तयोरन्यतरस्यापि वैकल्ये मुक्त्ययोगतः॥ १६ ॥

एतेन संचिताशेषकर्मनाशे विमुच्यते। भविष्यत्कर्मसंरोधापायेपीति निराकृतम्॥ १७ ॥

संवर और निर्जरा को तत्त्वों में लेने का हेतु

मोक्ष के सम्पादक सम्यक् संवर-निर्जरा का कथन करने पर रत्नत्रय से भिन्न अन्य कारणों के मोक्ष के हेतुत्व की हानि होती है अर्थात् मोक्ष के हेतु संवर निर्जरा ही हैं, सम्यग्दर्शन आदि नहीं ऐसा मानना पड़ेगा। इसलिए रत्नत्रय स्वरूप संवर और निर्जरा तत्त्वों का स्वतंत्र रूप से कथन करना उचित ही है॥११॥

अनागत कर्मबंध के हेतु का ध्वंस हो जाने से और संचित कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष होता है। इस प्रकार मिथ्यावादियों का निराकरण किया है(क्योंकि मोक्ष और बंध के हेतुओं का स्वतंत्र कथन किये बिना तत्त्वों का भान नहीं होता) इसलिए सात तत्त्वों का कथन किया है॥१२॥

कोई वादी कहता है कि संचित कर्मों का क्षय तो स्वयं हो जाता है अतः भविष्य में आने वाले बंध के निरोधक किसी एक मोक्षहेतु का अनुष्ठान करना चाहिए। अर्थात् मोक्षहेतु नाम के तत्त्व से एक ही संवर तत्त्व मानना चाहिए, निर्जरा तत्त्व की आवश्यकता नहीं। आचार्य कहते हैं ऐसा कहना सुसंगत नहीं है, क्योंकि बिना कारण संचित कर्मों का स्वयं नाश होना किसी प्रकार से संभव नहीं है, जैसे कार्यों का उत्पाद बिना हेतु नहीं होता उसी प्रकार नाश भी बिना कारण नहीं होता। स्वभाव से होने वाले परिणामों के सिवाय सभी पदार्थ हेतुजन्य हैं। अतः संवर के समान निर्जरा तत्त्व को भी स्वीकार करना चाहिए। कर्मों का आना रुक जाने पर भी पुरातन कर्मों का नाश हुए बिना आत्मा कर्म बंधन रहित नहीं होता है अतः निर्जरातत्त्व का कथन परमावश्यक है ॥१३-१४॥

जिस कारण (संवर) से अनागत पापों के समूह का निरोध होता है उन्हीं कारणों से संचित पापों के समूह का भी क्षय हो जाता है, इसलिए पूर्व पापों के समूह का क्षय अहेतुक होते हुए भी कर्मों का संवर हेतु है, वैसे ही क्षय भी हेतु है अर्थात् जैसे कर्मों का निरोध संवर हेतु है वैसे कर्मों का क्षय (निर्जरा) भी हेतु है। दोनों (निर्जरा और संवर) में एक की भी विकलता होने पर मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती॥१५-१६॥

जो कहते हैं कि भविष्य काल में आने वाले कर्मों का निरोध किये बिना ही संचित कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्ति हो जाती है, उनका भी इस सूत्र से निराकरण कर दिया है। क्योंकि जैसे निर्जरा मोक्ष की हेतु है वैसे ही संवर भी मोक्ष का हेतु है॥१७॥

एवं प्रयोजनापेक्षाविशेषादास्रवादय:। निर्दिश्यंते मुनीशेन जीवाजीवात्मका अपि॥ १८ ॥

बंधमोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वमिति सूत्रं वाच्यं जीवाजीवयोर्बंधमोक्षोपादानहेतुत्वादास्रवस्य बंधसहकारिहेतुत्वात् संवरनिर्जरयोर्मोक्षसहकारिहेतुत्वात् तावता सर्वतत्त्वसंग्रहादिति येप्याहुस्तेप्यनेनैव निराकृता:। आस्रवादीनां पृथगभिधाने प्रयोजनाभिधानात्, जीवाजीवयोश्चानभिधाने सौगतादिमतव्यवच्छेदानुपपत्ते:॥

जीवादीनामिह ज्ञेयं लक्षणं वक्ष्यमाणकम्। तत्पदानां निरुक्तिश्च यथार्थानतिलंघनात्॥१९॥

जीवस्य उपयोगलक्षण:, सामर्थ्यादजीवस्यानुपयोग:, आस्रवस्य कायवाङ्मन: कर्मात्मको योग:,

पृथक्-पृथक् सात तत्त्वों का औचित्य

इस प्रकार जीव और अजीव स्वरूप दो तत्त्व होते हुए भी प्रयोजन की अपेक्षा विशेष से मुनीश ने आस्रव आदि का निर्देश किया है अर्थात् यद्यपि आस्रव आदि तत्त्व जीव और अजीव के ही भेद (पर्याय) हैं तथापि मोक्ष का प्रकरण होने से उनका पृथक् कथन किया है॥१८॥

''बंध मोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वं'' बंध, मोक्ष और बंध-मोक्ष के हेतु ही तत्त्व हैं, ऐसी सूत्र की रचना करनी थी क्योंकि बंध और मोक्ष का उपादान हेतु होने से जीव और अजीव का बंध-मोक्ष में,बंध का सहकारी होने से आस्रव का बंध कारण में और मोक्ष के सहकारी हेतु होने से संवर निर्जरा का मोक्ष के कारणों में अन्तर्भाव हो जाता है अत: सर्व तत्त्वों का संग्रह हो जाने से ''बंध मोक्षौ तद्धेतू च तत्त्वं'' ऐसा सूत्र कहना चाहिए । जो ऐसा कहता है उनका भी इस सूत्र से निराकरण कर दिया है। आस्रव आदि के पृथक् कथन करने का विशेष प्रयोजन है- क्योंकि जीव और अजीव का पृथक् कथन न करने से सौगत-बौद्ध, चार्वाक आदि के मत का निराकरण नहीं होता है (वे जीव तत्त्व को स्वतंत्र नहीं मानते हैं।)

अर्थात् चार्वाक जीव को स्वतंत्र नहीं मानता, चार भूत (पृथ्वी जल अग्नि वायु) से उत्पन्न हुआ मानता है। ब्रह्माद्वैत अजीव को नहीं मानता, वह सर्व संसार को ब्रह्ममय मानता है। जब जीव अजीव नहीं हैं तो बंध मोक्ष आदि भी नहीं हैं। बौद्ध बंध के हेतु अविद्या और तृष्णा को मानता है जीव का अस्तित्व नहीं मानता अत: सब की मिथ्या भ्रान्तियों का खण्डन करने के लिए सात तत्त्वों का वर्णन किया है।

यहाँ जीवादि तत्त्वों का निर्दोष लक्षण आगे कहे जाने वाला जानना चाहिए। अर्थात् जीवादि तत्त्वों का लक्षण आचार्य स्वयं आगे के सूत्रों में कहेंगे, वहाँ से जानना चाहिए। तथा जीवादि पदों (पदार्थों) का यथार्थ का (वास्तविक अर्थ का) उल्लंघन न करके निरुक्ति (शब्दों की व्युत्पत्ति) भी समझना चाहिए॥१९॥

(मिले हुए पदार्थों को पृथक् करनेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं।)

जीव का लक्षण है उपयोग। जीव का लक्षण उपयोग कर देने पर बिना कहे ही प्रकरण के सामर्थ्य से अजीव का लक्षण अनुपयोग सिद्ध होता है। अर्थात् जिसमें ज्ञान दर्शन की शक्ति और व्यक्ति पायी जाती है वह जीव है, और जिसमें ज्ञान दर्शन शक्ति नहीं है वह अजीव है।

आस्रव का लक्षण है शरीर, वचन और मन के द्वारा उत्पन्न आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन रूप योग।

बंधस्य कर्मयोग्यपुद्गलादानं, संवरस्यास्रवनिरोधः, निर्जरायाः कर्मैकदेशविप्रमोक्षः, मोक्षस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष इति वक्ष्यमाणं लक्षणं जीवादीनामिह युक्त्यागमाविरुद्धमवबोद्धव्यं। निर्वचनं च जीवादिपदानां यथार्थानतिक्रमात्। तत्र भावप्राणधारणापेक्षायां जीवत्यजीवीज्जीविष्यतीति वा जीवः, न जीवति नाजीवीत् न जीविष्यतीत्यजीवः, आस्रवत्यनेनास्रवणमात्रं वास्रवः, बध्यतेनेन बंधमात्रं वा बंधः, संव्रियतेनेन संवरणमात्रं वा संवरः, निर्जीर्यतेनया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा, मोक्ष्यतेनेन मोक्षणमात्रं वा मोक्ष, इति करणभावापेक्षया॥

क्रमो हेतुविशेषात्स्याद् द्वंद्ववृत्ताविति स्थितेः। जीवः पूर्वं विनिर्दिष्टस्तदर्थत्वाद्वचोविधेः॥ २०॥

तदुपग्रहहेतुत्वादजीवस्तदनंतरम्। तदाश्रयत्वतस्तस्मादास्रवः परतः स्थितः॥ २१॥

बंधश्चास्रवकार्यत्वात्तदनंतरमीरितः। तत्प्रतिध्वंसहेतुत्वादजीवस्तदनंतरम्॥ २२॥

संवरे सति संभूतेर्निर्जरायास्ततः स्थितिः। तस्यां मोक्ष इति प्रोक्तस्तदनंतरमेव सः॥ २३॥

बंध का लक्षण है ज्ञानावरणादि पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करना। आस्रव का निरोध करना संवर का लक्षण है। एकदेश कर्मों का क्षय निर्जरा है और सर्व कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। इस प्रकार आगे कहे जाने वाले जीवादि के लक्षण यहाँ युक्ति (अनुमान) आगम से अविरुद्ध निर्दोष हैं, ऐसा जानना चाहिए तथा जीव अजीव आदि तत्त्वों का निर्वचन (व्याकरण द्वारा प्रकृति प्रत्यय से) यथार्थ (आर्ष मार्ग) का अतिक्रम न करते हुए जानना चाहिए। यहाँ जीवादि शब्दों का निरुक्ति अर्थ करते हैं, इसमें चैतन्य, सत्ता स्वरूप भाव प्राण धारण करने की अपेक्षा से जो वर्तमान में जीवित है, भूतकाल में जीवित था और भविष्यत् काल में भी जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है। इसके विपरीत जो वर्तमान में चैतन्य भाव प्राण से युक्त नहीं है, भूतकाल में प्राणधारक नहीं था और भविष्य में भावप्राणों से जीवित नहीं रहेगा वह अजीव है। जिसके द्वारा कर्म आते हैं या कर्मों का आना मात्र आस्रव है।

जिससे कर्म बँधते हैं वा कर्मों का बँधना मात्र बंध है। जिससे कर्मों का निरोध किया जाता है वा निरोध करना मात्र है वह संवर है। जिससे कर्म झड़ते हैं वा कर्मों का झड़ना मात्र निर्जरा है। जिससे कर्मों का उच्छेद किया जाता है वा उच्छेद होना मात्र मोक्ष है। इस प्रकार करण साधन और भाव साधन के द्वारा जीव आदि तत्त्वों के शब्दों की व्युत्पत्ति से निरुक्ति (शब्दार्थ) कही है।

इस सूत्र में जीवादि सात तत्त्वों का इतरेतर द्वन्द्व समास करने पर क्रम हेतु विशेष से जीव का पूर्व में निर्देश (कथन) किया है क्योंकि सम्पूर्ण वचनों की या मोक्षमार्ग के उपदेश आदि के प्रयत्न की प्रवृत्ति जीव के लिए ही की जाती है॥२०॥

जीव के शरीर, वचन आदि के द्वारा उसके उपकार का हेतु होने से वा जीव का अनुग्रह करने वाला होने से जीव के अनन्तर अजीव का ग्रहण किया है। जीव और अजीव (पुद्गल) दोनों के आश्रय होने से दोनों के समीप आस्रव को स्थान दिया है। आस्रव का कार्य होने से बंध को आस्रव के बाद ग्रहण किया है। आस्रव और बंध के प्रतिध्वंस (नाश) का कारण होने से आस्रव और बंध के अनन्तर संवर का कथन किया है। संवर होने पर ही निर्जरा होती है इसलिए संवर के निकट निर्जरा का कथन किया है। निर्जरा के होने पर ही मोक्ष होता है इसलिए निर्जरा के अनन्तर मोक्ष का निर्देश किया है॥२१-२२-२३॥

जीवादिपदानां द्वंद्ववृत्तौ यथोक्तः क्रमो हेतुविशेषमपेक्षतेऽन्यथा तन्नियमायोगात्। तत्र जीवस्यादौ वचनं तत्त्वोपदेशस्य जीवार्थत्वात्। प्रधानार्थस्तत्त्वोपदेश इत्ययुक्तं, तस्याचेतनत्वात् तत्त्वोपदेशेनानुग्रहासंभवात् घटादिवत्। संतानार्थः स इत्यप्यसारं, तस्यावस्तुत्वेन तदनुग्राह्यत्वायोगात्। निरन्वयक्षणिकचित्तार्थस्तत्त्वोपदेश इत्यप्यसंभाव्यं, तस्य सर्वथा प्रतिपाद्यत्वानुपपत्तेः। संकेतग्रहणव्यवहारकालान्वयिनः प्रतिपाद्यत्वप्रतीतेः। चैतन्यविशिष्टकायार्थस्तत्त्वोपदेश इति चेत्, तच्चैतन्यं कायात्तत्त्वांतरमतत्त्वांतरं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, बंधं प्रत्येकतामापन्नयोः कायचैतन्ययोर्व्यवहारनयाज्जीवव्यपदेशसिद्धेः। निश्चयनयात्तु चैतन्यार्थ एव तत्त्वोपदेशः,

जीवादि तत्त्वों का द्वन्द्व समास करने पर शास्त्र में यथोक्त क्रम हेतु विशेष की अपेक्षा रहती है। यदि इस क्रम में हेतु विशेष की अपेक्षा न मानी जाय तो जीव आदि के रखने के नियम का अयोग आता है अर्थात् इनका इच्छानुसार न्यास किया जा सकेगा। जीव अजीव आदि के रखने के क्रम का नियम नहीं रहेगा। इस सूत्र में सात तत्त्वों में सर्वप्रथम जीव को ग्रहण किया है क्योंकि तत्त्व का उपदेश जीव के लिए ही उपयोगी है। **अर्थात् तत्त्वों के कहने का, सुनने का, पालन करने और स्वामित्व का अधिकार जीव को ही है।**

तत्त्वों का उपदेश आत्मा के लिए नहीं है अपितु सत्त्व रज और तमोरूप वाले प्रधान (प्रकृति) के लिए है ऐसा (कपिल का) कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रधान के अचेतनत्व होने से तत्त्वोपदेश के द्वारा अनुग्रह करना संभव नहीं है घटादिक के समान। जैसे अचेतन होने से घट-पट आदि का तत्त्वोपदेश के द्वारा अनुग्रह (उपकार) नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्रधान अचेतन है उसके लिए भी तत्त्वोपदेश उपकारक नहीं है।

तत्त्वोपदेश क्षणिक चित्त सन्तान के लिए उपयोगी है[१] ऐसा कथन भी सार रहित है क्योंकि चित्त सन्तान के अवास्तविकता है और अवास्तव होने से उसके अनुग्रह का अयोग है अर्थात् जो वास्तव सन्तान नहीं है वह उपदेश के द्वारा अनुग्रह करने योग्य नहीं है।

निरन्वय (क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले) क्षणिक चित्त के लिए तत्त्व का उपदेश दिया जाता है, ऐसा भी कहना असंभाव्य है (संभव नहीं है) एक क्षण रहने वाले उस क्षणिक चित्त के प्रतिपाद्यत्व (श्रोतापना) की अनुपपत्ति (अभाव) है क्योंकि जो श्रोता संकेत काल से लेकर व्यवहार कालतक अन्वय रूप से विद्यमान रहता है उसी के प्रतिपाद्यत्व (ज्ञातापने) की प्रतीति होती है।

चैतन्य विशिष्ट (सहित) काय के लिए तत्त्वोपदेश होता है, ऐसा कहते हो तो शरीर सहित चैतन्य शरीर भिन्न स्वतंत्र तत्त्व है या शरीर रूप ही है? यदि प्रथम पक्ष शरीर से चैतन्य भिन्न स्वतंत्र तत्त्व है, ऐसा मानते हो तो सिद्ध साध्यता है अर्थात् चैतन्य के लिए ही तत्त्वोपदेश सिद्ध होता है।

बंध के प्रति एकत्व होने से व्यहार नय से शरीर और चैतन्य दोनों में जीव व्यपदेश होता है। चैतन्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने से शरीर को भी 'जीव' ऐसा व्यवहार नय से कह दिया जाता है। अतः निश्चय नय से चेतन जीव के लिए ही तत्त्वोपदेश कहा जाता है। चैतन्य शून्य काय के लिए तत्त्वोपदेश घटित नहीं

१. बौद्ध का कथन है।

चैतन्यशून्यस्य कायस्य तदर्थत्वाघटनात्। द्वितीयपक्षे तु कायानर्थांतरभूतस्य चैतन्यस्य कायत्वात्काय एव तत्त्वोपदेशेनानुगृह्यत इत्यापन्नं, तच्चायुक्तमतिप्रसंगात्। ततो जीवार्थ एव तत्त्वोपदेश इति नासिद्धो हेतुः। जीवादनंतरमजीवस्याभिधानं तदुपग्रहहेतुत्वात्। धर्माधर्माकाशपुद्गलाद्यजीवविशेषा असाधारणगतिस्थित्यवगाहवर्तनादिशरीराद्युपग्रहहेतवो वक्ष्यंते। द्रव्यास्रवस्याजीवविशेषपुद्गलात्मककर्मास्रवत्वादजीवानंतरमभिधानं, भावास्रवस्य जीवाजीवाश्रयत्वाद्वा तदुभयानंतरं। सत्यास्रवे बंधस्योत्पत्तेस्तदनन्तरं तद्वचनं, आस्रवबंधप्रतिध्वंसहेतुत्वात् संवरस्य तत्समीपे ग्रहणं, सति संवरे परमनिर्जरोपपत्तेस्तदंतिके निर्जरावचनं, सत्यां निर्जरायां मोक्षस्य घटनात्तदनंतरमुपादानं ।

होता। अर्थात् शरीर सहित संसारी प्राणी तत्त्वोपदेश सुनने का पात्र हैं चैतन्यशून्य काय नहीं।

द्वितीय पक्ष में यदि काय से अभिन्न चैतन्य का कायत्व होने से चैतन्य ही काय रूप हो गया और काय को तत्त्व के उपदेश से अनुग्रह किया जायेगा। अर्थात् आत्मा काय होने से काय को ही तत्त्वोपदेश से अनुग्रह का प्रसंग आयेगा। अचेतन काय का अनुग्रह करने के लिए तत्त्वोपदेश देना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् अचेतनत्व सामान्य होने से घट पट आदि अचेतन पदार्थों को भी तत्त्वोपदेश से अनुग्रह करने का प्रसंग आयेगा इसलिए तत्त्वोपदेश के द्वारा जीव का ही अनुग्रह किया जाता है, जीव के लिए ही तत्त्वोपदेश दिया जाता है, यह हेतु असिद्ध भी नहीं है।

चेतन जीव के उपग्रह का हेतु होने से जीव के अनन्तर अजीव तत्त्व का कथन किया है। अर्थात् जीव के अव्यवहित अजीव का कथन उपकार्य-उपकारक भाव संबंध का प्रयोजक है। अजीव के विशेष भेद पाँच हैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। धर्म द्रव्य का असाधारण उपकार है जीव और पुद्गल के गमन में सहायता, अधर्म का ठहरने में सहायकत्व, आकाश का अवगाहन देना, काल परिवर्तन कराने में और पुद्गल जीव के शरीर की रचना आदि में कारण बनता है। इनका वर्णन आगे पाँचवें अध्याय में करेंगे।

अजीव विशेष पुद्गलात्मक कर्म आस्रवत्व होने से द्रव्यास्रव का अजीव के अनन्तर कथन किया है अर्थात् द्रव्यास्रव पुद्गलात्मक है। **अथवा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये भावास्रव हैं और भाव आस्रव जीव और अजीव इन दोनों के आश्रय से होता है अतः जीव और अजीव दोनों के अनन्तर आस्रव का कथन किया है।** अर्थात् जीवाजीव आश्रय हैं और आस्रव आश्रयी है। आस्रव के होने पर ही बंध की उत्पत्ति होती है अतः आस्रव के अनन्तर बंध को ग्रहण किया है। आस्रव और बंध में कार्य-कारण भाव का संबंध है। अर्थात् आस्रव कारण है और बंध उसका कार्य है।

आस्रव और बंध के प्रतिध्वंस (नाश) का कारण होने से इनके समीप में संवर तत्त्व को ग्रहण किया है। अर्थात् **आस्रव और बंध के निरोध का कारण होने से संवर को बंध के बाद ग्रहण किया है।**

संवर के होने पर ही निर्जरा होती है इसलिए संवर के अनन्तर निर्जरा का कथन किया है। निर्जरा के होने पर ही मोक्ष घटित हो सकता है अतः निर्जरा के अनन्तर मोक्ष का ग्रहण है। इन

मोक्षपरमनिर्जरयोरविशेष इति चेतसि मा कृथा:, परमनिर्जरणस्यायोगकेवलिचरमसमयवर्तित्वात्तदनंतरसमयवर्तित्वाच्च मोक्षस्य। य एवात्मन: कर्मबंधविनाशस्य काल: स एव केवलत्वाख्यमोक्षोत्पादस्येति चेत् न, तस्यायोगकेवलिचरमसमयत्वविरोधात् पूर्वस्य समयस्यैव तथात्वापत्तेः। तस्यापि मोक्षत्वे तत्पूर्वसमयस्येति सत्ययोगकेवलिचरमसमयो व्यवतिष्ठेत। न च तस्यैव मोक्षत्वे अतीतगुणस्थानत्वं मोक्षस्य युज्यते चतुर्दशगुणस्थानान्त:पातित्वानुषंगात्। लोकाग्रस्थानसमयवर्तिनो मोक्षस्यातीतगुणस्थानत्वं युक्तमेवेति चेत्, परमनिर्जरातोन्यत्वमपि तस्यास्तु निश्चयनयादस्यैव मोक्षत्वव्यवस्थानात्। तत: सूक्तो जीवादीनां क्रमो हेतुविशेष:॥ किं पुनस्तत्त्वमित्याह;—

तस्य भावो भवेत्तत्त्वं सामान्यादेकमेव तत्। तत्समानाश्रयत्वेन जीवादीनां बहुत्ववाक्॥२४॥
भावस्य तद्वतो भेदात् कथंचिन्न विरुध्यते। व्यक्तीनां च बहुत्वस्य ख्यापनार्थत्वत: सदा॥२५॥

दोनों में कार्य-कारण की प्रत्यासत्ति है। अर्थात् संवर और निर्जरा कारण हैं और मोक्ष कार्य है अत: संवर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष का कथन किया है।

चित्त में इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए कि मोक्ष तथा परम निर्जरा में कोई विशेषता (भेद) नहीं है, दोनों एक हैं। क्योंकि अयोग केवली नाम चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में परम निर्जरा होती है तथा उसके अनन्तर समय में मोक्ष होता है। अर्थात् निर्जरा कारण है और मोक्ष कार्य है वा निर्जरा गुणस्थान में होती है और मोक्ष गुणस्थानातीत है। अत: दोनों में भेद है। निर्जरा और मोक्ष दोनों एक नहीं हो सकते।

शंका : जो काल आत्मा के कर्मविनाश का है वही समय केवलत्व नामक मोक्ष के उत्पाद का है। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर कर्मनिर्जरा का अयोग केवली के चरम समय में रहने का विरोध आता है। यदि उपांत्य समय में होने वाली परम निर्जरा को मोक्ष कहा जायेगा तो उससे भी पहले समय में परम निर्जरा कहनी पड़ेगी।

इस प्रकार द्विचरम, त्रिचरम आदि समयों में मोक्ष होने का प्रसंग आयेगा। मोक्ष की कोई व्यवस्था नहीं बनेगी। अत: अयोग केवली का चरम समय ही परम निर्जरा का काल है और उसके पीछे का समय मोक्ष का काल है। अयोग केवली के अन्त समय में मोक्षत्व मान लेने पर मोक्ष का अतीत गुणस्थानत्व घटित नहीं हो सकता। मोक्ष का चौदहवें गुणस्थान के भीतर रहने का प्रसंग आयेगा। परन्तु मोक्ष गुणस्थानातीत होता है।

यदि कहो कि लोक के अग्रस्थान समयवर्ती मोक्ष के अतीत गुणस्थानत्व कहना ही युक्त है तो परम निर्जरा से मोक्ष का अन्यत्व सिद्ध हो गया। तथा निश्चय नय से लोक के अग्रभाग में स्थित होना ही उसके मोक्षत्व की व्यवस्था है अत: परम निर्जरा से मोक्ष तत्त्व भिन्न है। इसलिए जीवादि सात तत्त्वों के कथन का क्रम हेतुविशेष की अपेक्षा से है, ऐसा कहना उचित ही है।

तत्त्व किसे कहते हैं ? वा तत्त्व क्या वस्तु है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

''सर्व पदार्थों में सामान्य रूप से रहने वाला सर्वनाम में 'तत्' शब्द कहा गया है। उस 'तत्' शब्द का जो भाव है परिणमन है वह 'तत्त्व' कहलाता है। सामान्य की अपेक्षा तत्त्व एक ही है (अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से भाव को एकवचन रूप ही माना गया है अत: तत्त्व शब्द एकवचन और नपुंसक लिंग है।) परन्तु तत् सामान्य के आश्रित होने से जीवादिक के बहुवचनत्व कहा गया है। अर्थात् तत्त्वं एक वचन और जीवादि को बहुवचन कहा गया है। भाव और भाववान में कथञ्चित् भेद मानना विरुद्ध भी नहीं है। इसलिए व्यक्तियों के बहुत्व को प्रसिद्ध करने के लिए समासान्त मोक्ष पद को बहुवचन कहा है, क्योंकि भाव एक होते हुए भी व्यक्तियाँ बहुरूप से सदा प्रसिद्ध हैं॥२४-२५॥

तस्य भावस्तत्त्वमिति भावसामान्यस्यैकत्वात्समानाधिकरणतया निर्दिश्यमानानां जीवादीनां बहुत्ववचनं विरुध्यत इति चेत् न, भावतद्वतोः कथंचिदभेदादेकानेकयोरपि सामानाधिकरण्यदर्शनात् सदसती तत्त्वमिति जातेरेकत्ववत् सर्वदा व्यक्तीनां बहुत्वख्यापनार्थत्वाच्च तयोरेकवचनबहुवचनाविरोधः प्रत्येतव्यः ।।

जीवत्वं तत्त्वमित्यादि प्रत्येकमुपवर्ण्यते। ततस्तेनार्यमाणोऽयं तत्त्वार्थः सकलो मतः ।। २६ ।।

तस्य जीवस्य भावो जीवत्वं, अजीवस्य भावो अजीवत्वं, आस्रवस्य भाव आस्रवत्वं, बंधस्य भावो बंधत्वं, संवरस्य भावः संवरत्वं, निर्जराया भावो निर्जरात्वं, मोक्षस्य भावो मोक्षत्वं। तत्त्वमिति प्रत्येक-मुपवर्ण्यते, सामान्यचोदनानां विशेषेष्ववस्थानप्रसिद्धेः। तथा च जीवत्वादिना तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थो जीवादिः सकलो मतः श्रद्धानविषयः ।।

जीव एवात्र तत्त्वार्थ इति केचित्प्रचक्षते। तदयुक्तमजीवस्याभावे तत्सिद्ध्ययोगतः ।। २७ ।।

शंका : उस पदार्थ का भाव तत्त्व है ऐसा कहने पर भाव सामान्य का एकार्थ प्रतिपादकपना होने से समानाधिकरणता से कहे गये जीवादिक के बहुवचनत्व विरुद्ध होता है। **समाधान :** ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि भाव और भाववान में कथंचित् अभेद होने से एक और अनेक में समानाधिकरण देखा जाता है। जैसे जाति के एकत्व के समान सत् और असत् (सदसती)। भाव और अभाव दो तत्त्व हैं ऐसा दो वचनान्त कहा जाता है। अर्थात् विधेय तत्त्व में एक वचन और उद्देश्य में ''सदसती'' द्विवचनान्त कहा जाता है। सदसतीतत्त्वं तथा जैसे घोड़ा आदि जाति को ख्यापन करने के लिए बहुवचन भी कहा जाता है। इसी प्रकार व्यक्तियों के बहुत्व को प्रकट करने के लिए भाव और भाववान में एकवचन और बहुवचन होने में कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

जो पदार्थ जिस स्वरूप से अवस्थित है उसका उसी रूप होना ही तत्त्व कहलाता है।

जीव का जैसा द्रव्य पर्यायमय स्वरूप है वह जीवत्व कहलाता है। जैसे जीव का भाव जीवत्व है, अजीव आस्रव आदि का भी भाव अजीवत्व है अतः जीवत्व के समान तत्त्व शब्द का अजीव आदि प्रत्येक के साथ कथन करना चाहिए जैसे जीवत्व, अजीवत्व इत्यादि। इसलिए उस तत्त्व के द्वारा अर्यमाण (निश्चित किये हुए) होने से सातों ही तत्त्वार्थ कहलाते हैं ।।२६।।

उस जीव का भाव जीवत्व, अजीव का भाव अजीवत्व, आस्रव का भाव आस्रवत्व, बंध का भाव बंधत्व, संवर का भाव संवरत्व, निर्जरा का भाव निर्जरत्व और मोक्ष का भाव मोक्षत्व है। इस प्रकार तत्त्व शब्द का प्रयोग सबके साथ किया गया है।

क्योंकि सामान्य के लिए प्रयुक्त वाक्यों की विशेषों में भी अवस्थान की प्रसिद्धि है अर्थात् सामान्य का कथन विशेष में भी रहता है। इसलिए **जीवादितत्त्वों के द्वारा जिनका निर्णय किया जाता है, निश्चय किया जाता है, वे सर्व तत्त्वार्थ हैं अर्थात् जो तत्त्व के द्वारा गम्य है वह तत्त्वार्थ है। वह सकल तत्त्वार्थ श्रद्धान का विषय माना है अर्थात् सातों ही पदार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के श्रद्धान का विषय हैं।**

इस विषय में कोई वादी अकेले जीव को ही तत्त्वार्थ मानते हैं परन्तु यह कथन अयुक्त है क्योंकि अजीव के अभाव में जीव की सिद्धि का अयोग ह अर्थात् अजीव के अस्तित्व के अभाव में उस जीव की

परार्थां जीवसिद्धिर्हि तेषां स्याद्वचनात्मिका। अजीवो वचनं तस्य नान्यथान्येन वेदनम्॥ २८॥

अस्त्यजीवः परार्थजीवसाधनान्यथानुपपत्तेः। परार्थजीवसाधनं च स्यादजीवश्च न स्यादिति न शंकनीयं,तस्य वचनात्मकत्वाद्वचनस्याजीवत्वात् जीवत्वे परेण संवेदनानुपपत्तेः। स्वार्थस्यैव जीवसाधनस्य भावात् परार्थं जीवसाधनमसिद्धमिति चेत्, कथं परेषां तत्त्वप्रत्यायनं ? तदभावे कथं केचित्प्रतिपादकास्तत्त्वस्य परे प्रतिपाद्यास्तेषामिति प्रतीतिः स्यात्॥

न जीवा बहवः संति प्रतिपाद्यप्रतिपादकाः। भ्रांतेरन्यत्र मायादिदृष्टजीववदित्यसत्॥२९॥

एक एव हि परमात्मा प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपतयानेको वा प्रतिभासते अनाद्यविद्याप्रभावात्। न पुनर्बहवो

सिद्धि भी नहीं होती क्योंकि उन ब्रह्मस्वरूप जीव की सिद्धि करने वाले ब्रह्माद्वैतवादियों के पर के लिए (शिष्य आदि को समझाकर) जीवादि की सिद्धि करने का प्रयत्न वचनात्मक है और वचन अजीवात्मक है। उस अमूर्तिक आत्मा का पौद्गलिक वचनों के सिवाय अन्य प्राणियों को वेदन कराना संभव नहीं है अर्थात् वचन उच्चारण के बिना दूसरों को आत्मा का ज्ञान कराया नहीं जा सकता तथा वचन को जीवात्मक मानलेने पर दूसरों के द्वारा उसका संवेदन नहीं हो सकता॥२७-२८॥

अनुमान के द्वारा अजीव की सिद्धि करते हैं-

''अजीव नाम का पदार्थ है''-क्योंकि दूसरे के लिए जीव की सिद्धि अजीव के बिना नहीं हो सकती। दूसरों के लिए जीव के प्रतिपादन करने का साधन (हेतु) अजीव है कि नहीं, ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि दूसरों के लिए जीव की सिद्धि के प्रतिपादन का हेतु वचन है और वचन अजीवात्मक पौद्गलिक है, अतः परार्थ जीव का साधक अजीव है।

ब्रह्माद्वैत की सिद्धि के लिए वचन को जीवत्व स्वीकार कर लेने पर (शिष्य आदि के द्वारा) संवेदन (जीवतत्त्व का संवेदन ज्ञान) नहीं बन सकता। केवल अपने ही लिए जीव स्वरूप से जीव की सिद्धि होती रहेगी अर्थात् अन्य जीव के स्वरूप का अनुभव, संवेदन अन्य जीव नहीं कर सकता। दूसरों को आत्मस्वरूप का ज्ञान कराने के लिए वचनात्मक पौद्गलिक अजीव ही कारण है।

यदि कहा जाय कि दूसरों के लिए जीव का प्रतिपादन करना ही असिद्ध है तो हम दूसरों को अपने अभीष्ट तत्त्व (ब्रह्माद्वैत) के ज्ञान का प्रतिपादन कैसे करेंगे। दूसरे को तत्त्व का विवेचन करके कैसे समझायेंगे और तत्त्व के प्रतिपादन के अभाव में 'कोई तत्त्व के प्रतिपादक हैं (गुरु) और दूसरे प्रतिपाद्य (शिष्य) हैं', इस प्रकार की प्रतीति उन ब्रह्माद्वैतवादियों के कैसे घटित होगी।

मायादि दृष्ट जीव के समान भ्रांति के सिवाय प्रतिपाद्य और प्रतिपादक के भेद से जीव बहुत प्रकार के नहीं है। ऐसा अद्वैतवादियों का कहना असत्य है॥२९॥

इसी का विस्तार रूप से कथन करते हैं - ब्रह्माद्वैतवादी कहता है कि एक ही परमात्मा अनादि अविद्या के कारण प्रतिपाद्य और प्रतिपादक के रूप से (भेद से) अनेक प्रकार से प्रतिभासित होता है वास्तविक नहीं। जैसे मायाजाल, स्वप्न और मंत्र तंत्र आदि के द्वारा एक ही वस्तु अनेक प्रकार की दृष्टि-

जीवा: संति भ्रांतेरन्यत्र मायास्वप्नादिजीववत् तेषां पारमार्थिकतानुपपत्तेः। तथाहि। जीवबहुत्वप्रत्ययो मिथ्या बहुत्वप्रत्ययत्वात् स्वप्नादिदृष्टजीवबहुत्वप्रत्ययवदिति कश्चित्, तदनालोचितवचनम्॥

अद्वयस्यापि जीवस्य विभ्रांतत्वानुषंगतः। एकोऽहमिति संवित्तेः स्वप्नादौ भ्रमदर्शनात्॥३०॥

शक्यं हि वक्तुं जीवैकत्वप्रत्ययो मिथ्या एकत्वप्रत्ययत्वात् स्वप्नैकत्वप्रत्ययवदिति। एकत्वप्रत्ययश्च स्यान्मिथ्या च न स्याद्विरोधाभावात्। कस्यचिदेकत्वप्रत्ययस्य मिथ्यात्वदर्शनात् सर्वस्य मिथ्यात्वसाधनेतिप्रसंगादिति चेत् समानमन्यत्र॥

व्यभिचारविनिर्मुक्तेः संविन्मात्रस्य सर्वदा। न भ्रांततेति चेत्सिद्धा नानासंतानसंविदः॥३१॥

गोचर होती है परन्तु वह वास्तविक नहीं है, भ्रांति है; उसी प्रकार प्रतिपाद्य प्रतिपादक के रूप से जीव बहुत से दृष्टिगोचर होते हैं वह भ्रांति है, भ्रांति को छोड़कर पारमार्थिक की अनुपपत्ति होने से जीव बहुत नहीं हैं, एक ही ब्रह्म रूप है अत: जीव में बहुत्व का ज्ञान मिथ्या है, बहुत्व को जानने वाला होने से, जैसे स्वप्न में देखे गये बहुत से पदार्थों का, मायाजाल से दिखाये गये बहुत से पदार्थों का ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि स्वप्न में वा मायाजाल विद्या से एक ही पदार्थ बहुत रूप से दिखता है, यह मिथ्या भ्रांति है वास्तविक नहीं है। उसी प्रकार अविद्या से एक ही अखण्ड ब्रह्म अनेकरूप दिख रहा है, जीव अनेक नहीं हैं। आचार्य देव कहते हैं कि इस प्रकार ब्रह्माद्वैत का कथन अयोग्य है, युक्त नहीं है, अविचारित है, निसत्त्व असारभूत है, सार रहित है। यदि स्वप्न आदि का दृष्टान्त देकर जीव के नानापने के ज्ञान को भ्रांत कहोगे तो जीव के अद्वैतपने के ज्ञान में भी विभ्रांतत्व का प्रसंग आयेगा क्योंकि मैं एक हूँ, ब्रह्म एक है इस प्रकार एकत्व को जानने वाले ज्ञान भी स्वप्न आदि अवस्थाओं में भ्रमरूप देखे जाते हैं। अर्थात् स्वप्न में होने वाला ज्ञान भी झूठा होता है॥३०॥

अनुमान से सिद्धि - क्योंकि हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जीव का एकत्व ज्ञान मिथ्या है, एकत्व का प्रत्यय (ज्ञान) होने से, स्वप्न में होने वाले एकत्व ज्ञान के समान। ऐसा अनुमान से सिद्ध किया जाता है। यदि कहो कि एकत्व का ज्ञान होता है, परन्तु वह मिथ्या-भ्रांत नहीं है, इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि किसी एकत्व प्रत्यय के मिथ्यात्व को देखकर सभी एकत्व ज्ञान को मिथ्यात्व भ्रांत सिद्ध करने पर अतिप्रसंग दोष आता है तो यह तो अनेकत्व ज्ञान में भी समान है अर्थात् स्वप्न आदि ज्ञान के अनेकत्व को भ्रांत देखकर सभी वस्तुभूत अनेक पदार्थों में रहने वाले नानापने को यदि मिथ्या सिद्ध किया जायेगा तो अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् सभी अवस्तु हो जायेंगे। इससे सिद्ध होता है कि **एकत्व रूप और अनेकत्व रूप होने वाले दोनों ही ज्ञान अभ्रान्त सत्य हैं।** अनेकान्त रूप स्याद्वाद कथनों में विरोध का स्थान नहीं रहता है।

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि व्यभिचार (नानापना वा एकपना के विशेषण) से रहित संविन्मात्र (केवल प्रतिभास मात्र) तत्त्व में कोई भ्रांति नहीं है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो अनेक सन्तानों का अनेक संवेदन भी सिद्ध होता है।

यथैव मम संवित्तिमात्रं सत्यं व्यवस्थितम्। स्वसंवेदनसंवादात्तथान्येषामसंशयम्॥ ३२ ॥

बहुत्वप्रत्ययवदेकत्वप्रत्ययोपि मिथ्यास्तु तस्य व्यभिचारित्वात् स्वप्नादिवत्। स्वसंविन्मात्रस्य तु परमात्मनो निरुपाधेर्व्यभिचारविनिर्मुक्तत्वात् सर्वदा संवादान्न मिथ्यात्वमिति वदतां सिद्धाः स्वसंविदात्मनो नानासंतानाः। स्वस्येव परेषामपि संविन्मात्रस्याव्यभिचारित्वात्। तथाहि। नानासंतानसंविदः सत्याःसर्वदा व्यभिचारविनिर्मुक्तत्वात् स्वसंविदात्मवदिति न मिथ्या प्रतिपाद्यप्रतिपादका, यतः परार्थं जीवसाधनमभ्रांतं न सिद्ध्येत्।

अन्ये त्वत्तो न संतीति स्वस्य निर्णीत्यभावतः। नान्ये मत्तोपि संतीति वचने सर्वशून्यता॥ ३३ ॥
तस्याप्यन्यैरसंवित्तेर्विशेषाभावतोन्यथा। सिद्धं तदव नानात्वं पुंसां सत्यसमाश्रयम्॥ ३४ ॥

क्योंकि जैसे मेरा संवित्मात्र (प्रत्यक्ष अनुभव होने से मेरा संवेदन) सत्यरूप से व्यवस्थित है वैसा अन्यजीवों का भी स्वसंवेदन संवाद से निःसंशय सिद्ध है अर्थात् जैसा एक व्यक्ति को अपना संवेदन होता है वैसा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अपना-अपना संवेदन होता है, यह निर्भ्रांत है सत्य है॥३१-३२॥

अद्वैतवादी कहते हैं कि - बहुत्व के ज्ञान के समान एकत्व का ज्ञान भी मिथ्या है, भ्रान्त है क्योंकि स्वप्न ज्ञान के समान उसके भी व्यभिचारित्व (भ्रान्तपना) है। निरुपाधि (जिसमें और बहुत्व का प्रतिभास नहीं है) अव्यभिचारी संविद्मात्र (स्वसंवेदन) परमात्मा का ज्ञान ही सर्वदा संवाद (प्रमाण युक्त) होने से मिथ्या नहीं है। (वही संवित्तिमात्र ज्ञान ही प्रमाणभूत है।) आचार्य कहते हैं -ऐसा कहने वाले अद्वैतवादी के भी स्वसंविद्आत्मज्ञान के भी नाना संतान सिद्ध होती हैं। क्योंकि जैसे अपने शुद्ध संवदेन में व्यभिचार प्रतीत नहीं होता है वैसे ही दूसरों को भी अपने स्वसंवेदन में व्यभिचार नहीं है।

तथाहि (अनुमानद्वारा सिद्ध करते हैं) अनेक जीवों को अपने-अपने अनुभव में आने वाले अनेक प्रतिभास वास्तविक हैं, व्यभिचार (दोष) रहित होने से अपने अनुभव में आने वाले प्रतिभास के समान। अर्थात् जैसे अपने अनुभव में आने वाला प्रतिभास वास्तविक है वैसे दूसरों के अनुभव में आने वाले प्रतिभास भी वास्तविक हैं अतः नानात्मा सिद्ध हो जाने से प्रतिपाद्य शिष्य और प्रतिपादक गुरु (समझाने वाला) रूप अनेक आत्मायें भी मिथ्या नहीं हैं, वास्तविक हैं। इसलिए परार्थ जीव साधन (प्रतिपादक के द्वारा प्रतिपाद्य के लिए जीव की सिद्धि करना) अभ्रान्त सिद्ध नहीं होता है, ऐसा नहीं है अर्थात् अभ्रान्त सिद्ध होता ही है।

'मेरे से भिन्न अन्य कोई आत्मा नहीं है' इस प्रकार अपने द्वारा निर्णीति का अभाव होने से 'मेरे से भिन्न अन्य कोई नहीं हैं,' इस प्रकार के वचन में भी सर्वशून्यता का प्रसंग आयेगा। 'मेरे से भिन्न संसार में अन्य कोई पदार्थ नहीं है' ऐसा कहने पर सर्वशून्यता का प्रसंग आता है क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी अजीव को तो मानते ही नहीं और जीव भी एक है, नाना नहीं अतः जैसा तुझ को दूसरे का अनुभव नहीं हो रहा है वैसे तेरा भी अनुभव दूसरे को नहीं है इसलिए कोई भी वस्तु वास्तविक नहीं रहेगी। जैसे तुमको दूसरे की संवित्ति नहीं होती वैसे दूसरे को तेरी संवित्ति नहीं होती है क्योंकि तेरे में और दूसरों में कोई विशेषता नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो अर्थात् **अपना अस्तित्व मानोगे तब तो अन्य आत्मायें भी अपने-अपने अस्तित्व का संवेदन करेंगी, वही पुरुष (आत्मा) का सत्य समाश्रय वास्तविक नानापना सिद्ध करेगा॥३३-३४॥**

मत्तोन्येपि निरुपाधिकं स्वरूपमात्रमव्यभिचारि संविदंतीति निर्णीतेरसंभवात् तत्र प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेरव्यभिचारिणो लिंगस्याभावादनुमानानुत्थानादिति वचने सर्वशून्यतापत्तिः। त्वत्संविदोपि तथान्यैर्निश्चेतुमशक्तेः सर्वथा विशेषाभावात्। यदि पुनरपरैरनिश्चयेपि तथा स्वसंविदः स्वयं निश्चयात् सत्यत्वसिद्धिस्तदा त्वया निश्चेतुमशक्यानामपि तथा परसंविदां सत्यत्वसिद्धेः सिद्धं पुंसां नानात्वं पारमार्थिकम्॥

आत्मानं संविदंत्यन्ये न वेति यदि संशयः। तदा न पुरुषाद्वैतनिर्णयो जातु कस्यचित्॥३५॥

मत्तः परेप्यात्मानः स्वसंविदंतो न संत्येवेति निर्णये हि कस्यचित्पुरुषाद्वैते निर्णयो युक्तो न पुनः संशये तत्रापि संशयप्रसंगात्। "पुरुष एवेदं सर्वं" इत्यागमात्पुरुषाद्वैतसिद्धिरिति चेत् "संत्यनंताजीवा" इत्यागमान्नानाजीवसिद्धिरस्तु। पुरुषाद्वैतविधिस्रगागमेन प्रकाशनात् प्रत्यक्षस्यापि विधातृतया

मेरे से भिन्न जीवों में निरुपाधिक अव्यभिचारी निर्दोष स्वरूप मात्र का संवेदन होता है, ऐसे निर्णय की असंभवता है अर्थात् ऐसा निर्णय करना असंभव है कि मेरे से दूसरे जीवों के स्वरूप का संवेदन होता है क्योंकि दूसरे के संवेदन में प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रवृत्ति का तो अभाव है और निर्दोष ज्ञापक हेतु का अभाव होने से अनुमान ज्ञान से भी दूसरी आत्मा का संवेदन नहीं जाना जा सकता है। अद्वैतवादी के ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि तेरे इस कथन में सर्वशून्यता का प्रसंग आता है। क्योंकि तेरी आत्मा में और दूसरे की आत्मा में सर्वथा विशेषता का अभाव होने से जैसे दूसरे की आत्मा का तुझे प्रतिभास नहीं हो रहा है वैसे तेरे संवेदन का भी दूसरों के द्वारा निर्णय करना अशक्य होगा। यदि तुम कहो कि दूसरों के द्वारा मेरी संवित्ति का निर्णय मत होवो परन्तु मुझे तो मेरा संवेदन हो रहा है, वह सत्यस्वरूप है तो तेरे द्वारा दूसरे का संवेदन शक्य नहीं है तो भी उनको अपनी-अपनी चैतन्य आत्मा का संवेदन तो हो रहा है, वह वास्तविक है, प्रमाणभूत है। इसलिए आत्मा का नानापना (भिन्न-भिन्न आत्मा की सिद्धि) परमार्थभूत सिद्ध है।

यदि ब्रह्माद्वैतवादी कहे कि मुझे तो अपनी आत्मा का पूर्ण निर्णय है कि मैं ही अकेला ब्रह्म हूँ, परन्तु अन्य प्राणी अपनी-अपनी आत्मा का संवेदन करते हैं अथवा नहीं करते हैं इसका मुझे संशय है, तो आचार्य कहते हैं कि तब तो किसी एक व्यक्ति को पुरुषाद्वैत का निर्णय कभी भी नहीं हो सकता। जब अन्य आत्माओं का निर्णय तुम नहीं कर सकते तब अद्वैत ब्रह्म का निश्चय कैसे कर सकते हो अर्थात् नहीं कर सकते॥३५॥

क्योंकि मेरे से भिन्न अपना संवेदन करती हुई भिन्न आत्माएँ जगत् में नहीं हैं ऐसा निर्णय होने पर ही पुरुषाद्वैत का निर्णय हो सकता है। वा पुरुषाद्वैत का निर्णय करना युक्तिसंगत हो सकता है परन्तु अन्य आत्माओं का संशय होने पर पुरुषाद्वैत का निर्णय नहीं हो सकता है अपितु उसमें संशय का ही प्रसंग आता है।

यदि कहो कि : "पुरुष एवेदं सर्वं" सारा जगत् ब्रह्म स्वरूप है" इस प्रकार आगम से पुरुषाद्वैत की सिद्धि होती है अर्थात् वेदवाक्य में लिखा है कि एक ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नहीं है। तो सन्त्यनन्ताजीवाः अनन्त जीव हैं, इस आगम वाक्य से नाना जीवा की भी सिद्धि होती है। इसका निषेध कैसे हो सकता है।

स्थितस्य तत्रैव प्रवृत्तेस्तेन तस्याविरोधात् ततः पुरुषाद्वैतनिर्णय इति चेत्, नानात्वागमस्यापि तेनाविरोधान्नानाजीवनिर्णयोऽस्तु। तथाहि;—

आहुर्विधातृप्रत्यक्षं न निषेद्धृविपश्चितः। न नानात्वागमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते॥ ३६ ॥

तेनानिषेधतेऽन्यस्याभावाभावात् कथंचन। संशीतिगोचरत्वाद्वान्यस्याभावाविनिश्चयात्॥ ३७ ॥

भवतु नाम विधातृप्रत्यक्षमनिषेद्धृ च तथापि तेन नानात्वविधायिनो नागमस्य विरोधः संभवत्येकत्वविधायिन इव विधायकत्वाविशेषात्। कथमेकत्वमनिषेधत्प्रत्यक्षं नानात्वमात्मनो विदधातीति चेत्, नानात्वमनिषेधदेकत्वं कथं विदधीत? तस्यैकत्वविधानमेव नानात्वप्रतिषेधकत्वमिति चेत् , नानात्वविधानमेवैकत्वनिषेधनमस्तु। किं पुनः प्रत्यक्षमात्मनो नानात्वस्य विधायकमिति चेत् तदेकत्वस्य किं?

अद्वैतवादी कहते हैं कि - पुरुषाद्वैत की विधि को सृजन करने वाले वेदवाक्यरूप आगम से पुरुषाद्वैत का प्रकाशन होता है। विधि (अस्तित्व) को विधायक रूप से स्थित प्रत्यक्ष ज्ञान की भी पुरुषाद्वैत में प्रवृत्ति होने से तथा पुरुषाद्वैत है ' इस प्रकार के आगम का अविरोध होने से पुरुषाद्वैत का निर्णय होता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नानात्व को सिद्ध करने वाले आगम का अस्तित्व और प्रत्यक्ष ज्ञान का अविरोध होने से नाना आत्माओं का निर्णय भी होता है। सोही कहा है - यदि अद्वैतवादी पंडितों के कथनानुसार प्रत्यक्ष पुरुषाद्वैत के अस्तित्व को जानता है नास्तित्व को नहीं जानता है, ऐसा मान लेने पर भी नानात्व अनेक आत्माओं के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाला आगम उस प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा विरुद्ध बाधित नहीं होता॥३६॥ अतः निषेध का विषय नहीं करने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा किसी भी प्रकार से अन्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता तथा अन्य पदार्थों के अभाव का निर्णय न होने से अन्य पदार्थ संशय का विषय होगा। अर्थात् अन्य पदार्थों के अस्तित्व में संशय हो सकता है, अभाव सिद्ध नहीं हो सकता॥३७॥

तथा अद्वैत वा जैमिनीमतानुसार अस्तित्व का विधायक और नास्तित्व को नहीं जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान होवे तो होवे तथापि उस एकत्व के विधायक, प्रत्यक्ष के द्वारा नानात्व विधायक आगम का विरोध संभव नहीं है क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष एकत्व के अस्तित्व का विधान (कथन) करने वाला है वैसे अनेकत्व का भी विधान करने वाला है। दोनों प्रत्यक्षों में विधायकपने की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है।

प्रश्न : एकत्व का निषेध नहीं करने वाला प्रत्यक्ष आत्मा के नानात्व का धारण करने वाला (विधान करने वाला) कैसे हो सकता है ? **उत्तर :** यदि नानात्व ग्रहण नहीं कर सकता तो नानात्व का निषेध नहीं करने वाला ज्ञान आत्मा के एकत्व का विधान कैसे कर सकता है ? यदि कहो कि नानात्व का प्रतिबंधकत्व ही ज्ञान के एकत्व का विधान है, तब तो हम भी कह सकते हैं कि नानात्व का विधान करना ही एकत्व का निषेध है।

प्रश्न : आत्मा के नानात्व का विधान करने वाला कौनसा प्रत्यक्ष है ? **उत्तर :** आचार्य कहते हैं- आपके एकत्व का विधान करने वाला कौन सा प्रत्यक्ष है क्योंकि हमारे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो एक ही आत्मा है, इस प्रकार का विधान करने में समर्थ नहीं है क्योंकि इन तीनों प्रत्यक्षों की नाना आत्मभेदों में प्रवत्ति होती है।

न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षमिंद्रियजं मानसं वा स्वसंवेदनमेक एवात्मा सर्व इति विधातुं समर्थं नानात्मभेदेषु तस्य प्रवृत्तेः। योगिप्रत्यक्षं समर्थमिति चेत्, पुरुषनानात्वमपि विधातुं तदेव समर्थमस्तु तत्पूर्वकागमश्चेत्यविरोधः। स्वसंवेदनमेवास्मदादेः स्वैकत्वस्य विधायकमिति चेत् , तथान्येषां स्वैकत्वस्य तदेव विधायकमनुमन्यतां। कथं ?

यथैव च ममाध्यक्षं विधातृ न निषेधृ वा। प्रत्यक्षत्वात्तथान्येषामन्यथैतत्तथा कुतः॥ ३८ ॥

परेषां प्रत्यक्षं स्वस्य विधायकं परस्य न निषेधकं वा प्रत्यक्षत्वान्मम प्रत्यक्षवत्। विपर्ययो वा अतिप्रसंगविपर्ययाभ्यां प्रत्यात्मस्वसंवेदनस्यैकत्वविधायित्वासिद्धेरात्मबहुत्वसिद्धिरात्मैकत्वासिद्धिर्वा। न च

प्रश्न : योगिप्रत्यक्ष पुरुषाद्वैत को जानने में समर्थ है **उत्तर :** ऐसा नहीं कह सकते, योगि प्रत्यक्ष भी नाना पुरुषत्व (आत्मा) का विधान करने में समर्थ है क्योंकि योगिप्रत्यक्ष के द्वारा ही आगम का निरूपण होता है और आगम में नानात्माओं का विधान है।

अन्य वादियों ने चार प्रकार का प्रत्यक्ष माना है इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। इनमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं होती क्योंकि इन ज्ञान वाले तो अपनी आत्मा का भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव कर रहे हैं। योगिप्रत्यक्ष के द्वारा तो आगम का निर्माण होता है। आगम में नानात्मा की सिद्धि है अतः कोई भी प्रत्यक्ष आत्मा के अनेकपने को सिद्ध करने में विरोधी नहीं है अर्थात् सर्व प्रत्यक्ष आत्मा का अनेकपन ही सिद्ध करते हैं।

अद्वैतवादी कहते हैं कि - हमारे समान संसारी जीवों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपनी आत्मा के एकत्व का विधान करने वाला है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो दूसरे का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपनी-अपनी आत्मा के एकत्व का विधान करने वाला है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा फिर एकत्व आत्मा की सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है क्योंकि अनेक का समुदाय होने से अनेक आत्मा की सिद्धि होती है। जैसा मेरा प्रत्यक्ष मेरे अस्तित्व का कथन करने वाला है, निषेध करने वाला नहीं है उसी प्रकार दूसरों का प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्षत्व होने से दूसरे की आत्मा के अस्तित्व का विधायक है, यदि ऐसा नहीं माना जाय तो 'प्रत्यक्ष अपना विधायक है' ऐसा कथन कैसे हो सकता है, अतः सर्व आत्माओं के स्वसंवदेन अपनी-अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष करते हैं॥३८॥

जैसे मेरा प्रत्यक्ष मेरी आत्मा का विधायक है, दूसरे का निषेधक नहीं है प्रत्यक्ष ज्ञान होने से, वैसे दूसरों का प्रत्यक्ष उनकी अपनी आत्मा का स्वसंवेदन करता है, दूसरों की आत्मा का निषेध नहीं करता है प्रत्यक्ष होने से। इस प्रकार विपरीत सिद्धि भी हो सकती है।

जैसे अतिप्रसंग और विपर्यय से विपरीत भी होता है अर्थात् अतिप्रसंग या प्रसंग से आत्माओं के बहुपने की सिद्धि होती है और विपर्यय से आत्मा के एकत्वपने की सिद्धि नहीं होती अर्थात् अपने-अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपनी-अपनी आत्माएँ जानी जाती हैं अतः वे अनेक हैं एकत्व नही है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में होने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को आत्मा के एकत्व का विधान करना सिद्ध नहीं होता। अपितु इस

विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमोस्ति, निषेधकत्वेनापि तस्य प्रतीयमानत्वात्। तथाहि;—

विधात्रहं सदैवान्यनिषेद्धृ न भवाम्यहम्। स्वयं प्रत्यक्षमित्येवं वेत्ति चेन्न निषेद्धृकम्॥३९॥

विधातृ च नान्यनिषेद्धृप्रत्यक्षमिति न प्रमाणांतरान्निश्चयो द्वैतप्रसंगात्। स्वत एव यथा निश्चये सिद्धं तस्य निषेधकत्वं परस्य निषेद्धहं न भवामीति स्वयं प्रतीतेः॥

संति सत्यास्ततो नाना जीवाः साध्यक्षसिद्धयः। प्रतिपाद्याः परेषां ते कदाचित्प्रतिपादकाः॥४०॥

यतश्चैवं प्रमाणतो नानात्मनः सिद्धास्ततो न तेषां प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो मिथ्या येन परार्थं जीवसाधनमसिद्धं स्यात्॥

परार्थं निर्णयोपायो वचनं चास्ति तत्त्वतः। तच्च जीवात्मकं नेति तद्वदन्यच्च किं ततः॥४१॥

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्माओं के अनेकपनेकी सिद्धि होती है। आत्मा के एकत्व की सिद्धि नहीं होती क्योंकि प्रत्येक आत्मा में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने-अपने पृथक्-पृथक् ब्रह्म को जान रहा है।

तथा प्रत्यक्ष प्रमाण विधायक ही है निषेधक नहीं है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा निषेधकत्व की भी प्रतीति होती है। जैसे भूतल पर यह वस्तु नहीं है ऐसा ज्ञान भी होता है। तथाहि इसी बात को सिद्ध करते हैं जैसे - "मैं सदा ही आत्मा का विधान करने वाला हूँ, निषेध करने वाला नहीं हूँ।" इस प्रकार कहने वाला प्रत्यक्ष स्वयं निषेधक नहीं है। ऐसा कहने पर तो वह प्रत्यक्ष स्वयं निषेध करने वाला क्यों नहीं होगा ? अर्थात् निषेध करने वाला नहीं हूँ यही तो निषेध है॥३९॥ अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण अस्तित्व का विधायक है निषेधक नहीं है इस प्रकार की सिद्धि प्रमाणान्तर से तो नहीं हो सकती क्योंकि प्रमाणान्तर से सिद्धि मानने पर द्वैत का प्रसंग आता है और यदि स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान से ही यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष अस्तित्व का विधायक है, निषेधक नहीं। ऐसा कहने पर स्वयं प्रत्यक्ष ही निषेधक है यह सिद्ध होता है क्योंकि मैं निषेधक नहीं हूँ वही तो निषेधक अर्थात् स्वयं ही प्रत्यक्ष से निषेध की प्रतीति हो रही है इसलिए स्वसंवेदन सिद्ध सहित नाना आत्मा हैं वे कभी दूसरों के द्वारा प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) होती हैं और कभी वही आत्मा प्रतिपादक हो जाती है। जिस समय ज्ञानाभ्यास कर रही थी तब प्रतिपाद्य थी और परिपक्व अवस्था में प्रतिपादक हो जाती है॥४०॥

इस प्रकार जिस हेतु से नानात्मा प्रमाण से सिद्ध है अतः उन आत्मा के प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव मिथ्या नहीं हैं जिससे दूसरे जीवों के लिए जीव पदार्थ की सिद्धि करना असिद्ध हो अर्थात् **दूसरों के लिए जीव पदार्थ की सिद्धि करना असिद्ध नहीं है।** युक्त ही है।

परमार्थ से देखा जाय तो दूसरों के लिए जीवतत्त्व का निर्णय कराने का उपाय वचन ही है और वे वचन जीवात्मक नहीं हैं अतः अजीवात्मक हैं। इस प्रकार **वचन अजीव के समान हमारे जैन सिद्धान्त में अन्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि अजीव पदार्थ क्यों नहीं सिद्ध होंगे, अवश्य होंगे**॥४१॥

न ह्युपायापाये परार्थसाधनं सिद्ध्यति तस्योपेयत्वादन्यथातिप्रसक्तेरिति। तस्योपायोस्ति वचनमन्यथानुपपत्तिलक्षणलिंगप्रकाशकं। जीवात्मकमेव तदित्ययुक्तं, प्रतिपादकजीवात्मकत्वे तस्य प्रतिपाद्याद्यसंवेद्यत्वापत्तेः। प्रतिपाद्यजीवात्मकत्वे प्रतिपादकाद्यसंवेद्यतानुषक्तेः, सत्यजीवात्मकत्वे प्रतिपाद्यप्रतिपादकासंवेद्यत्वासंगात्। प्रतिपादकाद्यशेषजीवात्मकत्वे तदनेकत्वे विरोधादेकवचनात्मकत्वेन तेषामेकत्वसिद्धेः। सत्यमेक एवात्मा प्रतिपादकादिभेदमास्तिष्णुते अनाद्यविद्यावशादित्यप्युक्तोत्तरप्रायमात्मनानात्वसाधनात्। कथं चात्मनः सर्वथैकत्वे प्रतिपादकस्यैव तत्र संप्रतिपत्तिर्न तु प्रतिपाद्यस्येति प्रतिपद्येमहि। तस्यैव वा विप्रतिपत्तिर्न पुनः प्रतिपादकस्येति तथा तद्भेदस्यैव

उपाय के बिना दूसरों के लिए आत्म तत्त्व का साधन-प्रतिपादन करना सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह आत्म तत्त्व उपायों के द्वारा जानने योग्य उपेयत्व है। उपाय के बिना ही उपेयत्व को जानने में अतिप्रसंग दोष आता है (बिना किसी उपाय से चाहे जिसकी सिद्धि हो जाएगी।) अतः निश्चय होता है कि उस आत्मतत्त्व को जानने का उपाय वचन ही है। वह अन्यथानुपपत्ति लक्षण हेतु का प्रकाशक है। साध्य के नहीं होने पर हेतु का नहीं होना अन्यथानुपपत्ति है। अन्यथानुपपत्ति, अविनाभाव, नांतरीयक और व्याप्ति ये चारों एकार्थवाची शब्द हैं। अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाला हेतु ही अपने साध्य का प्रकाशक होता है। अर्थात् वचन के बिना आत्मा का प्रतिपादन नही होता। वचन जीवात्मक ही है ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वचन को प्रतिपादक के जीवात्मक मान लेने पर प्रतिपाद्य आदि को असंवेद्य का प्रसंग आयेगा और प्रतिपाद्य के जीवात्मकत्व मान लेने पर प्रतिपादक आदि के अस्वसंवेदन का प्रसंग आता है।

अर्थात् वक्ता की आत्मा के साथ वचनों का तादात्म्य संबंध मान लेने पर शिष्यों को उसका संवेदन नहीं होगा और शिष्यों श्रोताओं की आत्मा के साथ वचनों का तादात्म्य मान लेने पर वक्ताओं को उनका वचनों का स्वसंवेदन नहीं होगा क्योंकि दूसरों की आत्मा का दूसरा संवेदन नहीं कर सकता अतः सामान्य जीवात्मक वचन के मान लेने पर प्रतिपाद्य और प्रतिपादक के असंवेदन का प्रसंग आता है अर्थात् सामान्य जन उनका अनुभव करेंगे, शिष्य शिक्षक नहीं।

यदि प्रतिपाद्य प्रतिपादक आदि सर्व जीवात्मक वचन हैं ऐसा मानते है तो वचन के अनेकत्व होने पर एक वचनात्मकत्व से विरोध आता है तो उन अद्वैतवादियों के एकत्व परमब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है अर्थात् प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक के भिन्न-भिन्न वचन होने से नाना आत्माओं की सिद्धि होती है ; एक पुरुषाद्वैत वा ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं होती।

सत्य रूप से देखा जाए तो आत्मा एक ही है परन्तु अनादि अविद्या के कारण एक ही परम ब्रह्म प्रतिपादक आदि भेद को प्राप्त होता है। इस प्रकार कथन करने वाले ब्रह्माद्वैतवादियों का भी खण्डन हमने पूर्व में कर दिया है जहाँ नानात्मा की सिद्धि की है।

सर्वथा एक ही परम ब्रह्म होने पर प्रतिपादक की आत्मा को ब्रह्माद्वैत की निर्बाध प्रतीति हो रही है और प्रतिपाद्य को परम ब्रह्म की प्रतीति नहीं, यह हम कैसे समझें अर्थात् जब प्रतिपादक और प्रतिपाद्य

सिद्धे:। यदि पुनरविद्याप्रभेदात्तथा विभागस्तदा साप्यविद्या प्रतिपादकगता कथं प्रतिपाद्यादिगता न स्यात्? तद्गता वा प्रतिपादकगता तदभेदेपीति साश्चर्यं नश्चेत:। प्रतिपादकगतेयमविद्या प्रतिपाद्यादिगतेयमिति च विभागसंप्रत्ययोनाद्यविद्याकृत एवेति चेत्, किमिदानीं सर्वोप्यविद्याप्रपंच:। सर्वात्मगतस्तत्त्वोस्तु सोप्यविद्यावशात्तथेति चेत् , तर्हि तत्त्वतो न क्वचिदविद्याप्रपंच इति न तत्कृतो विभाग: । परमार्थत: एव प्रतिपादिकादिजीवविभागस्य सिद्धे:। ततो नैकात्मव्यवस्थानं येन वचसोशेषजीवात्मकत्वे यथोक्तो दोषो न भवेदिति न जीवात्मकं वचनं। तद्वच्छरीरादिकमप्यजीवात्मकमस्माकं प्रसिद्ध्यत्येव॥ .

बाह्येंद्रियपरिच्छेद्य: शब्दो नात्मा यथैव हि। तथा कायादिरर्थोपि तदजीवोऽस्ति वस्तुत: ॥४२॥

दोनों की आत्मा एक है तो एक को तो प्रतीति हो और एक को नहीं हो, यह कैसे हो सकता है? अथवा प्रतिपाद्य को ही परम ब्रह्माद्वैत में विवाद है, प्रतिपादक को नहीं; ऐसा मानने पर तो नानात्मा वा प्रतिपादक और प्रतिपाद्य का भेद सिद्ध होता है अभेद नहीं। यदि कहो कि अविद्या के कारण प्रतिपादक और प्रतिपाद्य का विभाग होता है तो वह अविद्या प्रतिपाद्यगत ही क्यों है, प्रतिपादकगत क्यों नहीं है?

प्रतिपाद्य और प्रतिपादक में अभेद होने पर भी यह अविद्या प्रतिपाद्यगत है और यह प्रतिपादकगत ऐसी ब्रह्माद्वैतवादियों की तत्त्व विवक्षा पर हमारा चित्त साश्चर्य हो रहा है अर्थात् हमको आश्चर्य हो रहा है।

यदि कहो कि - यह प्रतिपादक गत अविद्या है और यह प्रतिपाद्य गत अविद्या है, इस प्रकार के विभाग का संप्रत्यय ज्ञान अविद्याकृत ही है अर्थात् प्रतिपाद्य की अविद्या जिज्ञासा करने वाली है और प्रतिपादक की अविद्या निर्णय कराने वाली है तो क्या यह सारा जगत अविद्या का ही प्रपञ्च है? इस प्रकार तो सर्व आत्मागत ब्रह्माद्वैत भी अविद्या का प्रपञ्च वास्तविक है, अर्थात् सर्व व्यापक एक ब्रह्म मानना तथा सम्पूर्ण पदार्थों को आत्मस्वरूप स्वीकार करना भी अविद्या से होगा। यदि कहो कि अविद्या का प्रपञ्च भी अविद्या के आधीन ही है, तब तो वास्तव में कहीं भी अविद्या का प्रपंच नहीं है अत: उस अविद्या के द्वारा किया गया प्रतिपाद्य-प्रतिपादक का विभाग भी अविद्या से नहीं अपितु परमार्थ से है। इसलिए प्रतिपाद्य प्रतिपादक आदि जीवविभाग की सिद्धि परमार्थ है, कल्पित नहीं अत: अद्वैतवादियों के द्वारा एक ही आत्म तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती। जिससे वचनों को अशेष जीवात्मक मान लेने पर उपरिकथित दोष प्राप्त न होवें। अर्थात् वचनों को जीवात्मक मान लेने पर पूर्व कथित प्रतिपाद्य प्रतिपादक आदि के अनेक होने से दोष आता ही है। अत: वचन जीवात्मक नहीं हैं। जिस प्रकार वचनों के अजीवात्मक होने की सिद्धि होती है उसी प्रकार हमारे शरीर आदि भी अजीव हैं, ऐसा सिद्ध होता ही है अर्थात् जीव तत्त्व के समान अजीव तत्त्व भी प्रसिद्ध ही है।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियों के द्वारा परिच्छेद्य (जानने योग्य) होने से शब्द आत्मा (जीव) नहीं है- उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों के द्वारा परिच्छेद्य होने से शरीरादि पदार्थ भी जीवात्मक नहीं हैं,अपितु ये सर्व वास्तव में अजीवात्मक हैं अत: अजीव तत्त्व कल्पित नहीं है, वास्तविक है।॥४२॥

न केवलं प्रतिपादकस्य शरीरं लिप्यक्षरादिकं वा परप्रतिपत्तिसाधनं वचनवत् साक्षात् परसंवेद्यत्वादजीवात्मकं । किं तर्हि ? बाह्येंद्रियग्राह्यत्वाच्च। जीवात्मकत्वे तदनुपपत्तेरिति सूक्तं परार्थसाधनान्यथानुपपत्तेरजीवास्तित्वसाधनम् ॥

योपि ब्रूते पृथिव्यादिरजीवोध्यक्षनिश्चितः। तत्त्वार्थ इति तस्यापि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥४३॥

अस्ति जीवः स्वार्थाजीवसाधनान्यथानुपपत्तेः पृथिव्यादिरजीव एव तत्त्वार्थ इति न स्वयं साधनमंतरेण निश्चेतुमर्हति कस्यचिदसाधनस्य निश्चयायोगात्। सत्त्वात्तथा निश्चय इति चेत् न, तस्याचेतनत्वात् चेतनत्वे तत्त्वांतरत्वसिद्धेस्तस्यैव जीवत्वोपपत्तेः। स्यान्मतमजीवविवर्तविशेषश्चेतनात्मकं प्रत्यक्षं न पुनर्जीव इति। तदसत्। चेतनाचेतनात्मकयोर्विवर्तविवर्तिभावस्य विरोधात् परस्परं विजातीयत्वाज्जलानलवत्।

वचन के समान दूसरों के प्रतिपत्ति (समझाने) का साधन प्रतिपादक का शरीर, लिपि, अक्षर, संकेत आदि केवल परसंवेद्य होने से ही अजीवात्मक नहीं है तो कैसे अजीव हैं? अपितु बाह्येन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने से भी अजीव हैं। शब्द के जीवात्मकत्व होने पर बाह्येन्द्रिय के द्वारा ग्राह्यता नहीं हो सकती। इस प्रकार **दूसरों के लिए जीव तत्त्व को सिद्ध करना अजीव तत्त्व को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता ऐसा कहना उचित ही है। इस प्रकार अजीव तत्त्व की सिद्धि होती है** अर्थात् अजीवतत्त्व के बिना ब्रह्माद्वैत की भी सिद्धि नहीं होती है क्योंकि ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन करने के लिए अजीवात्मक वचन का आश्रय लेना पड़ता है।

जो कहता है (चार्वाक) कि प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु अजीव ही तत्त्वार्थ हैं जीव नामक कोई तत्त्व नहीं है; इस प्रकार कथन करने वाले को भी प्रायःकर उत्तर दे चुके हैं या जीव की सिद्धि करते समय उसका खण्डन कर दिया है अर्थात् आत्मसिद्धि करते समय अनात्म का खण्डन किया है ॥४३॥

अनुमान से जीवतत्त्व की सिद्धि करते हैं - जीव तत्त्व है - क्योंकि जीवतत्त्व के बिना अपने लिए अजीवतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। पृथ्वी आदि अजीव ही तत्त्वार्थ हैं, इस प्रकार की सिद्धि साधन के बिना निश्चय करने के योग्य नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु का साधन (हेतु) के बिना निश्चय नहीं होता अर्थात् आत्म तत्त्व के बिना अजीव तत्त्व की सिद्धि नहीं होती। सत्त्व हेतु से पृथ्वी आदिक अजीव तत्त्व की सिद्धि होती है ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि सत्ता अचेतन है और अचेतन से अचेतन की सिद्धि होती नहीं है। तथा सत्ता को चेतनत्व स्वीकार कर लेने पर तत्त्वान्तर चेतन पदार्थ की सिद्धि होती है अर्थात् पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन चार तत्त्वों से भिन्न चेतनतत्त्व पाँचवाँ सिद्ध होता है।

उसी चेतन पदार्थ के युक्ति से जीवतत्त्व की सिद्धि होती है। अर्थात् जीवतत्त्व के सिद्ध होने पर ही अजीव तत्त्व की सिद्धि होती है, अजीव पदार्थ की स्वयं सिद्धि नहीं होती है।

चेतन स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण अजीव द्रव्य की पर्याय है, भिन्न जीव नहीं हैं, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि चेतन और अचेतन स्वरूप पदार्थों के विवर्त और विवर्ती (परिणाम और परिणामी) पने

सुवर्णरूप्यवद्विजातीयत्वेपि तद्भाव: स्यादिति चेन्न, तयो: पार्थिवत्वेन सजातीयत्वात् लोहत्वादिभिश्च तर्हि चेतनयो: सत्त्वादिभि: सजातीयत्वात्तद्भावो भवत्विति चेन्न भवतो जलानलाभ्यामनेकान्तात्। तयोरद्रव्यान्तरत्वात्तद्भाव इति चेन्न, असिद्धत्वात्। तयोरपि द्रव्यांतरत्वस्य निर्णयात्तद्भावायोगात्। निर्णेष्यते हि लक्षणभेदाच्चेतनाचेतनयोर्द्रव्यांतरत्वमिति न तयोर्विवर्तविवर्तिभावो येन चेतनात्मकं प्रत्यक्षं जीवद्रव्यस्वरूपं

का (भाव का) विरोध आता है अर्थात् अचेतन की पर्याय चेतन नहीं हो सकती क्योंकि वे परस्पर भिन्न जाति वाले हैं, जैसे जल और अग्नि। (जैसे तुम्हारे जलतत्त्व और अग्नितत्त्व भिन्न हैं।) यद्यपि जैन अग्नि और जल को एक ही तत्त्व मानते हैं परन्तु चार्वाक की अपेक्षा वर्णन किया है। चेतन और अचेतन पदार्थों में उपादान उपादेय भाव नहीं है अर्थात् अचेतन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चेतन (जीव) रूप परिणमन नहीं कर सकते।

जैसे सुवर्ण और रूपा चांदी में विजातीय होने पर भी परिणाम परिणामी भाव होता है (अर्थात् चांदी सोना एक हो जाते हैं) उसी प्रकार पृथ्वी आदि अजीव तत्त्व भी जीव रूप परिणत हो जाता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि सोना और रूपा में पार्थिवत्व रूप से सजातीय होने से रूपा धातु सोना बन जाता है। जैसे लोहत्व आदि। मेदिनी कोश के अनुसार चांदी सोना आदि सर्व धातु लोहा कहलाता है अत: सुवर्ण और तांबे का चांदी में पृथ्वीकायत्व की अपेक्षा सजातीयत्व होने से उनमें उपादान उपादेय भाव बन जाता है परन्तु विजातीय होने से चेतन और अचेतन में उपादान उपादेय भाव नहीं बनता।

चेतन और अचेतन में भी सत्त्वादि की अपेक्षा सजातीयत्व होने से तद्भाव परिणाम परिणामी भाव हो जाता है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है-

क्योंकि ऐसा मानने पर आपके जल और अग्नि में भी अनेकान्त होगा-अर्थात् चार तत्त्व न रहकर एक तत्त्व हो जायेंगे। परन्तु आप जल और अग्नि में सजातीयत्व होते हुए भी उपादेय उपादान भाव नहीं मानते हैं। वैसे ही चेतन और अचेतन में उपादान उपादेय भाव नहीं है अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा सर्वद्रव्य एक हैं परन्तु अवान्तर सत्ता की अपेक्षा छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं वे एक दूसरे का उपादान उपादेय नहीं बन सकते।

चेतन और अचेतन में भिन्न द्रव्यपना नहीं है इसलिए दोनों में परिणाम परिणामी भाव बन जायेगा ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि चेतन और अचेतन में एकत्वपना असिद्ध है। चेतन और अचेतन में भी द्रव्यान्तरत्व का निर्णय (निश्चय) है अत: उन चेतन अचेतन में विवर्त्त विवर्त्ती भाव परिणाम-परिणामी भाव का अयोग है अर्थात् चेतन और अचेतन परस्पर एक दूसरे के साथ परिणमन नहीं कर सकते।

लक्षण के भेद से चेतन और अचेतन में भिन्न द्रव्य-तत्त्वपना है इसका निर्णय आगे करेंगे इसलिए चेतन और अचेतन में विवर्त्त विवर्त्ति भाव नहीं है। जिससे चेतनात्मक प्रत्यक्ष जीव द्रव्य स्वरूप न होगा। अर्थात् चेतनात्मक द्रव्य स्वतंत्र सिद्ध है। जीव पृथ्वी आदि अजीव से भिन्न द्रव्यान्तर है, इस प्रकार का वर्णन

न स्यात्। प्रायेण दत्तोत्तरं च चेतनस्याद्रव्यांतरत्ववचनमिति न जीवमंतरेण स्वार्थजीवसाधनमुपपद्यते। एतेन स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुमानादिकं गौणपृथिव्याद्यजीवसाधनं स्वार्थं जीवमंतरेणानुपपन्नमिति निवेदितं, तस्यापि चेतनद्रव्यस्वरूपत्वाविशेषात् प्रधानादिरूपतया तस्य प्रतिविहितत्वात्॥

न कायादिक्रियारूपो जीवस्यास्त्यास्रवः सदा। निःक्रियत्वाद्यथा व्योम्न इत्यसत्तदसिद्धितः॥४४॥

क्रियावान् पुरुषोसर्वगतद्रव्यत्वतो यथा। पृथिव्यादिः स्वसंवेद्यं साधनं सिद्धमेव नः॥४५॥

न हि क्रियावत्त्वे साध्ये पुरुषस्यासर्वगतद्रव्यत्वं साधनमसिद्धं तस्य स्वसंवेद्यत्वात् पृथिव्यादिवत्भ्रांतमसर्वगतद्रव्यत्वेनात्मनः संवेदनमिति चेत् न, बाधकाभावात्। सर्वगत

पूर्व में कर दिया है। पूर्व में इसका उत्तर दिया ही है कि जीव के बिना, स्वार्थ के लिए जीव की साधना वा सिद्धि नहीं हो सकती। तथा जीवतत्त्व को स्वीकार किये बिना अपने लिए अजीव पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

''स्मृति प्रत्यभिज्ञान अनुमान तर्क आदि भी गौण रूप से पृथ्वी आदि अजीवतत्त्व की पर्याय हैं'' ऐसा कहने वालों का भी इस हेतु से खण्डन कर दिया है क्योंकि परमार्थभूत जीव तत्त्व स्वीकार किये बिना अजीव सिद्धि अपने लिए अपने आप नहीं हो सकती अतः अविशेषता (सामान्यता) से स्मृति आदि के चेतनपना है अर्थात् स्मृति आदि जीव के स्वात्मभूत स्वभाव हैं।

स्मृति आदि प्रधान के गुण हैं इसका खण्डन कर दिया है। अर्थात् स्मृति आदि अचेतन प्रधान के गुण नहीं हैं अपितु चेतन आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय है।

इस प्रकार जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व का वर्णन किया। **अब आस्रव तत्त्व का वर्णन करते हैं।**

आत्मा के असर्वगत द्रव्यत्व सिद्ध है

कपिल का मत - जीव के कायादि क्रियारूप, मन वचन काय की क्रियारूप आस्रव सदा (कभी) संभव नहीं है, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है। जो निष्क्रिय होता है उसके कर्म का आस्रव नहीं होता जैसे आकाश के। यह कपिल का मत है। आचार्य कहते हैं- ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि आत्मा के क्रिया रहित-पने की असिद्धि है॥४४॥ जैसे आत्मा क्रियावान है असर्वगत होने से पृथ्वी आदि द्रव्य के समान। इसमें दिया गया हमारा अव्यापकत्व हेतु स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है अर्थात् आत्मा अपनी काय प्रमाण छोटा बड़ा होने से व्यापक नहीं है अतः क्रियावान है और क्रियावान होने से सास्रव है। (आस्रवसहित है।)

पुरुष के क्रियावानपना सिद्ध करने में दिया गया असर्वगत द्रव्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि पृथ्वी आदि के समान आत्मा के भी अव्यापकपना स्वसंवेद्यत्व है। अर्थात् आत्मा का अव्यापकपना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है॥४५॥

आत्मा का असर्वगत द्रव्यत्व से संवेदन (ज्ञान) होता है वह भ्रान्त है (अवास्तविक है।) ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा के असर्वगतपने में बाधक प्रमाण का अभाव है। आत्मा सर्वगत है अमूर्तिक होने से आकाश के समान, यह हेतु आत्मा के असर्वगतत्व का बाधक है, ऐसा भी कहना उचित

आत्माऽमूर्तत्वादाकाशवदित्येतद्बाधकमिति चेन्न, अस्य प्रतिवादिनां कालेनानेकांतात्। कालोपि सर्वगतस्तत एव तद्वदिति नात्र पक्षस्यानुमानागमबाधितत्वम्। तथाहि। आत्मा कालश्चासर्वगतो नानाद्रव्यत्वात् पृथिव्यादिवत्। कालो नानाद्रव्यत्वेनासिद्ध इति चेन्न, युगपत्परस्परविरुद्धनानाद्रव्यक्रियोत्पत्तौ निमित्तत्वात्तद्वत्। खेन व्यभिचारीदं साधनमिति चेन्न, तस्यावगाहनक्रियामात्रत्वेन प्रसिद्धेस्तत्रानिमित्तत्वात्। निमित्तत्वे वा परिकल्पनानर्थक्यात् तत्कार्यस्याकाशादेवोत्पत्तिघटनात् परापरत्वपरिणामक्रियादीनामाकाशनिमित्तकत्वविरोधादवगाहनवत् परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगः कालोन्य एवाकाशादिति चेत् , स्यादेवं यदि परत्वादिप्रत्ययनिमित्तत्वमाकाशस्य विरुध्येत। शब्दलिंगत्वादाकाशस्य तन्निमित्तत्वं विरुध्यत एवेति चेन्न,

---

नहीं है। क्योंकि इस अमूर्ति हेतु का प्रतिवादी जैनों के द्वारा माने गए काल द्रव्य के साथ अनेकान्त दोष आता है अर्थात् काल अमूर्तिक होते हुए भी सर्वगत नहीं है। अमूर्तिक का असर्वगत होने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि काल अमूर्तिक है परन्तु सर्वगत नहीं है।

काल भी सर्वगत है अमूर्तिक होने से आकाश के समान, ऐसा भी कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि काल को सर्वगत मानना यह पक्ष, अनुमान और आगम से बाधित है। तथाहि आत्मा और काल दोनों ही असर्वगत हैं नाना द्रव्य होने से पृथ्वी आदि के समान। काल नाना द्रव्यत्व से असिद्ध है अर्थात् काल नाना द्रव्यस्वरूप नहीं है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है; क्योंकि एक ही समय में परस्पर विरुद्ध अनेक द्रव्यों की क्रियाओं की उत्पत्ति में निमित्त कारण होने से काल द्रव्य में नानात्व है जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य। अर्थात् एक ही समय में भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भिन्न परिवर्तन होता है अत: काल भिन्न-भिन्न है। यदि काल द्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर भिन्न नहीं है तो सर्व द्रव्यों का परिणमन एक समान होता, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि सर्व द्रव्यों का परिवर्तन भिन्न-भिन्न हो रहा है।

काल द्रव्य का अनेकपना सिद्ध करने के लिए दिया गया एक समय में अनेक विरुद्ध क्रियाओं के करने का सहकारी कारण हेतु आकाश के साथ व्यभिचारी है, क्योंकि आकाश एक होते हुए भी अनेक पदार्थों को एक साथ अवगाहन देता है, ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि आकाश के केवल अवगाहन क्रिया का ही निमित्तपना प्रसिद्ध है। काल के द्वारा की गयी अनेक विरुद्ध क्रियाओं में आकाश निमित्त कारण नहीं है, क्योंकि आकाश को द्रव्यपरिवर्तन में निमित्त मान लेने पर काल द्रव्य की परिकल्पना व्यर्थ होती है। क्योंकि काल द्रव्य के निमित्त से होने वाले कार्यों की आकाश द्रव्य से ही उत्पत्ति होना घटित हो जायेगा। अर्थात् अवगाहन देने के समान आकाश परिवर्तन भी करायेगा परन्तु परापरत्व परिणाम और क्रिया आदि का आकाश को निमित्त मानना विरुद्ध है अवगाहन के समान अर्थात् जैसे अवगाहन देना आकाश का काम है वैसा परिणमन कराना नहीं।

काल कृत परत्व अपरत्व युगपत् , क्रम, अतिविलम्ब और शीघ्र का ज्ञान होना है चिह्न जिसका ऐसा काल आकाश से भिन्न है। ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो तब सिद्ध होता है जब परत्व, अपरत्व युगपत्-अयुगपत् आदि ज्ञान के निमित्तत्व को आकाश के विरुद्ध माना जावे। परन्तु आप तो आकाश के द्वारा अनेक क्रियाओं का होना स्वीकार करते हैं। आकाश शब्द का लिंग (कारण) है अत:

एकस्यापि नानाकार्यनिमित्तत्वेन दर्शनात् स्वयमीश्वरस्य तथाभ्युपगमाच्च। यदि पुनरीशस्य नानार्थसिसृक्षाभिसंबंधान्नानाकार्यनिमित्तत्वमविरुद्धं तदा नभसोपि नानाशक्तिसंबंधात्तदविरुद्धमस्तु विशेषाभावात्। तथा चात्मादिक्कालाद्यशेषद्रव्यकल्पनमनर्थकं तत्कार्याणामाकाशेनैव निवर्तयितुं शक्यत्वात्। अथ परस्परविरुद्धबुद्ध्यादिकार्याणां युगपदेकद्रव्यनिवर्त्यत्वविरोधात्तन्निमित्तानि नानात्मादिद्रव्याणि कल्प्यंते तर्हि नानाद्रव्यक्रियाणामन्योन्यविरुद्धानां सकृदेककालद्रव्यनिमित्तत्वानुपपत्तेस्तन्निमित्तानि नानाकालद्रव्याण्यनुमन्यध्वं। तथा च नासिद्धं नानाद्रव्यत्वमात्मकालयोरसर्वगतत्वसाधनं। नापि पृथिव्यादिदृष्टांतः साधनधर्मविकलः पृथिव्यप्तेजोवायूनां धारणक्लेदनपचनस्पंदनलक्षणपरस्परविरुद्धक्रियानिमित्तत्वेन सकृदुपलभ्यमानत्वात्। नापि साध्यधर्मविकलस्तेषां कथंचिन्नानाद्रव्यत्वसिद्धेरित्यनुमानविरुद्धं पक्षं

आकाश को परत्व अपरत्व का निमित्त मानना विरुद्ध ही है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि एक द्रव्य के भी अनेक कार्यों का निमित्तपना देखा जाता है। स्वयं आपने एक ईश्वर को अनेक कार्यों का निमित्त कारण स्वीकार भी किया है अतः आपका काल द्रव्य का मानना व्यर्थ है उसके साध्य कार्य आकाश के द्वारा सम्पादित हो जाते हैं।

यदि पुनः ईश्वर के नाना पदार्थों की रचने की इच्छाओं का संबंध होने से ईश्वर के नाना अर्थों के कर्तृत्व का निमित्तपना अविरुद्ध है, ऐसा कहते हो तो आकाश के भी नाना शक्ति के संबंध से नाना कार्यों के निमित्तत्व विरुद्ध नहीं है क्योंकि इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। तथा आकाश को एक द्रव्य मान लेने पर आत्मा, दिशा, काल, वायु, मन, आकाश आदि सम्पूर्ण द्रव्यों की कल्पना करना व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि परत्व, अपरत्व, कम्पन आदि सारे कार्य आकाश के द्वारा ही करना शक्य हो जायेगा।

यदि आपके द्वारा परस्पर विरुद्ध बुद्धि, सुख, दुःख, आदि कार्यों का एक साथ एक द्रव्य (आकाश) के द्वारा सम्पादन होना विरुद्ध है। (एक द्रव्य द्वारा विरुद्ध अनेक कार्यों का सम्पादन नहीं हो सकता।) अतः उन भिन्न कार्यों के निमित्त कारण अनेक आत्मा, एक दिशा, एक काल, आदि अनेक द्रव्यों की कल्पना करनी पड़ती है, ऐसा कहा जाता है तो अनेक द्रव्यों से होने वाली परस्पर विरुद्ध अनेक क्रियाओं का एक काल में (एक समय में) एक ही काल को निमित्तपना नहीं बन सकता है अतः उन अनेक क्रियाओं के निमित्त कारण काल द्रव्य भी अनेक हैं, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा होने पर काल में नाना द्रव्यपना असिद्ध नहीं रहता है, सिद्ध हो जाता है। तथा आत्मा और काल द्रव्य होते हुए भी असर्वगत हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

काल को अव्यापक द्रव्य सिद्ध करने के लिए हेतु में दिया गया पृथ्वी आदि का दृष्टान्त भी साधन रूपी धर्म से विकल (रहित) नहीं है क्योंकि पृथ्वी, जल आदिक में अनेक द्रव्य क्रियाओं के प्रति निमित्त-कारणता है। जैसे पृथ्वी अनेक द्रव्यों को धारण करने रूप क्रियाओं से, जल गीला करना रूप क्रियाओं से, अग्नि पचन क्रियाओं से और वायु वृक्षों की कम्पन क्रियाओं से युक्त है अतः परस्पर विरुद्ध लक्षण क्रियाओं का निमित्तत्व एक साथ उपलब्ध होता है अर्थात् पृथ्वी आदि में अनेक द्रव्य क्रियाओं के प्रति निमित्तकारणता

कालात्मसर्वगतत्वासाधनं, लोकाकाशप्रदेशेषु प्रत्येकमेकैकस्य कालाणोरवस्थानाद्रत्नराशिवत् कालाणवोऽसंख्याता: स्वयं वर्तमानानामर्थानां निमित्तहेतव इत्यागमविरुद्धं पक्षं च। न चायमागमोप्रमाणं सर्वथाप्यसंभवद्बाधकत्वादात्मादिप्रतिपादकागमवत्। ततः सिद्धमसर्वगतद्रव्यत्वमात्मनः क्रियावत्त्वं साधयत्येव। कालाणुनानैकांतिकमिति चेन्न, तत्रासर्वगतद्रव्यत्वस्याभावात्। सर्वगतद्रव्यत्वप्रतिषेधे हि तत्सदृशेन्यत्र सकृन्नानादेशसंबंधिनि संप्रत्ययो न पुनर्निरंशे कालाणौ। 'नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिरिति वचनात्, प्रसह्यप्रतिषेधानाश्रयणात्। असंख्येयभागादिषु जीवानामिति जीवावगाहस्य नानालोकाकाशप्रदेशवर्तितया वक्ष्यमाणत्वात्। तथा च कतिपयप्रदेशव्यापिद्रव्यत्वादिति हेत्वर्थः प्रतिष्ठितः।

है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक क्रियाओं के निमित्तपना होते हुए पृथ्वी, जल, तेज और वायु का एक समय में उपलम्भ (प्रत्यक्ष) किया जा रहा है। तथा पृथ्वी आदि रूप दृष्टान्त नाना द्रव्यपना रूप साध्य धर्म से विकल (रहित) भी नहीं हैं। क्योंकि उन पृथ्वी आदिक के कथञ्चित् नाना द्रव्यत्व की सिद्धि होती है। अर्थात् जैसे अवयव एवं अवयवी रूप से पृथ्वी आदि में अनेकत्व है वैसे ही काल द्रव्य और आत्मा में अनेकत्व सिद्ध है। इस प्रकार काल द्रव्य और आत्मा को सर्वगत सिद्ध करने का साधन अनुमान विरुद्ध पक्ष है। क्योंकि रत्नों की राशि के समान लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु अवस्थित है। वे कालाणु असंख्यात, लोक प्रमाण हैं क्योंकि अपनी द्रव्य शक्ति के द्वारा स्वयं अपने आप वर्त्तना करते हुए नाना पदार्थों के कालाणुद्रव्य वर्तना कराने में निमित्त कारण होते हैं। इस आगम प्रमाण से भी आपके द्वारा माना गया काल के व्यापकपने का पक्ष आगमविरुद्ध पड़ता है और यह आगम वाक्य अप्रमाण भी नहीं है क्योंकि आत्मा, आकाश आदि के प्रतिपादक आगम के समान इसमें भी सर्वप्रकार से बाधक प्रमाणों की असंभवता है। इसलिए आत्मा के असर्वगत द्रव्यत्व सिद्ध है वह आत्मा की क्रियावत्व शक्ति को सिद्ध करता ही है।

आत्मा असर्वगत होने से क्रियावान है, यह कहने पर असर्वगत हेतु का कालाणु के साथ व्यभिचार आता है (अर्थात् कालाणु असर्वगत तो है परन्तु क्रियावान नहीं है) ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उस कालाणु में असर्वगत द्रव्यत्व के सर्वगतत्व का निषेध किया है। असर्वगत द्रव्यत्व हेतु से व्यापक द्रव्यत्व का अभाव किया है। अत: सर्व व्यापक द्रव्यत्व का निषेध करने पर उसके सदृश अन्यत्र एक साथ नाना देशों में संबंध करने वाले पदार्थों में ज्ञान होता है किन्तु सर्वथा निरंश कालाणु में एक साथ नाना देश संबंधी पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। यहाँ पर असर्वगत में जो 'नञ्' समास है उसका अर्थ प्रसज्य (सर्वथा अभाव) नहीं है अपितु उससे भिन्न उसके सदृश पदार्थों का ग्रहण करने वाला पर्युदास (अपवाद) है।

इसी तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में ''असंख्येयभागादिषु जीवानां'' इस सूत्र से एक जीव कितना ही छोटा होगा तो भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग रूप असंख्यात प्रदेशों को अवश्य घेर लेता है इससे कम संख्यात प्रदेशों में जीव नहीं रह सकता। अत: जीव की अवगाहना की नाना (असंख्यात) लोकाकाश प्रदेशों में वर्तना है, ऐसा आगे कहेंगे। और ऐसा होने पर काल और आत्मा कतिपय प्रदेश व्यापी द्रव्य हैं, यह अर्थ सिद्ध होता है। अर्थात् न तो आत्मा एक प्रदेश में रहता है और न सर्वगत है अपितु असंख्यात प्रदेशों में रहता है ऐसा सिद्ध होता है।

न च कालाणुः स्याद्वादिनां कतिपयप्रदेशव्यापिद्रव्यं यतस्तेन हेतोर्व्यभिचारः। कालादन्यत्वे सत्यसर्वगतद्रव्यत्वादिति स्पष्टं साधनव्यभिचारि वाच्यमिति चेन्न किंचिदनिष्टमीदृगर्थस्य हेतोरिष्टत्वात्। परेषां तु कालस्य सर्वगतद्रव्यत्वेनाभिप्रेतत्वात्तेन व्यभिचारचोदनस्यासंभवाद्वार्तिके तथा विशेषणाभावः। एवं च निरवद्यात्साधनादात्मनः क्रियावत्त्वसिद्धेः कायादिक्रियारूपोऽस्यास्रवः प्रसिद्ध्यत्येव । कायालंबनाया जीवप्रदेशपरिस्पंदनक्रियायाः कायास्रवत्वाद्वागालंबनाया वागाश्रयत्वान्मनोवर्गणालंबनाया मानसाश्रयत्वात्॥

बंधः पुंधर्मतां धत्ते द्विष्ठत्वान्न प्रधानके। केवलेऽसंभवात्तस्य धर्मोसौ नावधार्यते॥ ४६ ॥

स्याद्वादियों के मत में एक ही प्रदेश में रहने वाला कालद्रव्य (कालाणु) कतिपय प्रदेश असंख्यात संख्यात प्रदेश व्यापी नहीं है। जिससे उस काल के द्वारा असर्वगतद्रव्यपने हेतु का व्यभिचार आसकता हो। काल द्रव्य से अन्य होने पर (असर्वगत द्रव्य होने से) असर्वगत द्रव्य है, इस प्रकार व्यभिचार दोषों से रहित हेतु है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। अर्थात् जो काल से भिन्न द्रव्य है वह असर्वगत है। ऐसा स्पष्ट रूप से मानना चाहिए, ऐसा भी कहने पर आचार्य कहते हैं- कि ऐसा मानना हमारे अनिष्ट नहीं है, काल द्रव्य से भिन्न द्रव्य भी असर्वगत है ऐसा मानना हम को भी इष्ट है अर्थात् जो काल से अभिन्न अव्यापक द्रव्य हैं वे क्रियावान हैं इस प्रकार हेतु का अर्थ हमको भी इष्ट है। नैयायिक और वैशेषिकों के मत में काल द्रव्य को सर्व व्यापक द्रव्यत्व स्वीकार किया गया है इसलिए उस काल से व्यभिचार (दोष) देने की उनके द्वारा प्रेरणा करना असंभव है। अर्थात् सर्वगत काल को मानकर आत्मा को अक्रियावान सिद्ध करना असंभव है। इसलिए ही इस सूत्र की ४५ वीं वार्त्तिक में कालभिन्नत्व विशेषण नहीं दिया है। केवल असर्वगत द्रव्य होने से आत्मा में क्रिया को सिद्ध कर लिया है। अतः आत्मा में देश से देशान्तर को प्राप्त होने रूप क्रिया होती है।

इस प्रकार निर्दोष हेतु से आत्मा के क्रियावान की सिद्धि हो जाने से इस आत्मा के शरीर, वचन और मन की क्रियारूप आस्रव तत्त्व सिद्ध होता ही है। अतः काय के अवलम्बन से (वा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के उपयोगी आहार वर्गणा तथा कार्माण वर्गणा का अवलम्बन लेकर) उत्पन्न हुई आत्मा के प्रदेशों की कम्प रूप क्रिया को कायास्रव कहते हैं, वचन वर्गणा के आलम्बन से उत्पन्न जीव प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप क्रिया को वचन वाग् आस्रव कहते हैं और मनोवर्गणाओं का अवलम्बन लेकर उत्पन्न हुई आत्मप्रदेशों के कम्पन रूप क्रियाओं को मानस आस्रव कहते हैं। अतः आस्रव तत्त्व की सिद्धि होती है। आस्रव भी द्रव्यास्रव और भावास्रव के भेद से दो प्रकार का है। आत्मा के जिन भावों के द्वारा कर्म आते हैं वे भाव भावास्रव हैं और पुद्गल वर्गणाओं का आना द्रव्यास्रव है। यह आस्रव भी आत्मा और पुद्गल दोनों के होने पर ही सिद्ध होता है।

बन्ध तत्त्व का वर्णन : बन्ध आत्मा के धर्म को धारण करता है क्योंकि बन्ध दो पदार्थों में होता है, अकेले प्रधान में उस बंध का रहना असंभव है।

इसलिए यह बंध तत्त्व प्रधान का धर्म है ऐसी अवधारणा नहीं की जा सकती। अर्थात् पुद्गल और जीव इन दोनों का धर्म 'बंध तत्त्व' है, अकेले पुद्गल (प्रकृति) का नहीं है॥४६॥

न हि प्रधानस्यैव धर्मो बंधः संभवति तस्य द्विष्ठत्वादिति। जीवस्यापि धर्मः सोवधार्यते सर्वथा पुरुषस्य बंधाभावे बंधफलानुभवनायोगाद्बंधवत् प्रकृतिसंसर्गाद्बंधफलानुभवनं तस्येति चेत् , स एव बंधविवर्तात्मिकया प्रकृत्या संसर्गः पुरुषस्य बंधः। इति सिद्धः कथंचित्पुरुषधर्मः संसर्गस्य द्विष्ठत्वात्॥

संवरो जीवधर्मः स्यात् कर्तृस्थो निर्जरापि च। मोक्षश्च कर्मधर्मोपि कर्मस्थो बंधवन्मतः॥ ४७ ॥

धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तभेदमितीरितम्। श्रद्धेयं ज्ञेयमाध्येयं मुमुक्षोर्नियमादिह॥ ४८ ॥

अकेले प्रधान का बंध तत्त्व धर्म संभव नहीं है क्योंकि बंध तत्त्व के द्विष्ठता है अर्थात् बंध तत्त्व दो पदार्थों में रहता है, एक पदार्थ के बंध नहीं होता। जीव और अजीव दो पदार्थों में बंध होने से बंध तत्त्व जीव का भी धर्म है ऐसा निश्चय करना चाहिए। सर्वथा पुरुष के (आत्मा के) बंध का अभाव मान लेने पर बंध तत्त्व के फल का अनुभव करने का भी अयोग होगा अर्थात् आत्मा कर्मबंध के फल का अनुभव *भी नहीं करेगा। वा सांसारिक भोगों का भोक्ता भी आत्मा नहीं बनेगा।*

बंध के समान प्रकृति के संसर्ग से आत्मा को बंध के फल का अनुभव होता है, ऐसा कहने पर तो हम कहेंगे कि बंध की पर्यायात्मक प्रकृति का संसर्ग ही आत्मा का बंध है। अर्थात् प्रकृति के साथ आत्मा का संसर्ग होना ही बंध है; इस प्रकार सिद्ध हुआ कि संसर्ग रूप बंध पदार्थ कथंचित् पुरुष (आत्मा) का धर्म है, क्योंकि संसर्ग (बंध) दो पदार्थों में रहता है एक में नही। अतः बंध तत्त्व की सिद्धि होती है। जैनाचार्यों ने बंध दो प्रकार का कहा है द्रव्य बंध और भावबंध। जीव के जिन भावों (रागद्वेषमय परिणति) से कर्म बँधते हैं वह भाव बंध है तथा जो पुद्गल वर्गणा आत्मप्रदेशों पर स्थित होती है वह द्रव्य बंध है। द्रव्यबंध और भाव बंध का परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है। जीव और पुद्गल (अजीव) दोनों की सिद्धि होने पर बंध की सिद्धि होती है तथा बंध सर्व प्राणियों के संवेदन में आ रहे हैं, सारे प्राणियों को सुख-दुःख से उनका अनुभव हो रहा है अतः बंध न अकेले प्रधान का गुण है और न अकेले जीव का, अपितु दोनों का निमित्त नैमित्तिक संबंध है।

कर्त्ता आत्मा में स्थित होने से संवरतत्त्व, निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व आत्मा का धर्म, आत्मा का ही परिणाम है तथा बंध के समान कर्म मे स्थित होने से संवर निर्जरा और मोक्ष कर्म (पुद्गल) का धर्म (परिणाम) भी है। अर्थात् जैसे बंध और आस्रव द्विष्ठ हैं जीव और पुद्गल दोनों में होते हैं उसी प्रकार संवर और निर्जरा भी पुद्गल और आत्मा इन दोनों में होते हैं; द्रव्य संवर, द्रव्य निर्जरा और द्रव्य मोक्ष पौद्गलिक हैं। अतः अकेले आत्मा या पुद्गल के आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं होता॥४७॥ **इस प्रकार धर्मी और धर्म स्वरूप तत्त्व के सात भेद कहे हैं अतः यहाँ मोक्ष के इच्छुक मनुष्यों को इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान और समीचीन ज्ञान करना चाहिए। तथा इन्हीं सात तत्त्वों का भली प्रकार ध्यान करना चाहिए, आचरण करना चाहिए॥४८॥**

जीवाजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तं मुमुक्षोरवश्यं श्रद्धेयत्वाद्विज्ञेयत्वादाध्येयत्वाच्च सम्यग्दर्शनज्ञानध्यानविषयत्वान्निर्विषय-सम्यग्दर्शनाद्यनुपपत्तेस्तद्विषयांतरस्यासंभवात्। संभवे तत्रैवांतर्भावात्॥

न च तत्त्वांतराभावस्तत्त्वमष्टममासजेत्। सप्ततत्त्वास्तितारूपो ह्येषोऽन्यस्याप्रतीतितः॥ ४९ ॥

तत्त्वं सतश्च सद्भावोऽसतोऽसद्भाव इत्यपि। वस्तुन्येव द्विधा वृत्तिर्व्यवहारस्य वक्ष्यते॥५०॥

यथा हि सति सत्त्वेन वेदनं सिद्धमंजसा। तथा सदंतरे सिद्धमसत्त्वेन प्रवेदनम्॥ ५१ ॥

असद्रूपप्रतीतिर्हि नावस्तुविषया क्वचित्। भावांशविषयत्वात् स्यात् सितत्वादिप्रतीतिवत्॥५२॥

भावांशोसत्सदाभावविशेषणतयेक्षणात्। सर्वथाभावनिर्मुक्तस्यादृष्टेः पाटलादिवत्॥ ५३ ॥

इन सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो तत्त्व तो धर्मी हैं और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व धर्म हैं।[१] इस प्रकार दो धर्मी तत्त्व और पाँच धर्म तत्त्व के भेद से तत्त्व सात प्रकार के कहे हैं। मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करने वाले मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ध्यान (चारित्र) का विषय होने से इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान, समीचीन ज्ञान और ध्यान अवश्य करना चाहिए क्योंकि ये ही श्रद्धेय हैं, ये ही ज्ञेय हैं और ये ही ध्येय हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान और ध्यान का विषय होने से निर्विषय (श्रद्धेय आदि विषय के बिना) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती। तथा सम्यग्दर्शन आदि के विषय सात तत्त्व को छोड़कर अन्य नहीं हैं अर्थात् इन सात तत्त्वों को छोड़कर और कोई वस्तु श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान करने योग्य नहीं है। यदि पुण्य पाप आदि अन्य किसी तत्त्व की संभावना हो तो वे सब इन सात तत्त्वों में ही गर्भित हो जाते है। अत: इन सात तत्त्वों से भिन्न अन्य तत्त्वों के मानने की आवश्यकता नहीं है तथा अन्य तत्त्व की प्रतीति भी नहीं होती है।

तत्त्वान्तराभाव (सात तत्त्वों के सिवाय अभाव) रूप आठवाँ तत्त्व भी प्रतीत नहीं होता है क्योंकि तत्त्वान्तरों का अभाव भी सात तत्त्वों के अस्तित्व रूप है, इन सात तत्त्वों के अस्तित्व रूप से भिन्न अभाव रूप तत्त्व की प्रतीति नहीं होती॥४९॥ सत् पदार्थ के सद्भाव को तत्त्व कहते हैं तथा असत् पदार्थ का असद्भाव भी तत्त्व है। अर्थात् एक ही पदार्थ अपने स्वरूप से सत् और पर पदार्थ की अपेक्षा असत् रूप है। सत् से भिन्न स्वतन्त्र असत्पदार्थ नहीं है। सत् स्वरूप वस्तु में ही है। एक ही सत् स्वरूप वस्तु में सत् और असत्रूप दोनों प्रकार के व्यवहार की प्रवृत्ति कही जाती है, देखी जाती है॥५०॥

जिस प्रकार सत् पदार्थ में सत्त्व रूप से ज्ञान होना निर्दोष सिद्ध होता है, उसी प्रकार असत् रूप पदार्थ का असत् रूप से ज्ञान होना भी सिद्ध है॥५१॥ अर्थात् एक ही वस्तु स्वरूप से सत् और पर स्वरूप से असत् है क्योंकि कहीं पर भी असद्रूप पदार्थ की प्रतीति अवस्तु का विषय नहीं करती है। किन्तु शुक्ल आदि प्रतीति के समान असत् की प्रतीति भी भाव के अंशों का ही विषय करती है। अर्थात् जैसे शुक्ल आदि की प्रतीति सत् स्वरूप है उसके साथ पीला आदि नहीं है, इस असत् की प्रतीति भी भाव रूप ही है॥५२॥

सत् रूप भावांश भी सदा अभाव विशेषण से युक्त देखा जाता है। क्योंकि गुलाबी आदि रंग के समान सर्वथा अभाव से रहित सत् दृष्टिगोचर नहीं होता। अर्थात् जैसे लाल, पीला आदि रंग नास्ति के बिना नहीं रहते। (लाल है पीला नहीं हैं ऐसे अस्ति-नास्ति दोनों रूप है) वैसे ही प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति रूप है, अस्ति नास्ति विशेषण सहित है और नास्ति अस्ति विशेषण सहित है। अस्ति के बिना नास्ति और नास्ति के बिना अस्ति नही रहती है॥५३॥

---

१. जीव और अजीव द्रव्यस्वरूप हैं वा पर्यायी हैं। आस्रव आदि पाँच तत्त्व जीव और अजीव की पर्याय हैं।

न ह्यभाव: सर्वथा तुच्छ: प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते यतोस्य सर्वदा भावविशेषणतया दर्शनमप्रसिद्धं स्यात् तत्प्रसिद्ध्यदभावस्य भावांशत्वं साधयति सितत्वादिवत्। ततो न क्वचिदवस्तुनि कस्यचिदसत्त्वप्रतीतिर्वस्तुन्येव तत्प्रतीतेस्तत्त्वांतराभावस्य सप्ततत्त्व विप्रकर्षभावस्य सिद्धेरन्यमतत्वासंभावनैवेति सर्वसंग्रह: ॥

प्रमाणादय एव स्यु: पदार्था: षोडशेति तु। ब्रुवाणानां न सर्वस्य संग्रहो व्यवतिष्ठते॥ ५४ ॥

तत्रानध्यवसायस्य विपर्यासस्य वा गते:। नास्याप्रमाणरूपस्य प्रमाणग्रहणाद्गति: ॥ ५५ ॥

संशीतिवत्प्रमेयांतर्भावे तत्त्वद्वयं भवेत्। संशयादे: पृथग्भावे पृथग्भावोस्य किं तत: ॥ ५६ ॥

क्योंकि सर्वथा तुच्छाभाव (सर्वप्रकार से तुच्छ,निरुपाख्य स्वतंत्र) अभाव पदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान से प्रतीत (ज्ञात) नहीं होता है। जिससे कि इस अभाव का सदा भाव का विशेषण होकर दिखना अप्रसिद्ध असिद्ध हो अर्थात् अभाव स्वतंत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। भाव का विशेषण होकर ही दृष्टिगोचर होता है। अपितु शुक्ल आदि के समान भावरूप से प्रसिद्ध अस्तित्व अभाव के भावांशत्व (अस्तित्व अंश) को ही सिद्ध करता है। अत: किसी भी अवस्तु में किसी प्राणी को असत् (अभावत्त्व) की प्रतीति नहीं होती किन्तु वस्तु में ही असत्त्व की प्रतीति होती है अर्थात् अस्ति में ही नास्ति का बोध होता है, पृथक् नहीं। अत: तत्त्वान्तर के अभाव की सात तत्त्वों में ही विप्रकर्ष भाव से सिद्धि होती है अर्थात् अभावतत्त्व का भाव तत्त्व में ही समावेश हो जाता है। भाव से अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। तथा अन्य मतों नैयायिक, वैशेषिकों के मन्तव्यानुसार माने गए तत्त्वों की संभावना तो है ही नहीं। इस प्रकार सभी वास्तविक तत्त्वों का इन सातों में ही संग्रह हो जाता है।

जैनों के द्वारा माने गये सात तत्त्वों में तो सर्व पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु प्रमाणादि सोलह पदार्थ हैं, इस प्रकार कहने वाले नैयायिकों के सर्व तत्त्वों का संग्रह नहीं होता॥५४॥ नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान ये १६ पदार्थ माने हैं। उनमें प्रमाण के ग्रहण करने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का ही ग्रहण होता है। उस प्रमाण में अनध्यवसाय और विपर्यय ज्ञान की ज्ञप्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि अप्रमाण रूप अनध्यवसाय और विपर्यय ज्ञान का प्रमाण रूप ज्ञान में अन्तर्भाव नहीं होता॥५५॥ जैसे संशय ज्ञान का प्रमाण ज्ञान में अन्तर्भाव न होने से संशय ज्ञान को पृथक् स्वीकार किया है वैसे अनध्यवसाय और विपर्यय ज्ञान का अन्तर्भाव प्रमाण ज्ञान में नही हो सकता। यदि कहो कि प्रमेय तत्त्व में विपर्यय और अनध्यवसाय का अन्तर्भाव हो जायेगा तो प्रमाण और प्रमेय दो ही तत्त्व रहेंगे। सभी तत्त्व इन दो में गर्भित हो जायेंगे। यदि संशय, प्रयोजन आदि का पृथक् निरूपण करते हैं तो क्या विपर्यय और अनध्यवसाव के संशय आदि से भिन्नता है जिससे संशय, प्रयोजन आदि को पृथक् तत्त्व ग्रहण किया जाय और अनध्यवसाय, विपर्यय आदि को पृथक् ग्रहण न किया जावे॥५६॥

प्रमाणविधिसामर्थ्यादप्रमाणगतौ यदि। तत्रानध्यवसायादेरन्तर्भावो विरुध्यते॥ ५७ ॥

संशयस्य तदात्रैव नांतर्भावः किमिष्यते। प्रमाणभावरूपत्वाविशेषात्तस्य सर्वथा॥ ५८ ॥

प्रमाणवृत्तिहेतुत्वात् संशयश्चेत् पृथक्कृतः। तत एव विधीयेत जिज्ञासादिस्तथा न किम्॥ ५९ ॥

अभावस्याविनाभावसंबंधादेरसंग्रहात्। प्रमाणादिपदार्थानामुपदेशो न दोषजित्॥ ६० ॥

द्रव्यादिषट्पदार्थानामुपदेशोपि तादृशः। सर्वार्थसंग्रहाभावादनाप्तोपज्ञमित्यतः॥ ६१ ॥

सूत्रेवधारणाभावाच्छेषार्थस्यानिराकृतौ। तत्त्वेनैकेन पर्याप्तमुपदिष्टेन धीमताम्॥ ६२ ॥

यदि कहो कि प्रमाण विधि के सामर्थ्य से अप्रमाण ज्ञानों की स्वयं अर्थापत्ति से ज्ञप्ति हो जाती है तो उस प्रमाण ज्ञान में अनध्यवसाय और विपर्यय रूप अज्ञान प्रमाणों का अन्तर्भाव होना विरुद्ध पड़ता है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान में मिथ्याज्ञान का प्रवेश करना युक्तिसंगत नहीं है॥५७॥

अथवा यदि प्रमाण ज्ञान की विधि के सामर्थ्य से विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञान की स्वयं अर्थापत्ति ज्ञान से ज्ञप्ति हो जाती है तो संशय ज्ञान का भी इसी में अन्तर्भाव होना क्यों नहीं माना जाता है क्योंकि उस संशय ज्ञान के सर्वथा अप्रमाण के अभाव रूपत्व की कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् जैसे विपर्यय और अनध्यवसाय अप्रमाण रूप हैं, वैसे संशय भी अप्रमाण रूप है, फिर क्या कारण है कि संशय ज्ञान को पृथक्तत्त्व माना है और अन्य विपर्यय, अनध्यवसाय आदि ज्ञानों को अप्रमाण नहीं माना है॥५८॥

यदि कहो कि किसी पदार्थ का तरतम रूप से प्रत्यक्षकरना, विशेष विशेषांशों का निर्णय करना अनुमान ज्ञान वा ईहा ज्ञान में प्रवृत्ति होना आदि ज्ञानों के पूर्व में संशय ज्ञान की प्रवृत्ति होती है इसलिए सर्व प्रमाणों की प्रवृत्ति का मुख्य कारण होने से संशय ज्ञान को पृथक् ग्रहण किया है तो संशय के समान जिज्ञासा आदि भी प्रमाण की प्रवृत्ति में कारण है अतः संशय के समान जिज्ञासा आदि को पृथक् ग्रहण क्यों नहीं किया? ॥५९॥

तथा सोलह पदार्थों में अभाव पदार्थ का और अविनाभाव संबंध (व्याप्ति) ज्ञान, स्मृति, तर्क आदि ज्ञानों का भी संग्रह नहीं होता इसलिए प्रमाणादि सोलह पदार्थों का उपदेश दोषों को जीतने वाला (निर्दोष) नहीं है॥६०॥

इसलिए उसी प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय रूप भावात्मक छह पदार्थों का उपदेश भी सर्व अर्थों (तत्त्वों) का संग्रह करने वाला न होने से अनाप्त का कहा हुआ है। सत्य वक्ता आप्त का कहा हुआ नहीं है॥६१॥

सोलह वा छह पदार्थों का कथन करने वाले सूत्र में पदार्थ (१६ ही हैं वा छह ही हैं अधिक नहीं ऐसी अवधारणा करने वाले स्वकारण) का अभाव होने से अशेष (शेष बचे) अविनाभाव जिज्ञासा अनध्यवसाय आदि सर्व पदार्थों का निराकरण नहीं होता है अर्थात् ग्रहण होता है। ऐसा कहने पर तो एक ही तत्त्व के उपदेश से बुद्धिमानों को पूर्णता प्राप्त हो जायेगी (अतः १६, छह आदि पदार्थों का कथन करने से क्या प्रयोजन है)॥६२॥

प्रमाणादिसूत्रे द्रव्यादिसूत्रे वावधारणाभावादनध्यवसायविपर्ययजिज्ञासाद्यविनाभावविशेषणविशेष्यभावप्रागभावादय: संगृहीता एवेति सर्वसंग्रहे प्रमाणं तत्त्वं द्रव्यं तत्त्वमिति चोपदेश: कर्तव्यस्तत्रानवधारणादेव प्रमेयादीनां गुणादीनां वानध्यवसायादिवत्संग्रहोपपत्तेरित्याकुलत्वादनाप्तमूल एवायं प्रमाणाद्युपदेशो द्रव्याद्युपदेशो वा प्रकृत्याद्युपदेशवत्॥

नन्वेवं सप्ततत्त्वार्थवचनेनाप्यसंग्रहात्। रत्नत्रयस्य तद्बाध्येप्ययुक्तत्वमितीतरे॥ ६३ ॥

न हि रत्नत्रयं जीवादिष्वंतर्भवत्यद्रव्यत्वादास्रवादित्वाभावाच्च। तस्य तत्त्वांतरत्वे कथं सप्तैव तत्त्वानि यतो जीवादिसूत्रेण सर्वतत्त्वासंग्रहात्, तदप्ययुक्तं न भवेदिति केचित्॥

प्रमाणादि (प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयाधिगम:) न्याय दर्शन के इस सूत्र में और "द्रव्यादि धर्म-विशेष प्रसूताद् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां" इत्यादि सूत्र में तत्त्वों के अवधारणा (एवकार) का अभाव होने से नैयायिक और वैशेषिकों के अनध्यवसाय, विपर्यय, जिज्ञासा आदिक तथा अविनाभाव, विशेषण विशेष्य भाव, प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि अभाव पदार्थों का संग्रह हो जाता है। इस प्रकार नैयायिक आदि १६ वा छह पदार्थों में सर्व पदार्थों का संग्रह करने पर तो प्रमाण तत्त्व वा द्रव्यतत्त्व इनमें से एक का ही उपदेश देना चाहिए। १६ या छह का नहीं।

क्योंकि उन दोनों सूत्रों में एक ही तत्त्व के नियम करने रूप अवधारणा न होने से प्रमेय आदि का और गुणकर्मादि का संग्रह एक ही तत्त्व में हो जायेगा जैसे संशय आदि में अनध्यवसाय आदि का संग्रह हो जाता है अत: प्रमाणादि १६ तत्त्व हैं या द्रव्यादि छह तत्त्व हैं ऐसा कथन (उपदेश) करने वाले नैयायिक आदि दर्शनकार आकुलित होने से यह कथन अनाप्तमूल ही है, आप्त सर्वज्ञ का कहा हुआ नहीं है। जैसे कपिल ऋषि के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति, महत्तत्त्व आदि २५ तत्त्व का उपदेश सत्य वक्ता आप्त के द्वारा प्रतिपादित नहीं है। इसलिए सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सात तत्त्व का उपदेश ही वास्तविक है, अनाप्त के द्वारा कथित तत्त्व वास्तविक नहीं हैं।

शंका : यहाँ कोई विद्वान् कटाक्ष रूप शंका कर रहे हैं कि सर्वज्ञ द्वारा कथित सात तत्त्वार्थ वचन के द्वारा भी रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का संग्रह नहीं होता इसलिए सात तत्त्वों में सर्व पदार्थों का संग्रह हो जाता है, यह कथन बाधित होने से अयुक्त है, ठीक नहीं है॥६३॥

द्रव्य नहीं होने से और आस्रव बंध आदि रूप न होने से रत्नत्रय जीवादि सात तत्त्वों में गर्भित नहीं होते अर्थात् रत्नत्रय न तो जीव, पुद्गल आदि द्रव्य रूप हैं और न आस्रवादि रूप हैं अत: इनका जीवादि सात तत्त्वों में अन्तर्भाव नहीं होता। उन रत्नत्रय को तत्त्वान्तर (भिन्न तत्त्व) स्वीकार करने पर जीवादि सूत्र के द्वारा सर्व तत्त्वों का असंग्रह होने से 'जीवादि तत्त्व सात ही हैं' ऐसा घटित कैसे हो सकता है, जिससे तत्त्व सात ही हैं, ऐसा कहना अयुक्त असम्यक् न होवे। इस प्रकार किसी की शंका होने पर आचार्य कहते हैं।

तदसत्तस्य जीवादिस्वभावत्वेन निर्णयात्। तथा पुण्यास्रवत्वेन संवरत्वेन वा स्थिते: ॥६४॥

जीवाजीवप्रभेदानामनंतत्वेपि नान्यता। प्रसिद्ध्यत्यास्रवादिभ्य इत्यव्याप्त्याद्यसंभव: ॥६५॥

न हि जीवो द्रव्यमेव पर्याय एव वा येन तत्पर्यायविशेषा: सम्यग्दर्शनादय: तद्ग्रहणेन न गृह्यंते, द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवत्वस्याभिप्रेतत्वात् । ततो नाद्रव्यत्वेपि रत्नत्रयस्य जीवेंतर्भावाभाव:। तथास्रवादित्वाभावोप्यसिद्धस्तस्य पुण्यास्रवत्वेन संवरत्वेन च वक्ष्यमाणत्वात् इति नास्रवादिष्वनंतर्भाव:। येपि च जीवाजीवयोरनंता: प्रभेदास्तेपि जीवस्य पुण्यागमस्य हेतव: पापागमस्य वा पुण्यपापागमननिरोधिनो वा तद्बंधनिर्जरणहेतवो वा मोक्षस्वभावा वा, गत्यंतराभावात्। इति नास्रवादिभ्योऽन्यतां लभ्यंते येनाव्याप्तिरतिव्याप्त्यसंभवौ तु दूरोत्सारितावेवेति निरवद्यं जीवादिसप्ततत्त्वप्रतिपादकं सूत्रं, ततस्तदाप्तोपज्ञमेव॥

सात तत्त्वों में रत्नत्रय का संग्रह नहीं होता, ऐसा कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि रत्नत्रय जीवादि का स्वभाव होने से तथा पुण्यास्रव रूप से निर्णय होने से और संवरत्व से स्थित होने से जीव एवं अजीव के प्रभेदों की अनन्तता होने पर भी आस्रव आदि से अन्यता प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् जीव द्रव्य के अनन्त गुण और अनन्त पर्याय हैं, उन सब का अखण्ड पिंड जीव है अत: रत्नत्रय जीव का स्वभाव होने से जीव से भिन्न नहीं है जीव तत्त्व में गर्भित है तथा जीव के शुभ एवं शुद्ध परिणाम होने से संवर और निर्जरा तत्त्व से भी भिन्न नहीं है और पुण्यास्रव रत्नत्रय से होता है अत: रत्नत्रय आस्रव तत्त्व में भी गर्भित है। जीव अजीव के अनन्त प्रभेद हैं तो भी वे आस्रव बंध आदि से पृथक् प्रसिद्ध नहीं हैं इसलिए सात तत्त्वों में सर्व पदार्थ गर्भित हैं, यह कथन अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष से दूषित नहीं है॥६४-६५॥

जीव तत्त्व से जीव द्रव्य वा जीव की पर्यायों का ही ग्रहण नहीं है जिससे जीव के पर्याय विशेष सम्यग्दर्शनादि का ग्रहण जीवतत्त्व के ग्रहण से नहीं होता हो। जीवतत्त्व से द्रव्य-पर्यायात्मक जीवतत्त्व का ग्रहण इष्ट है। इसलिए द्रव्यत्व न होते हुए भी रत्नत्रय का जीवतत्त्व में अन्तर्भाव होने का अभाव नहीं है। अर्थात् रत्नत्रय जीव स्वभाव में गर्भित है तथा रत्नत्रय के आस्रवत्व का अभाव भी असिद्ध है अर्थात् रत्नत्रय में आस्रवत्व भी सिद्ध है क्योंकि आगे के अध्यायों (छठे सातवें नवें) में रत्नत्रय के पुण्यास्रवत्व और संवरत्व का कथन करेंगे अर्थात् रत्नत्रय पुण्यास्रव एवं संवररूप है, ऐसा कहेंगे अत: रत्नत्रय का आस्रव आदि में अन्तर्भाव नहीं है, ऐसा नहीं है। जो भी जीव और अजीव के अनन्त प्रभेद हैं वे सब ही जीव के पुण्यागम के, पापागम के और पुण्य-पापागम के निरोध के कारण हैं तथा बन्ध और निर्जरा के हेतु भी हैं तथा मोक्षस्वभावरूप भी हैं। इन आस्रव आदि से भिन्न रत्नत्रय नहीं है, गति अन्तर का अभाव है। इस प्रकार रत्नत्रय आस्रव आदि से भिन्नता को प्राप्त नहीं होते अत: सात तत्त्वों में सर्व पदार्थों का संग्रह होता है इसमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोष को दूर ही फेंक दिया है। इसलिए जीवादि सात तत्त्वों का प्रतिपादक सूत्र निर्दोष है और आप्त के द्वारा कहा हुआ है।

नन्वेते जीवादयः शब्दब्रह्मणो विवर्ताः शब्दब्रह्मैव नाम तत्त्वं नान्यदिति केचित्। तेषां कल्पनारोपमात्रत्वात्। तस्य च स्थापनामात्रमेवेत्यन्ये, तेषां द्रव्यांतःप्रविष्टत्वात्। तद्व्यतिरेकेणासंभवात् द्रव्यमेवेत्येके। पर्यायमात्रव्यतिरेकेण सर्वस्याघटनाद्भाव एवेत्यपरे। तन्निराकरणाय लोकसमयव्यवहारेष्वप्रकृतापाकरणाय प्रकृतव्याकरणाय च संक्षेपतो निक्षेपप्रसिद्ध्यर्थमिदमाह;—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

न नाममात्रत्वेन स्थापनामात्रत्वेन द्रव्यमात्रत्वेन भावमात्रत्वेन वा संकरव्यतिरेकाभ्यां वा जीवादीनां निक्षेप इत्यर्थः॥ तत्र—

संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव निमित्तांतरमिष्टितः। नामानेकविधं लोकव्यवहाराय सूत्रितम्॥ १ ॥

न हि नाम्नोऽनभिधाने लोके तद्व्यवहारस्य प्रवृत्तिर्घटते येन तन्न सूत्र्यते। नापि तदेकविधमेव विशेषतोनेकविधत्वेन प्रतीतेः। किंचिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा डित्थ इति, किंचिदनेकजीवनाम यथा यूथ

शंकाकार कहता है कि जीवादि सात तत्त्व शब्द ब्रह्म की पर्यायें हैं, शब्द ब्रह्म का ही नाम तत्त्व है। शब्द ब्रह्म से अतिरिक्त स्थापना आदि कुछ भी नहीं हैं। कोई कहते हैं कि जीवत्व आदि कल्पना मात्र से आरोपित है। उसकी स्थापना मात्र की जाती है अतः स्थापना मात्र ही द्रव्य है। कोई कहते हैं कि नाम स्थापना आदि के द्रव्य के अन्तर्गत प्रविष्टत्व है अर्थात् वे द्रव्य के अन्तर्गत हो जाते हैं अतः द्रव्य को छोड़कर नाम स्थापना और भाव की संभावना न होने से द्रव्य मात्र ही जीवादि तत्त्व है। कोई कहते हैं - पर्याय से भिन्न नाम, स्थापना आदि सभी की असम्भवता होने से भाव मात्र ही पदार्थ है। इस प्रकार कथन करने वाले एकान्तवादियों का निराकरण करने के लिए तथा सम्पूर्ण लोकप्रसिद्ध व्यवहारों में आये हुए अप्रकरण को दूर करने के लिए और प्रकरण गत पदार्थ का व्युत्पादन करने के लिए **संक्षेप से निक्षेप की प्रसिद्धि के लिए सूत्र कहते हैं-**

नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप इन चारों से जीवादि पदार्थों का न्यास (प्रतिपादन) होता है॥५॥

केवल नाम मात्र से, स्थापना मात्र से, द्रव्यमात्र से और भाव मात्र से जीवादि पदार्थों का प्रतिपादन नहीं होता तथा संकर (एक दूसरे के गुण-पर्यायों से मिल जाना) और व्यतिरेक (अभाव वा एक दूसरे के विषय को ग्रहण करने) से जीवादि पदार्थों का प्रतिपादन नहीं होता अपितु चारों से ही भिन्न-भिन्न पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप में लोक व्यवहार होता है अतः यहाँ सर्वप्रथम नाम निक्षेप का लक्षण कहते हैं-

निमित्तान्तर की अपेक्षा न करके लोक व्यवहार के लिए अनेक प्रकार की संज्ञा करना नाम निक्षेप है। ऐसे नाम की प्रकृत सूत्र में विवक्षा की है या सूत्र में गूंथा है॥१॥

शंका : लोक में नाम निक्षेप का कथन नहीं करने पर भी नामों के व्यवहार की प्रवृत्ति घटित हो जाती है इसलिए नाम निक्षेप का सूत्र में कथन नहीं किया जावे। **समाधान :** ऐसा नहीं है, अर्थात् नाम

इति, किंचिदेकाजीवनाम यथा घट इति, किंचिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति। किंचिदेकजीवैकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति, किंचिदेकजीवानेकाजीवनाम यथा काहार इति, किंचिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मंदुरेति, किंचिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति प्रतिविषयमवांतरभेदाद्बहुधा भिद्यते संव्यवहाराय नाम लोके। तच्च निमित्तांतरमनपेक्ष्य संज्ञाकरणं वक्तुरिच्छातः प्रवर्तते॥

किं पुनर्नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तांतरं ? इत्याह;—

नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम्। तस्मादन्यत्तु जात्यादिनिमित्तांतरमिष्यते॥ २ ॥

जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते। जातिहेतुःस विज्ञेयो गौरश्व इति शब्दवत्॥ ३ ॥

का अभिधान किये बिना लोक में नाम व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतः नाम का कथन करना आवश्यक है। नाम एक प्रकार का नहीं है अपितु विशेषों की अपेक्षा नामों में अनेकविध प्रतीति होती है अर्थात् नाम अनेक प्रकार के भी हैं।

कहीं एक जीव नाम से प्रतीति होती है। जैसे किसी मानव का नाम रखा डित्थ, यह एक जीव नाम है। अनेक जीवनाम जैसे यूथ इसमें अनेक जीवों के समूह को यूथ कहा है इसलिए यह अनेक जीव नाम है कोई एक अजीव नाम से कहा जाता है जैसे घट, इस घट का वाच्यार्थ एक अजीव है। इसलिए यह एक अजीव नाम है। कोई अनेक अजीवों का वाचक एक नाम है, जैसे प्रासाद, महल, मकान; इसमें चूना आदि अनेक अजीव पदार्थ हैं। कोई नाम एक जीव और एक अजीव वाचक है, जैसे प्रतिहार (द्वारपाल) हाथ में दंड आदि एक अजीव और स्वयं मनुष्य जीव है।

कोई नाम एक जीव और अनेक अजीवों का वाचक होता है, जैसे कहार (कावड़ से पानी ढोने वाला) इसमें मानव जीव एक है और कावड़, पानी, रस्सी आदि अजीव अनेक हैं। कोई शब्द एक अजीव पदार्थ और अनेक जीव पदार्थ का वाचक है, जैसे मन्दुर (घुड़शाला) विद्यालय आदि, जिसमें घोड़े, विद्यार्थी आदि अनेक जीव हैं और घर एक अजीव है। कोई नाम अनेक जीव, अनेक अजीव का वाचक होता है जैसे नगर। नगर में जीव और अजीव दोनों हैं। इस प्रकार प्रत्येक वाच्य अर्थ के मध्यवर्ती भेद-प्रभेदों से बहुत प्रकार नाम संव्यवहार के लिए लोक में भेद रूप कहे जाते हैं। वह नाम निमित्तान्तरों की अपेक्षा बिना, मात्र वक्ता की इच्छा से प्रवृत्त होता है, उसको संज्ञाकरण कहते हैं वा नाम निक्षेप कहते हैं।

प्रश्न : नाम का निमित्त और निमित्तान्तर क्या है? **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं-वक्ता का अभिप्राय नाम का निमित्त कहा है और वक्ता के अभिप्राय से भिन्न जाति आदि निमित्तान्तर कहे जाते हैं॥२॥

जो शब्द जाति के द्वारा द्रव्यादि में व्यवहृत होता है वह जाति हेतु नाम जानना चाहिए गौ, घोड़ा आदि शब्द के समान अर्थात् गौ, अश्व आदि नाम अपनी जाति में ही उपयुक्त होते हैं। इन गौ आदि शब्दों के कहने से गौ आदि जातियों से युक्त पदार्थों का ग्रहण होता है॥३॥

जातावेव तु यत्संज्ञाकर्म तन्नाम मन्यते। तस्यामपरजात्यादिनिमित्तानामभावत:॥ ४ ॥

गुणे कर्मणि वा नाम संज्ञा कर्म तथेष्यते। गुणकर्मांतराभावाज्जातेरप्यनपेक्षणात्॥ ५ ॥

गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्तक:। शुक्ल: पाटल इत्यादिशब्दवत्संप्रतीयते॥ ६ ॥

कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते। चरति प्लवते यद्वत् कश्चिदित्यतिनिश्चितम्॥ ७ ॥

द्रव्यांतरमुखे तु स्यात्प्रवृत्तो द्रव्यहेतुक:। शब्दस्तद्द्विविधस्तज्ज्ञैर्निराकुलमुदाहृत:॥ ८ ॥

संयोगिद्रव्यशब्द: स्यात् कुंडलीत्यादिशब्दवत्। समवायिद्रव्यशब्दो विषाणीत्यादिरास्थित:॥ ९ ॥

कुंडलीत्यादय: शब्दा यदि संयोगहेतव:। विषाणीत्यादय: किं न समवायनिबंधना:॥ १० ॥

जाति में जो संज्ञा कर्म किया जाता है वह जाति नाम निक्षेप है क्योंकि इसमें दूसरी जाति, गुण आदि निमित्तान्तर का अभाव है॥४॥

गुण और क्रिया निमित्तक जो नाम होता है वह गुण निमित्तक और क्रिया निमित्तक नाम कहलाता है। इसमें गुणान्तर और क्रिया अन्तर का अभाव है तथा जाति की भी इसमें अपेक्षा नहीं है अर्थात् गुण शब्द में प्रवृत्ति का कारण गुण की अपेक्षा वक्ता का अभिप्राय है और क्रियावाची शब्दों में वक्ता का अभिप्राय क्रिया की अपेक्षा से है। अन्य गुण, क्रिया, जाति आदि की अपेक्षा नहीं है॥५॥ गुण क्रिया जाति आदि अखण्ड पिण्ड रूप द्रव्य में गुण की प्रधानता से जो शब्द प्रवृत्त होता है वह गुणनिमित्तक नाम कहलाता है शुक्ल, लाल रंग आदि शब्द के समान अर्थात् श्वेत रक्त आदि गुण निमित्तक नाम हैं क्योंकि श्वेत, लाल रंग आदि का उच्चारण करने पर उसी गुण वाली वस्तु के द्वारा व्यवहार की प्रवृत्ति होती है अत: गुण शब्द समीचीन व्यवहार में प्रतीत होता है॥६॥

जो शब्द द्रव्य में क्रिया की प्रधानता से कहा जाता है वह शब्द क्रियानिमित्तक कहा जाता है। जैसे प्लवते, उछलता है, कूदता है इसलिए बन्दर को प्लवंग कहते हैं। जो चरति (भक्षण करता) है वह भक्षक कहलाता है। इस प्रकार पाठक आदि नाम क्रिया निमित्तक हैं क्योंकि ये शब्द क्रिया की मुख्यता से किये जाते हैं। इस प्रकार इन नाम शब्दों से व्यवहार में पदार्थों का अधिक निश्चय किया जाता है॥७॥

दूसरे द्रव्यों की प्रधानता से व्यवहार में प्रवृत्त हुआ शब्द (नाम) द्रव्यहेतुक कहलाता है। उस द्रव्य शक्ति को जानने वाले विद्वानों ने निराकुल रूप से द्रव्यहेतुक नाम दो प्रकार का कहा है॥८॥ संयोगी द्रव्य और समवायी द्रव्य के भेद से द्रव्य हेतुक नाम भी दो प्रकार का है। जैसे कुण्डल के संयोग से मानव कुण्डली, दंड के संयोग से दण्डी आदि कहलाता है। ये नाम भिन्न-दूसरे द्रव्य के संयोग से कहे जाते हैं क्योंकि कुण्डली देवदत्त में भिन्न कुण्डल का संयोग है। विषाणी (सींग वाला) आदि कहना समवायी द्रव्य संयोगज नाम हैं क्योंकि विषाणी, सींग वाले से पृथक् नहीं है, जैसे ज्ञानी ज्ञान से भिन्न नहीं है। विषाणी, शाखी, ज्ञानी आदि शब्द समवायी द्रव्य संबंध से होने वाले नाम हैं। अवयव अवयवी, गुण गुणी, संबंध को समवाय संबंध कहते हैं जैसे कुण्डल आदि के संयोग से कुण्डली आदि शब्द संयोग हेतुक है उसी प्रकार विषाणी आदि शब्द समवाय निबन्धन क्यों नही होंगे, अवश्य होंगे॥९-१०॥

तथा सति न शब्दानां वाच्या जातिगुणक्रिया:। द्रव्यवत्समवायेन स्वसंबंधिषु वर्तनात्॥ ११॥

यथा जात्यादयो द्रव्ये समवायबलात् स्थिता:। शब्दानां विषयस्तद्वत् द्रव्यं तत्रास्तु किंचन॥ १२॥

संयोगबलतश्चैवं वर्तमानं तथेष्यताम्। द्रव्यमात्रे तु संज्ञानं नामेति स्फुटमीक्ष्यते॥ १३॥

तेन पंचतयी वृत्ति: शब्दानामुपवर्णिता। शास्त्रकारैर्न बाध्येत न्यायसामर्थ्यसंगता॥ १४॥

वक्तुर्विवक्षायामेव शब्दस्य प्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्ते: सैव निमित्तं न तु जातिद्रव्यगुणक्रियास्तदभावात्। स्वलक्षणेध्यक्षतस्तदनवभासनात्, अन्यथा सर्वस्य तावतीनां बुद्धीनां सकृदुदयप्रसंगात्। प्रत्यक्षपृष्ठभाविन्यां तु कल्पनायामवभासमाना जात्यादयो यदि शब्दस्य विषयास्तदा कल्पनैव तस्य विषय इति केचित्। तेप्यनालोचितवचना:। प्रतीतिसिद्धत्वाज्जात्यादीनां शब्दनिमित्तानां वक्तुरभिप्रायनिमित्तांतरतोपपत्ते:। सदृशपरिणामो हि जाति: पदार्थानां प्रत्यक्षत: प्रतीयते विसदृशपरिणामाख्यविशेषवत्। पिंडोयं गौरयं च

ऐसा होने पर अर्थात् शब्दों की भिन्न प्रवृत्ति होने पर समवाय से संबंधों में रहने वाले द्रव्य के समान जाति, गुण, क्रिया उन शब्दों के वाच्य नहीं है अर्थात् जैसे कुण्डल आदि के संयोग से कुण्डली आदि कहलाता है उस प्रकार गोत्व आदि जाति, मधुरत्व आदि गुण, पढ़ना आदि क्रिया भिन्न पदार्थ के संयोग से नहीं है॥११-१२॥ जैसे द्रव्य में जाति आदि नाम स्थित हैं समवाय तादात्म्य संबंध से वे शब्द का विषय होते हैं, उसी प्रकार द्रव्य भी द्रव्य में स्थित रहता है। जैसे वृक्ष द्रव्य अपनी शाखा द्रव्य से शाखी है ऐसा कहा जाता है, जैसे समवाय संबंध से विषाणी आदि नाम हैं। उसी द्रव्य संयोग संबंध से भी कुण्डली नाम का ज्ञान होता है अत: द्रव्य संयोग से भी द्रव्य में नाम स्थित है। ऐसा स्फुट जाना जाता है। ऐसा स्वीकार करना चाहिए॥१३॥ इस प्रकार शब्दों की प्रवृत्ति शास्त्रकारों के द्वारा जाति, गुण, क्रिया, संयोगी, द्रव्य, समवायी द्रव्य के भेद से पाँच प्रकार की कही गई है। यह विद्वान् जनों के द्वारा कथित पाँच प्रकार की नाम की प्रवृत्ति न्याय के सामर्थ्य से संगत होने से बाधित नहीं है। अर्थात् यह पाँच प्रकार के नामों की प्रवृत्ति न्यायसंगत है अत: किसी भी शास्त्रकार के द्वारा खण्डित नहीं होती। इस प्रकार **जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, शब्द की उत्पत्ति में निमित्तता है** ॥१४॥ वक्ता (बोलने वाले) की इच्छा होने पर जो शब्द की प्रवृत्ति होती है उसमें वक्ता की इच्छा ही निमित्त है किन्तु जाति, द्रव्य, गुण, क्रियायें उस शब्द के निमित्त नहीं हैं क्योंकि इन शब्दों को निमित्त मानकर शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती। अत: **नाम निक्षेप जाति निमित्तान्तरों से नहीं कहे जाते हैं क्योंकि वक्ता की इच्छा से कहे जाते हैं। शंका:** प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाने गये स्व क्षण में उन जाति, गुण आदि का प्रतिभास नहीं होता है। यदि प्रत्यक्ष में जाति का प्रतिभास स्वीकार कर लिया जायेगा तो सभी जीवों के जाति आदि सहित उतनी अनेक बुद्धियों (ज्ञानों) का एक समय में उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जाति, द्रव्य आदि का उल्लेख नहीं होता क्योंकि जाति को जानने वाला ज्ञान भिन्न है और द्रव्य को जानने वाला भिन्न। यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे मिथ्या वासनाओं के अधीन होने वाली कल्पना (मिथ्याज्ञान) में प्रतिभासित होने वाले जाति शब्द के विषय होते हैं परन्तु उस समय वे शब्द कल्पना ही हैं वास्तविक नहीं हैं, ऐसा कोई (बौद्ध अनुयायी) कहते हैं। **समाधान** स्वरूप आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले वे अनालोचित वचन वाले (बिना विचारे कथन करने वाले) हैं।

गौरिति प्रत्ययात् खंडोयं मुंडोयमितिप्रत्ययवत्। भ्रांतोयं सादृश्यप्रत्ययः इति चेत् विसदृशप्रत्ययः कथमभ्रांतः? सोपि भ्रान्त एव स्वलक्षणप्रत्ययस्यैवाभ्रान्तत्वात् तस्य स्पष्टाभत्वादविसंवादकत्वाच्चेति चेत्, नाक्षजस्य सादृश्यादिप्रत्ययस्य स्पष्टाभत्वाविशेषादभ्रांतत्वस्य निराकर्तुमशक्तेः। सादृश्यवैसदृश्यव्यतिरेकेण स्वलक्षणस्य जातुचिदप्रतिभासनात्। सदृशेतरपरिणामात्मकस्यैव सर्वदोपलंभात्। सर्वतो व्यावृत्तानंशक्षणिकस्वलक्षणस्य प्रत्ययविषयतया निराकरिष्यमाणत्वात्। सविकल्पप्रत्यक्षे सदृशपरिणामस्य स्पष्टमवभासनात् सर्वथा बाधकाभावात्। वृत्तिविकल्पादिदूषणस्यात्रानवतारात्। न हि सदृशपरिणामो विशेषेभ्योत्यंतं भिन्नो नाप्यभिन्नो

क्योंकि प्रतीति सिद्ध होने से जाति आदि शब्द निमित्तों की उत्पत्ति वक्ता का अभिप्राय और जाति आदि निमित्तान्तरों की अपेक्षा रखता है। तथा विसदृश परिणाम नामक विशेष के समान पदार्थों की सदृश परिणाम रूप जाति प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है, जैसे गौ भैंस आदि विशेष का ज्ञान होता है वा यह खण्ड है यह मुण्ड है, इत्यादि विसदृश का ज्ञान होता है वैसे यह पिण्ड है, यह गाय है, इस प्रकार सदृश परिणाम का भी ज्ञान होता है।

यदि कहो कि यह सदृश प्रत्यय (ज्ञान) भ्रान्त है, कल्पना है तो विसदृश प्रत्यय (विसदृशका ज्ञान) अभ्रान्त कैसे हो सकता है। यदि कहो कि विसदृश प्रत्यय भी भ्रान्त है, स्पष्ट होने से और अविसंवादकत्व होने से स्वलक्षण प्रत्यय (निर्विकल्प ज्ञान) के ही अभ्रान्तपना है, प्रमाणपना है अर्थात् सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम कल्पित होने से भ्रान्त हैं और स्वलक्षण प्रत्यक्ष अविसंवादी होने से प्रमाणभूत है, तो स्पष्टत्व की अविशेषता होने से इन्द्रियजन्य सदृश विसदृश प्रत्यय (ज्ञान) के अभ्रान्तत्व का निराकरण करना अशक्य होगा अर्थात् जैसे स्वलक्षण प्रत्यक्ष स्पष्ट होने से प्रमाणभूत है उसी प्रकार सदृश (सामान्य) विसदृश (विशेष) पदार्थ का भी इन्द्रियजन्य ज्ञान में स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है अतः यह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में भी प्रमाणभूत होगा क्योंकि इन दोनों स्वलक्षण प्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में कोई विशेषता नहीं है तथा सामान्य और विशेष से रहित स्वलक्षण का कभी भी प्रतिभास (ज्ञान) नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य विशेषात्मक वस्तु की सर्वदा उपलब्धि होती है। सर्व धर्मों (सामान्य विशेष धर्मों) से पृथक्भूत निरंश क्षणिक (अंशों से सर्वथा रहित क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला) स्वलक्षण के ज्ञान की विषयता का आगे निराकरण (खण्डन) करेंगे क्योंकि निरंश स्वलक्षण किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य विशेष से रहित कोई वस्तु ही नहीं है, फिर ज्ञान किसका होगा।

सर्व प्रकार से बाधक प्रमाण का अभाव होने से सविकल्प प्रत्यक्ष में सदृश (सामान्य) परिणाम का स्पष्ट रूप से अवभास (प्रकाश) होता है अतः इसमें वृत्ति संबंध के विकल्प आदि दोषों का अवतार नहीं है क्योंकि विशेष व्यक्तियों (पर्यायों) से सदृश परिणाम (सामान्य द्रव्य) न तो अत्यन्त (सर्वथा) भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है जिससे भेद वा अभेद एकान्त का दोष आ सकता हो अर्थात् पर्याय से पर्यायी सर्वथा भिन्न वा अभिन्न नहीं है अपितु कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है अतः एकान्त में दिए गए भेद और अभेद के दोष स्याद्वाद में नहीं आ सकते (कथञ्चित् भेद और अभेद को ही कथंचित् तादात्म्य कहते हैं।) उन विशेष व्यक्तियों में उस सादृश्य स्वरूप (सामान्य) जाति की वृत्ति (सम्बन्ध) कथञ्चित्

येन भेदाभेदैकांतदोषोपपात: । कथंचिद्भेदाभेदात्। न च तेषु तस्य कथंचित्तादात्म्यादन्या वृत्तिरेकदेशेन सर्वात्मना वा यत: सावयवत्वं सादृश्यपरिणामस्य व्यक्त्यंतरा वृत्तिर्वा स्यात्। न चास्य सर्वगतत्वं येन कर्कादिषु गोत्वादिप्रत्ययसांकर्यं, नापि स्वव्यक्तिषु सर्वास्वेक एव येनोत्पित्सुव्यक्तौ पूर्वाधारस्य त्यागेनागमने तस्य नि:सामान्यत्वं तदत्यागेनागतौ सावयवत्वं प्रागेव तद्देशेस्तित्वे स्वप्नप्रत्ययहेतुत्वं प्रसज्यते, विसदृशपरिणामेनेव सदृशपरिणामेनाक्रांताया एवोत्पित्सुव्यक्ते: स्वकारणादुत्पत्ते:। कथमेवं नित्या जातिरुत्पत्तिमद्व्यक्तिव्यदिति चेत्, द्रव्यार्थदेशादिति ब्रूम:। व्यक्तिरपि तथा नित्या स्यादिति चेत् न किंचिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादेव विशेषपर्यायस्य सामान्यपर्यायस्य वा नित्यत्वोपगमात्।

तादात्म्य सम्बन्ध से भिन्न नहीं है क्योंकि यदि सादृश्य परिणाम की एकदेश कर के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में वृत्ति संबंध माना जायेगा तो सादृश्य परिणाम के सावयवत्व का प्रसंग आयेगा अर्थात् सामान्य कुछ एक गाय में रहेगा कुछ दूसरी गाय में। अथवा सर्वात्म रूप से सामान्य का विशेष के साथ संबंध मानेंगे तो व्यक्ति अन्तर में वृत्ति नहीं होगी अर्थात् एक ही द्रव्य में सामान्य की वृत्ति होगी परन्तु जैनधर्म में यद्यपि संग्रहनय की अपेक्षा अनेक सदृश परिणामों को एक भी कह सकते हैं और व्यवहार नय की अपेक्षा भेद भी कह सकते हैं, अत: कोई दोष नहीं आ सकता।

जैन इस सदृश परिणाम को सर्वगत (सर्वव्यापक) नहीं मानते हैं अत: इनके कर्कादि घोड़ा आदि में गोत्व आदि प्रत्यय (ज्ञानों) का सांकर्य (एकता) नहीं हो सकता। (सर्व विशेषों में अपना-अपना सामान्य रहता है) और न सभी गौ व्यक्तियों में एक सामान्य मानते हैं। जिससे उत्पन्न होने वाली एक व्यक्ति में पूर्व आधार छोड़कर उस गोत्व का आगमन माना जावेगा तो उस पहली गौ व्यक्ति को सामान्य से रहितपने का प्रसंग आयेगा। यदि पूर्व आधार को न छोड़कर वह गोत्व नवीन उत्पन्न हुई गौ में आ जावेगा तब तो गोत्व के सावयव का प्रसंग आयेगा।

(कुछ अंशों में गोत्व पहले के आधार में रहेगा और कतिपय अंश अन्य स्थल उत्पन्न नवीन गौ में रहेंगे अत: सावयवत्व होगा।) तथा नवीन गौ के उत्पन्न होने वाले उस प्रदेश में पहले से ही गोत्व का अस्तित्व माना जायेगा तो वह स्वप्न ज्ञान के समान (निराधारत्व) हेतुत्व का प्रसंग आयेगा अत: अपने कारणों से उत्पन्न होने वाली उत्पत्तिमत् पर्यायें जैसे विसदृश (विशेष) परिणाम से उत्पन्न होती है वैसे ही सदृश परिणाम से भी आक्रान्त होकर उत्पन्न होती है। अर्थात् सामान्य विशेषात्मक धर्मों से युक्त ही व्यक्ति (पर्यायें) अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न : इस प्रकार अपने कारणों से उत्पन्न होने वाली तथा व्यक्ति (पर्याय) के समान होने वाली भी जाति नित्य कैसे है? **उत्तर :** द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा हम जाति को नित्य कहते हैं। **प्रश्न :** तो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पर्याय को भी जाति के समान नित्य मानना चाहिए?

उत्तर : द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा व्यक्ति को नित्य मानना स्याद्वादियों को किंचिदपि अनिष्ट नहीं है क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा विशेष पर्याय और सामान्य पर्याय दोनों को ही अनित्य स्वीकार किया है अर्थात् **द्रव्य दृष्टि से सर्व पदार्थ नित्य हैं, पर्याय दृष्टि से नहीं। अथवा कथञ्चित् पर्याय भी नित्य है क्योंकि पर्याय को कथञ्चित् नित्य नहीं मानने पर सिद्ध अनन्तकाल तक नहीं रह सकते तथा मेरु, स्वर्ग विमान, हिमवन् आदि पर्वत नित्य नहीं हो सकते।**

नोत्पत्तिमंत्सामान्यमुत्पित्सुव्यक्तेः पूर्वं व्यक्त्यंतरे तत्प्रत्ययादिति चेत्। तत एव विशेषोप्युत्पत्तिमान्मा भूत्। पूर्वो विशेषः स्वप्रत्ययहेतुरन्य एवोत्पित्सुविशेषादिति चेत्, पूर्वव्यक्तिसामान्यमप्यन्यदस्तु। तर्हि सामान्यं समानप्रत्ययविषयो न स्यात् व्यक्त्यात्मकत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवदिति चेत् न, सदृशपरिणामस्य व्यक्तेः कथंचिद्भेदप्रतीतेः। प्रथममेकव्यक्तावपि सदृशपरिणामः समानप्रत्ययविषयः स्यादिति चेत् न, अनेकव्यक्तिगतस्यैवानेकस्य सदृशपरिणामस्य समानप्रत्ययविषयतया प्रतीतेः विशेषप्रत्ययविषयतया वैसदृशपरिणामवत्। ननु च प्रतिव्यक्तिभिन्नो यदि सदृशपरिणामः परं सदृशपरिणाममपेक्ष्य समानप्रत्ययविषयस्तदा व्यक्तिरेव परां व्यक्तिमपेक्ष्य तथास्तु विशेषाभावादलं सदृशपरिणामकल्पनयेति चेत्

सामान्य उत्पत्तिमान् नहीं है क्योंकि उत्पत्तिमान् व्यक्ति के पूर्व व्यक्ति अन्तर में सामान्य का ज्ञान होता है ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि तब तो सामान्य के समान विशेष भी उत्पत्तिमान् नहीं होगा क्योंकि विशेष की भी उत्पत्ति से पूर्व पर्याय में प्रतीति होती है। यदि कहो कि उत्पन्न होने वाले विशेष से अन्य (भिन्न) पूर्व वाला विशेष अपने प्रत्यय (ज्ञान) का हेतु होता है (क्योंकि विशेष अनेक हैं) तो उत्पन्न होने वाले सामान्य से पूर्व व्यक्तियों (पर्यायों) का सामान्य भी भिन्न होगा। (उसको भी भिन्न मानना चाहिए) क्योंकि सामान्य भी अनेक् हैं।

प्रश्न : यदि सामान्य को अनेक मानोगे तो वह इसके समान है, यह इसके समान है, इस प्रकार सामान्य ज्ञान का विषय सामान्य पदार्थ नहीं होगा। व्यक्ति के स्वात्म के समान व्यक्त्यात्मक होने से। अर्थात् जैसे पर्याय का अपना व्यक्ति स्वरूप आत्मा सर्वथा एक व्यक्तिरूप होने से अन्वय रूप सामान्य ज्ञान का विषय नहीं है वैसेही व्यक्तिरूप सामान्य भी अन्वय ज्ञान का विषय नहीं होगा। **उत्तर :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि सदृश परिणाम का व्यक्ति से कथंचित् भेद प्रतीत होता है अर्थात् **व्यक्ति (सामान्य) और सदृश रूप पर्याय में सर्वथा अभेद नहीं है कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है।**

शंका : व्यक्ति को जाति मान लेने पर एक व्यक्ति में पूर्व में ही सदृश परिणाम रूप जाति समान ज्ञान का विषय हो जायेगा अर्थात् केवल एक व्यक्ति को देख लेने पर 'यह समान है', ऐसा ज्ञान हो जायेगा। क्योंकि जैन मतानुसार एक व्यक्ति में पूरा सदृश परिणाम रूप सामान्य पहले से ही विद्यमान है? **उत्तर :** ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि विशेष रूप से ज्ञान का विषय होने वाले विसदृश परिणाम के समान अनेक व्यक्तिगत अनेक सदृश परिणामों के समान ज्ञान के विषय की प्रतीति होती है अर्थात् जैसे नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत विसदृश परिणाम एक व्यक्ति में रहकर भी 'यह इस से विलक्षण' इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से विशेष ज्ञान का विषय होता है वैसे ही अनेक व्यक्तिगत निज-निज संबंध को प्राप्त अनेक सदृश परिणाम भी 'यह इसके समान है।' इस रूप से भिन्न-भिन्न सदृशों की प्रतीति होती है। जैसे विशेष पृथक् -पृथक् पाये जाते हैं, वैसे सदृशता भी पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है।

शंका : यदि सदृश परिणाम प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है तथा केवल सदृश परिणाम की अपेक्षा करके ही समान ज्ञान का विषय होता है तब तो व्यक्ति रूप ही हुआ और वह केवल व्यक्ति की अपेक्षा

न, विसदृशव्यक्तेरपि व्यक्त्यंतरापेक्षया समानप्रत्ययविषयत्वप्रसंगात्। तथा च दधिकरभादयोपि समाना इति प्रतीयेरन्। ननु चैकस्यां गोव्यक्तौ गोत्वं सदृशपरिणामो गोव्यक्त्यंतरसदृशपरिणाममपेक्ष्य यथा समानप्रत्ययविषयस्तथा सत्त्वादिसदृशपरिणामं कर्कादिव्यक्तिगतमपेक्ष्य स तथास्तु भेदाविशेषात्तदविशेषेपि शक्तिः तादृशी तस्य तया किंचिदेव सदृशपरिणामं सन्निधाय तथा न सर्वमिति नियमकल्पनायां दधिव्यक्तिरपि दधिव्यक्त्यंतरापेक्ष्य दधित्वप्रत्ययतामियर्तु तादृशशक्तिसंधानात्करभादीनपेक्ष्य मास्मेय इति चेत् सा तर्हि शक्तिर्व्यक्तीनां कासांचिदेव समानप्रत्ययत्वहेतुर्यद्येका तदा जातिरेवैकसादृश्यवत्। तदुक्तं जातिवादिना। "अभेदरूपं सादृश्यमात्मभूताश्च शक्तयः। जातिपर्यायशब्दत्वमेषामभ्युपवर्ण्यते" इति। अथ शक्तिरपि तासां

करके ही अन्वय ज्ञान का विषय हो जायेगा क्योंकि सामान्य और विशेष में विशेषता का अभाव है अत: सदृश परिणामों की कल्पना करने से कोई प्रयोजन नहीं है। **उत्तर :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यदि व्यक्ति से भिन्न एक सदृश परिणाम की कल्पना नहीं की जायेगी तो विसदृश व्यक्ति के भी अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा से समान ज्ञान के विषयत्व का प्रसंग आयेगा और विसदृश व्यक्ति से समान ज्ञान हो जाने पर दही और ऊँट के बच्चे आदि में भी समानता हो जाएगी क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति समान हैं। परन्तु दही और ऊँट के बच्चे में समानता का ज्ञान नहीं होता अत: अनुमान ज्ञान से निश्चय होता है, व्यक्ति से कथञ्चित् भिन्न सदृश परिणाम ही समान ज्ञान का विषय है। इसीलिए ऊँट में ऊँटों के समान परिणाम है और दधि में अन्य दधि व्यक्तियों के समान परिणाम हैं, वह ऊँट से विलक्षण है।

शंका : एक विशेष गोव्यक्ति में सदृश परिणाम रूप गोत्व यदि अन्य गो व्यक्तियों के सदृश परिणाम रूप गोत्व की अपेक्षा करके जैसे समान ज्ञान का विषय है वैसे ही कर्क, श्वेत घोड़ा आदि व्यक्तिगत सत्त्व या अस्तिपना आदि सदृश परिणामों की अपेक्षा करके (अपेक्षा से) वह सदृश परिणाम ही समान ज्ञान का विषय हो जायेगा (क्योंकि इनमें भेद की अविशेषता है (अर्थात् जैसा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि धर्मों की अपेक्षा से घोड़ा, भैंसा आदि में सदृशता होने से समानपने का ज्ञान होता है वैसे अनेक गोव्यक्तियों के सदृश घोड़ा आदि में भी समानपने का ज्ञान होना चाहिए क्योंकि सदृशपने में और व्यक्तिपने में कोई अन्तर नहीं है) यदि सदृश और व्यक्ति में विशेषता न होने पर भी उस सदृश परिणाम की वैसी एक शक्ति है ,जिस शक्ति से किसी सदृश परिणाम का सन्निधान करके उस प्रकार का समान ज्ञान होता है, सर्व सदृश परिणामों की अपेक्षा करके समान ज्ञान नहीं होता है; इस प्रकार नियम की कल्पना करने पर तो दधि रूप व्यक्ति भी अन्य दधि (दही) रूप अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा करके दधित्व ज्ञान के विषयत्व को प्राप्त हो जायेगी (क्योंकि इस प्रकार की शक्ति का सन्धान (मेल) दधि व्यक्तियों में ही है ऊँट आदि में नहीं) अत:इस प्रकार की शक्ति के सन्धान से ऊँट आदि की अपेक्षा करके दही के समान ज्ञान की विषयता नहीं है। इस प्रकार की **शंका** करने पर आचार्य **समाधान** करते हैं कि किन्हीं व्यक्तियों का समान ज्ञान कराने में कारणभूत शक्ति यदि एक है तो वह शक्ति ही एक सादृश्य के समान जाति है अर्थात् नित्य और एक होकर अनेक में रहने वाली वस्तु ही जाति है जैसे वैशेषिकों ने अनेक में रहने वाले एक सादृश्य को जाति माना है। सो ही जाति वादियों ने कहा है कि अनेक व्यक्तियों में रहने वाला अभेद रूप एक सादृश्य और पदार्थ की आत्मभूत शक्तियाँ हैं

भिन्ना सैव सदृशपरिणाम इति नाममात्रं भिद्यते कथं नियतव्यक्त्याश्रया: केचिदेव सदृशपरिणामा: समानप्रत्ययविषया इति चेत् , शक्तय: कथं काश्चिदेव नियतव्यक्त्याश्रया: समानप्रत्ययविषयत्वहेतव:? इति सम: पर्यनुयोग:। शक्तय:स्वात्मभूता एव व्यक्तीनां स्वकारणात्तथोपजाता इति चेत् सदृशपरिणामास्तथैव संतु। ननु च यथा व्यक्तय: समाना एता इति प्रत्ययस्तत्समानपरिणामविषयस्तथा समानपरिणामा एते इति तत्र समानप्रत्ययोपि तदपरसमानपरिणामहेतुरस्तु। तथा चानवस्थानं । यदि पुन: समानपरिणामेषु स्वसमानपरिणामाभावेपि समानप्रत्ययस्तदा खंडादिव्यक्तिषु किं समानपरिणामकल्पनया। नित्यैकव्यापिसामान्यवत्तदनुपपत्तेरिति चेत् कथमिदानीमर्थानां विसदृशपरिणामा विशेषप्रत्ययविषया:?

उनको ही जाति पर्यायवाची शब्द से स्वीकार किया है अर्थात् अभेद रूप सादृश्य और आत्मभूत शक्तियों को ही जाति कहते हैं। यदि कहो कि व्यक्तियों की शक्ति पृथक्-पृथक् है (एक नित्य जाति रूप नहीं है) तो हम उस सदृश परिणाम रूप शक्ति को ही जाति कहते हैं अत: सदृश परिणाम रूप शक्ति और जाति में नामभेद है, अर्थभेद नहीं है।

शंका : नियमित विशेष व्यक्ति के आश्रयभूत कोई भी सदृश परिणाम समान ज्ञान के विषय कैसे हो सकते हैं ? **उत्तर :** तो नियमित व्यक्तियों के आश्रय में रहने वाली कोई शक्तियाँ समान ज्ञान का विषय कैसे हो सकती हैं ? इस प्रकार तुम्हारा और हमारा प्रश्न समान ही है (अर्थात् जैसा नियत व्यक्ति के आश्रय में रहने वाली शक्तियों का समान ज्ञान होता है वैसे नियत व्यक्ति विशेष में रहने वाले सदृश परिणाम भी समान ज्ञान के विषय होते हैं।)

यदि कहो कि व्यक्तियों (विशेष) की स्वभावभूत ही शक्तियाँ हैं अर्थात् शक्ति व्यक्ति का निजस्वभाव है इसलिए वे अपने कारण से उत्पन्न होती हैं और समान ज्ञान का विषय होती हैं तो हम भी कह सकते हैं कि सदृश परिणाम भी अपने कारणों से उत्पन्न होकर समान ज्ञान का विषय होते हैं क्योंकि ये दोनों समान हैं अत: जिन कारणों से गौ उत्पन्न होती है उन्हीं कारणों से गौ के सदृश परिणाम भी उत्पन्न होते हैं। वे गौ में समान ज्ञान कराने में कारण हैं, विसदृश व्यक्तियों में नहीं।

शंका : जैसे ये व्यक्तियाँ (गौ आदि पर्यायें) समान हैं इस प्रकार का ज्ञान उस समान परिणति का विषय करने वाला है, उसी प्रकार अनेक गौओं में रहने वाले ये समान परिणाम हैं। उन समान परिणामों में होने वाला समान ज्ञान भी उस समान ज्ञान से भिन्न समान परिणामों का कारण है तो अनवस्था दोष आयेगा और उस अनवस्था दोष को दूर करने के लिए यदि समान परिणामों में अपने समान परिणामों के बिना भी समान ज्ञान हो जाता है, ऐसा माना जाता है तो खण्ड, मुण्ड, शावलेय आदि व्यक्ति (गोव्यक्तियों)में सदृशरूप समान परिणाम की कल्पना से क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं, ऐसी दशा में जैसे नित्य, एक और व्यापक (अनेक व्यक्ति में रहने वाला) सामान्य पदार्थ नहीं बनता, उसी प्रकार जैनमत में कथित सदृश परिणाम भी सिद्ध नहीं होता। **समाधान :** यदि सदृश परिणाम सिद्ध नहीं होते हैं तो इस समय या इस विचार में पदार्थों के विसदृश परिणाम ज्ञान के हेतु रूप विशेष कैसे सिद्ध हो सकेंगे। यदि कहो कि अपने

स्वविसदृशपरिणामांतरेभ्य इति चेदनवस्थानं। स्वत एवेति चेत्सर्वत्र विसदृशपरिकल्पनानर्थक्यं। स्वकारणादुपजाताः सर्वेर्था विसदृशप्रत्ययविषयाः स्वभावत एवेति चेत् , समानप्रत्ययविषयास्ते स्वभावतः स्वकारणादुपजायमानाः किं नानुमन्यंते तथा प्रतीत्यपलापे फलाभावात्। केवलं स्वस्वभावो विशेषप्रत्ययविषयोर्थानां विसदृशपरिणामः,समानप्रत्ययविषयः सदृशपरिणाम इति व्यपदिश्यते न पुनरव्यपदेश्यः। सामर्थ्यं वा तत्तादृशमिति पर्यंते व्यवस्थापयितुं युक्तं, ततो लोकयात्रायाः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

विसदृश परिणामान्तर से, दूसरे परिणामों से विशेषा की सिद्धि होती है तो इसमें अनवस्था दोष आता है अर्थात् जैसे विशेष ज्ञान के लिए विसदृश परिणामों की आवश्यकता है उसी प्रकार विसदृश परिणामों को भी परस्पर विशेषता लाने के लिए अपने से अतिरिक्त दूसरे विसदृश परिणामों की अपेक्षा होगी और उन विसदृश परिणामों में भी अन्य तीसरे विसदृश परिणामों से ही विशेषता हो सकेगी। इस प्रकार अनवस्था विसदृश परिणामों में भी आयेगी अर्थात् जैसे सदृश परिणामोंको मानने में अनवस्था कहते हो तो उसी प्रकार विसदृश परिणामों में भी अनवस्था दोष आता है। अतः विसदृश परिणामों की कल्पना करना व्यर्थ है।

यदि कहो कि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न हुए सर्व पदार्थ स्वभाव से ही विसदृश ज्ञान के विषय होते हैं तो अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होने वाले सर्व (गौ घट आदि) पदार्थ भी स्वभाव से समान ज्ञान का विषय होते हैं, ऐसा क्यों नहीं मानते हो (क्योंकि जैसे विसदृश की प्रतीति होती है वैसी सदृश की प्रतीति भी होती है) अतः प्रसिद्ध प्रतीति का अपलाप करने में फल का अभाव है, कोई लाभ नहीं है। समान और विशेष दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं, केवल वस्तु का अपना स्वभाव जो विशेष ज्ञान का विषय होता है वह अंश विसदृश परिणाम है और जो तादात्म्य निज स्वभाव पदार्थों के समान ज्ञान के गोचर होता है, वह अंश सदृश परिणाम है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु वस्तु का स्वभाव सर्वथा अवाच्य नहीं है अर्थात् जैसे बौद्ध लोग विशेष पदार्थ को अवाच्य मानते हैं वैसा सामान्य पदार्थ (गुण) और विशेष पदार्थ अवाच्य नहीं है। किसी प्रकार भी जब सामान्य के बिना विशेष सिद्ध नहीं होता तब अन्त में मीमांसक कहते हैं कि इस प्रकार का सामर्थ्य है जो सदृश का ज्ञान करा देता है परन्तु वह सामर्थ्य भी समान (सदृश) की व्यवस्था करने में युक्त नहीं है क्योंकि इससे लोकयात्रा (व्यवहार) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अर्थात् सादृश्य को वास्तविक और वाच्य स्वीकार किए बिना पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता।

नैयायिक लोग जाति आकृति और व्यक्ति इन तीनों को पद का वाच्य अर्थ मानते हैं अतः गौ शब्द से गोत्व जाति तथा गौ का आकार और गोव्यक्ति कही जाती है। केवल आकृति को ही पद का वाच्य अर्थ मानने वाले कहते हैं कि अन्वय सहित सदृश ज्ञान का विषय रचना (आकृति) विशेष है। जैनाचार्य कहते हैं कि यदि सदृश ज्ञान का विषय रचना विशेष है तो वह कतिपय कुछ परिमित व्यक्तियों में ही क्यों है, अन्य व्यक्तियों में क्यों नहीं है अर्थात् गौ का आकार गौ में ही क्यों है, ऊँट आदि में क्यों नहीं है ? यदि कहो कि स्वकारण के वश वह विशेष रचना परिमित व्यक्तियों में है, अन्य व्यक्तियों में नहीं है तो हम पूछते

संनिवेशविशेषस्तत्प्रत्ययविषयो व्यपदिश्यत इति चेत् , स कथं परिमितास्वेव व्यक्तिषु न पुनरन्यासु स्यात्। स्वहेतुवशादिति चेत् स एव हेतुस्तत्प्रत्ययविषयोस्तु किं संनिवेशेन, सोपि हेतुः कुतः परिमितास्वेव व्यक्तिषु स्यादिति समानः पर्यनुयोगः । स्वहेतोरिति चेत् सोपि कुत इत्यनिष्टानां। पर्यंते नित्यो हेतुरुपेयते अनवस्थानपरिहरणसमर्थ इति चेत् प्रथमत एव सोभ्युपेयतां संनिवेशविशेषप्रसवाय। सोपि कुतः परिमितास्वेव व्यक्तिषु संनिवेशविशेषं प्रसूते न पुनरन्यास्विति वाच्यं। स्वभावात्तादृशात्सामर्थ्याद्वा व्यपदेश्यादिति चेत् तर्हि तेन वाग्गोचरातीतेन स्वभावेन सामर्थ्येन वा वचनमार्गावतारिवस्तुनिबंधना लोकयात्रा प्रवर्तत इति। समभ्यधायि भर्तृहरिणा। *''स्वभावो व्यपदेश्यो वा सामर्थ्यं वावतिष्ठते। सर्वस्यांते यतस्तस्माद्व्यवहारो न कल्पते''* इति। तस्माद्वाग्गोचरवस्तुनिबन्धनं लोकव्यवहारमनुरुध्यमानैर्व्यपदेश्यैवजातिःसदृशपरिणामलक्षणा स्फुटमेषितव्या।

है कि वह अपना हेतु ही सदृश ज्ञान का विषय होगा, सन्निवेश (आकार) के मानने का क्या प्रयोजन है अर्थात् स्वहेतु ही सदृश को जानता है ऐसा कहना चाहिए, सन्निवेश को कारण मानना व्यर्थ है। तथा इसमें भी जिज्ञासा बनी रहती है कि रचना विशेष का कारण वह स्वहेतु भी परिमित व्यक्तियों में क्यों रहता है, अन्य व्यक्तियों में क्यों नहीं। उस हेतु के लिए भी यदि दूसरा स्वहेतु मानेंगे तो अनवस्था दोष आयेगा, वह अनिष्ट है।

अन्त में यदि अनवस्था दोष को दूर करने में समर्थ नित्य हेतु को स्वीकार करते हैं तो रचना विशेष की उत्पत्ति के लिए प्रथम ही नित्य हेतु को स्वीकार करना चाहिए। यदि नित्य हेतु को रचना विशेष का कारण मान भी लिया जाये तो वह नित्य हेतु कुछ व्यक्तियों में ही रचना विशेष को क्यों उत्पन्न करता है, अन्य व्यक्तियों में क्यों नहीं करता है, इसका हेतु कहना चाहिए।

यदि कहते हैं कि नित्य हेतु का ऐसा स्वभाव वा वचनातीत सामर्थ्य है जिससे वह परिमित व्यक्तियों में ही विशेष रचना का निर्माण करता है तब तो उस वचनातीत स्वभाव से वा इस प्रकार के सामर्थ्य (शक्ति विशेष) से वचन मार्ग में अवतरित (वचन का विषयभूत) वस्तु को कारण मान कर वचन व्यवहार संबंधी लोकयात्रा प्रवृत्त होती है। भर्तृहरि ने भी कहा है कि सब के अन्त में जाकर पदार्थों का वचनातीत स्वभाव वा वस्तु की विशेष शक्ति ही कार्य के हेतुपने से व्यवस्थित है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति में वस्तु का स्वभाव ही हेतु है, कारण है, अन्य नहीं; ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि निर्विकल्प स्वभाव से लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता अर्थात् यद्यपि वस्तु निर्विकल्प है फिर भी लोकयात्रा के अनुरोध से वस्तु के कतिपय अंश शब्द के द्वारा वाच्य होते हैं अतः वचन के गोचर वस्तु को कारण मानकर उत्पन्न हुए लोक व्यवहार के अनुकूल चलने वाले पुरुषों के द्वारा सदृश परिणाम लक्षण जाति को स्वीकार करना चाहिए।

उस जाति से साधने योग्य कार्य का और उसके अधिकरण के द्वारा सिद्ध करना शक्य नहीं है जैसे पुरुष में 'दण्डी' ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है। क्योंकि दण्ड के सम्बन्ध से साध्य दण्ड वाला यह कार्य केवल दण्ड के अधिकरणभूत पुरुषमात्र से सिद्ध होना शक्य नहीं है।

तत्साध्यस्य कार्यस्य तदधिकरणेन साधयितुमशक्तेः। पुरुषे दंडीतिप्रत्ययवद्दंडसंबंधेन साध्यस्य तदधिकरणेन पुरुषमात्रेण वा साधयितुमशक्यत्वात्। दंडोपादित्सया दंडीतिप्रत्ययः साध्यते इति चायुक्तं, ततो दंडोपादित्सावानिति प्रत्ययस्य प्रसूतेः। अन्यथा स्यापीच्छाकारणैः संस्तवोपकारगुणदर्शनादिभिः साध्यत्वप्रसंगात्। ततः सर्वस्य स्वानुरूपप्रत्ययविषयत्वं वस्तुनोभिप्रेयता समानपरिणामस्यैव समानप्रत्ययविषयत्वमभिप्रेतव्यं। एकत्वस्वभावस्य सामान्यस्यैकत्वप्रत्ययविषयत्वप्रसंगात्। स एवायं गौरित्येकत्वप्रत्यय एवेति चेत् न, तस्योपचरितत्वात्। स इव स इति तत्समाने तदेकत्वोपचारात् स गौरयमपि गौरिति समानप्रत्ययस्य सकलजनसाक्षिकस्यास्खलद्रूपतयानुपचरितत्वसिद्धेः। कश्चिदाह। दंडीत्यादिप्रत्ययः परिच्छिद्यमानदंडसंबंधादिविषयतया नार्थांतरविषयः कल्पयितुं शक्यः समानप्रत्ययस्तु परिच्छिद्यमानव्यक्तिविषयत्वाभावादर्थांतरविषयस्तच्चार्थांतरं सामान्यं प्रत्यक्षतः परिच्छेद्यमन्यथा तस्य

दण्ड वाला ऐसा ज्ञान तो दण्ड के ग्रहण करने की इच्छा से भी सिद्ध हो सकता है ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि दण्ड के ग्रहण करने की इच्छा से 'दण्ड ग्रहण की इच्छा वाला है' उस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति होती है, 'दण्डवान है' इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता है। अन्यथा (यदि दण्ड के संयोग से दण्डवाला न कहकर दण्ड के ग्रहण करने की इच्छा से दण्ड वाला कहेंगे तो) 'दण्ड ग्रहण की इच्छा वाला है' इस ज्ञान को भी इच्छा के कारण माने गए स्तुति करना, उपकार दिखाना, गुणदर्शन कराना आदि से भी साध्यपने का प्रसंग आयेगा अर्थात् ज्ञान का अवलम्ब कारण पदार्थ है इच्छा नहीं। यदि इच्छा को उस पदार्थ का ज्ञान मानेंगे तो दण्ड इच्छा के ज्ञान में इच्छा के निमित्त कारण स्तुति, उपकार, गुणदर्शन आदि भी उसके कारण बन जायेंगे अतः सर्व पदार्थों को अपने-अपने अनुकूल ज्ञान का विषयत्व करने के लिए वस्तु के सदृश परिणामों को ही समान इस ज्ञान का विषयपना मान लेना चाहिए। यदि समान सामान्य का एकत्व स्वभाव माना जायेगा तो एकपने के ज्ञान की विषयता का प्रसंग आएगा अर्थात् एकपने का ज्ञान तो हो जायेगा परन्तु "यह खण्ड गौ इस मुण्ड गौ के समान है" ऐसे सदृश परिणामों का विषय करने वाला ज्ञान नहीं होगा। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अनेक गौओं में "यह वही गौ है" इस प्रकार एकत्व को विषय करने वाला यह ज्ञान उपचरित है। वस्तुतः चितकबरी गौ को देखकर धौली गौ को देखने वाले पुरुष को 'उसके समान यह गौ है' ऐसा ज्ञान होना चाहिए किन्तु यह भी गौ है और वह भी गौ थी, इस प्रकार गोत्वधर्मसे एकत्व का उपचार (आरोप) कर लिया जाता है। यदि परमार्थरूप से विचारा जावे तो वह बैल था। यह भी वृषभ बैल है। इस प्रकार सदृशपने को विषय करने वाला ज्ञान सम्पूर्ण मनुष्यों के सम्मुख बाधारहित स्वरूप से अनुपचरित रूप से सिद्ध होता है अर्थात् प्रत्युत् सदृश परिणाम है, यह बात सिद्ध होती है। कोई कह रहा है कि दण्डवान, छत्रवान् इत्यादि ज्ञान तो परिमित दण्ड का संबंध नियत पदार्थों को विषय करता है अतः दण्ड छत्र आदिक से दूसरे अन्य अर्थों को विषय नहीं कर पाते हैं। जो परिमित पदार्थों को जानता है उस ज्ञान को विषय से अन्य व्यापक रूप अर्थ कल्पित नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह इसके समान है ऐसा ज्ञान तो व्यापक वस्तु को विषय करता है अतः व्यक्ति से भिन्न किसी दूसरे अर्थ को विषय करने

यत्नोपनेयप्रत्ययत्वाघटनात् नीलादिवदिति। तदसत्। सामान्यस्य विशेषवत्प्रत्यक्षत्वेपि यत्नोपनीयमानप्रत्ययत्वाविरोधात्। प्रमाणसंप्लवस्यैकत्रार्थे व्यवस्थापनात्। सामान्यमेव परिच्छिद्यमानस्वरूपं न विशेषास्तेषां व्यावृत्तिप्रत्ययानुमेयत्वादिति वदतोपि निषेद्धुमशक्तेः। न हि वस्तुस्वरूपमेव व्यावर्तमानाकारप्रत्ययस्य निबंधनं अपि तु तत्संसर्गिणोर्थास्ते च भेदहेतवो यदा सकलास्तिरयंते तदा सद्वस्तु पदार्थ इति वा निरुपाधिसामान्यप्रत्ययः प्रसूते, यदा तु गुणकर्मभ्यां भेदहेतवो अतिरोभूताः शेषास्तिरोधीयंते तदा द्रव्यमिति बुद्धिरेवमवांतरसामान्येष्वशेषेष्वपि बुद्धयः प्रवर्तंते भेदहेतूनां पुनराविर्भूतानां वस्तुना संसर्गे तत्र विशेषप्रत्ययः। तथा च सामान्यमेव वस्तुस्वरूपं विशेषास्तूपाधिबलावलंबिन इति मतान्तरमुपतिष्ठेत।

वाला हो जायेगा और वह व्यक्तियों से भिन्न दूसरा पदार्थ तो नित्य जाति ही है। वह जातिरूप सामान्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से भी जाना जाता है। अन्यथा सामान्य का प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं माना जावेगा तो उस सामान्य को प्रयत्न के पीछे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से किया जाना घटित नहीं होगा। जैसे नील पीत आदिक गुण पुरुषार्थ से प्रत्यक्ष जान लिये जाते हैं वैसे ही प्रयत्न करने पर सामान्य का ज्ञान हो जाता है।

आचार्य कहते हैं ऐसा कहना भी सत्य नहीं है क्योंकि -

सदृशपरिणामरूप सामान्य को विशेष व्यक्ति के समान प्रत्यक्ष का विषय मान लेने पर प्रयत्न के द्वारा जान लेने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि नैयायिक, जैन, मीमांसक ये सब प्रमाणसंप्लव को स्वीकार करते हैं, एक अर्थ में बहुत से अपूर्वार्थग्राही प्रमाणों की प्रवृत्ति होना प्रमाणसंप्लव कहलाता है। जैसे एक ही अग्नि आगम अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होती है। तथा सामान्य ही जानने योग्य वस्तु का स्वरूप है विशेष कोई पदार्थ नहीं है अर्थात् काली गाय श्वेत गाय से पृथक् है, इत्यादि व्यावृत्ति को जानने वाले ज्ञान से विशेषों का अनुमान कर लिया जाता है अतः विशेष प्रत्यक्ष नहीं होते हैं अर्थात् विशेष प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है ऐसा कहने वाले का भी तुम निषेध नहीं कर सकते।

पृथक्भूत आकार का उल्लेख कराने वाले ज्ञान का कारण वस्तु का स्वरूप ही है अतः विशेष पदार्थ ही वस्तु का तदात्मक रूप है, सामान्य वस्तुभूत नहीं है ऐसा नहीं समझना क्योंकि उस वस्तु के स्वरूप से संबंध रखने वाले जो पदार्थ हैं वे सर्व पदार्थ भेद के (व्यावृत्ति के) कारण हैं जिस समय भेद के कारण संपूर्ण छिप जाते हैं तब सामान्य धर्मों की अपेक्षा से सत् है, वस्तु है, पदार्थ है, प्रमेय है। इस प्रकार का निर्विशेष सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु जिस समय गुण और क्रिया से भेद के कारण प्रगट हो जाते हैं तथा शेष शुद्ध व्यापक सामान्य छिप जाते हैं तब द्रव्य है, जीव है, इस प्रकार की उपाधिसहित बुद्धि ही उत्पन्न होती है। इसके मध्यवर्ती सम्पूर्ण सामान्यों में भी वैसी विपरीत बुद्धियाँ प्रवर्तती रहती हैं। पुनः प्रगट हुए भेद के कारणों का वस्तु के साथ संबंध हो जाने पर वहाँ विशेष ज्ञान हो जाता है अतः सिद्ध होता है कि सामान्य ही वस्तु का स्वरूप है और विशेष तो विशेषणों के सामर्थ्य का अवलम्ब रखते हुए औपाधिक भाव है वास्तविक नहीं इस प्रकार का एक भिन्नमत सिद्धान्त उपस्थित हो जायेगा।

वस्तुविशेषा नोपाधिका यत्नोपनेयप्रत्ययत्वाभावात् स्वयं प्रतीयमानत्वादिति चेत् तत एव सामान्यमौपाधिकं माभूत्। सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वभावत्वे सर्वत्रोभयप्रत्ययप्रसक्तिरिति चेत् किं पुनस्तयोरेकतरप्रत्यय एव क्वचिदस्ति। दर्शनकाले सामान्यप्रत्ययस्याभावाद्विशेषप्रत्यय एवास्तीति चेत् न, तदापि सद्‌द्रव्यत्वादिसामान्यप्रत्ययस्य सद्भावादुभयप्रत्ययसिद्धेः। प्रथममेकां गां पश्यन्नपि हि सदादिना सादृश्यं तत्रार्थान्तरेण व्यवस्यत्येव अन्यथा तदभावप्रसंगात्। प्रथममवग्रहे सामान्यस्यैव प्रतिभासनान्नोभयप्रत्ययः सर्वत्रेति चायुक्तं, वर्णसंस्थानादिसमानपरिणामात्मनो वस्तुनोऽर्थांतराद्विसदृशपरिणामात्मनश्चावग्रहे प्रतिभासनात्।

बौद्ध कहते हैं कि वस्तु के विशेष वास्तविक हैं, औपाधिक नहीं हैं क्योंकि विशेषों को जानने के लिए प्रयत्न करने का अभाव है। वे वस्तु में स्वयं ही प्रतीत हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो सामान्य को जानने के लिए भी प्रयत्न का अभाव होने से सामान्य भी औपाधिक नहीं होगा। यदि सामान्य और विशेष दोनों को वस्तु का स्वभाव मानोगे तब तो सर्व ही विषयों में सामान्य और विशेष दोनों के ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा। फिर क्या उन दोनों में से एक ही का कहीं ज्ञान होना देखा गया है? **भावार्थ :** सभी स्थलों पर दोनों का ही एक साथ ज्ञान हो जाता है, अकेले-अकेले का नहीं अतः दोनों ही वस्तु के तदात्मक अंश हैं।

स्वलक्षण को जानने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप दर्शन के समय में सामान्य को जानने वाले ज्ञान का अभाव है। अतः यहाँ केवल विशेष का ही ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उस समय भी सत्, द्रव्य, पदार्थत्व आदि सामान्यों को जानने वाला ज्ञान विद्यमान है ।

अतः सामान्य और विशेष दोनों को जान लेना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सिद्ध हो जाता है । सबसे पहले एक गौ को देखने वाला पुरुष भी सत्पना द्रव्यपना पदार्थपना आदि धर्मों से दूसरे घट,अश्व आदि पदार्थों के साथ उसमें सादृश्य का निश्चय कर ही लेता है अन्यथा उस सदृशपने के अभाव का प्रसंग आता है।

सबसे प्रथम हुए अवग्रह में वस्तु के सामान्य धर्मों का प्रतिभास होता है, विशेषों का नहीं अतः सभी ज्ञानों में सामान्य और विशेष इन दोनों की प्रतीति नहीं होती है ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योंकि रूप, रस तथा आकृति, रचना आदि समान परिणाम स्वरूप वस्तु का और अन्य पदार्थों की अपेक्षा से प्राप्त हुए विसदृश परिणाम स्वरूप उसी वस्तु का अवग्रह में प्रतिभास होता है अर्थात् किसी भी ज्ञान में अकेले सामान्य का या केवल विशेष का प्रतिभास होता ही नहीं है।

किसी ज्ञान में यदि सामान्य और विशेष दोनों की प्रतीति न होवे तो भी वस्तु के सामान्य और विशेष दोनों धर्मस्वरूप का विरोध नहीं है। प्रत्येक जीव में विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। जैसी वस्तु होगी वैसा हूबहू ज्ञान उत्पन्न होगा तब तो चाहे जिस किसी को अनादि अनन्त वस्तु के ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा। **भावार्थ :** अतीत, अनागत, अनन्त परिणमनों के अविष्वग्भाव संबंधरूप पिण्ड को वस्तु कहते हैं। किसी भी वस्तु को देखकर उसके अनादि अनन्तपर्यायों का ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि जैसी वस्तु है ठीक वैसा ही उसका ज्ञान माना जावेगा तो बौद्धों को

क्वचिदुभयप्रत्ययासत्त्वेपि वा न वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वविरोधः, प्रतिपुरुषं क्षयोपशमविशेषापेक्षया प्रत्ययस्याविर्भावात्। यथा वस्तुस्वभावं प्रत्ययोत्पत्तौ कस्यचिदनाद्यंतवस्तुप्रत्ययप्रसंगात् परस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादिनिर्णयानुषंगात्। ततो विशेषप्रत्ययाद्विशेषमुररीकुर्वता समानप्रत्ययात्सामान्यमुररीकर्तव्यमिति प्रतीतिप्रसिद्धा जातिर्निमित्तांतरं तथा द्रव्यं वक्ष्यमाणं गुणाः क्रिया च प्रतीतिसिद्धेति न तन्निमित्तांतरत्वमसिद्धं वक्तृअभिप्रायात् येन कल्पनारोपितानामेव जात्यादीनां शब्दैरभिधानात्कल्पनैव शब्दानां विषयः स्यात् , पंचतयी वा शब्दानां प्रवृत्तिरबाधिता न भवेत्॥

जातिः सर्वस्य शब्दस्य पदार्थो नित्य इत्यसन्। व्यक्तिसंप्रत्ययाभावप्रसंगाद्ध्वनितः सदा॥१५॥

कश्चिदाह। जातिरेव सर्वस्य शब्दस्यार्थः सर्वदानुवृत्तिप्रत्ययपरिच्छेद्ये वस्तुस्वभावे शाब्दव्यवहारदर्शनात्। यथैव हि गोरिति शब्दोनुवृत्तिप्रत्ययविषये गोत्वे प्रवर्तते इति जातिस्तथा

निर्विकल्पक प्रत्यक्षद्वारा ही स्वर्गप्रापणशक्ति तथा हिंसा करने वाले चित्त की नरक प्रापण शक्ति आदि का भी निर्णय उसी समय हो जाने का प्रसंग भी आयेगा।

अतः विशेष को जानने वाले ज्ञान की सामर्थ्य से विशेष पदार्थ को स्वीकार करने वाले बौद्धों को समीचीन समान ज्ञान से निर्णीत किये गये सामान्य (सादृश्य) को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार प्रतीतियों से प्रसिद्ध जाति (सदृश परिणाम) नाम निक्षेप का निमित्तान्तर हो जाती है। अतः जैन वक्ता के अभिप्राय को निमित्त पाकर और सदृश परिणाम रूप जाति को निमित्तान्तर मानकर गौ, शब्द प्रवृत्त होते हैं। जैसे भविष्य में कहे जाने योग्य सत् रूप द्रव्य और सहभावी परिणामरूप गुण तथा परिस्पन्दरूप क्रियायें भी प्रामाणिक प्रतीतियों से प्रसिद्ध हैं। अतः निमित्तरूप वक्ता के अभिप्राय से निराले द्रव्य गुण और क्रियाओं को द्रव्यशब्द, गुण शब्द और क्रिया शब्दों का निमित्तान्तरपना असिद्ध नहीं है जिससे कि शब्द को प्रमाण न मानने वाले बौद्धों के मतानुसार कल्पना में आरोपित किये गये ही जाति, द्रव्य, गुण और क्रियाओं का शब्दों के द्वारा कथन किये जाने से कल्पना ही शब्दों का विषय होती है और शब्दों की पाँच प्रकार से प्रवृत्ति बाधा रहित नहीं होती है अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, संयोगी समवायी द्रव्य, यदृच्छा ये सब वास्तविक पदार्थ हैं उनको कहने वाले पाँच प्रकार के शब्दों की निर्बाध प्रवृत्ति हो रही है। (यहाँ तक सदृश परिणाम रूप जाति को सिद्ध करते हुए शब्दों की प्रवृत्ति का मुख्य कारण माने गये वास्तविक जाति द्रव्य आदिक का निरूपण किया है।)

सर्व ही शब्दों का अर्थ जातिस्वरूप नित्य पदार्थ है, इस प्रकार मीमांसकों का कहना सत्य नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने से शब्दों से सदा ही विशेष व्यक्तियों के ज्ञान हो जाने के अभाव का प्रसंग आयेगा अर्थात् गौ शब्द के द्वारा गोत्व जाति को जाना जायेगा तो गौ व्यक्ति का गौ शब्द से कभी ज्ञान न हो सकेगा॥१५॥

कोई प्रतिवादी कहता है कि द्रव्यशब्द, गुणशब्द आदि सर्व ही शब्दों का अर्थ जाति ही है। सर्व ही कालों में वैसा का वैसा ही अनुवृत्ति ज्ञान के द्वारा जाने गये जाति स्वरूप वस्तु स्वभाव में शब्दजन्य

शुक्लशब्दस्तथाविधे शुक्लत्वे प्रवर्तमानो न गुणशब्दः। चरतिशब्दश्चरणसामान्ये प्रवृत्तो न क्रियाशब्दः, विषाणीति शब्दोपि विषाणित्वसामान्ये वृत्तिमात्रसमवायिद्रव्यशब्दः, दंडीति शब्दश्च दंडित्वसामान्ये वृत्तिमुपगच्छन्न संयोगिद्रव्यशब्दः, डित्थशब्दोपि बालकुमारयुवमध्यस्थविरडित्थावस्थासु प्रतीयमाने डित्थत्वसामान्ये प्रवर्तमानो न यदृच्छाशब्दः। कथं जातिशब्दो जातिविषयः स्याज्जातौ जात्यंतरस्याभावादन्यथानवस्थानुषंगादिति च न चोद्यं, जातिष्वपि जात्यंतरस्योपगमाज्जातीनामानंत्यात्। यथाकांक्षाक्षयं व्यवहारपरिसमाप्तेरनवस्थानासंभवात्।

व्यवहार होता हुआ देखा जाता है क्योंकि जैसे गौ यह शब्द तो गौ है, गौ है, ऐसे वैसे के वैसे ही पीछे वर्तने वाले ज्ञानों के विषय होने वाले गोत्व जाति में प्रवर्तता है अत: उसको जाति कहते हैं, वैसे ही गुणशब्द के द्वारा माना गया शुक्लशब्द भी उसी प्रकार की शुक्लत्व जाति में प्रवर्तता है अत: शुक्ल गुण में भी जाति रहती है। एक शुक्ल को देखकर अनेक शुक्ल वर्णों का ज्ञान हो जाता है अत: शुक्ल शब्द को भी जाति शब्द मानना चाहिए, गुणशब्द नहीं तथा गमन करना, भक्षण करना रूप क्रिया को कहने वाला चरति शब्द भी चरनारूप सामान्य में प्रवृत्त होता है। क्रिया में भी सामान्य (जाति) रहती है अत: चरति, गच्छति आदि क्रिया शब्द भी जाति शब्द हैं स्वतन्त्र क्रियाशब्द नहीं हैं। विषाणी शब्द भी विषाणत्व जाति में रहता है, अत: जाति शब्द है,समवाय वाले द्रव्य को कहने वाला समवायी द्रव्य शब्द नहीं है और दण्डी यह शब्द भी दण्डित्व रूप जाति में वृत्ति को प्राप्त हो रहा है अत: जाति शब्द है, संयोगी द्रव्य या शब्द नहीं है इस प्रकार किसी एक मनुष्य को कहने वाला डित्थ शब्द भी उस डित्थ जीव की बालक, कुमार, युवा, मध्य आदि अवस्था में व्यवहार किया गया प्रतीत होता है अत: डित्थत्व जाति में प्रवृत्ति करता हुआ डित्थ शब्द भी जातिशब्द है, एक व्यक्ति में रहने वाला धर्म जाति नहीं होता है किन्तु एक व्यक्ति की नाना अवस्थाओं में रहने वाला डित्थत्व धर्म जाति बन जाता है। अत: डित्थ शब्द इच्छा के अनुसार कल्पित किया गया यदृच्छाशब्द नहीं है किन्तु जाति शब्द है।

जाति अन्तर का अभाव होने से जाति में जातिविषयक जाति शब्द कैसे हो सकता है ? अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। इसके प्रत्युत्तर में मीमांसक कहते हैं कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

क्योंकि जातियों में भी दूसरी अनेक जातियाँ स्वीकार की हैं। जातियाँ अनन्त हैं, परिमित नहीं। जिस पुरुष की जितनी दो चार बीस सौ पाँच सौ कोटि चलकर आकांक्षा का क्षय होते हुए तदनुसार व्यवहार की परिसमाप्ति हो जाती है। उससे आगे अनवस्था का होना सम्भव नहीं है अर्थात् किसी भी पुरुष का किसी भी अन्य पुरुष के लिए पिता, पितामह, प्रपितामह आदि का प्रश्न करने पर कुछ कोटि के पीछे आकांक्षा स्वत: शान्त हो ही जाती है। यदि आकांक्षा शान्त न होवे तो अनवस्था होने दो, कोई क्षति नहीं। कार्य कारणभाव का भंग नहीं होना चाहिए। ऐसे ही जातियों में भी समझ लेना। ज्ञापक पक्ष में कुछ दूर चल कर आकांक्षाओं का क्षय हो जाने से अनवस्था वहीं टूट जाती है।

कालो दिगाकाशमिति शब्दाः कथं जातिविषयाः कालादिषु जातेरसंभवात्तेषामेक-द्रव्यत्वादित्यपि न शंकनीयं, कालशब्दस्य त्रुटिलवादिकालभेदेष्वनुस्यूतप्रत्ययावच्छेद्ये कालत्वसामान्ये प्रवर्तनात्। पूर्वापरादिदिग्भेदेष्वन्वयज्ञानगम्ये दिक्त्वसामान्ये दिक्छब्दस्य प्रवृत्तेः। पाटलिपुत्रचित्रकूटाद्याकाशभेदेष्वनुस्यूतप्रतीतिगोचरे चाकाशसामान्ये प्रवर्तमानस्याकाशशब्दस्य संप्रत्ययाज्जातिशब्दत्वोपपत्तेः। कालादीनामुपचरिता एव भेदा न परमार्थसंत इति दर्शनेन तज्जातिरप्युपचरिता तेष्वस्तु। तथा च उपचरितजातिशब्दाः कालादय इति न व्यक्तिशब्दाः। कथमतत्त्वशब्दो जातौ प्रवर्तत इति च नोपालंभः, तत्त्वसामान्यस्यैव विचारितस्यातत्त्वशब्देनाभिधानात्। तदुक्तं। "न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः। अतत्त्वमिति मन्यंते तत्त्वमेवाविभावितम्॥" इति। एतेन प्रागभावादिशब्दानां भावसामान्ये वृत्तिरुक्ता,

एक द्रव्य होने के कारण काल आदिकों में रहने वाले कालत्व आदि जातियों की असम्भवता है अत: काल, दिक् और आकाश ये शब्द जाति को विषय करने वाले जाति शब्द कैसे कहे जा सकेंगे ? मीमांसक समझाते हैं कि इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि कालशब्द भी कालत्व जाति में रहता है। काल द्रव्य एक नहीं हैं किन्तु पल, विपल, त्रुटि, लव, श्वास, घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि काल-भेदों में अन्वय रूप से अनुभूत होकर ज्ञान के द्वारा कालत्व सामान्य जाना जाता है अत: काल शब्द ऐसा होने पर जाति को कहने वाला जाति शब्द है। अनेक व्यक्तियों में पाये जाने वाले कालत्व सामान्य में रहने वाला है तथा यह पूर्व दिशा है, वह पश्चिम भी दिशा है और यह उत्तर भी दिशा है इत्यादि प्रकार के अन्वय ज्ञान से व्यक्ति पूर्व, पश्चिम, उत्तर, आदि दिशा के भेदों में दिक्त्व सामान्य सब में रहता है, अत: दिक्शब्द की प्रवृत्ति दिक्त्व जाति में है। पटना, चित्रकूट आदि आकाश के विशेष भेदों में अन्वयज्ञान का विषय होने वाला आकाशत्व जाति में आकाश शब्द रहता है अत: आकाश शब्द को भी जाति शब्दपना सिद्ध होता है। काल, दिशा और आकाश तो वस्तुत: एक-एक द्रव्य हैं, घड़ी, मास, पूर्व-पश्चिम, चित्रकूट-पटना आदि भेद तो व्यवहार से ही कर लिये गये हैं। परमार्थरूप से अखण्ड द्रव्य में सद्भूत भेद नहीं हो सकते हैं, ऐसा सिद्धान्त मानने पर तो हम जातिवादी कह देंगे कि उनमें वह कालत्व, दिक्त्व, आकाशत्व जातियाँ भी व्यवहार से ही स्थापित कर ली जाने पर कोई हानि न होगी अत: यही सिद्ध हुआ कि काल आदिक शब्द उपचार से मानी गयी जाति के प्रतिपादन करने वाले शब्द हैं, एकांत रूप से व्यक्ति को कहने वाले शब्द नहीं हैं।

शंका : अतत्त्व शब्द जाति में कैसे रहेगा ? क्योंकि अतत्त्व कोई वस्तुभूत नहीं है अत: उसमें रहने वाली कोई अतत्त्व जाति नहीं हो सकती है। मीमांसक कहते हैं कि यह उलाहना देना ठीक नहीं है क्योंकि हम अतत्त्वों का और तत्त्वों का सर्वथा निषेध करने वाला तुच्छ अभाव पदार्थ नहीं मानते हैं अपितु तत्त्व सामान्य का निषेध करते हैं क्योंकि नहीं विचारी हुई तत्त्व जाति ही अतत्त्व इस शब्द के द्वारा कही जाती है, सो ही कहा है कि "तत्त्व और अतत्त्वों में कोई भेद नहीं है।" इस प्रकार वृद्ध पुरुषों से चला आया हुआ आगम प्रमाण है। नहीं विचारे हुए तत्त्व को ही अतत्त्व ऐसा मानते हैं। उस अतत्त्व या अतत्त्वों में वस्तुभूत जाति ठहरती है।

प्रागभावादीनां भावस्वभावत्वादन्यथा निरुपाख्यत्वापत्तेरिति । तदेतदसत्यम् । सर्वदा जातिशब्दाद्व्यक्तिसंप्रत्ययस्याभावानुषंगात् । तथा चार्थक्रियार्थिनः प्रतिपत्तृन् प्रति शब्दप्रयोगोनर्थकः स्यात् । ततः प्रतीयमानया जात्याभिप्रेतार्थस्य वाहदोहादेरसंपादनात् । स्वविषयज्ञानमात्रार्थक्रियायाः संपादनाददोष इति चेन्न, तद्विज्ञानमात्रेण व्यवहारिणः प्रयोजनाभावात् । न शब्दजातौ लक्षितायामर्थक्रियार्थिनां व्यक्तौ प्रवृत्तिरुत्पद्यते अति प्रसंगात् ॥

शब्देन लक्षिता जातिर्व्यक्तीर्लक्षयति स्वकाः । संबंधादित्यपि व्यक्तमशब्दार्थज्ञतेहितम् ॥१६॥

इस पूर्वोक्त कथन से यह बात भी कही गयी समझ लेना चाहिए कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि पदार्थ तुच्छ अभाव रूप नहीं हैं किन्तु भाव सामान्य में इनकी वृत्ति कही गयी है अतः ये पदार्थ ही हैं। अतः प्रागभाव, ध्वंस आदि शब्दों की प्रवृत्ति भावों में रहने वाली जातियों में है। यदि प्रागभाव आदिकों को भाव स्वभाव न मानकर अन्य प्रकार से तुच्छ अभाव मानेंगे तब तो अभाव पदार्थ को उपाख्या रहितपने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् उस अभाव का वचनों से कथन ही नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार मीमांसकों के कथन करने पर जैनाचार्य खण्डन करते हैं कि जाति ही सब शब्दों का अर्थ है। यहाँ से लेकर निरुपाख्यपने की आपत्ति देने तक किसी का कहना सर्व असत्य है क्योंकि यदि शब्दों के द्वारा जातियों का ही निरूपण किया जावेगा तो उन सभी जाति शब्दों से सदा गौ आदि व्यक्तियों के ज्ञान होने के अभाव का प्रसंग आयेगा तथा अर्थक्रिया के चाहने वाले ज्ञाता का श्रोताओं के प्रति शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ होगा तथा अर्थक्रिया को नहीं करने वाला पदार्थ वास्तविक पदार्थ नहीं है तथा शब्द के द्वारा जानी गयी जाति से लादना, दोहना आदि हमारे अभीष्ट अर्थों का संपादन नहीं होता है अतः सभी शब्दों का जाति रूप अर्थ मानना अयुक्त है।

शंका : गोत्व जाति आदि भी स्वयं ज्ञान के विषयभूत अपना ज्ञान करा देने रूप अर्थक्रिया की संपादक है अतः जाति ही सब कुछ है, यह कथन निर्दोष है। **समाधान :** ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि खाना-पीना आदि व्यवहार को करने वाले पुरुष का उस जाति को केवल विषय करने वाले ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं सधता है अर्थात् जैसा गौ, घट, पट इन व्यक्तियों से ढोना, दुहना, जलधारण, शीत को दूर करना आदि वाञ्छनीय अर्थक्रियाएँ होती हैं ये क्रियाएँ गौ आदिक के ज्ञान से नहीं होने पाती हैं अतः गोत्व आदि जातियाँ भी किसी काम की नहीं हैं।

शब्द जाति में लक्षित अर्थक्रिया से अर्थियों की व्यक्ति में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है इसी को स्पष्ट करते हैं कि-

शब्द के द्वारा पहले जाति कही जाती है, तदनन्तर जाति और व्यक्ति का समवाय संबंध होने के कारण यह जाति अपनी आधारभूत व्यक्तियों का लक्षणा वृत्ति से ज्ञान करा देती है। इस प्रकार का कथन भी प्रगट रूप से शब्द शास्त्र और अर्थशास्त्र को न जानने वाले की चेष्टा है। शब्द से पहले जाति जानी जाती है और फिर अनुमान से व्यक्तिरूप अर्थ जाना जाता है। ऐसी दशा में शब्द का प्रसिद्ध वाच्य अर्थ तो अनुमान

तथाह्यनुमितेरर्थो व्यक्तिर्जातिः पुनर्ध्वनेः। क्वान्यथाक्षार्थताबाधा शब्दार्थस्यापि सिध्यतु ॥१७॥

अक्षेणानुगतः शब्दो जातिं प्रत्याययेदिह। संबंधात् सापि निःशेषा स्वव्यक्तीरिति तन्नयः ॥१८॥

द्रव्यत्वजातिः शब्देन लक्षिता द्रव्यं लक्षयति तत्र तस्याः समवायात्। गुणत्वजातिर्गुणं कर्मत्वजातिः कर्म। तत एव द्रव्यं तु समवेतसमवायात्प्रत्यापयति। विवक्षासामान्यं तु शब्दात्प्रतीतं विवक्षितार्थं संयुक्तसमवायादेरित्येतदशब्दार्थज्ञताया एव विजृंभितं । द्रव्यगुणकर्मणां विवक्षितार्थानां चैवमनुमेयानां शब्दार्थत्वाभिधानात्। शब्दात्परंपरया तेषां प्रतीयमानत्वात् शब्दार्थत्वे कथमक्षार्थता न स्यादक्षात्परंपरायाः प्रतीयमानत्वात्। शब्दो हि श्रोत्रेणावगतो जातिं प्रत्यायः यति सापि स्वव्यक्तीरिति सर्वः शब्दार्थोक्षार्थ एव।

का विषय हो गया। अन्यथा यानी यदि अनुमान से व्यक्ति का ज्ञान नहीं करोगे तो कौन सी व्यक्ति में शब्द की वाच्यता कहोगे ? शब्द से जाति जानी जाती है और जाति से व्यक्ति लक्षित होती है अतः शब्द से ही परम्परा से व्यक्ति का ज्ञान हुआ। यदि ऐसा कहोगे तब तो शब्द के वाच्यार्थ को इन्द्रियों का विषयपना भी बाधा रहित सिद्ध हो जायेगा। श्रोत्र इन्द्रिय से पहले शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होता है पीछे वह शब्द शाब्द बोध प्रणाली से जाति का ज्ञान कराता है। तत्पश्चात् इन व्यक्तियों में जाति का संबंध होने से वह जाति भी अपने आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्तियों को लक्षित करा देती है, इस प्रकार उन मीमांसकों की नीति है। यहाँ परम्परा से वाच्यार्थ को श्रोत्र इन्द्रिय का विषयपना प्राप्त हो जाता है किन्तु यह किसी को इष्ट नहीं है॥१६-१७-१८॥

कोई कहता है कि द्रव्य शब्द के द्वारा जाति, द्रव्यत्व जाति लक्षणा वृत्ति से द्रव्य व्यक्ति का ज्ञान करा देती है क्योंकि उस द्रव्य में द्रव्यत्व जाति का समवाय संबंध है; गुणत्व जाति गुण (व्यक्ति) को लक्षित कर देती है तथा भ्रमण, चलन, सरण, तिर्यक्पवन आदि क्रिया शब्द भी कर्मत्व जाति को कहते हैं। उस कर्मत्व जाति से कर्मपदार्थ लक्षित हो जाता है। उसी प्रकार समवेत समवायरूप परम्परा संबंध से गुणत्व, कर्मत्व जातियाँ द्रव्य का भी निर्णय करा देती हैं। डित्थ शब्द से तो वक्ता संबंधी बोलने की इच्छा में रहने वाली इच्छात्व जाति की अर्थात् विवक्षा सामान्य की प्रतीति होती है और जाति से विवक्षित अर्थ की संयुक्त समवाय या संयुक्त समवेत समवाय आदि संबंधों से ज्ञप्ति हो जाती है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार यह कथन शब्द और अर्थ के सूक्ष्म तत्त्वों को जानने पन का ही विलास है, इसमें कोई सार नहीं है।

कोई कहते हैं कि अनुमान के विषयभूत विवक्षित अर्थ द्रव्यगुण कर्मों के शब्दार्थ का कथन किया है क्योंकि शब्द से जाति और जाति से व्यक्ति इस प्रकार परम्परा से शब्द के द्वारा ही उन द्रव्य गुण कर्म और व्यक्तियों की प्रतीति होती है । जैनाचार्य कहते हैं कि उन द्रव्य गुण आदि को शब्दार्थ मान लेने पर उन द्रव्य गुण कर्मों के इन्द्रियों का विषयपना भी क्यों नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा भी परम्परा से द्रव्य आदिक प्रतीत होते हैं। जब श्रोत्र इन्द्रिय से पहले शब्द जान लिया जाता है तब वह शब्द शाब्द प्रक्रिया से जाति का परिज्ञान कराता है। तत्पश्चात् वह जाति भी अपने आश्रित व्यक्तियों की प्रतीति कराती है इस प्रकार शब्दों के सभी अर्थ इन्द्रियों के ही विषयभूत अर्थ कहे जायेंगे।

तथानुमानार्थाः करणेन प्रतीताल्लिंगाल्लिंगिनि ज्ञानोत्पत्तेः । एतेनार्थापत्त्यादिपरिच्छेद्यस्यार्थस्याक्षार्थताप्रसक्तिर्व्याख्याता, पारंपर्येणाक्षात्परिच्छिद्यमानत्वाविशेषादित्यक्षार्थ एव शब्दो निर्बाधः स्यान्न शब्दाद्यर्थः सामान्यशब्दार्थवादिनो न चैवं प्रसिद्धः ॥

यद्यस्पष्टावभासित्वाच्छब्दार्थः कश्चनेष्यते। लिंगार्थोपि तदा प्राप्तः शब्दार्थो नान्यथा स्थितिः ॥१९॥

शब्दात्प्रतीता जातिर्जात्या वा लक्षिता व्यक्तिः शब्दार्थ एवास्पष्टावभासित्वादित्ययुक्तं, लिंगार्थेन व्यभिचारात्। तस्यापि पक्षीकरणे लिंगार्थयोः स्थित्ययोगात् ॥

तथा अनुमान प्रमाण से जानने योग्य विषय भी इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत होने से लिंगी (साध्य) में ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् यहाँ भी परम्परा से अनुमेय अर्थ में इन्द्रियों की विषयता प्राप्त होती है।

इस उक्त कथन से अर्थापत्ति प्रत्यभिज्ञान आदि के द्वारा जानने योग्य पदार्थों के भी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य की प्राप्ति होती है, ऐसा कथन किया है क्योंकि अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का उत्थान भी इन्द्रियों से पदार्थों को जान लेने पर ही होता है अतः अर्थापत्तिगम्य पदार्थों का भी परम्परा से इन्द्रियों से संबंध है। परम्परा से इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का ज्ञेयत्व विशेषता रहित होकर सम्पूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञान में विद्यमान है अत एव शब्द और शब्द का वाच्य अर्थ निर्बाध इन्द्रियों का विषय हो ही जाता है और ऐसा होने पर शब्द हेतु, सादृश्य आदि के द्वारा जानने योग्य कोई अर्थ नहीं रहेगा हैं परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि जाति को सामान्य शब्दार्थ कहने वाले मीमांसक के ऐसी प्रसिद्धि नहीं है अर्थात् मीमांसक मत में इन्द्रियों के विषय पृथक् हैं और हेतु शब्द आदि के विषय पृथक् हैं अतः सारे ज्ञान इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते।

इन्द्रियों के द्वारा जाने गये विषयों का स्पष्ट प्रतिभास होता है परन्तु शब्द के द्वारा जाने गये वाच्यार्थ का स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता है अतः इन्द्रियगोचर अर्थों से पृथक्भूत कोई अस्पष्ट शब्द के वाच्यार्थ माने गये हैं तब तो अस्पष्ट प्रतिभास होने के कारण हेतुजन्य ज्ञान का विषय अनुमेय भी शब्दजन्य ज्ञान के गोचर प्राप्त होगा। अन्यथा शब्द वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं कर सकता ॥१९॥

शब्द से जाति जानी जाती है और जाति के द्वारा व्यक्ति का ज्ञान होता है अतः अविशद प्रकाश करने वाला होने के कारण वह व्यक्ति शब्द का विषय है इन्द्रिय गोचर नहीं। इस प्रकार मीमांसक का कहना भी युक्ति से रहित है क्योंकि अविशद प्रकाशत्व हेतु का धूम आदि लिंग के विषयभूत अग्नि आदि अर्थ के द्वारा व्यभिचार आता है। अर्थात् जिसका अस्पष्ट प्रकाश है, शब्द का विषय है, ऐसी व्याप्ति बनाने पर लिंग के द्वारा जाने गये अनुमेय अर्थ से व्यभिचार है। अनुमेय अर्थ भी अस्पष्ट रूप से जाना गया है अतः वह भी शब्द का विषय हो जायेगा। यदि उस अनुमेय अर्थ को भी पक्ष में रख लेंगे तो अनुमान से और शाब्द बोध से जाने गये भिन्न-भिन्न प्रमेयों की स्थिति कैसे हो सकेगी।

यत्र शब्दात्प्रतीतिः स्यात्सोर्थः शब्दस्य चेन्ननु। व्यक्तेः शब्दार्थता न स्यादेवं लिंगात्प्रतीतितः ॥२०॥

शब्दादेव प्रतीयमानं शब्दार्थमभिप्रेत्य शब्दलक्षितात्सामान्याल्लिंगात् प्रतीयमानां व्यक्तिं शब्दार्थमाचक्षाणः कथं स्वस्थः, परंपरया शब्दात्प्रतीयमानत्वात्तस्याः शब्दार्थत्वेक्षार्थतां कथं बाध्यते तथाक्षेणापि प्रतीयमानत्वादुपचारस्योभयत्राविशेषात्। न च लक्षितलक्षणयापि शब्दव्यक्तौ प्रवृत्तिः संभवतीत्याह;—

शब्दप्रतीतया जात्या न च व्यक्तिः स्वरूपतः। प्रत्येतुं शक्यते तस्याः सामान्याकारतो गतेः ॥२१॥
व्यक्तिसामान्यतो व्यक्तिप्रतीतावनवस्थितेः। क्व विशेषे प्रवृत्तिः स्यात्पारंपर्येण शब्दतः ॥२२॥

जिस पदार्थ की शब्द से प्रतीति होती है वह उस शब्द का वाच्य अर्थ है। ऐसा कहने पर तो विशेष व्यक्तियों के शब्द की वाच्यता नहीं हो सकेगी क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार हेतु से व्यक्ति की प्रतीति होती है। अतः अर्थ क्रिया करने में उपयोगी विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान तो अनुमान से होता है। शाब्द बोध का विषय कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं हो सकेगा॥२०॥

शब्द ही से जाने हुए पदार्थों को शब्द का अर्थ मानकर शब्द से लक्षणा और अभिधा वृत्ति के द्वारा जाति का वाचन होता है और जाति से हेतु के द्वारा व्यक्ति की प्रतीति होती है। इस प्रकार कहने वाला पुरुष स्वस्थ कैसे हो सकता है अर्थात् ऐसा कहने वाला मानव पागल है।

परम्परा से शब्द के द्वारा प्रतीयमान होने से उस व्यक्ति के शब्दार्थत्व होने पर इन्द्रियों के विषयत्व कैसे बाधित हो सकेगा अर्थात् यदि परम्परा से शब्द के द्वारा व्यक्ति की प्रतीति होती है इसलिए व्यक्ति को शब्द का वाच्यार्थ माना जायेगा तब तो उस व्यक्ति को इन्द्रियों का विषयत्व कैसे बाधित हो सकेगा क्योंकि उस प्रकार परम्परा से इन्द्रियों के द्वारा भी शब्द और जाति के बीच में देकर उस व्यक्ति की प्रतीति होती है तथा इन्द्रियों के द्वारा प्रतीयमान होने से ज्ञापक में भी विषयपने का उपचार किया जायेगा तब तो ज्ञापक का ज्ञापक में भी उपचार किया जा सकता है क्योंकि उपचार करना दोनों स्थलों में समान है।

लक्षित लक्षणा[१] करके भी शब्द के द्वारा किसी प्रकृत व्यक्ति में प्रवृत्ति होना संभव नहीं है। इसी बात को स्पष्ट कहते हैं वा स्पष्ट करते हैं-शब्द के द्वारा प्रतीत जाति के द्वारा अपने स्वरूप से व्यक्ति (विशिष्ट एक पदार्थ) की प्रतीति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उस व्यक्ति का सामान्य आकार से ही ज्ञान होता है अर्थात् हेतु और साध्य की व्याप्ति सामान्य रूप से ही होती है विशेष रूप से नहीं जैसे धुआँ रूप हेतु के द्वारा सामान्य अग्नि का ज्ञान होता है, विशेष तृणादि का नहीं॥२१॥

यदि जाति सामान्य के द्वारा व्यक्ति (विशेष) को जानकर सामान्य व्यक्ति से विशेष व्यक्ति की प्रतीति करने के लिए पुनः अनुमान करोगे तो अनवस्था दोष आयेगा। क्योंकि सभी व्यक्तियाँ सामान्य से ही होती हैं अतः शब्द के द्वारा परम्परा से भी विशेष अर्थ में ज्ञप्ति पूर्वक प्रवृत्ति कहाँ हो सकती है, कहीं भी नहीं॥२२॥

---

१. शब्द से शब्द का ज्ञान लक्षित लक्षणा है। जैसे द्विरेफ शब्द से भ्रमर और भ्रमर से मधुकर अर्थ लक्षित होता है, यह लक्षित लक्षणा है।

शब्दलक्षणतया हि जात्या व्यक्तेः प्रतिपत्तुरनुमानमर्थापत्तिर्वा ? प्रथमपक्षे न तस्याः व्यक्तेः स्वरूपेणासाधारणेनार्थक्रियासमर्थेन प्रतीतिस्तेन जातेर्व्याप्त्यसिद्धेरन्वयात्तदंतरेणापि व्यक्त्यंतरेषूपलब्धेर्व्यभिचाराच्च, सामान्यरूपेण तु तत्प्रतिपत्तौ नाभिमतव्यक्तौ प्रवृत्तिरतिप्रसंगात्। यदि पुनर्जातिलक्षितव्यक्तिसामान्यादभिमतव्यक्तेः प्रतीतिस्तदा साप्यनुमानमर्थापत्तिर्वेति स एव पर्यनुयोगस्तदेव चानुमानपक्षे दूषणमित्यनवस्थानं शब्दप्रतीतया जात्या व्यक्तेः प्रतिपत्तिरेवेति चेत् , प्रतिनियतरूपेण सामान्यरूपेण वा ? न तावदादिविकल्पस्तेन सह जातेरविनाभावाप्रसिद्धेः। द्वितीयविकल्पे तु नाभिमतव्यक्तौ

शब्द लक्षित जाति के द्वारा व्यक्ति के ज्ञाता को ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है या अर्थापत्ति प्रमाण रूप है ? यदि प्रथम पक्ष (अनुमान प्रमाण) को स्वीकार करोगे तो उस व्यक्ति की अपने अर्थक्रिया करने में समर्थ असाधारण रूप से प्रतीति नहीं हो सकेगी क्योंकि व्यक्ति के (विशेष के) असाधारण स्वरूप के साथ जाति की व्याप्ति सिद्ध नहीं है क्योंकि जहाँ-जहाँ सामान्य जाति रहती है वहाँ-वहाँ असाधारण लक्षण से युक्त प्रकृत एक व्यक्ति रहती ही है, यह अन्वय व्याप्ति नहीं बन सकती। (उस रसोईघर या घास फूस की अग्नि के बिना भी दूसरी व्यक्तियों में धूम सहित अग्नि देखी जाती है) ऐसे ही सामान्य जाति के साथ अर्थक्रिया को करने वाली एक विशिष्ट व्यक्ति का अन्वय नहीं है क्योंकि उन विशेष व्यक्तियों के बिना भी दूसरी व्यक्तियों में जाति पायी जाती है। अतः विशेष साध्य के साथ व्याप्ति बनाने में व्यभिचार दोष भी आता है और सर्व देश एवं सर्व काल का उपसंहार करने वाली व्याप्ति भी नहीं हो सकती। यदि अन्य व्यक्तियों में (सामान्य) साधारण रूप से व्यक्ति की प्रतिपत्ति मानोगे तो प्रकृत अभीष्ट एक व्यक्ति में ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि साधारण धर्मों का आधार तो प्रकृत व्यक्ति से अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों में भी है तथा दूसरे को (अर्थापत्ति को) प्रमाण स्वरूप स्वीकार करोगे तो अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् सामान्य के कहने पर अभीष्ट विशेष का ग्रहण नहीं होकर चाहे जिस विशेष का ग्रहण होने का प्रसंग आयेगा।

यदि पुनः शब्द से जाति का निरूपण करके लक्षणा वृत्ति से व्यक्ति सामान्य को जानकर उस व्यक्ति सामान्य से अभिव्यक्ति (अभीष्ट व्यक्ति) की प्रतीति करोगे तो क्या सामान्य व्यक्ति से विशेष व्यक्ति का वह ज्ञान अनुमान है या अर्थापत्ति प्रमाण है? इसमें भी पूर्वोक्त प्रश्न रहेगा और अनुमान पक्ष में अनवस्था और पूर्वोक्त दूषण आयेगा। शब्द के द्वारा विशेष व्यक्ति का परिज्ञान नहीं हो सकेगा।

प्रवृत्तिरित्यनुमानपक्षभावी दोष: । सामान्यविशेषस्यानुमानार्थत्वाददोष इत्यपर: । तस्यापि शब्दार्थो जातिमात्रं मा भूत् सामान्यविशेषस्यैव तदर्थतोपपत्ते: । संकेतस्य तत्रैव ग्रहीतुं शक्यत्वात् । तथा च शब्दात्प्रत्यक्षादेरिव सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि प्रवृत्ते: परमतसिद्धेर्न जातिरेव शब्दार्थ: ॥

द्रव्यमेव पदार्थोस्तु नित्यमित्यप्यसंगतम् । तत्रानंत्येन संकेतक्रियायुक्तेरनन्वयात् ॥ २३ ॥

वांछितार्थप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य हानित: । शब्दस्याक्षादिसामर्थ्यादेव तत्र प्रवृत्तित: ॥ २४ ॥

न हि क्षणिकस्वलक्षणमेव शब्दस्य विषयस्तत्र साकल्येन संकेतस्य कर्तुमशक्तेरानंत्यादेकत्र संकेतकरणे

यदि शब्द से जाति की प्रतीति और जाति से अर्थापत्ति के द्वारा विशेष अभीष्ट व्यक्ति की प्रतिपत्ति होती है ऐसा मानते हो तो उस जाति के द्वारा व्यक्ति की अर्थापत्ति क्या प्रत्येक व्यक्ति में नियमित हुए असाधारण स्वरूप से होती है या अनेक व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामान्य (साधारण) रूप से होती है? उसमें प्रथम विकल्प (असाधारण नियमित) से होती है तो ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है क्योंकि विशिष्ट असाधारण स्वरूप के द्वारा उस व्यक्ति के साथ जाति का अविनाभाव संबंध प्रसिद्ध नहीं है और दूसरा विकल्प ग्रहण करने पर अर्थक्रिया करने वाले अभीष्ट प्रकृत विशेष पदों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार प्रथम अनुमान पक्ष के दोष अर्थापत्ति वाले पक्ष में भी स्थित रहेंगे।

कोई विद्वान् कहते हैं कि अनुमान प्रमाण का विषय केवल सामान्य नहीं है, अपितु सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ है इसलिए इस में अनवस्था आदि दोष न होने से अदोष (निर्दोष) है। जैनाचार्य कहते हैं कि उस वादी के यहाँ इस कथन से शब्द का वाच्यार्थ केवल सामान्य नहीं हुआ, अपितु इस कथन से **सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही शब्द का वाच्यार्थ सिद्ध होता है** और उस सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ में ही संकेत ग्रहण करना शक्य हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से सामान्य विशेषात्मक वस्तु को जानकर उसमें प्रवृत्ति होती है अत: **प्रत्यक्ष आदि का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है वैसे ही शब्द से भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु में प्रवृत्ति और ज्ञप्ति होना प्रतीत होता है** और इस कथन से परमत (जैनमत) की सिद्धि होती है अत: केवल जाति ही शब्द का वाच्य अर्थ है, यह सिद्ध नहीं होता।

सभी शब्द नित्य द्रव्य के वाचक हैं, ऐसा भी मीमांसक का कहना सुसंगत नहीं है क्योंकि अनन्त नित्य द्रव्य में संकेत क्रिया अयुक्त घटित नहीं हो सकती है और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अन्वय भी नहीं हो सकता है तथा नित्य द्रव्य ही शब्द का वाच्यार्थ ऐसा मान लेने पर शब्द के द्वारा प्रकृत अभीष्ट अर्थ में प्रवृत्ति होना या अनिष्ट अर्थ से निवृत्ति होना आदि व्यवहारों की हानि हो जायेगी। क्योंकि इन्द्रिय, मन, हेतु आदि के सामर्थ्य से ही शब्द की इष्ट अर्थ में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अर्थात् नित्य द्रव्य को शब्द का वाच्यार्थ मानने पर तो अनेक दूषण प्राप्त होते हैं॥२३-२४॥

बौद्ध दर्शन में स्वीकृत सर्वथा क्षणिक द्रव्य भी शब्द का विषय नहीं है क्योंकि क्षणिक स्वलक्षण

अनन्वयादभिमतार्थे प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य विरोधात्। स्वयमप्रतिपन्ने स्वलक्षणे संकेतस्यासंभवाच्च। वाचकानां प्रत्यक्षादिभिः प्रतिपन्नेक्षादिसामर्थ्यादेव प्रवृत्तिसिद्धेः । प्रतिपत्तुः शब्दार्थापेक्षयानर्थक्यात् किं तु द्रव्यनित्यमपि तस्यानंत्याविशेषात्। स्यान्मतं। तत्र साकल्येन संकेतस्य करणमशक्तेः। किं तर्हि क्वचिदेकत्र न चानन्वयोस्य संकेतव्यवहारकालव्यापित्वान्नित्यत्वादिति। तदसंगतं। कर्के संकेतितादश्वशब्दाच्छोणादौ प्रवृत्त्यभावप्रसंगात् तत्र तस्यानन्वयात् । न च प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभ्यामध्यक्षादिना नित्येपि कर्के प्रतिपन्ने वाचकस्य संकेतकरणं किंचिदर्थं पुष्णाति प्रत्यक्षादेरेव तत्र प्रवृत्त्यादिसिद्धेः । स्वयं ताभ्यामप्रतिपन्ने तु कुतः संकेतो वाचकस्यातिप्रसंगात्।

में सम्पूर्ण रूप से संकेत करना शक्य नहीं है कारण कि वे स्वलक्षण अनन्त हैं और उन अनन्त स्व लक्षणों में संकेत करना साध्य नहीं हो सकता क्योंकि एक स्वलक्षण व्यक्ति में संकेत करने पर, एक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों में अन्वय न होने के कारण अभीष्ट अर्थ में प्रवृत्ति आदि व्यवहार होने का विरोध आता है तथा जिस स्वलक्षण को आजतक स्वयं प्रतिपादक और प्रतिपाद्यों ने नहीं जाना है ऐसे स्वलक्षण तत्त्व में वाचक शब्दों का संकेत करना भी असंभव है क्योंकि वाच्य पदार्थों का प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा इन्द्रिय हेतु आदि के सामर्थ्य से निर्णय कर लेने पर ही वाचकों की प्रवृत्ति होना सिद्ध हो सकता है। अन्यथा समझने वाले ज्ञाता के शब्दार्थ की अपेक्षा निरर्थक है अर्थात् चक्षु से घट व्यक्ति को देख लेने पर और घट शब्द को कर्णेन्द्रिय के द्वारा सुन लेने पर ही संकेत ग्रहण का व्यवहार किया जाता है पर्याय युक्त द्रव्य में ही संकेत ग्रहण और व्यवहार होता है परन्तु सर्वथा क्षणिक स्वलक्षण के समान सर्वथा कूटस्थ नित्य द्रव्य भी शब्द का विषय तथा व्यवहार के योग्य नहीं है क्योंकि उन द्रव्यों में सामान्य रूप से अनन्तपना विद्यमान है अतः शब्द के द्वारा क्षणिक स्वलक्षण और कूटस्थ नित्य द्रव्य इन दोनों का वाचन (कथन) नहीं हो सकता।

इस प्रकार आचार्यदेव ने अन्य एकान्तवादी दार्शनिकों के कथन का खण्डन कर युक्ति और आगम के द्वारा नाम निक्षेप को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

शङ्का : शब्द का वाच्यार्थ नित्य द्रव्य में पूर्ण रूप से संकेत करना भले ही अशक्य है तो फिर क्या किया जाय? इसका उपाय है कि किसी एक व्यक्ति में तो वाच्य-वाचक का संकेत ग्रहण किया जा सकता है, ऐसी दशा में अनुगत प्रतीतिरूप अन्वय का न मिलना नहीं है, जबकि अनुगत प्रतीति का होना रूप अन्वय ठीक मिल रहा है। क्योंकि वह नित्यद्रव्य संकेत काल और व्यवहार काल में नित्य होने के कारण व्याप रहा है। **समाधान :** जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना असंगत (युक्तियुक्त नहीं) है क्योंकि श्वेत घोड़े से संकेत किये गये अश्व शब्द से लाल आदि घोड़े में प्रवृत्ति करने के अभाव का प्रसंग आयेगा। क्योंकि उस श्वेत घोड़े का अन्वय लाल आदि घोड़े में नहीं है तथा प्रतिपाद्य श्रोता और प्रतिपादक वक्ता के द्वारा प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से नित्य द्रव्य रूप श्वेत अश्व को जान लेने पर भी उस वाचक अश्व शब्द का वहाँ संकेत करना किसी भी अर्थ को पुष्ट नहीं करता है क्योंकि उस नित्य श्वेत अश्व में तो प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाण से ही प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि का व्यवहार होना सिद्ध है। अर्थात् जिस व्यक्ति को संकेत काल में जाना है उसी नित्य व्यक्ति को व्यवहार काल में जानने से क्या लाभ है अर्थात् कुछ भी नहीं।

केचिदाहु: । न नाना द्रव्यं नित्यं शब्दस्यार्थ: किंत्वेकमेव प्रधानं तस्यैवात्मा वस्तुस्वभाव: शरीरं तत्त्वमित्यादिपर्यायशब्दैरभिधानात्। यथैकोयमात्मोदकं नामेत्यात्मशब्दो द्रव्यवचनो दृष्ट: । वस्त्वेकं तेज इति जलं नामैक: स्वभाव: शरीरं तत्त्वमिति च दर्शनानतिक्रमात्। यथा च द्रव्यमात्मेत्यादय: शब्दपर्याया द्रव्यस्य वाचकास्तथान्येपि सर्वे रूपादिशब्दा: प्रत्यस्तमयादिशब्दाश्च कथंचित् सदापन्ना: सर्वे शब्दा द्रव्यस्याद्वयस्य वाचका: शब्दत्वाद्द्रव्यमात्मेत्यादिशब्दवत्। तदुक्तं। ''आत्मा वस्तुस्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि । द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ।।'' इति । न च नित्यशब्देनोदयास्तमयशब्दाभ्यामद्रव्यशब्देन व्यभिचारस्तद्विपरीतार्थाभिधायकत्वादिति न मंतव्यं, द्रव्योपाधिभूतरूपादिविषयत्वादनित्यादिशब्दानां रूपादयो

जिस नित्य द्रव्य को प्रतिपाद्य और प्रतिपादक ने (श्रोता और वक्ता ने) स्वयं नहीं जाना है उनके द्वारा किसी वाचक शब्द का संकेत ग्रहण भी कैसे हो सक्ता है। इसमें अति प्रसंग दोष आता है। (यदि बिना जाने ही शब्द संकेत का ग्रहण होगा तो परमाणु आदि में भी शब्द की प्रवृत्ति का प्रसंग आयेगा। वह इष्ट नहीं है।)

कोई कहते हैं कि- शब्द का वाच्यार्थ अनेक नित्य द्रव्य नहीं हैं- अपितु एक प्रधान द्रव्य (परमब्रह्म) ही शब्द का वाच्यार्थ (विषय) है। उस एक ही प्रधान द्रव्य का आत्मा, वस्तु स्वभाव, शरीर, तत्त्व, *पदार्थ आदि पर्यायवाची शब्दों के द्वारा निरूपण किया जाता है। जैसे एक ही आत्मा जल इस शब्द* से कहा जाता है तथा वह जल स्वरूप आत्मा का वाचक शब्द द्रव्य शब्द देखा जाता है। (जाना जाता है)। एक तेजो द्रव्य वस्तु है, यह भी उसी मुख्य द्रव्य को कहता है। इसी प्रकार जल नाम का एक स्वभाव या शरीर अथवा तत्त्व है वह भी मुख्य आत्म दर्शन का अतिक्रम नहीं कर रहा है अर्थात् वह भी एक आत्म तत्त्व का वाचक है। (कोई दार्शनिक पदार्थों को द्रव्य कहते हैं, कोई तत्त्व शब्द से कहते हैं, तथा कोई द्रव्य को भाव कहते हैं) अत: जैसे द्रव्य, आत्मा, वस्तु आदिक पर्यायवाची शब्द द्रव्य के ही वाचक हैं; उसी प्रकार अन्य भी सम्पूर्ण रूप, रस, आदिक शब्द अथवा उदय होना, अस्त होना, चलना-फिरना आदि सम्पूर्ण शब्द भी किसी अपेक्षा से सत् के साथ तादात्म्य रखते हुए द्रव्य के वाचक हैं।

इसी को अनुमान से सिद्ध करते हैं- आत्मा, ब्रह्म आदि शब्दों के समान शब्दात्मक होने से सभी शब्द अद्वैत द्रव्य के वाचक हैं ऐसा हमारे ग्रन्थों में भी कहा है-''आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व, पदार्थ और भाव ये सभी 'द्रव्य' शब्द के ही पर्याय हैं और वह द्रव्य नित्य माना गया है। ऐसा-अनादिकाल से स्मृति में आ रहा है।

वादी (मीमांसक) आदि अपने मत को पुन: पुष्ट कर रहे हैं।

वैशेषिक कह रहा है कि- अनित्य शब्द, उत्पत्ति शब्द, विनाश शब्द और अद्रव्य शब्द के द्वारा शब्द हेतु में व्यभिचार आता है। क्योंकि अनित्य, उत्पत्ति, विनाश और अद्रव्य इन शब्दों में शब्दत्व हेतु विद्यमान है, किन्तु अद्वैत शब्द से विपरीत अर्थ को कहने वाले होने से वहाँ साध्य नहीं रहता है। ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि अनित्य आदि शब्दों के द्रव्य के उपाधि (विशेषण) भूत रूप, रस आदि विषय

व्युत्पद्यन्ते वियति चेत्यनित्या: द्रव्यत्वाभावाच्चाद्रव्यत्वमिति कथ्यंते। न चोपाधिविषयत्वादमीषां शब्दानामद्रव्यविषयत्वं येन तै: साधनस्य व्यभिचार एव सत्यस्यैव वस्तुनस्तैरसत्यैराकारैरवधार्यमाणत्वादसत्योपाधिभि: शब्दैरपि सत्याभिधानोपपत्ते: । तदप्यभिधायि। ''सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते। असत्योपाधिभि: शब्दै: सत्यमेवाभिधीयते।'' कथं पुनरसत्यानुपाधीनभिधाय तदुपाधीनां सत्यमभिदधाना: शब्दा द्रव्यविषया एव तदुपाधीनामपि तद्विषयत्वात् अन्यथा नोपाधिव्यवच्छिन्नं वस्तुशब्दार्थ: इति न चोद्यं, कतरद्देवदत्तस्य गृहमदो यत्रासौ काक इति स्वामिविशेषावच्छिन्नगृहप्रतिपत्तौ काकसंबंधस्य निबंधनत्वेनोपादानेपि तत्र वर्तमानस्य गृहशब्दस्याभिधेयत्वेन काकानपेक्षणात् । रुचकादिशब्दानां च रुचकवर्धमानस्वस्तिकाद्याकारैरपायिभिरुपहितं सुवर्णद्रव्यमभिदधतामपि शुद्धसुवर्णविषयतोपपत्ते:। तदुक्तं। ''अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा। गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥'' ''सुवर्णादि यथा युक्तं

होने से रूपादि उत्पन्न होते हैं, विनाश को प्राप्त होते हैं, अत: रूप रस आदि अनित्य हैं उनमें द्रव्य का अभाव होने से वे अद्रव्य हैं ऐसा कहा जाता है परन्तु रूप आदि द्रव्य के सम्बन्ध से रहते हैं अत: द्रव्य हैं। इन रूपादि शब्दों को विशेषण के गोचर हो जाने से अद्रव्य गोचरत्व भी नहीं है अर्थात् ये रूप आदि द्रव्य के विशेषण रूप से शब्द का विषय होने से अद्रव्य भी नहीं हैं। जिससे उन अनित्य आदि शब्दों के द्वारा हमारे शब्दत्व हेतु में अनैकान्तिक दोष आता हो। क्योंकि, सत्य स्वरूप अद्वैत वस्तु का उन असत्य स्वरूप उत्पत्ति आदि आकार-प्रकारों से निर्णय किया जा रहा है तथा असत्य विशेषणों को धारण करने वाले विशेष्यों को कहने वाले शब्द के द्वारा सत्य पदार्थ का ही कथन किया जारहा है अर्थात् यद्यपि रूप, रस आदि अनित्य विशेषणों के द्वारा वस्तु उत्पन्न और विनष्ट होती दृष्टिगोचर हो रही है परन्तु वस्तु तो अद्वैत हैं, नित्य है। उस वस्तु के असत्य विशेषण वस्तु से पृथक्भूत नहीं हैं अत: उन असत्यभूत अद्रव्य विशेषणों के द्वारा वस्तु का कथन करने वाला शब्द वस्तुभूत द्रव्य का ही कथन करता है, अद्रव्य का नहीं।

वही हमारे ग्रन्थों में कहा है- उस द्वैत रूप वस्तु के आकार (पर्याय) रूप असत्य पदार्थों के द्वारा सत्य वस्तु का ही निर्णय होता है तथा असत्य विशेषणधारी विशेष्यों (द्रव्यों) को कहने वाले शब्दों के द्वारा सत्य पदार्थ ही कहा जाता है।

असत्य आकार वाले विशेषणों को कथन करके उन विशेषणों का वा उन विशेषण युक्त नित्य द्रव्यों का सत्य रूप से कथन करने वाले शब्द द्रव्य का ही विषय करते हैं, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि द्रव्यों के विशेषणों को भी शब्दों ने विषय किया है अन्यथा उपाधिरूप विशेषणों रहित वस्तु शब्द का विषय नहीं हो सकेगी अर्थात् विशेषणों को शब्द के द्वारा जानकर ही शुद्ध द्रव्य से उनकी व्यावृत्ति की जाती है। इस प्रकार कुतर्क करना उपयुक्त नहीं है - क्योंकि ''जैसे किसी ने पूछा देवदत्त का घर कौनसा है ?'' उत्तर मिला, जिस पर कौआ बैठा है वही देवदत्त का घर है, इस प्रकार घर के विशेष स्वामी से युक्त घर की प्रतिपत्ति (ज्ञान) कराने में कौए के सम्बन्ध को कारण माना गया है। वास्तव में, उस स्थान में स्थित घर शब्द का वाच्य अर्थ घर ही है इसमें काक की कोई अपेक्षा नहीं है। कौआ उड़कर दूसरे स्थान पर भी जा सकता है।

स्वैराकारैरपायिभिः । रुचकाद्यभिधानानां शुद्धमेवेति वाच्यताम् ॥'' इति । तद्वद्रूपाद्युपाधिभिरुपधीयमानद्रव्यस्य रूपादिशब्दैरभिधानेपि शुद्धस्य द्रव्यस्यैवाभिधानसिद्धेर्न तेषामद्रव्यविषयत्वं तदुपाधीनामसत्यत्वाद् गृहस्य काकाद्युपाधिवत् , सुवर्णस्य रुचकाद्याकारोपाधिवच्च । सत्यत्वे पुनरुपाधीनां रूपाद्युपाधीनामपि सत्यत्वप्रसंगात् तथा तदुपाधीनामित्यनवस्थानमेव स्यात् , उपाधितद्वतोरव्यवस्थानात् । भ्रांतत्वे पुनरुपाधीनां द्रव्योपाधीनामसत्यत्वमस्तु तद्व्यतिरेकेण तेषां संभवात् स्वयमसंभवतां शब्दैरभिधाने तेषां निर्विषयत्वप्रसंगादिति सविषयत्वं शब्दानामिच्छता शुद्धद्रव्यविषयत्वमेष्टव्यं, तस्य सर्वत्र सर्वदा व्यभिचाराभावादुपाधीनामेव

रुचक[१] वर्धमान[२] स्वस्तिक आदि विनाशशील आकारों के द्वारा गृहीत सुवर्ण द्रव्य का कथन करने वाले रुचक आदि शब्दों से शुद्ध सुवर्ण ही विषयता को प्राप्त होता है अर्थात् रुचक आदि अनित्य पर्यायों के द्वारा सुवर्ण का कथन करने पर भी वर्णन शुद्ध सुवर्ण का ही होता है। कहा भी है, जैसे अध्रुव काकादि के निमित्त गृह शब्द के द्वारा गृहीत शुद्ध गृह का ही कथन किया जाता है तथा नाशवन्त अपने आकारों के द्वारा जैसे रुचकादि के कथन करने वाले शब्दों से शुद्ध सुवर्ण का ही कथन होता है; उसी प्रकार रूपादि उपाधियों के द्वारा ग्रहीत द्रव्य का रूपादि शब्दों के द्वारा कथन करने पर शुद्ध द्रव्य के कथन की ही सिद्धि होती है। असत्य और अद्रव्य होने से रूपादि उपाधियों को शब्द विषय नहीं करता है। जैसे काक आदि की उपाधि गृह को जानने में निमित्त है परन्तु काकादि उपाधि को शब्द ग्रहण नहीं करता है तथा रुचकादि उपाधियों से शुद्ध सुवर्ण का ही ग्रहण होता है अर्थात् उपाधियों के द्वारा अशुद्ध द्रव्य का ग्रहण होने पर कथन शुद्ध द्रव्य का ही होता है यदि उपाधियों को सत्य स्वीकार किया जायेगा तब तो रूपादि उपाधियों को भी सत्य स्वीकार करना पड़ेगा तथा उपाधियाँ और उपाधिवान की अव्यवस्था होने से उपाधियों के अनवस्था दोष आयेगा अर्थात् उपाधि विनाशशील है, किसी द्रव्य में व्यवस्थित नहीं है-अतः अनवस्था दोष आयेगा। उपाधि सहित विशिष्ट पदार्थ की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। काक आदि उपाधियों को भ्रान्त मानने पर तो शुद्ध द्रव्य की रूपादि उपाधियाँ भी असत्य हो जायेंगी। क्योंकि परमार्थ भूत द्रव्य से भिन्न रूपादि विशेषणों की असंभवता है अर्थात् वे रूपादि वस्तुभूत पदार्थ नहीं हैं। अतः स्वयं असद्भूत रूपादिक विशेषणों को शब्दों के द्वारा वाचन (उच्चारण) मान लेने पर उन शब्दों के विषय रहितपने का प्रसंग आता है। अर्थात् जैसे गधे के सींग को कहने वाला शब्द स्वकीय वाच्य (गधे का सींग) के विषय से रहित है। उसी प्रकार रूप आदि शब्द भी निर्विषय हो जायेंगे अतः शब्दों को विषय सहित चाहने वाले विद्वानों को शब्द का विषय शुद्ध द्रव्य ही मानना चाहिए क्योंकि सर्वदेश और सर्वकाल में शुद्ध द्रव्य के व्यभिचार का अभाव है। केवल शुद्ध द्रव्य के विशेषणों में ही व्यभिचार आता है अर्थात् विशेषण ही अनेक में रहते हैं अतः अनैकान्तिक दोष से युक्त हैं।

जैसे शुद्ध आकाश सर्वत्र सदाकाल रहने वाला है परन्तु घटाकाश पटाकाश आदि उपाधियों से अन्यत्र देश में व्यभिचार आता है। शुद्ध आकाश का कहीं भी व्यभिचार नहीं है।

१. *नींबू के समान गोल आकार वाले सुवर्ण को रुचक कहते हैं।*

२. एरण्ड के पत्ते के आकार वाले को वर्धमान कहते हैं।

व्यभिचारात् । न च व्यभिचारिणामप्युपाधीनामभिधायकाः शब्दाः सविषयाणामस्वप्नादिप्रत्ययानां स्वप्नविषयत्वप्रसंगात् इति शुद्धद्रव्यपदार्थवादिनः । तेपि न परीक्षकाः। सर्वशब्दानां स्वरूपमात्राभिधायित्वप्रसंगात् । परेपि ह्येवं वदेयुः । सर्वे विवादापन्नाः शब्दाः स्वरूपमात्रस्य प्रकाशकाः शब्दत्वान्मेघशब्दवदिति। नन्विदमनुमानवाक्यं यदि स्वरूपातिरिक्तं साध्यं प्रकाशयति तदानेनैव व्यभिचारः साधनस्य । नोचेत् कथमतः साध्यसिद्धिरतिप्रसंगादिति दूषणं शुद्धद्रव्याद्वैतवाचकत्वसाधनेपि समानं।

व्यभिचारी उपाधियों को कहने वाले शब्द अपने वाच्य विषयों से सहित कैसे नहीं हैं अन्यथा (शब्द स्व विषय वाच्य सहित नहीं होगें तो) स्वप्न, मूर्च्छित आदि अवस्थाओं के ज्ञानों को भी स्वप्न आदि अर्थों के विषय कर लेने का प्रसंग आयेगा अर्थात् स्वप्नादि भी शब्द वा ज्ञान के विषय हो जायेंगे, निर्विषय नहीं रहेंगे। इस प्रकार शुद्ध द्रव्य पदार्थवादी कहता है।

अब जैनाचार्य सर्वथा शुद्ध द्रव्य मानने वाले का खण्डन करते हैं :

शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाले भी परीक्षक (विचारशील) नहीं हैं क्योंकि जैसे उनके मतानुसार सम्पूर्ण शब्द शुद्ध द्रव्य के वाचक हैं वैसे ही सम्पूर्ण शब्दों को केवल अपने स्वरूप के कथन करने का प्रसंग आयेगा। शब्द का अर्थ उस शब्द को ही मानने वाले (शब्दाद्वैत) भी इस प्रकार कह सकते हैं कि विवादापन्न घट, पट आदि सर्व शब्द केवल अपने स्वरूप के ही प्रकाशक हैं, शब्द होने से। जैसे मेघ गर्जना आदि शब्द केवल अपने स्वरूप के ही वाचक हैं उन शब्दों का वाच्य अर्थ कुछ भी नहीं है (अर्थात् वे शब्द केवल अपने शब्द रूप शरीर का ही श्रावण प्रत्यक्ष कराते हैं किसी वाच्य अर्थ का शाब्द बोध नहीं कराते हैं। वैसे जीव अजीव आदि शब्द भी अपने स्वरूप को श्रावण का विषय कराते हैं, वाच्य अर्थ को प्रकाशित नहीं करते हैं।)

शुद्ध द्रव्यवादी शंका उठाकर कहता है कि- शब्दवादी के द्वारा प्रयुक्त (प्रयोग में लाया गया) यह अनुमान वाक्य यदि अपने शब्द स्वरूप से अतिरिक्त स्वरूप मात्र को प्रकाश करना रूप इस साध्य का ज्ञान कराता है, तब तो शब्दत्व हेतु का इस अनुमान से व्यभिचार आता है- क्योंकि शब्दवादियों के मतानुसार शब्द का वाच्य टिन-टिन भिन-भिन के सिवाय कुछ नहीं है परन्तु इस अनुमान में वाक्य से साध्य का ज्ञान कराना रूप अर्थ सिद्ध होता है। यदि अनुमान वाक्य स्वकीय साध्य का ज्ञान नहीं कराता है, ऐसा मानते हैं तो अनुमान वाक्य से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। अन्यथा (अनुमान से साध्य की सिद्धि के बिना ही वाच्यार्थ माना जायेगा तो) अति प्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् आकाश के पुष्प की माला पहन कर बंध्या पुत्र जा रहा है इत्यादि अनर्थ वाक्यों से इष्ट की सिद्धि हो जायेगी। शब्दवादी कहते हैं यह दोष तो शुद्ध द्रव्यवादी के प्रति समान ही है अर्थात् अद्वैत शुद्ध द्रव्य वाचक शब्द का अर्थ सिद्ध करने वाले अनुमान में भी यह दोष आ सकता है।

द्वाक्येनापि द्रव्यमात्राद्व्यतिरिक्तस्य तद्वाचकत्वस्य शब्दधर्मस्य प्रकाशने तेनैव हेतोर्व्यभिचारात् । तदप्रकाशने साध्यसिद्धेरयोगात् । द्रव्याद्वैतवादिन: शब्दस्य तद्वाचकत्वधर्मस्य परमार्थतो द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वात् साधनवाक्येन तत्प्रकाशनेपि न हेतोर्व्यभिचार इति चेत् तर्हि शब्दाद्वैतवादिनोपि सुतरां प्रकृतसाधनवाक्येन न व्यभिचार:, स्वरूपमात्राभिधायकस्य साध्यस्य शब्दधर्मस्य शब्दादव्यतिरिक्तस्य तेन साधनात् द्रव्यमात्रे शब्दस्य प्रवेशनेन तद्धर्मस्यापि तत्र पारंपर्यानुषक्ते: परिहरणात् । ननु शब्दाद्वैते कथं वाच्यवाचकभाव:

सभी गुण, कम, द्रव्य आदि के वाचक शब्द शुद्ध द्रव्य के ही अभिधायक (कहने वाले) हैं शब्द होने से, जैसे आत्मा, ब्रह्म, सत् ,चित् आदि शब्द हैं। (इस अनुमान में) केवल शुद्ध द्रव्यतत्त्व से उस द्रव्य का वाचकपना धर्म भिन्न ही है। जो शब्द रूप धर्मी का साध्य स्वरूप धर्म माना गया है।

शुद्ध द्रव्यवादी यदि उस अनुमान वाक्य से भी वाचकपने रूप धर्म का प्रकाशित होना मानेंगे तब तो द्रव्यवादियों के शब्दत्व हेतु का उस वाचकत्व धर्म से ही व्यभिचार आयेगा। यदि द्रव्य वाचकत्व रूप साध्य का उस वाक्य से प्रकाश होना नहीं मानेंगे तो द्रव्यवादियों के द्रव्यवाचक रूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

शब्दाद्वैतवादी कहता है कि द्रव्याद्वैत वादी के "शब्द का और शब्द वाचक धर्म का परमार्थ से द्रव्य से अभिन्न होने से, वाचकत्व को साधने वाले अनुमान वाक्य से द्रव्य वाचकत्व पदार्थका प्रकाशन होने पर भी हेतु से व्यभिचार नहीं आता है अर्थात् अनुमान वाक्य से द्रव्य वाचकत्व ज्ञान होता है तथापि वह वाचकत्व द्रव्य से भिन्न नहीं है अत: शुद्ध द्रव्य का ही ज्ञान होने से हेतु व्यभिचारी नहीं है।" ऐसा कहने पर तो शब्दाद्वैतवादी के भी उसी प्रकार बिना प्रयत्न के प्रकरणप्राप्त स्वरूपसाधक वाक्य के द्वारा हेतु में अनैकान्तिक दोष नहीं आयेगा क्योंकि जो केवल स्वरूप मात्र का अभिधायक (कथन करने वाले) साध्य है वह भी शब्द का ही धर्म है। वास्तव में शब्द से अभिन्न स्वरूप वाचकत्व का उस शब्द हेतु से साधन (सिद्ध) किया है। यदि द्रव्याद्वैतवादी शब्दतत्त्व को केवल शुद्ध द्रव्य में अन्तर्भाव करेंगे तो उसके द्वारा उस शब्द के स्वरूप वाचकत्व धर्म का भी उस द्रव्य में अन्तर्भाव किया जायेगा। तभी परम्परा के प्रसंग होने का परिहार किया जा सकेगा अर्थात् द्रव्य में शब्द का अन्तर्भाव करते समय शब्द के धर्म का भी अन्तर्भाव करना पड़ेगा अत: सिद्ध होता है कि **शब्द और उसके धर्म में अभेद है। धर्म और धर्मी में भेद नहीं होता, दोनों का द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव एक ही होता है।**

प्रश्न : शब्दाद्वैतवाद में वाच्य वाचक भाव कैसे हो सकता है? **उत्तर :** शुद्ध द्रव्याद्वैत में वाच्य वाचक भाव कैसे होता है? अर्थात् दो भिन्न पदार्थों में वाच्य वाचक भाव हो सकता है, एक ही तत्त्व में वाच्य वाचक भाव नहीं हो सकता है। अत:[१] जिस प्रकार शब्दाद्वैत में वाच्य वाचक भाव नहीं हो सकता है, उसी प्रकार शुद्ध द्रव्याद्वैत में भी वाच्य वाचक भाव नहीं हो सकता।

१. अत: के स्थान पर अन्यथा शब्द की संगति अच्छी बैठती है।

शुद्धद्रव्याद्वैते कथं ? कल्पनामात्रादिति चेत् , इतरत्र समानं। यथैव ह्यात्मा वस्तुस्वभावः शरीरं तत्त्वमित्यादयः पर्याया द्रव्यस्यैवं कथ्यंते तदा शब्दस्यैव ते पर्याया इत्यपि शक्यं कथयितुमविशेषात् । ननु च जातिद्रव्यगुणकर्माणि शब्देभ्यः प्रतीयंते न च तानि शब्दस्वरूपं श्रोत्रग्राह्यत्वाभावादित्यपि न चोद्यं; जात्यादिभिराकारैरसत्यैरेव सत्यस्य शब्दस्वरूपस्यावधार्यमाणत्वात् । तच्छब्दैश्चासत्योपाधिवशाद्भेदमनुभवद्भिस्तस्यैवाभिधानात् । ननु च जात्याद्युपाधिकथनद्वारेण तदुपाधिशब्दस्वरूपाभिधानाद् , अन्यथा तदुपाधिव्यवच्छिन्नशब्दरूपप्रकाशनासंभवात् । जात्यादिशब्दा जात्याद्युपाधिप्रतिपादका एवेति न शंकनीयं, जात्याद्युपाधीनामसत्यत्वात् गृहस्य काकादिवत्सुवर्णस्य रुचकाद्याकारोपाधिवच्च । न च जात्याद्युपाधयः सत्या एव तदुपाधीनामपि सत्यत्वापत्तेः उपाधितद्वतोः क्वचिद्व्यवस्थानायोगात् । तदुपाधीनामसत्यत्वे मौलोपाधीनामप्यसत्यत्वानुषंगात् । न चासत्यानामुपाधीनां

शुद्ध द्रव्याद्वैतवादी कहते हैं कि - केवल कल्पना मात्र से वाच्य वाचक भाव है वास्तविक नहीं है। तब तो शब्दाद्वैत में भी कल्पना मात्र से वाच्य वाचक भाव होता है ऐसा मान लेना चाहिए, क्योंकि दोनों में समानता है। क्योंकि जैसे आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व आदि पदार्थ शुद्ध द्रव्य की ही पर्यायें कही जाती हैं; उसी प्रकार आत्मा आदि वस्तुएँ शब्द की ही पर्यायें हैं (ऐसा शब्दाद्वैत में माना है) ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि अद्वैत पक्ष में दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

शंका : जाति, द्रव्य, गुण, कर्म शब्दों के द्वारा प्रतीत होते हैं परन्तु वे स्वयं शब्द रूप नहीं हैं क्योंकि उन जाति द्रव्य आदि में श्रोत्र ग्राह्यत्व का अभाव है। **समाधान :** ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि असत्य जाति आदि आकारों के द्वारा सत्य शब्द रूप का ही निर्णय होता है। अवास्तविक उपाधियों के कारण अनेक प्रकार के भेदों को अनुभव करने वाले गोत्व, चणकत्व, ज्ञानी, मूर्ख, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि शब्दों के द्वारा शब्दाद्वैत का कथन नहीं होता है।

शंका : जाति आदि विशेषों के कथन से उन विशेषणों से सहित शब्द के स्वरूप का कथन किया जाता है अन्यथा उन उपाधियों के पृथक्भूत केवल शब्द के स्वरूप का कथन करना असंभव है क्योंकि जाति आदि शब्द तो जाति आदि उपाधियों के ही प्रतिपादक हैं, उन जाति शब्द या गुण शब्द आदि से शब्दाद्वैत का प्रतिपादन नहीं होता है। **समाधान :** ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि शब्द की जाति आदि उपाधियाँ असत्य हैं, परमार्थभूत नहीं हैं। जैसे देवदत्त के गृह (घर) का विशेषण कौआ और सुवर्ण का विशेषण रुचक कुण्डल कंकण आदि वास्तविक नहीं हैं। यह बात अनुमानसिद्ध है। इसके सन्दर्भ में शब्दाद्वैत वादी कहता है कि -जाति गुण कर्म आदि शब्द की उपाधियाँ सत्य नहीं हैं। यदि जाति आदि उपाधियों को सत्य माना जायेगा तो उन उपाधियों के उपाधि रूप विशेषणों के भी सत्यता का प्रसंग आयेगा ऐसा होने पर उपाधि और उपाधिवान की कहीं व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थात् वस्त्र का हरितवर्ण और उस हरे रंग के वस्त्र से होने वाली स्फटिक मणि में हरित वर्ण उपाधि के कारण है। यदि वस्त्र में हरित वर्ण अन्य उपाधि से मान लिया जाये तो उपाधि और उपाधिवान की व्यवस्था नहीं हो सकती। उपाधियों की उपाधियों को भी असत्य मान लेने पर मौलिक उपाधियों के भी असत्यता का प्रसंग आयेगा। शब्दाद्वैतवादी

प्रकाशका: शब्दा: सत्या नाम निर्विषयत्वात् । तत: सविषयत्वं शब्दस्येच्छता स्वरूपमात्रविषयत्वमेषितव्यं, तस्य तत्राव्यभिचारात् । जात्यादिशब्दानां तु जात्याद्यभावेपि भावादव्यभिचारदर्शनात् । न हि गौरश्व इत्यादय: शब्दा गोत्वाश्वत्वादिजात्यभावेपि वाहकादौ न प्रवर्तन्ते । तत्रोपचारात् प्रवर्तन्त इति चेन्नापरागतयोपि यत्र क्वचन तेषां प्रवर्तनात् । तथा द्रव्यशब्दा दंडीविषाणीत्यादयो गुणशब्दा: शुक्लादयश्चरत्यादयश्च क्रियाशब्दा: द्रव्यादिव्यभिचारिणोभ्यूह्या: । सन्मात्रं न व्यभिचरंतीति चेत् न, असत्यपि सत्ताभिधायिनां शब्दानां

कहता है कि-स्वकीय वाच्य विषय से रहित होने से अवस्तु रूप उपाधियोंके प्रकाशक शब्द सत्य नहीं हो सकते। इसलिए शब्द को सविषयत्व चाहने वाले विद्वानों को शब्द का वाच्य विषय केवल शब्द का स्वरूप ही इष्ट करना चाहिए। उस शब्द का उस अपने स्वरूप के प्रतिपादन करने में व्यभिचार नहीं आता है अर्थात् सभी मनुष्यादिक के सार्थक वा मेघादि के निरर्थक शब्द अपने स्वरूप का प्रतिपादन करते ही हैं।

जाति शब्द, गुण शब्द आदि जाति आदि के नहीं होने पर भी अन्यत्र व्यवहार दृष्टिगोचर होने से इनमें अनैकान्तिक दोष आता है अर्थात् गधा नहीं होने पर भी मूर्ख को गधा कह दिया जाता है।

बैल, घोड़ा आदि शब्द गो अश्व आदि जाति के अभाव में भार लादने आदि पुरुषों में प्रवृत्त नहीं होते हैं, ऐसा नहीं है अर्थात् अश्व शब्द शीघ्रगामी मानव में तथा भार ढोने वाले नौकर में 'गौ' शब्द का प्रयोग देखा जाता है अत: शब्द स्वकीय स्वरूप को ही कहता है, जाति आदि वाच्य अर्थ को नहीं।

भार वहन करने वाले मन्द मति मानव में गौ आदि शब्द की प्रवृत्ति उपचार से होती है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दूसरी जातियाँ भी जिस किसी व्यक्ति में प्रवृत्त होती हैं अर्थात् गमन करने वाली गाय कहलाती है।

इत्यादि रूढ़ि शब्दों की प्रवृत्ति होती है तथा जैन मतानुसार भी दण्ड रूप द्रव्य के संयोग से दण्डी कहलाता है। विषाणी (सींग के संयोग से सींग वाला) कहलाता हैं। शुक्ल आदि गुणों के संयोग से शुक्ल आदि कहलाता है तथा 'चरति' आदि क्रिया के संयोग से चलना, तैरना, पाठक आदि क्रिया शब्द हैं। ये द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया शब्द भी द्रव्य, गुण और क्रिया रूप अर्थों से व्यभिचार करने वाले समझे जायेंगे। अर्थात् दण्डी दण्ड देने वाले मानव को भी कहते हैं। शुक्ल गोत्र भी हैं। चलना अन्न छानने वाले पात्र (चालनी) का नाम भी है। पाटल गुलाब के फूल को भी कहते हैं, इत्यादि। अत: द्रव्य, जाति गुण और क्रिया से कहे जाने वाले शब्दों में व्यभिचार आता है।

सत्ता मात्र शब्द से व्यभिचार नहीं आता है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि असत् पदार्थ में भी सत्ता को कहने वाले शब्दों की प्रवृत्ति होना देखा जाता है।

कोई भी वस्तु सत् नहीं है, इस बात को स्वीकार करने वाले, 'सर्व वस्तु सत् स्वरूप ही है' ऐसा कहने वाला स्वस्थ कैसे कहा जा सकता है अत: जैसे शब्द से अभिन्न गुण क्रिया आदि में शब्द का व्यभिचार है वैसे ही शुद्ध द्रव्यवादियों के शुद्ध अद्वैत द्रव्य में भी शब्द की प्रवृत्ति का व्यभिचार दोष आता है इसलिए शब्द को केवल अपने स्वरूप का प्रतिपादक कहना ही श्रेयस्कर है-अर्थात् सभी शब्द अपने स्वरूप का

प्रवृत्तिदर्शनात् । न किंचित्सदस्तीत्युपयन् सदेव सर्वमिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थो नाम, ततोनर्थान्तरे गुणादाविव शुद्धद्रव्येपि शब्दस्य व्यभिचारात् स्वरूपमात्राभिधायित्वमेव श्रेय इतीतरे । तकेत्र प्रष्टव्याः। कथममी शब्दाः स्वरूपमात्रं प्रकाशयंतो रूपादिभ्यो भिद्येरन् ? तेषामपि स्वरूपमात्रप्रकाशने व्यभिचाराभावात् । न स्वरूपप्रकाशिनो रूपादयोऽचेतनत्वादिति चेत्, किं वै शब्दश्चेतनः ? परमब्रह्मस्वभावत्वात् शब्दज्योतिषश्चेतनत्वमेवेति चेत् , रूपादयः किं न तत्स्वभावाः ? परमार्थतस्तेषामसत्त्वात् । अतत्स्वभावा एवेति चेत् , शब्दज्योतिरपि तत एव तत्स्वभावं मा भूत् । तस्य सत्यत्वे वा द्वैतसिद्धिः शब्दज्योतिःपरमब्रह्मणोः स्वभावतद्वतोर्वस्तुसतोर्भावात् शब्दज्योतिरसत्यमपि परमब्रह्मणोधिगत्युपायत्वात्तत्स्वरूपमुच्यते "शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छतीति" वचनात् । न तथा रूपादय इति चेत् कथमसत्यं तद्वदधिगतिनिमित्तं ?

ही कथन करते हैं, अन्य वाच्य अर्थ का नहीं। इस प्रकार शब्दाद्वैतवादियों ने शुद्ध द्रव्य वादियों के प्रति कथन किया है।

यहाँ से जैनाचार्य शब्दाद्वैतवादी के प्रति कहते हैं कि :

इस प्रकरण में शब्दाद्वैतवादी इस प्रकार पूछने योग्य है अर्थात् शब्दाद्वैतवादी से हम पूछते हैं- कि स्वकीय स्वरूप के प्रकाशक शब्द रूप रस आदि से भिन्न कैसे हो सकेंगे ? क्योंकि उन रूप रस आदिक के भी अपने स्वरूप का प्रकाश करने में व्यभिचार का अभाव है अर्थात् रूप रस आदि भी अपने स्वरूप का प्रकाशन करते ही हैं।

अचेतन होने से रूप आदि स्वरूप प्रकाशक नहीं हैं ऐसा कहने पर क्या शब्द चेतन है ? "चिद्रूप परम ब्रह्म का स्वभाव होने से शब्द रूप ज्योति चेतन है, ऐसा कहते हो तो फिर रूप आदि ब्रह्म के स्वभाव (वा ब्रह्म की पर्याय) होने से चेतन क्यों नहीं हैं ?

अर्थात् रूपादिक भी तो परम ब्रह्म से अभिन्न हैं। अतः वे ब्रह्म की पर्याय हैं।

रूप, रस आदि परमार्थ सत् नहीं हैं, इसलिए अतत् स्वभाव (परमब्रह्म का स्वरूप नहीं) हैं। ऐसा कहने पर शब्द ज्योति भी ब्रह्म का स्वभाव नहीं हो सकती क्योंकि शब्द रूप प्रकाश भी वास्तव में सत्पदार्थ नहीं है। यदि शब्द को सत्यस्वरूप स्वीकार करेंगे तो ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी अपितु द्वैत की सिद्धि होगी अतः शब्द ज्योति स्वभाव एक तत्त्व है और शब्द ज्योति स्वभाव का धारक परम ब्रह्म एक तत्त्व है। इस प्रकार दो तत्त्व की सिद्धि होती है। अर्थात् परमार्थ दो सत् पदार्थ हैं। अतः स्वभाव और स्वभाववान वस्तु का सद्भाव है।

अद्वैतवादी कहता है कि शब्द ज्योति असत्य है फिर भी वस्तुभूत परम ब्रह्म तत्त्व को जानने का उपाय है इसलिए शब्द तत्त्व परम ब्रह्म का स्वरूप कहा जाता है, ऐसा शब्दाद्वैत के ग्रन्थों में कहा है कि- "शब्द ब्रह्म में निष्णात (प्रवीण) मानव परम ब्रह्म को जान लेता है" वा परम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है,

रूपादीनामपि तथानुषंगाभावात् । तस्य विद्यानुकूलत्वाद्भावनाप्रकर्षसात्मीभावे विद्यावभाससमर्थकारणता न तु रूपादीनामिति चेत् , रूपादय: कुतो न विद्यानुकूला: ? भेदव्यवहारस्याविद्यात्मन: कारणत्वादिति चेत् , तत एव शब्दोपि विद्यानुकूलो मा भूत् । गुरुणोपदिष्टस्य तस्य रागादिप्रशमहेतुत्वाद्विद्यानुकूलत्वे रूपादीनां तथैव तदस्तु विशेषाभावात् । तेषामनिर्दिश्यत्वान्न गुरूपदिष्टत्वसंभव इति चेत् न, स्वमतविरोधात् । ''न सोस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥'' इति वचनात् । शाब्द: प्रत्यय: सर्व: शब्दान्वितो नान्य इति चायुक्तं, श्रोत्रजशब्दप्रत्ययस्याशब्दान्वितत्वप्रसक्ते: स्वाभिधानविशेषात्

असद्भूत शब्द परम ब्रह्म की ज्ञप्ति का उपाय कैसे हो सकता है? यदि असद्भूत शब्द परम ब्रह्म की ज्ञप्ति का उपाय होगा तब तो रूपादिक के भी परम ब्रह्म की ज्ञप्ति के उपाय का प्रसंग आयेगा।

शब्दाद्वैत- यद्यपि शब्द ज्योति परम ब्रह्म ज्ञान स्वरूप नहीं है तथापि सम्यग्ज्ञान रूप, विद्या का अनुकूल कारण होने से , तथा ज्ञान की भावना की प्रकर्षता से ब्रह्म के साथ तदात्मक होने से समीचीन ज्ञान के अवभास में समर्थ कारण हो जाता है।

परन्तु रूप रस आदि गुणों के अभेद ज्ञान रूप विद्या के प्रति समर्थ कारणता नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि रूप रस आदि गुण भेद विज्ञान रूप विद्या के अनुकूल क्यों नहीं हैं ? यदि कहो कि अविद्या स्वरूप भेद व्यवहार का कारण होने से रूपादि विद्या के अनुकूल नहीं हैं अपितु प्रतिकूल है, इस प्रकार तो शब्द भी विद्या के अनुकूल नहीं हो सकता क्योंकि शब्द भी घट पट, आदि भेद व्यवहार का कारण है ।

गुरु के द्वारा उपदिष्ट उस शब्द के रागादिक के प्रशमन का हेतुत्व होने से विद्यानुकूलत्व है ऐसा मानने पर तो उस प्रकार रूपादिक के भी विद्यानुकूलता हो सकती है क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है अर्थात् जिस प्रकार गुरुदेव के द्वारा उपदिष्ट शब्द रागद्वेष के उपशम (शान्त) करने में कारण होते हैं उसी प्रकार गुरु के द्वारा उपदिष्ट रूप रस आदि भी रागादिक के उपशमन में कारण हो सकते हैं; इन दोनों में गुरु उपदिष्ट हेतु में कोई विशेषता नहीं है अत: शब्द के समान रूप आदि भी सम्यग्ज्ञान के अनुकूल हैं।

रूपादिक के अनिर्दिश्यत्व (शब्द का विषय न) होने से गुरु के द्वारा उपदिष्टत्व संभव नहीं है (अर्थात् रूपादिक का गुरु उपदेश नहीं दे सकते क्योंकि वे शब्द के विषय नहीं हैं) ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दाद्वैत वादियों के स्वकीय मत का विरोध आता है।

उनके ग्रन्थ में कहा है कि ''लोक में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो शब्द के अनुगम (स्पर्श) के बिना होता हो'' ''सर्व ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ शब्द में अनुविद्ध (व्याप्त) हुए के समान अवभासित होते हैं और शब्द में प्रतिष्ठित हैं।''

शब्दों के संकेत द्वारा उत्पन्न सभी ज्ञान शब्द से अन्वित हैं परन्तु रूप रस आदि वा उनका ज्ञान शब्द से अन्वित नहीं है, ऐसा भी कहना युक्तिसंगत नहीं है- क्योंकि ऐसा मानने पर श्रोत्रेन्द्रियजन्य शब्द ज्ञान के शब्द से अन्वित नहीं होने का प्रसंग आता है अर्थात् इन्द्र शब्द सुनकर शचीपति इन्द्र को जान लेना

प्रत्यक्ष एवार्थः[१] प्रत्ययैर्निश्चीयत इत्यभ्युपगमाच्च । ननु च रूपादयः शब्दान्नार्थान्तरं तेषां तद्विवर्तत्वात् । ततो न ते गुरुणोपदिश्यंते येन विद्यानुकूलाः स्युरिति चेत् , तर्हि शब्दोपि परमब्रह्मणो नान्य इति कथं गुरुणोपदेश्यः। ततो भेदेन प्रकल्प्य शब्दं गुरुरुपदिशतीति चेत् , रूपादीनपि तथोपदिशतु । तथा च शब्दाद्वैतमुपायतत्त्वं परमब्रह्मणो न पुना रूपाद्वैतं रसाद्वैतादि चेति ब्रुवाणो न प्रेक्षावान् । ननु च लोके शब्दस्य परप्रतिपादनोपायत्वेन सुप्रतीतत्वात् सुघटस्तस्य गुरूपदेशो न तु रूपादीनामिति चेत् न, तेषामपि स्वप्रतिपत्त्युपायतया हि प्रतीतत्वात्। तद्विज्ञानं स्वप्रतिपत्त्युपायो न त एवेति चेत् तर्हि शब्दज्ञानं परस्य प्रतिपत्त्युपायो न शब्द इति समानं । परंपरया

शाब्द बोध है और 'इन्द्र' इन अक्षरों को सुन लेना श्रावण प्रत्यक्ष मतिज्ञान है। शब्दाद्वैतवादी शाब्द ज्ञान को तो शब्द से अन्वित मानते हैं परन्तु श्रावण प्रत्यक्ष को शब्द से अन्वित नहीं मानते हैं।

किं च, स्वकीय-स्वकीय वाचक शब्द विशेष से प्रत्यक्ष अर्थ ही उन ज्ञानों के द्वारा निश्चित किये जाते हैं, ऐसा शब्दाद्वैत वादियों ने स्वीकार किया है। (अत: रूपादिक को शब्द का विषय न मानने पर शब्दाद्वैतवादी के सिद्धान्त का व्याघात होता है।)

शब्दाद्वैतवादी का कथन है कि- रूपादिगुण शब्द तत्त्व से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वे रूपादि शब्द ब्रह्म की पर्याय हैं इसलिए रूप आदिक गुरु के द्वारा उपदिष्ट नहीं किये जाते हैं जिससे वे विद्या के अनुकूल हो सकते हैं अर्थात् रूपादिक गुरु के द्वारा अनिर्दिश्य होने से विद्यानुकूल नहीं होते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द तत्त्व भी परम ब्रह्म से भिन्न नहीं है अपितु परम ब्रह्म की पर्याय है, अत: शब्द तत्त्व गुरु के द्वारा निर्दिष्ट कैसे हो सकता है? यदि शब्दाद्वैत वादी कहे कि परम ब्रह्म से अभिन्न भी शब्द की भेद कल्पना करके गुरु उपदेश देते हैं, तब तो रूपादिक का भी परम ब्रह्म से भेद कल्पना करके गुरुदेव उपदेश दे सकते हैं। (इसमें क्या विरोध है)। तथा च (भेद कल्पना करके रूपादिक का उपदेश देने पर) शब्दाद्वैत ही परम ब्रह्म के जानने का उपाय हैं। रूपाद्वैत, रसाद्वैत आदि परमब्रह्म के जानने के लिए उपाय तत्त्व नहीं हैं-ऐसा कहने वाले ज्ञानवान नहीं हैं।

लोक में दूसरों के प्रति पदार्थों के प्रतिपादन का उपाय होने से शब्द की प्रतीति हो रही है अत: शब्द गुरु के द्वारा उपदिष्ट है- परन्तु रूपादिक दूसरों के प्रति पदार्थों के प्रतिपादन का उपाय नहीं होने से रूपादिकों के गुरु के द्वारा उपदिष्ट होना घटित नहीं होता है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है-क्योंकि उन रूपादिक के भी अपनी प्रतिपत्ति (ज्ञान) के उपायत्व की प्रतीति होती है अर्थात् रूपादिक भी अपने ज्ञान कराने के कारण तो हैं ही।

यदि कहो कि रूपादिक का ज्ञान स्वकीय रूप आदि की प्रतिपत्ति के कारण है-परन्तु स्वयं रूपादिक रूप ज्ञान के कारण नहीं हैं- तब तो शब्दज्ञान दूसरे के प्रति पदार्थों का ज्ञान कराने में कारण है स्वयं शब्द ज्ञान के कारण नहीं है, ऐसा भी हम कह सकते हैं। क्योंकि शब्द और रूप दोनों समान ही हैं- इनमें कोई विशेषता नहीं है।

---

१. स्वाभिधानविशेषापेक्षः एवार्थ-इति पाठान्तर

शब्दस्य प्रतिपत्त्युपायत्वे रूपादीनां सुप्रतिपत्त्युपायतास्तु। न हि धूमादिरूपादीनां विज्ञानात् पावकादिप्रतिपत्तिर्जनस्याप्रसिद्धाः । शब्दः साक्षात्परप्रतिपत्त्युपायस्तस्य प्रतिभासादभिन्नत्वादिति चेत् , तत एव रूपादयः साक्षात्स्वप्रतिपत्तिहेतवः संतु। एवं च यथा श्रोत्रप्रतिभासादभिन्नः शब्दस्तत्समानाधिकरणतया संवेदनाच्छ्रोत्रप्रतिभासश्च परमब्रह्म तत्त्वविकल्पाच्छब्दात् सोपि च ब्रह्मतत्त्वात्संवेदनमात्रलक्षणादव्यभिचारिस्वरूपादिति । ततः परमब्रह्मसिद्धिः । तथा रूपादयः स्वप्रतिभासादभिन्नाः, सोऽपि प्रतिभासमात्रविकल्पाल्लिंगात्, सोऽपि च परमात्मनः स्वसंवेदनमात्रलक्षणादिति न शब्दाद्रूपादीनां कंचन विशेषमुत्पश्यामः। सर्वथा तमपश्यन्तश्च शब्द एव स्वरूपप्रकाशनो न तु रूपादयः,

शब्द को परम्परा से ज्ञान के कारणत्व को स्वीकार करने पर रूप आदि के भी परम्परा से ज्ञान के प्रति उपायता प्रतीत होती है अर्थात् जैसे परम्परा से शब्द प्रमिति का उपाय है वैसे रूपादि भी परम्परा से प्रतीति के उपाय हैं ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि धूमादि के रूपादि के ज्ञान से अग्नि आदि के समीचीन ज्ञान की प्रतिपत्ति मनुष्यों को प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा नहीं हैं। अर्थात् धूम के रूप को देखकर परम्परा से अग्नि का ज्ञान होता ही है। अग्नि का साक्षात् कारण धूम का ज्ञान है और परम्परा से रूप रसादि से युक्त धूम कारण है।

यदि कहो कि शब्द तो अव्यवहित रूप से अन्य पदार्थों की प्रतिपत्ति का उपाय है क्योंकि वह शब्द तत्त्व ज्ञान प्रकाश से अभिन्न पदार्थ है तो हम जैन भी कह सकते हैं कि शब्द के समान प्रतिभास से अभिन्नहोने के कारण रूप रस आदि गुण भी साक्षात् (अव्यवहित) रूप से अपनी प्रतिपत्ति के कारण हो सकते हैं।

तथा इस प्रकार जैसे शब्दाद्वैत मत में, श्रोत्र जन्य श्रावण प्रत्यक्ष से शब्द अभिन्न है क्योंकि उस प्रतिभास के समान अधिकरण के द्वारा शब्द का संवेदन होता है। (अर्थात् ''शब्दः प्रतिभासते'' इसमें शब्द का प्रतिभासन क्रिया के साथ समान अधिकरण है। प्रतिभास क्रिया शब्द में रहती है)'' इसलिए श्रोत्र प्रतिभास और शब्द एक ही तत्त्व है, श्रोत्र प्रतिभास परमब्रह्म रूप है, तथा तत्त्व विकल्प रूप शब्द से, केवल संवेदन मात्र लक्षण तथा व्यभिचार रहित स्वभाव को धारण करने वाले ब्रह्म तत्त्व से शब्द प्रतिभास अभिन्न है।

अतः अद्वैतवादी जैसे शब्द को परम ब्रह्म सिद्ध करते हैं, वैसे ही रूप, रस आदिक तत्त्व भी अपने अपने प्रतिभास से अभिन्न है अर्थात् रूप का प्रतिभास होता है, रस का प्रतिभास होता है, ऐसी प्रतीति होती है अतः रूप से रूप का प्रतिभास अभिन्न है। रूप, रस आदि का प्रतिभास सामान्य प्रतिभास के विकल्प स्वरूप लिंग (हेतु) से अभिन्न है और वह हेतु सामान्य संवेदन रूप परमात्मा से अभिन्न है। इस प्रकार शब्द से रूप आदिक में कोई विशेष अन्तर हमको दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। इन दोनों में कोई विशेष दृष्टिगोचर नहीं होने पर भी हम कैसे जान लें कि शब्द ही अपने स्वरूप के प्रकाशक हैं, रूपादिक नहीं तथा शब्द ही परम ब्रह्म के स्वरूप के प्रकाशन करने के उपाय हैं-रूपादि परम ब्रह्म के प्रकाशन के उपाय नहीं हैं। वा शब्द ही परम ब्रह्म का स्वभाव है, रूपादिक गुण परम ब्रह्म का स्वभाव नहीं हैं।

स एव परमब्रह्मणोधिगमोपायस्तत्स्वभावो वा न पुनस्त इति कथं प्रतिपद्येमहि । अत्रापर: प्राह । पुरुषाद्वैतमेवास्तु पदार्थ: प्रधानशब्दब्रह्मादेस्तत्स्वभावत्वात्तस्यैव विधिरूपस्य नित्यद्रव्यत्वादिति । तदप्यसारं । तदन्यापोहस्य पदार्थत्वसिद्धे: । शब्दो हि ब्रह्म ब्रुवाण: स्वप्रतिपक्षादपोढं ब्रूयात् । किं वान्यथा प्रथमपक्षे विधिप्रतिषेधात्मनो वस्तुन: पदार्थत्वसिद्धि: द्वितीयपक्षेपि सैव, स्वप्रतिपक्षादव्यावृतस्य परमात्मन: शब्देनाभिधानात्। तद्विधिरेवान्यनिषेध इति चेत् , तदन्यप्रतिषेध एव तद्विधिरस्तु । तथा चान्यापोह एव पदार्थ: स्यात् स्वरूपस्य विधेस्तदपोह इति नाममात्रभेदादर्थो न भिद्यते एव यतोनिष्टसिद्धि: स्यादिति चेत् । न ।

भावार्थ : जब शब्द और रूपादि गुणों में कोई विशेषता ही नहीं है तो क्या कारण है कि शब्दाद्वैत को स्वीकार किया जावे और रूपाद्वैत और रसाद्वैत को स्वीकार नहीं किया जावे।

यहाँ दूसरा विशिष्टाद्वैतवादी कहता है :

पुरुषाद्वैत (ब्रह्माद्वैत) ही वास्तविक पदार्थ है। प्रधान, शब्द, ब्रह्म, संवेदन आदि सर्व उसी एक पुरुष (ब्रह्म) का स्वभाव (पर्याय) हैं। नित्य द्रव्य होने से, पुरुषाद्वैत ही विधि रूप होकर पद का वाच्य अर्थ होता है।

जैनाचार्य कहते हैं कि-ऐसा कहना सार रहित है, निस्सार है।

क्योंकि इस प्रकार कहने पर तो उनके द्वारा स्वीकृत अन्यापोह को भी पदार्थत्व की सिद्धि हो जाती है।

शब्दाद्वैत के द्वारा स्वीकृत "शब्द ब्रह्म वाचक है" वा जो शब्द को ब्रह्म कह रहा है वह अपने (ब्रह्म के) प्रतिपक्ष (विरुद्ध) पदार्थों से रहित केवल ब्रह्म को कहता है? अथवा अन्यथा (ब्रह्म से विरुद्ध पदार्थ का निषेध नहीं करते हुए) उस ब्रह्म का कथन करता है? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर तो विधि और प्रतिषेध स्वरूप वस्तु के पदार्थत्व की सिद्धि होती है अर्थात् ब्रह्माद्वैत की सिद्धि न होकर विधि और प्रतिषेध रूप द्वैत की सिद्धि हो जाती है क्योंकि शब्द ब्रह्म से अतिरिक्त पदार्थ का निषेध करता है और ब्रह्म का विधान करता है। दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर भी अद्वैत की सिद्धि न होकर द्वैत की सिद्धि होती है। क्योंकि अपने पक्ष से अपृथक् परमात्मा का शब्द के द्वारा निरूपण किया गया है अर्थात् शब्द के द्वारा विधि और निषेध का कथन किया जाता है । शब्द कभी भी विधि और निषेध में एक का कथन नहीं करता है।

परम ब्रह्म की विधि ही अन्य का निषेध है- ऐसा कहने पर तो अन्य का प्रतिषेध ही विधि का कथन होगा अर्थात् दु:ख का अभाव सुख और संसार का अभाव मोक्ष सिद्ध होता है अत: अन्यापोह ही पदार्थ सिद्ध होगा अर्थात् अन्यापोह भी पद का वाच्य अर्थ हो जायेगा।

ब्रह्म के स्वरूप की विधि का ही नाम है- अन्य पदार्थ का अपोह, केवल विधि और अपोह में नाम मात्र का भेद है अर्थ भेद नहीं है- जिससे द्वैत या निषेध पदार्थ की अनिष्ट सिद्धि हो सकती हो, अर्थात् नहीं हो सकती अर्थात् विधि का कथन करना या निषेध का कथन यह नाम मात्र भेद है अत: शब्द से द्वैत

अन्यापोहस्यान्यार्थापेक्षत्वात् स्वरूपविधे: परानपेक्षत्वादर्थभेदगते:। परमात्मन्यद्वये सति ततोन्यस्यार्थस्याभावात् कथं तदपेक्षयान्यापोह इति चेत् न। परपरिकल्पितस्यावश्याभ्युगमनीयत्वात् । सोप्यविद्यात्मक एवेति चेत् , किमविद्यातोपोहस्तदपेक्षो नेष्ट: ? सोप्यविद्यात्मक एवेति चेत् तर्हि तत्त्वतो नाविद्यातोपोह: परमात्मन इति कुतोविद्यात्वं येन स एव पदस्यार्थो नित्य: प्रतिष्ठेत । सत्यपि च परमात्मनि संवेदनात्मन्यद्वये कथं शब्दविषयत्वं ? स्वसंवेदनादेव तस्य प्रसिद्धेस्तत्प्रतिपत्तये शब्दवैयर्थ्यात् । ततो मिथ्याप्रवाद एवायं नित्यं द्रव्यं पदार्थ इति ।।

व्यक्तावेकत्र शब्देन निर्णीतायां कथंचन । तद्विशेषणभूताया जाते: संप्रत्यय: स्वत: ।।२५।।

गुडशब्दाद्यथा ज्ञाने गुडे माधुर्यनिर्णय: । स्वत: प्रतीयते लोके प्रोक्तो निंबे च तिक्तता ।।२६।।

की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अन्यापोह (निषेध) और स्वरूप की विधि में अन्तर है। अन्यापोह में अन्य अर्थों की अपेक्षा रहती है और स्वरूप की विधि में पर पदार्थों की अपेक्षा नहीं रहती है। यह इन दोनों में अन्तर है । इनमें भिन्न-भिन्न अर्थ ज्ञात होता है। परम ब्रह्म तत्त्व के सर्वथा एक (अद्वैत) होने पर उससे अन्य पदार्थों का अभाव हो जाने से अन्य पदार्थों की अपेक्षा रखने वाला अन्यापोह सिद्ध कैसे हो सकता है ऐसा पुरुषाद्वैत वादी का कहना भी सुसंगत नहीं है क्योंकि अन्य दर्शनों के द्वारा कल्पित पदार्थों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। उसका निषेध नहीं करना चाहिए।

यदि कहो कि परम ब्रह्म से भिन्न अन्य पदार्थ कल्पित होने से अविद्या स्वरूप हैं वास्तविक नहीं है तो क्या अविद्या से अपोह (व्यावृत्ति) करना अन्य पदार्थों की अपेक्षा युक्त आपने इष्ट नहीं किया है? अर्थात् अन्य पदार्थों का अपोह आपको इष्ट ही है।

यदि कहो कि परम ब्रह्म से अविद्या का अपोह करना अविद्यात्मक ही है तब तो वास्तविक रूप द्वारा परम ब्रह्म अविद्या से पृथक् नहीं हो सकता, अत: ब्रह्म को विद्यापन (सम्यग्ज्ञानत्व) कैसे हो सकता है अर्थात् अविद्या से रहितपना भी यदि अविद्या ही है तो वस्तुत: ब्रह्म अविद्या से रहित नहीं है। जिससे कि वह नित्य ब्रह्म ही पद का वाच्य अर्थ प्रतिष्ठित हो सके।

संवेदनात्मक परम ब्रह्म को अद्वैत मान लेने पर वह परमब्रह्म शब्द जन्य ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है। क्योंकि पुरुषाद्वैत मतानुसार परम ब्रह्म की संवेदन प्रत्यक्ष से ही सिद्धि हो जाती है अत: परम ब्रह्म की प्रतिपत्ति के लिए शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है। इसलिए पद का वाच्य अर्थ नित्य ही, है ऐसा कथन करना मिथ्या प्रवाद है। क्योंकि नित्य, अनित्य, विधि, निषेध, द्वैत, अद्वैत शब्द का वाच्य अर्थ है।

शब्द के द्वारा किसी भी प्रकार एक व्यक्ति के निर्णीत हो जाने पर उस व्यक्ति की विशेषण भूत हो रही जाति का स्वत: ज्ञान हो ही जाता है। जैसे गुड़ शब्द का ज्ञान हो जाने पर गुड़ में स्थित माधुर्य का निर्णय हो जाता है। तथा लोक में नीम की ज्ञप्ति होने पर उसमें स्थित तिक्तरस का ज्ञान स्वयमेव हो जाता है।।२५-२६।। पुन: व्यक्ति के द्वारा निर्णीत प्रतीति में आगत जाति के द्वारा लोक जिस-जिस अभीष्ट व्यक्ति

प्रतीतया पुनर्जात्या विशिष्टां व्यक्तिमीहिताम् । यां यां पश्यति तत्रायं प्रवर्तेतार्थसिद्धये ॥२७॥

तथा च सकलः शाब्दव्यवहारः प्रसिद्ध्यति । प्रतीतेर्बाधशून्यत्वादित्येके संप्रचक्षते ॥२८॥

न प्रधानं शुद्धद्रव्यं शब्दतत्त्वमात्मतत्त्वं वा द्वयं पदार्थः प्रतीतिबाधितत्वात् । नापि भेदवादिनां नानाव्यक्तिषु नित्यासु वाशब्दस्य प्रवृत्तिः तत्र संकेतकरणासंभवादिदोषावतारात् । किं तर्हि ? व्यक्तावेकस्यां शब्दः प्रवर्तते शृंगग्राहिकया परोपदेशाल्लिंगदर्शनाद्वा तस्यां ततो निर्णीतायां तद्विशेषणभूतायां जातौ स्वत एव निश्चयो यथा गुडादिशब्दाद्गुडादेर्निर्णये तद्विशेषणे माधुर्यादौ तथाभ्यासादिवशाल्लोके संप्रत्ययात् । ततः स्वनिश्चतयी जात्या विशिष्टामभिप्रेतां यां व्यक्तिं पश्यति तत्र तत्रेष्टसिद्धये प्रवर्तते । तावता च सकलशाब्दव्यवहारः सिद्ध्यति बाधकाभावादिति व्यक्तिपदार्थवादिनः प्राहुः ॥

तदप्यसंगतं जातिप्रतीतेर्वृत्तिसंभवे । शब्देनाजन्यमानायाः शब्दवृत्तिविरोधतः ॥२९॥

को देखता है, उन-उन व्यक्तियों में यह लोक (जीव) अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति करता है॥२७॥ तथा च (इस प्रकार) शब्द जन्य सम्पूर्ण लोक व्यवहार प्रसिद्ध होता है। इस समीचीन प्रवृत्ति के बाधक प्रमाण का अभाव है। इस प्रकार वैशेषिक आदि कोई कहते हैं॥२८॥

प्रधान (प्रकृति), शुद्ध द्रव्य, शब्द तत्त्व और अद्वैत आत्म तत्त्व ये पद के वाच्य अर्थ नहीं हैं। क्योंकि इस कथन में प्रमाण सिद्ध प्रतीतियाँ बाधित होती हैं अर्थात्-इस कथन में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से बाधा आती है।

तथा भेद का कथन करने वाले भेदवादियों के (द्वैतवादियों के) यहाँ मानी गयी नित्य और अनेक व्यक्तियों में शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और उन नित्य व्यक्तियों में संकेत करने को असंभवत्व, अनन्वय, प्रवृत्त्यभाव आदि अनेक दोषों का आविर्भाव होता है।

व्यक्तिवादी और जातिवादी दोनों का निराकरण

शंका : फिर पद का वाच्य अर्थ क्या है ? **समाधान :** शृंग ग्राहिका न्याय से (अंगुली के द्वारा निर्देश के समान अर्थात् अंगुलि का निर्देश एक व्यक्ति की तरफ ही होता है अतः) पहले शब्द एक ही व्यक्ति में प्रवृत्ति करता है और परोपदेश से वा हेतु के दृष्टिगोचर होने से उस व्यक्ति की निर्णय हो जाने पर व्यक्ति की विशेषण भूत जाति, स्वयमेव निर्णीत हो जाती है, जैसे गुड़ादि शब्द से गुड़ आदि का निर्णय हो जाने पर उनके विशेषण-भूत माधुर्य आदि में उस प्रकार के अभ्यास से लोक में ज्ञान हो ही जाता है, इसलिए स्वयं निश्चित जाति से विशिष्ट जिस व्यक्ति को मानव देखता है, उस-उसमें अपनी विशिष्ट सिद्धि के लिए प्रवृत्ति करता है। उतने (उस प्रवृत्ति) से ही सर्व शाब्द जन्य व्यवहार की सिद्धि हो जाती है, इसमें बाधक प्रमाण का अभाव है इस प्रकार व्यक्ति को पद का वाच्य अर्थ कहने वाले कहते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार व्यक्ति पदार्थ वादी का कहना सुसंगत नहीं है, क्योंकि शब्द के द्वारा अजन्यमान जाति की प्रतीति से जातिमान पदार्थ में प्रवृत्ति मान लेने पर शब्द की वृत्ति से विरोध आता है अर्थात् जाति से उत्पन्न वृत्ति को शब्द से उत्पन्न कहना विरुद्ध है॥२९॥

पारंपर्येण चेच्छब्दात्सा वृत्तिः करणान्न किम्। ततो न शब्दतो वृत्तिरेषां स्याज्जातिवादिवत्।।३०।।

प्रतीतायामपि शब्दाद्व्यक्तावेकत्र यावत् स्वतस्तज्जातिर्न प्रतीता न तावत्तद्विशिष्टां व्यक्तिं प्रतीत्य कश्चित् प्रवर्तते इति । जातिप्रत्ययादेव प्रवृत्तिसंभवे शब्दात् सा प्रवृत्तिरिति विरुद्धं, जातिप्रत्ययस्य शब्देनाजन्यमानत्वात् । शब्दाद्व्यक्तिप्रतीतिभावे तद्विशेषणभूताया जातेः संप्रत्ययात्तत एव जातिर्गम्यत एवेति चेत् , कथमेवं व्यक्तिवज्जातिरपि शब्दार्थो न स्यात्? तस्याः शब्दतोऽश्रूयमाणत्वादिति चेत् , किमिदानीं शब्दतो गम्यमानोर्थः शब्दस्याविषयः । प्रधानभावेनाविषय एवेति चेन्न, गम्यमानस्यापि प्रधानभावदर्शनात् यथा गुडशब्दाद्गम्यमानं माधुर्यं पित्तोपशमनप्रकरणे । न चात्र जातेरप्रधानत्वमुचितं तत्प्रतीतिमंतरेण प्रवृत्त्यर्थिनः

यदि वह प्रवृत्ति परम्परा से शब्द से उत्पन्न हुई कही जावेगी तो परम्परा से श्रोत्र इन्द्रिय से वह प्रवृत्ति होना क्यों नहीं मान लिया जाता है अतः केवल जाति को शब्द का वाच्य कहने वालों के समान इन व्यक्ति वादियों के भी शब्द के द्वारा शब्द बोध प्रक्रिया से पदार्थों में प्रवृत्ति होना घटित नहीं होता है।।३०।।

शब्द के द्वारा एक व्यक्ति की प्रतीति हो जाने पर भी जब तक उसमें रहने वाली जाति की स्वतः प्रतीति नहीं होती है, तब तक उस जाति से विशिष्ट व्यक्ति की प्रतीति करके कोई भी प्राणी प्रवृत्ति नहीं करता है इसलिए जाति ज्ञान से जाति विशिष्ट व्यक्ति का निर्णय करके जाति ज्ञान से प्रवृत्ति संभव होने पर, 'वह प्रवृत्ति शब्द से हुई है' ऐसा मानना विरुद्ध है क्योंकि व्यक्तिवादी के मतानुसार जाति का ज्ञान शब्दजन्य नहीं है।

व्यक्तिवादी कहता है कि शब्द से व्यक्ति का ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति की विशेषण भूत जाति का ज्ञान होता है। जैनाचार्य कहते है तब तो व्यक्ति के समान जाति भी शब्द का वाच्य अर्थ क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

यदि कहो कि जाति का शब्द के द्वारा अश्रूयमान (कर्ण का विषय नहीं) होने से श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा बोध नहीं होता। (अर्थात् व्यक्ति के विशेषण से ही जाति की ज्ञप्ति होती है स्वतः नहीं) तब तो इस समय शब्द के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञात पदार्थ शब्द का विषय नहीं हो सकता।

अर्थात् शब्द के द्वारा गम्यमान और उच्यमान दोनों ही अर्थ शब्द के वाच्य अर्थ हैं जैसे गृह इस शब्द का अर्थ घर और घर का कोना दोनों होते हैं।

व्यक्ति वादी कहता है कि शब्द के द्वारा कथित अर्थ तो प्रधान रूप से शब्द का विषय है-परन्तु अर्थापत्ति से लिया गया अर्थ प्रधान रूप से शब्द का विषय नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गम्यमान (शब्द के द्वारा जिसकी ज्ञप्ति होती है उस पदार्थ) की भी प्रधानता देखी जाती है। जैसे पित्त दोष के उपशमन के प्रकरण में गुड़ शब्द के द्वारा गम्यमान माधुर्य प्रधान हो जाता है। (अर्थात् माधुर्य का उच्चारण नहीं किया गया है तथापि गुड़ शब्द से गम्य होकर माधुर्य प्रधान हो जाता है) अतः व्यक्ति को प्रधान और जाति को अप्रधान कहना उचित नहीं है क्योंकि जाति की प्रतीति (निर्णय) किये बिना शब्द के द्वारा घटादिक में प्रवृत्ति करने के अभिलाषी पुरुष की प्रवृत्ति होना शक्य नहीं है। यदि व्यक्तिवादी

प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। यदि पुनर्जातिः शब्दाद्गम्यमानापि नेष्यते तत्प्रत्ययस्याभ्यासादिवशादेवोत्पत्तेस्तदा कथमशब्दाज्जातिप्रत्ययान्न प्रवृत्तिः? पारंपर्येण शब्दात् सा प्रवृत्तिरिति चेत् , करणात् किं न स्यात् ? यथैव हि शब्दाद्व्यक्तिप्रतीतिस्ततो जातिप्रत्ययस्ततस्तद्विशिष्टे हि तद्व्यक्तौ संप्रत्ययात् प्रवृत्तिरिति शब्दमूला सा तथा शब्दस्याप्यक्षात्प्रतीतेरक्षमूलास्तु तथा व्यवहारान्नैवमिति चेत् , समानमन्यत्र। ततो न व्यक्तिपदार्थवादिनां जातिपदार्थवादिनामिव शब्दात्समीहितार्थे प्रवृत्तिः शब्देनापरिच्छिन्न एव तत्र तेषां प्रवर्तनात्।

एतेन तद्द्वयस्यैव पदार्थत्वं निवारितम्। पक्षे द्वयोक्तदोषस्याशक्तेः स्याद्वादविद्विषाम् ॥३१॥

न हि जातिव्यक्ती परमभिन्ने भिन्ने वा सर्वथा संभाव्येते येन पदार्थत्वेन युगपत्प्रतीमः। येन स्वभावेन

पुनः जाति शब्द से गम्यमान है, ऐसा नहीं है अपितु जाति का ज्ञान अभ्यास प्रकरण आदि से उत्पन्न होता है, ऐसा मानता है तो जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो जाति शब्द के उच्चारण के बिना ही जाति ज्ञान से व्यक्ति में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है। यदि कहो कि परम्परा से शब्द के द्वारा वह प्रवृत्ति हुई है अतः ऐसा कहा जाता है कि शब्द से प्रवृत्ति हुई है। तो परम्परा से इन्द्रियों के द्वारा प्रवृत्ति होती है ऐसा क्यों नहीं कहा जाता है। जैसे शब्द से पूर्व व्यक्ति की प्रतीति है, तदनन्तर जाति का ज्ञान होता है, तदनन्तर जाति विशिष्ट व्यक्ति में शाब्द बोध होने से प्रवृत्ति होती है अतः प्रवृत्ति का मूल कारण परम्परा से शब्द है।

उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द को जानकर व्यक्ति का ज्ञान होता है, व्यक्ति से जाति का और तदनन्तर जाति विशिष्ट व्यक्ति का निर्णय करके शाब्द-बोध से व्यक्ति में प्रवृत्ति होती है, इसलिए प्रवृत्ति की मूल कारण श्रोत्र इन्द्रिय है।

व्यक्तिवादी कहता है कि शाब्द बोध प्रकरण में श्रोत्र इन्द्रिय से प्रवृत्ति होने का व्यवहार नहीं होता है अपितु शब्द से प्रवृत्ति का व्यवहार होता है अतः श्रोत्र इन्द्रिय परम्परा से प्रवृत्ति का मूल कारण नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि दूसरे स्थल (गम्यमान जाति को भी शब्द का वाच्य अर्थ स्वीकार करने) में भी समान ही हैं अर्थात् न्याय प्राप्त विषय को सर्वत्र समान रूप से व्यवहार करना चाहिए।

इससे यह सिद्ध होता कि जाति को पद का वाच्य अर्थ कहने वाले मीमांसक के समान व्यक्ति पदार्थ वादियों के यहाँ भी शब्द के द्वारा अभीष्ट अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि शब्द के द्वारा अज्ञात वस्तु में ही व्यक्तिवादियों की जातिवादियों के समान यद्वा तद्वा प्रवृत्ति होगी।

उपर्युक्त कथन से व्यक्तिवादी और जातिवादी दोनों के पदार्थत्व (पद के अर्थ का, वाच्यपने) का निराकरण कर दिया गया है क्योंकि स्याद्वाद से द्वेष रखने वाले एकान्तवादियों के दोनों पक्ष स्वीकार करने वाले के भी उपरि कथित दोनों पक्षों में दोषों का प्रसंग आता है॥३१॥

जाति और व्यक्ति दोनों ही सर्वथा भिन्न और अभिन्न संभव नहीं हैं। जिससे पद के वाच्य अर्थ को युगपत् हम जान लेते हैं। जिस स्वभाव से जाति और व्यक्ति भिन्न हैं उसी स्वभाव से अभिन्न हैं, ऐसा कथन विरुद्ध पड़ता है।

भिन्ने तेनैवाभिन्ने इत्यपि विरुद्धं, क्रमेण जातिव्यक्त्योः परस्परानपेक्षयोः पदार्थत्वे पक्षद्वयोक्तदोषासक्तिः । क्वचिज्जातिशब्दात् प्रतीत्य लक्षणया व्यक्तिं प्रतिपद्यते, क्वचिद्व्यक्तिं प्रतीत्य जातिमिति हि जातिव्यक्तिपदार्थवादिपक्षादेवासकृज्जातिव्यक्त्यात्मवस्तुनः पदार्थत्वे किमनेन स्याद्वादविद्वेषेण । केचिदत्राकृतिपदार्थवादिनः प्राहुः ॥

लोहिताकृतिमाचष्टे यथोक्तो लोहितध्वनिः । लोहिताकृत्यधिष्ठाने विभागाल्लोहिते गुणे ॥३२॥

तदावेशात्तथा तत्र प्रत्ययस्य समुद्भवात् । द्रव्ये च समवायेन प्रसूयेत तदाश्रये ॥३३॥

गुणे समाश्रितत्वेन समवायात्तदाकृतेः । संयुक्तसमवेते च द्रव्येन्यत्रोपपादयेत् ॥३४॥

परस्पर अनपेक्ष जाति और व्यक्ति के क्रम से पद का वाच्य अर्थ होता है, ऐसा मानने पर दोनों पक्षों में कहे गये दोषों का प्रसंग आता है। (अर्थात् शब्द के द्वारा युगपत् और क्रम से उनका ज्ञान नहीं हो सकता)। कहीं तो शब्द के द्वारा जाति को जानकर श्रोता तथानुपपत्ति या अन्वयानुपपत्ति का प्रकरण होने पर लक्षणा के द्वारा व्यक्ति को जानता है और कहीं परस्पर की अपेक्षा रखने वाली व्यक्ति का निर्णय कर उसका विशेषण रूप जाति को जान लेता है। इस प्रकार जाति और व्यक्ति को पद का वाच्य अर्थ कहने वाले वादी के पक्ष से बार-बार जाति व्यक्ति स्वरूप वस्तु को ही पद का वाच्यअर्थपना आता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो स्याद्वाद के साथ द्वेष करने से क्या प्रयोजन है। अर्थात् सदृश परिणामरूप जाति और विशेष परिणामों के आधार पर व्यक्ति, इन दोनों से युगपत् तदात्मक वस्तु को पद का वाच्य अर्थ स्याद्वाद की शरण लेने से ही बन सकता है। स्याद्वाद मत में ही वस्तु जाति और व्यक्ति का तदात्मक पिण्ड है।

कोई पदार्थ की आकृति (आकार) को ही पद का वाच्य अर्थ कहते हैं उनका मन्तव्य कहते हैं :-

अवयवों की रचना विशेष वा संस्थान विशेष को आकृति कहते हैं जैसे वक्ता के द्वारा कथित लोहित (रक्त) शब्द रक्त के संस्थान विशेष आकृति को कह देता है। गुण और आकृति का विभाग करने से लोहित आकृति के आधारभूत उस लोहित गुण में भी उस आकृति के आवेश से लोहित गुण का ज्ञान हो जाता है तथा समवाय सम्बन्ध से गुण के आधारभूत द्रव्य में भी लोहित का ज्ञान हो जाता हैं।

रक्त (यह शब्द) दो वस्त्रों से घिरे हुए शुक्ल वस्त्र में भी रक्त ज्ञान उत्पन्न कर देता है क्योंकि समवाय सम्बन्ध से वह आकृति गुणों में आश्रित है तथा संयुक्त समवाय सम्बन्ध से, वह आकृति दूसरे द्रव्यों में स्थित होकर भी रक्त और वस्त्र इन दोनों में लोहित ज्ञान को युक्ति से उत्पन्न करा देती है अर्थात् रक्त शब्द रक्त की रचना विशेष को कहता है। वह रचना गुण में होती है और गुण द्रव्य में रहते हैं द्रव्य दूसरे द्रव्य से संयुक्त रहता है। जैसे रक्त आकृति है, वह लाल गुण में रहता है, गुण किसी द्रव्य के आश्रय है और वह द्रव्य साड़ी आदि के आश्रित है। इस परम्परा से जैसे गुण वाचक लोहित शब्द गुण द्रव्य और द्रव्यान्तर को जैसे प्रतिपादन करता है वैसे ही जाति वाचक गो शब्द भी स्वत: अपने सींग, सास्ना आदि अवयवों

लोहितप्रत्ययं रक्तवस्त्रद्रव्यवृतेपि च। तथा गौरिति शब्दोपि कथयत्याकृतिं स्वतः ॥३५॥

गोत्वरूपात्तदावेशात्तदधिष्ठान एव तु। तदाश्रये च गोपिंडे गोबुद्धिं कुरुतेंजसा ॥३६॥

कस्मात् पुनर्गुणे द्रव्ये द्रव्यांतरे च प्रत्ययं कुर्वन्नाकृतेरभिधायकः शब्द इति न चोद्यं, लोहितशब्दो ह्यर्थांतरनिरपेक्षो गुणसामान्ये स्वरूपं प्रतिलब्धस्वरूपः तदधिष्ठानो यदा न गुणस्य लोहितस्य नाप्यलोहितत्वेन व्यावेशात्प्रत्यायनं करोति तदा विभागाभावादाकृत्यधिष्ठान एव। स तु गुणे प्रत्ययमादधतीत्याकृतिमभिधत्ते। यथोपाश्रयविशेषात् स्फटिकमणि- तद्गुणमुपलभ्यमानमध्यक्षं स्फटिकमणेरेव प्रकाशकं तदधिष्ठानस्य परोपहितगुणव्यावेशादविभागेन तद्गुणत्वप्रत्ययजननात्। एवं द्रव्यमभिदधानो लोहितशब्दः

की आकृति (रचना विशेष) को कहता है। तथा उस गोत्व रूप आकृति के आवेश से उस गोत्व के आधारभूत गो के अवयवों में गो का ज्ञान करा देता है। तथा गौ के अवयवों के संयोगी वा अवयवों के आधारभूत पिण्डरूप गो व्यक्ति में शीघ्र ही गो का ज्ञान करा देता है अर्थात् गो शब्द साक्षात् गो की आकृति को कहता है और परम्परा से गो के अवयव गौ और अन्य गायों का भी ज्ञान करा देते हैं॥३२-३३-३४-३५-३६॥

आकृतिवादी कहते हैं कि "गुण, द्रव्य और द्रव्यान्तरों में स्वजन्य ज्ञान को करने वाले शब्द को आकृति का ही ज्ञान कराने वाला क्यों कहते हैं, गुण आदि का ज्ञान कराने वाले क्यों नहीं कहते हैं" ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

क्योंकि रक्त शब्द अन्य अर्थों की अपेक्षा न करके सामान्य रूप से रक्तगुण में अपने स्वरूप का लक्षण लाभ करता हुआ गुण सामान्य का अवलम्बन लेकर प्रतिष्ठित है। जब वह लोहित शब्द अलोहित के आवेश से निषिद्ध होकर लोहित गुण का ज्ञान नहीं कराता है, तब गुण-गुणी के विभाग का अभाव होने से वह लोहित शब्द आकृति में ही अधिष्ठित रहता है। वही लोहित शब्द रक्त गुण का ज्ञान करता हुआ लोहित (रक्त) की आकृति को कह देता है जैसे उपाधि विशेष से युक्त स्फटिक मणि को जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान उस उपाधि के गुणों को जानता हुआ भी स्फटिक प्रकाशक होता है क्योंकि उस गुण के आक्रमण का अन्य उपाधियुक्त गुण के आवेश से विभाग न करके गुणत्व के ज्ञान का जनक होता है अर्थात् जिस प्रकार जपा पुष्प की लालिमा स्फटिक मणि में आरोपित कर ली जाती है, इसी प्रकार लोहित शब्द भी परम्परा से द्रव्य का संकेत कर रहा है। तथा लोहित शब्द का साक्षात् अपना वाच्य अर्थ लोहित रूप आकृति है और उस आकृति की लोहित गुण में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तना होती है, अतः लोहित गुण का द्रव्य में समवाय सम्बन्ध है। जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता है, वह समवाय समवेत कहलाता है। अतः परम्परा से गुण के व्यवधानयुक्तद्रव्य में भी लोहित शब्द लोहित ज्ञान को उत्पन्न करा देता है क्योंकि आकृति का आधार समवेत समवाय नामक परम्परा सम्बन्ध से द्रव्य ही है।

स्वाभिधेयलोहितत्वाकृतेर्लोहितगुणे समवेतायास्तस्य च द्रव्ये समवेतत्वादाकृत्यधिष्ठान एव तत्समवेतसमवायाद्गुणव्यवहितेपि द्रव्ये लोहितप्रत्ययमुपपादयेत् , एवमन्यत्र द्रव्ये लोहितद्रव्यस्य संयुक्तत्वात् तत्र च लोहितगुणस्य समवेतत्वात् तत्र च लोहिताकृतेः समवायात् संयुक्तसमवेतसमवायांतरमुपजनयेत् । एवं तु वस्त्रद्वयवृते शुक्ले वस्त्रे संयुक्तसमवेतसमवायादिति यथा प्रतीतं लोके तथा गौरिति शब्दादपि स्वतो गोत्वरूपामाकृतिं कथयति तत्र प्रतिलब्धस्वरूपस्तदधिष्ठान एव तद्गोपिंडे गोप्रत्ययं करोत्यविभागेन तस्य तदावेशात् ॥

एवं पचतिशब्दोधिश्रयणादिक्रियागतैः । सामान्यैः सममेकार्थसमवेतं प्रबोधयेत् ॥३७॥
व्यापकं पचिसामान्यमधिश्रित्यादिकर्मणाम् । यथा भ्रमणसामान्यं भ्रमतीति ध्वनिर्जने ॥३८॥

पचत्यादिशब्दः क्रियाप्रतिपादक एव नाकृतिविषय इति मा मंस्थाः स्वयमाकृत्यधिष्ठानस्य तस्य पचनादिक्रियाप्रत्ययहेतुत्वात्। पचतिशब्दो हि याः काश्चनाधिश्रयणादिक्रियास्तासां यानि प्रत्यर्थनियतान्यधिश्रयणत्वादिसामान्यानि तैः सहैकार्थे समवेतं यत्सर्वविषयं पचिसामान्यमभिव्यक्तं तत्प्रतिपादयति यथा भ्रमतिशब्दोऽनेककर्मविषयं भ्रमणसामान्यं लोके ॥

इस प्रकार अन्य (दूसरे) द्रव्य में लोहित द्रव्य का संयुक्तपना होने से, और उसमें लोहित गुण का समवेत होने से तथा लोहित आकृति का समवाय होने से लोहित शब्द संयुक्त समवेत समवाय से द्रव्यान्तर में भी लोहित ज्ञान उत्पन्न करा देता है तथा जैसे दोनों ओर से रक्त वस्त्र से वेष्टित शुक्ल वस्त्र में भी, संयुक्त समवेत समवायसम्बन्ध से लोहित शब्द लोहित ज्ञान उत्पन्न करा देता है, ऐसी लोक प्रतीति होती है। उसी प्रकार 'गौ' यह शब्द भी स्वकीय आकृति को कहता है और गोरूपत्व आकृति में अपना स्वरूप लाभ करता हुआ 'गौ' शब्द व्यक्तिरूप गोपिण्ड में गो का ज्ञान करा देता है क्योंकि आकृति और व्यक्ति में अविभाग से प्रतिभास होता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि गुणों का कथन करने वाला 'लोहित' शब्द तथा जाति को कहने वाला 'गो शब्द' ये सभी शब्द आकृति को ही कहते हैं।

इसी प्रकार **क्रियावाची** पचति शब्द अधिश्रिति (पचति क्रिया के आधार से होने वाली) क्लेदन, पचन आदि क्रियागत सामान्य के साथ एकार्थ समवाय सम्बन्ध से पचन सामान्य रूप आकृति का ज्ञान कराता है। जैसे भ्रमति शब्द लोक में भ्रमण करने वाले भ्रमण सामान्य का ज्ञान कराता है वैसे ही पचन क्रिया की व्याप्य, क्लेदन, अधिश्रिति आदि क्रियाओं में व्यापक रूप से रहने वाली पचन सामान्य रूप आकृति को पचति शब्द ज्ञान कराता है। अर्थात् क्रियावाची शब्द से भी आकृति का ही ज्ञान होता है॥३७-३८॥

पचति आदि शब्द क्रिया के ही प्रतिपादक हैं, आकृति के विषय के प्रतिपादक नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि पचन आदि क्रिया शब्दों के द्वारा स्वयं आकृति के अधिकरण हो रहे उस अर्थ के पचन आदि क्रिया का ज्ञान कराने की कारणता होती है।

क्योंकि 'पचति' शब्द जो कोई भी विक्लेदन, अधिश्रयण आदि क्रियाएँ हैं, उनके प्रत्येक क्रिया रूप अर्थ में नियमित होकर स्थित अधिश्रयणत्व, विक्लेदनत्व आदि सामान्य हैं, उनके साथ एक अर्थ में

तथा डित्थादिशब्दाश्च पूर्वापरविशेषगम् । यदृच्छत्वादिसामान्यं तस्यैव प्रतिबोधकाः ।।३९।।

न हि डित्थो डवित्थ इत्यादयो यदृच्छाशब्दास्तैरपि डित्थत्वाद्याकृतेरभिधानात् ।।

इत्येवमाकृतिं शब्दस्यार्थं ये नाम मेनिरे। तेनातिशेरते जातिवादिनं प्रोक्तनीतितः ।।४०।।

जातिराकृतिरित्यर्थभेदाभावात्कथंचन । गुणत्वे त्वाकृतेर्व्यक्तिवाद एवास्थितो भवेत् ।।४१।।

न सर्वा जातिराकृतिर्नापि गुणश्चतुरस्रादिसंस्थानलक्षणः। किं तर्हि ? संस्थानविशेषव्यंग्या जातिर्लोहितत्वगोत्वादिराकृतिः सा च संस्थानविशेषानभिव्यंग्यायाः सत्त्वादिजातेरन्या। न सर्वं संस्थानविशेषेणैव व्यंग्यं तद्रहिताकाशादिष्वपि भावात् । द्रव्यत्वमनेनातद्व्यंग्यमुक्तं तथा गुणेषु संस्थानविशेषाभावात् ।

समवाय सम्बन्ध से स्थित सर्व क्रिया धर्मों को विषय करने वाला अभिव्यक्त पचन सामान्य का प्रतिपादन करता हैं। जैसे भ्रमण शब्द लोक में अनेक घूमने रूप क्रियाओं को विषय करने वाले भ्रमण सामान्य का कथन करता हैं। जैसे द्रव्य शब्द, क्रिया शब्द, संयोगी शब्द, समवायी शब्द आकृति को कहते हैं, वैसे ही डित्थ, डवित्थ आदि यदृच्छा शब्द भी पूर्वापर (पहले और पीछे) विशेषों में रहने वाले यदृच्छत्व आदि सामान्य के प्रतिबोधक हैं। अर्थात् पूर्वापर में रहने वाली सामान्य जाति रूप आकृति का ज्ञान कराने वाले हैं।।३९।।

डित्थ,[१] डवित्थ,[२] पुस्त[३] इत्यादिक शब्द स्वतंत्र यदृच्छा शब्द नहीं हैं किन्तु उन डित्थ आदि शब्दों के द्वारा भी डित्थपना आदि आकृति का ही कथन होता है अर्थात् अपनी इच्छानुसार किसी का नाम रखा जाता है वह यदृच्छा शब्द (नाम) कहलाता है। वह यदृच्छा शब्द भी आकृति का ही द्योतक है।

इस प्रकार जो आकृति को ही शब्द का वाच्य अर्थ मानते हैं, वे ऊपरी कथित नीति से जातिवाद का उल्लंघन नहीं करते हैं अर्थात् जाति के व्याप्य आकृति को शब्द का वाच्यार्थ मानना वा जाति को शब्द का वाच्यार्थ मानना एक ही है।।४०।।

कथंचन (किसी प्रकार से) जाति और आकृति में अर्थभेद का अभाव है अर्थात् जाति और आकृति एक ही पदार्थ हैं। तथा आकृति को गुण मान लेने पर व्यक्तिवाद की उपस्थिति हो जाती है ।।४०-४१।।

कोई वादी कहता है कि सर्व जातियाँ आकृति नहीं हैं और सम्पूर्ण चतुष्कोण त्रिकोण आदि संस्थान लक्षण वाले गुण भी आकृति नहीं हैं। **प्रश्न :** तो फिर आकृति किसको कहते हैं ? **उत्तर :** संस्थान विशेष से अभिव्यक्त लोहित्व, गोत्व आदि जाति आकृति हैं। वह आकृति संस्थान विशेष से अभिव्यक्त (प्रगट) नहीं होने वाली सत्व आदि जाति से पृथक् हैं। संस्थान आदि से रहित आकाश, काल आदि पदार्थों में सत्त्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य जाति विशेष का सद्भाव होने से जाति सर्व संस्थान आदि से प्रगट होती है, ऐसा नहीं कह सकते। अतः सभी सामान्य संस्थान विशेष से ही प्रगट होता है, यह नियम नहीं है। तथा इस

---

१. काठ से निर्मित हाथी का नाम डित्थ है।

२. खैर की लकड़ी के बने हुए मनुष्य का नाम डवित्थ है और

३. कपड़े से निर्मित मनुष्य आदि को पुस्त कहते हैं।

तद्वदात्मत्वादि तदनभिव्यंग्यं बहुधा प्रत्येयं । गोत्वं पुनर्न सास्नादिसन्निवेशविशेषमंतरेण पिंडमात्रेण युज्यते अश्वादिपिंडेनापि तदभिव्यक्तिप्रसंगात् । तथा राजत्वमानुषत्वादि सर्वमिति कश्चित् । सोपि न विपश्चित् । लोहितत्वादेः संस्थानविशेषरहितेन लोहितादिगुणेन व्यवच्छेद्यमानत्वात् । पचत्यादिसामान्यस्य च पचनादिकर्मणा तादृशेन व्यंग्यत्वादाकृतित्वाभावानुषंगात् । सत्त्वादिजातेश्चाकृतित्वानभ्युपगमे कथमाकृतिरेव पदार्थ इत्येकांतः सिद्ध्येत् । जातिगुणकर्मणामपि पदार्थत्वसिद्धेर्व्यक्त्याकृतिजातयश्च पदार्थ इत्यभ्युपगच्छतामदोष इति चेन्न, तेषामपि कस्यचित् पदस्य व्यक्तिरेवार्थः कस्यचिदाकृतिरेव कस्यचिज्जातिरेवेत्येकांतोपगमात् पक्षत्रयोक्तदोषानुषक्तेः। किं च। संस्थानविशेषेण व्यज्यमानां जातिमाकृतिं वदतां कुतः संस्थानानां विशेषः

कथन से द्रव्यत्व नाम का सामान्य भी संस्थान से अभिव्यक्त नहीं होता है। यह भी कह दिया गया है। किं च, गुणों में भी संस्थान विशेष का अभाव है अर्थात् गुणों में गुण नहीं रहते हैं और संस्थान मीमांसक मतानुसार चौबीसवाँ गुण हैं। इसी प्रकार आत्मत्व, दिशात्व आदि बहुत सी जातियाँ भी संस्थान विशेष से अभिव्यक्त नहीं होती हैं-ऐसा जान लेना चाहिए। परन्तु अनेक गायों में रहने वाली गोत्व जाति सास्नादि रचना विशेष के बिना शरीर मात्र के साथ युक्त नहीं होती है क्योंकि यदि गोत्व जाति सास्नादि रचना विशेष के बिना शरीर मात्र के साथ युक्तहोगी तो अश्व, गज आदि के शरीर के साथ भी गोत्व की अभिव्यक्ति होने का प्रसंग आयेगा।

अत: विशेष अवयवों की रचना से जाति प्रगट होती है वह आकृति है। ऐसा होने पर मनुष्यादि विशेष रचनाओं से विशिष्ट मनुष्यत्व, राजत्व, पशुत्व गोत्व आदि सभी विशेष जातियाँ आकृति हो जाती हैं वे आकृतियाँ शब्द के वाच्य अर्थ हैं।

इस प्रकार आकृतिवादी के द्वारा कथन कर लेने पर जैनाचार्य कहते हैं कि आकृतिवादी भी विचारशील पण्डित नहीं हैं क्योंकि लोहितत्व आदि जातियों का विशेष संस्थान से रहित लोहितादि गुण के द्वारा व्यवच्छेद हो जाता है अर्थात् गुणों में रहने वाली लोहित आदि जातियाँ आकार रहित होकर भी गुणों के द्वारा प्रगट हो जाती हैं।

तथा पचति आदि क्रियाओं में रहने वाली समान जातियाँ भी संस्थान विशेष रहित पचन आदि कर्म से प्रगट हो जाती हैं। यदि संस्थान विशेषों से ही आकृति रूप जाति का प्रगट होना मानेंगे तो लोहितत्व भ्रमणत्व आदि जातियों के आकृति के अभाव का प्रसंग आयेगा। यदि आकृतिवादी सत्त्व, द्रव्यत्व, आत्मत्व आदि जातियों को आकृति रहित मानेंगे तो ''आकृति ही शब्द का वाच्य अर्थ है'' ऐसा एकान्त कैसे सिद्ध होगा। क्योंकि जाति, गुण और कर्म इन सबके भी पद का वाच्यार्थत्व सिद्ध है। परन्तु आकृतिवादी के मतानुसार जाति, गुण, कर्म में संस्थान विशेष नहीं हैं। अत: एकान्त से संस्थान विशेष से आविर्भूत जातिरूप आकृति ही शब्द का वाच्यार्थ है, यह कैसे कहा जा सकता है।

गो, रक्त, घूमना आदि जाति गुण क्रिया रूप व्यक्तियाँ हैं। संस्थान विशेष से प्रगट होने वाली जाति रूप आकृतियाँ हैं और नित्य जातियाँ हैं।

सिद्ध्येत् येनाकृतीनां विशेषस्तद्व्यंग्यतयावतिष्ठेत । न तावत्स्वत एव तन्निश्चितिरतिप्रसंगात् । परस्माद्विशेषणात्तद्विशेषो निश्चीयते इति चेत्, तद्विशेषणस्यापि कुतो विशेषोवसीयतां ? परस्माद्विशेषणादिति चेदनवस्थानात् । संस्थानविशेषा प्रतिपत्तिरिति कथं तद्व्यंग्याकृतिविशेषनिश्चय: । यदि पुनराकृतिविशेषनिश्चयादेतदभिव्यंजकसंस्थानविशेषनिश्चय: स्यादिति मतं तदा परस्पराश्रयणं, संस्थानविशेषस्य निश्चये सत्याकृतिविशेषस्य निश्चयस्तन्निश्चये सति संस्थानविशेषनिश्चय इति। स्वत एवाकृतिविशेषस्य निश्चयाददोष इति चेत् न, संस्थानविशेषनिश्चयस्यापि स्वत एवानुषंगात् । प्रत्ययविशेषादाकृतिविशेष:

ये व्यक्ति, आकृति और जाति पद का वाच्य अर्थ है ऐसा स्वीकार करने पर आकृतिवादी नैयायिकों के कथन में कोई दोष नहीं आता है-ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि व्यक्ति, आकृति और जाति इन तीनों को वाच्यार्थ स्वीकार करने वाले के मतानुसार किसी पद का अर्थ व्यक्ति है, किसी पद का अर्थ आकृति है और किसी पद का अर्थ जाति है, यह सिद्ध हो जाने पर पद का अर्थ आकृति ही है यह एकान्त से कैसे घटित हो सकता है वा जाति ही, व्यक्ति ही और आकृति ही पद का वाच्य अर्थ है-ऐसा एकान्त स्वीकार करने पर तीनों पक्ष में कथित दोषों का अनुषंग (प्रसंग) आता है।

किं च-संस्थान विशेष से अभिव्यक्त जाति को आकृति कहने वाले के संस्थानों (आकृतियों) का विशेषपना किस हेतु से सिद्ध होता है ? जिससे उस विशेष संस्थान से अभिव्यक्त आकृतियों की विशेष व्यवस्था हो सके वा विशेष संस्थान से अभिव्यक्त आकृतियाँ प्रगट रूप से व्यवस्थित हो सकें अर्थात् गोत्व आदि रचना विशेष का हेतु क्या है, जिससे गोत्व आदि विशेष आकृतियों का बोध हो सके ?

संस्थान विशेष का स्वयमेव निर्णय नहीं होता है क्योंकि स्वयमेव आकृतियों का निर्णय मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् किसी भी आकृति का किसी में निर्णय हो जायेगा, गोत्व में हाथी का भी निर्णय हो जाने से अतिप्रसंग दोष आता है।

दूसरे विशेषणों से संस्थान विशेष का निर्णय होता है ऐसा मानने पर तो उन संस्थान विशेष का निर्णय कराने वाले विशेषणों की विशेषताओं का निश्चय किस हेतु से किया जायेगा। उसका भी निर्णय दूसरे कारण से होता है-ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आता है। तथा संस्थान विशेष का निर्णय (प्रतिपत्ति) न होने पर संस्थान विशेष से अभिव्यक्त आकृति विशेष का निश्चय वा निर्णय कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

यदि पुन: आकृति विशेष के निश्चय से इस अभिव्यक्त आकृति विशेष का निश्चय हो जाता है, ऐसा मानते हो तो, अन्योऽन्याश्रय दोष आता है क्योंकि संस्थान विशेष का निश्चय होने पर आकृति विशेष का निर्णय होगा और आकृति विशेष का निर्णय होने पर संस्थान विशेष का निर्णय होगा इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आयेगा।

स्वत: ही आकृति विशेष का निश्चय हो जाने से दोष नहीं आता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर संस्थान विशेष के भी स्वत: निश्चय होने का प्रसंग आयेगा।

संस्थानविशेषश्च निश्चीयत इति चेत् , कुत:प्रत्ययविशेषसिद्धि:? न तावत्स्वसंवेदनत: सिद्धांतविरोधात् । प्रत्ययांतराच्चेदनवस्था । विषयविशेषनिर्णयादिति चेत् , परस्पराश्रयणं, विषयविशेषस्य सिद्धौ प्रत्ययविशेषस्य सिद्धि: तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति । न चैवं सर्वत्र विशेषव्यवस्थापह्नव: स्वसंविदितज्ञानवादिनां प्रत्ययविशेषस्य स्वार्थव्यवसायात्मन: स्वत: सिद्धे: सर्वत्र विषयव्यवस्थोपपत्ते:। कथं चायमाकृतीनां गोत्वादीनां परस्परं विशिष्टकृतामपरविशेषेण विरहोपि स्वयमुपपन्न:। गवादिव्यक्तीनां विशेषणवशादेव तामुपगच्छेत् तथा दृष्टत्वादिति चेत् न, तत्रैव विवादात् । तदविवादे वा व्यक्त्याकृत्यात्मकस्य वस्तुन: पदार्थत्वसिद्धिस्तथा दर्शनस्य सर्वत्र भावात् । योपि मन्यतेऽन्यापोहमात्रं शब्दस्यार्थ इति तस्यापि----

यदि आकृतिवादी कहें कि ज्ञान विशेष से आकृति विशेष और संस्थान विशेष का निर्णय होता है तो जैनाचार्य कहते हैं कि उन प्रत्यय विशेषों की सिद्धि कैसे होती है? स्वत: स्वसंवेदन से तो प्रत्यय विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्धान्त में विरोध आता है क्योंकि नैयायिकों ने ज्ञान का प्रत्यक्ष होना अन्य ज्ञानों से स्वीकार किया हैं।

दूसरे ज्ञानों से प्रत्यय विशेष की सिद्धि मानते हैं तो अनवस्था दोष आता है। यदि विषय विशेष से प्रत्यय विशेष की सिद्धि मानते हैं तो अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि विषयों के विशेषता की सिद्धि होने पर ज्ञान विशेष की सिद्धि होती है और ज्ञान विशेष की सिद्धि होने पर विषयों में विशेषता की सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। ऐसा मानने पर सर्वत्र विशेष व्यवस्था का अपह्नव (लोप) हो जायेगा, ऐसा नहीं है क्योंकि स्वसंविदित ज्ञानवादियों के ज्ञान विशेष का स्वार्थ व्यवसायात्मक (निर्णय) स्वत: सिद्ध होता है अर्थात् अभ्यास दशा में ज्ञान की प्रमाणता का निर्णय स्वत: होता है और उससे सर्वत्र विषयों की विशेषताओं की व्यवस्था हो जाती है अर्थात् स्याद्वादियों के दर्शन में कोई दोष नहीं आता है।

गोत्व, अश्वत्व आदि आकृतियों की परस्पर विशेषताओं का निर्णय अन्य विशेषों के अभाव में भी स्वयं होता है ऐसा स्वीकार करने वाला यह नैयायिक गो आदि व्यक्तियों की उस विशिष्टता को विशेषणों के आधीन स्वयं क्यों नहीं स्वीकार करता है अर्थात् जैसे आकृतियों को विशेषता के बिना स्वीकार करता है तो गो आदि व्यक्तियों को विशेषता रहित स्वीकार क्यों नहीं करता है।

वे आकृतियाँ स्वयं विशेषता रहित दृष्टिगोचर होती हैं, वैसे व्यक्तियाँ विशेषता रहित दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि इसमें विवाद है कि आकृतियों के समान व्यक्तियाँ विशेषता रहित दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती हैं। यदि इसमें विवाद नहीं है तब तो व्यक्ति और आकृति आत्मक वस्तु के पदार्थत्व (पद के वाच्य अर्थ) की सिद्धि होती है क्योंकि सर्वत्र शब्द को सुनकर व्यक्ति और आकृति आत्मक वस्तु का ही दर्शन (ज्ञान) होता है।

जो बौद्ध शब्द का वाच्य अर्थ केवल अन्यापोह मानते हैं (वस्तु का स्वभाव अस्तित्व) शब्द के द्वारा कहा नहीं जाता है अपितु अभाव ही कहा जाता है, ऐसा मानते हैं उनका खण्डन करते हैं:-

यदि गौरित्ययं शब्दो विधत्तेन्यनिवर्तनम् । विदधीत तदा गोत्वं तन्नान्यापोहगोचरः ॥ ४२ ॥

स्वलक्षणमन्यस्मादपोह्यतेनेनेत्यन्यापोहो विकल्पस्तं यदि गोशब्दो विधत्ते तदा गामेव किं न विदध्यात्। तथा च नान्यापोहशब्दार्थः गोशब्देनागोनिवृत्तेः कल्पनात्मिकायाः स्वयं विधानात् ॥

अगोनिवृत्तिमप्यन्यनिवृत्तिमुखतो यदि । गोशब्दः कथयेन्नूनमनवस्था प्रसज्यते ॥४३॥

न गौरगौरिति गोनिवृत्तिस्तावदेका ततो द्वितीया त्वगोनिवृत्तिस्ततोन्या तन्निवृत्तिस्तृतीया ततोन्यनिवृत्तिश्चतुर्थी यदि गोशब्देन कथ्यते तन्मुखेन गतिप्रवर्तनात् तदा सापि न गोशब्देन विधिप्राधान्येनाभिधेया द्वितीयनिवृत्तेरपि तथाविधेयत्वप्रसंगात् । गौरेव विधिसिद्धेः स्वान्यनिवृत्तिद्वारेणाभिधीयत इति चेत् , तर्हि

यदि 'गो' यह शब्द अन्य का अपोह (निवर्तन) करता है निषेध करता है तो गोत्व का विधान हो ही जाता है क्योंकि गो शब्द एकान्त से अन्यापोहगोचर नहीं है, अपितु विधि निषेधात्मक है विधि और निषेध एक साथ रहते हैं अर्थात् रोगी नहीं है ऐसा कहने पर यह नीरोग है, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है॥४२॥

बौद्ध दर्शन में वास्तविक वस्तु स्वलक्षणस्वरूप है। उस स्वलक्षण के सिवाय अन्य वस्तु का निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है वह अन्यापोह कहलाता है। वह अन्यापोह विकल्प है, उस अन्यापोह रूप विकल्प का गो शब्द विधान (कथन) करता है तो वह जो शब्द साक्षात् गो व्यक्ति का कथन क्यों नहीं करता तथा च (इसलिए) शब्द का वाच्य अर्थ अन्यापोह ही नहीं है क्योंकि गोशब्द के द्वारा कल्पनास्वरूप अगो (घोड़ा आदि गाय के सिवाय वस्तुओं) की निवृत्ति स्वयं बौद्धों ने स्वीकार की है अर्थात् गो शब्द से 'अगो' की निवृत्ति है और गो का विधान होता है, यह स्वयं सिद्ध होता है।

गो शब्द यदि अगो की निवृत्ति विधि (भाव) रूप से नहीं करता है अपितु अन्य पदार्थ की निवृत्ति की मुख्यता से करता है, ऐसा मानते हैं तब तो निश्चय से अनवस्था दोष आता है अर्थात् गो का कथन करने के लिए भैंस का अभाव कहा जायेगा और उसके अभाव के लिए घोड़े का अभाव कहा जायेगा, इत्यादि रूप से अनवस्था दोष आयेगा॥४३॥

बौद्ध दर्शन में गो शब्द का वाच्य अर्थ अगोनिवृत्ति माना है। उस पर विचार किया जाता है कि सर्वप्रथम जो गौ नहीं है, वह अगो कहलाती है, यह एक गो निवृत्ति हुई। उसके अनन्तर अगो की निवृत्ति हुई यह दूसरी निवृत्ति है। यदि इस दूसरी को भी निषेध मुख से कहेंगे तो उससे तीसरी निवृत्ति होगी। उसके बाद अपोह रूप चतुर्थी निवृत्ति होगी।

यदि उस अपोह के मुख्यपने से गो शब्द से गति (ज्ञान) की प्रवृत्ति कही जाती है तो उस काल में भी वह चतुर्थ निवृत्ति विधि प्रधान गो शब्द से अभिधेय (कहने योग्य) नहीं होती है। यदि चतुर्थ निवृत्ति को विधि रूप से कथन करती है ऐसा माना जायेगा तो दूसरी निवृत्ति के भी विधि रूप से अभिधेयत्व का प्रसंग आयेगा।

ततोन्या पंचमी निवृत्तिस्ततो निवृत्तिः षष्ठी सा गोशब्दस्यार्थ इत्यनवस्था सुदूरमप्यनुसृत्य तद्विधिद्वारेणाश्रयणात्। निवृत्तिपरंपरायामेव शब्दस्य व्यापारात्। शब्दो विवक्षां विधत्ते न पुनर्बहिरर्थमित्यभ्युपगमे कथमन्यापोहकृत्सर्वः शब्दःसर्वथा—

वक्तुरिच्छां विधत्तेसौ बहिरर्थं न जातुचित्। शब्दोन्यापोहकृत्सर्वः यस्य वांध्यविजृंभितम्॥ ४४॥

यथैव हि शब्देन बहिरर्थस्य प्रकाशने तत्र प्रमाणांतरा वृत्तिः सर्वात्मना तद्वेदनेनार्थस्य निश्चितत्वान्निश्चिते समारोपाभावात्। तद्व्यवच्छेदेपि प्रमाणांतरस्याप्रवृत्तेर्वस्तुनो धर्मस्य कस्यचिन्निश्चये सर्वधर्मात्मकस्य धर्मिणो

बौद्ध कहते हैं कि-गौ के समान विधि की सिद्धि का भी अपने से अन्यों की निवृत्ति के द्वारा ही कथन किया जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो चतुर्थी निवृत्ति से अन्य (भिन्न) पाँचवीं निवृत्ति माननी पड़ेगी और उससे अपोह रूप छठी निवृत्ति गो शब्द का वाच्य अर्थ होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। अतः बहुत दूर तक पीछे-पीछे जाकर भी उस विधि द्वार का आश्रय लेना पड़ेगा अर्थात् अन्त में गो शब्द का वाच्य अर्थ स्वीकार करना ही पड़ेगा अन्यथा निवृत्तियों की परम्परा में ही शब्द का व्यापार बना रहेगा। (यदि शब्द का वाच्य कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है तो बुद्ध भगवान किसका उपदेश देते हैं।)

फिर बौद्ध कहते हैं कि शब्द वक्ता की इच्छा का विधान करता है परन्तु बहिरंग अर्थ को नहीं कहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो सभी शब्द सर्व प्रकार से अन्यापोह को करने वाले कैसे हो सकते हैं अर्थात् जब शब्द विवक्षा का विधान करेंगे तो अन्यापोह रूप अभाव को कहने वाले कैसे होंगे।

शब्द वक्ता की इच्छा का विधान करता है, कभी भी बहिर्भूत अर्थ का विधान नहीं करता है, इस प्रकार जिसके दर्शन में सर्व शब्द अन्यापोह (अभाव) को कहने वाले हैं, ऐसा कहना बन्ध्या पुत्र की सी चेष्टा करने के समान है॥४४॥

जिस प्रकार बहिर्भूत घट-पट आदि पदार्थों का प्रकाशन होना मान लेने पर शब्द के वाच्य विषय में अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि सर्व रूप से घट शब्द के द्वारा ही घट अर्थ का निश्चय हो जाता है और सर्वांश से निश्चित पदार्थ में संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रूप समारोप नहीं रहता है यदि किसी अंश में समारोप का व्यवच्छेद (दूर) करना मान भी लिया जावे तो भी प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति उसमें नहीं हो सकती। क्योंकि वस्तु के किसी एक धर्म का निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण धर्मों के साथ तदात्मक सम्बन्ध रखने वाले धर्मों का निश्चय हो ही जाता है।

इसलिए सम्पूर्ण धर्म के ग्रहण का प्रसंग आता है अर्थात् एक-एक धर्म के साथ सभी धर्म और धर्मी का अभेद है अन्यथा यदि धर्म और धर्मी में अभेद नहीं माना जायेगा तो उस धर्मी से अभिन्न (तदात्मक) एक धर्म का भी निश्चय नहीं हो सकेगा अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध में एक धर्म का निश्चय हो जाने पर सर्व धर्मों का निश्चय हो जाता है, और एक धर्म का निश्चय नहीं होने पर किसी का भी निश्चय नहीं होता है।

निश्चयात्सर्वग्रहापत्तेरन्यथा तदात्मकस्यैकधर्मस्यापि निश्चयानुपपत्तिस्ततो भिन्नस्य धर्मस्य निश्चये धर्मिणि प्रवृत्तिघटनात् तेन तस्य सम्बन्धाभावादनुपकार्योपकारकत्वात्। तदुपकारे वा धर्मोपकारशक्त्यात्मकस्य धर्मिणो धर्मद्वारेण शब्दात् प्रतिपत्तौ सकलग्रहस्य तदवस्थत्वात्तदुपकारशक्तेरपि ततो भेदेनानवस्थानात्। प्रत्यक्षवद्वस्तुविषयस्य शब्दप्रत्ययस्य स्पष्टप्रतिभासप्रसंगाच्च न शब्दस्य तद्विषयत्वं तथैव वक्तृविवक्षाया: शब्देनाभिधाने विशेषाभावात् । न च तत्र प्रमाणांतरा वृत्तिरेवाभ्युपगंतुं युक्ता शब्दात्सामान्यत: प्रतिपन्नायामपि

तथा भिन्न धर्म का निश्चय हो जाने पर भी धर्मी में प्रवृत्ति होना घटित नहीं होता है। क्योंकि उस धर्मी के साथ उस धर्म के सम्बन्ध का अभाव है। सभी सम्बन्धों का व्यापक सम्बन्ध उपकार्य और उपकारक भाव है अर्थात् जन्य-जनक भाव, गुरु-शिष्य भाव, कारण-कार्य भावादि में परस्पर उपकार्य, उपकारक भाव ही आता है। शिष्य को गुरु शिक्षा-दीक्षा देता है, शिष्य गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, गुरु की वैयावृत्ति करता है, एक उपकारक है दूसरा उपकृत है किन्तु इस प्रकरण में उपकार्य,[१] उपकारक[२] भाव न होने से धर्म का धर्मी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि उन धर्म, धर्मी में परस्पर उपकारक और उपकार्य भाव मान भी लिया जाता है तो धर्मी का धर्म के द्वारा उपकार किया जाता है कि धर्मी के द्वारा धर्म का उपकार किया जाता है? यदि धर्म के उपकारक शक्ति आत्मक धर्मी की धर्म के द्वारा शब्द से प्रतीति (ज्ञान) होती है, तब तो सम्पूर्ण से धर्म का ग्रहण हो जाने रूप दोष वैसा का वैसा ही अवस्थित है अर्थात् अभेद पक्ष में धर्मी के लिए उपकृत शक्तियों से अभिन्न धर्म का ज्ञान हो जाने पर भी यही दोष आयेगा।

तथा धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मान लेने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होता है अर्थात् भिन्न-भिन्न धर्म, धर्मी का सम्बन्ध किससे होगा और सम्बन्ध का सम्बन्ध किससे होगा, इत्यादि अनवस्था दोष आता है।

किं च-वस्तुभूत अर्थ को जानने वाले सभी ज्ञानों का प्रतिभास स्पष्ट होता है हम बौद्ध निर्विकल्प ज्ञान को ही वस्तु का स्पर्श करने वाला मानते हैं अत: वह निर्विकल्प ज्ञान ही स्पष्टप्रतिभासी प्रत्यक्ष है। यदि शब्दजन्य ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष के समान वस्तुभूत माना जायेगा तो शब्दज्ञान को स्पष्ट प्रतिभास करने का प्रसंग आयेगा अत: शब्द का वाच्य अर्थ (विषय) बहिर्भूत पदार्थ नहीं है।

इस प्रकार बौद्ध के द्वारा शब्द का वाच्य अर्थ बहिर्भूत पदार्थ नहीं है, इसकी सिद्धि कर देने पर जैनाचार्य उनका खण्डन करते हैं।

बौद्धों के द्वारा जितने दोष शब्द के द्वारा वाच्य अर्थ को प्रकाशन करने में दिये हैं वे सर्वदोष शब्द के द्वारा वक्ता की इच्छा को कहने में भी आते हैं इनमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् वक्ता की इच्छा का कथन करना कहो या बाह्य पदार्थ का ग्रहण करना कहो इन दोनों में विशेषता का अभाव है। ये दोनों कथन एक ही हैं।

१. जिसका उपकार किया जाता है वह उपकार्य है।

२. जिसके द्वारा उपकार किया जाता है वह उपकारक है।

तस्यां विशेषसंश्रयात् प्रमाणांतरवृत्तेरेव निश्चयात् । ततो वक्तुरिच्छायां बहिरर्थवच्छब्दस्य प्रवृत्त्यसंभवेपि तामेव शब्दो विदधातीति कथं न वांध्यविजृंभितं, सर्वशब्दानामन्यापोहकारित्वप्रतिज्ञानात् । ननु च विवक्षायाः स्वरूपे संवेद्यमाने शब्दो न प्रवर्तते एव कल्पितेन्यापोहे तस्य प्रवृत्तेस्ततोन्यापोहकारी सर्वः शब्द इति वचनान्न वांध्यविलसितमिति चेत् , स तर्हि कल्पितोन्यापोहः विवक्षातो भिन्नस्वभावो वक्तुः स्वसंवेद्यो न स्याद्भावांतरवत् तस्य तत्स्वभावत्वे वा संवेद्यत्वसिद्धेः कथं न संवेद्यमाने तत्स्वरूपे शब्दः प्रवर्तते। ननु च वक्तुर्विवक्षायाः स्वसंविदितं रूपं संवेदनमात्रोपादानं सकलप्रत्यये भावात् कल्पनाकारस्तु पूर्वशब्दवासनोपादानस्तत्र वर्तमानः

इसलिए शब्द के द्वारा उस वाच्य अर्थ में प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी यह स्वीकार करना उनको युक्त नहीं है। क्योंकि शब्द के द्वारा सामान्य रूप से अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाने पर उसमें विशेष अर्थों के जानने का आश्रय लेने पर प्रमाणान्तरों की प्रवृत्ति होने से ही उस प्रमाणान्तर के द्वारा उस सामान्य अर्थ के विशेष-विशेष अंशों का निर्णय हो सकता है।

तथा वक्ता की इच्छा में या उसके विषय में अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसा भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि सामान्य रूप से शब्द के द्वारा वक्ता की इच्छा का ज्ञान हो जाने पर भी उसको विशेष रूप में जानने के लिए प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति घटित हो जाती है।

बौद्ध मतानुसार शब्द के द्वारा बहिर्भूत अर्थ के समान वक्ता की इच्छा में प्रवृत्ति होने की असंभवता होने पर भी 'शब्द वक्ता की इच्छा का विधान करता है', 'बहिर्भूत पदार्थ का विधान नहीं करता है' ऐसा कहना वंध्या के पुत्र की चेष्टा के समान निष्फल कैसे नहीं है अर्थात् ऐसा कहना निष्फल है। क्योंकि सर्व शब्द अन्यापोह (अभाव) को कहते हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करके उससे विपरीत विवक्षा का विधान करने का कथन करना निष्फल चेष्टा है अर्थात् निषेध और विधान विपरीत हैं।

बौद्ध का कथन है- स्वसंवेद्यमान विवक्षा के स्वरूप में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है-अपितु कल्पित अन्यापोह में शब्द की प्रवृत्ति होती है-अतः सभी शब्द अन्यापोहकारी हैं-ऐसा हमारे ग्रन्थों का कथन है अतः हमारा कथन वंध्या के पुत्र की चेष्टा के समान निष्प्रयोजन, बकवाद नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो वह तुम्हारा कल्पित अन्यापोह वक्ता की इच्छा से भिन्न स्वभाव वाला होने से अन्य घट पट आदि पदार्थों के समान वक्ता के स्वसंवेदन का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि स्वसंवेदन स्वकीय सुखादि पदार्थों का होता है अन्य पदार्थों का नहीं होता है।

यदि अन्यापोह को उस विवक्षा का स्वभाव मानोगे तो अन्यापोह के स्वसंवेद्यत्व की सिद्धि हो जायेगी और अन्यापोह के संवेदन की सिद्धि हो जाने पर शब्द की संवेद्यमान अन्यापोह के स्वरूप में प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी (अवश्य होगी)।

शंका : (बौद्ध कहता है) वक्ता की विवक्षा का स्वसंविदित स्वरूप (ज्ञात स्वरूप) केवल शुद्ध संवेदन का उपादान (ग्रहण) मात्र है। अर्थात् शुद्ध ज्ञान को जान लेना ही स्वसंवेदन है। वही वक्ता की इच्छा का स्वरूप है वह स्वसंवेदन सर्व ज्ञानों में विद्यमान रहता है किन्तु अन्य कल्पना के आकार रूप विकल्प

शब्द: कथं स्वसंवेद्ये रूपे वास्तवे प्रवर्तते नाम यतो वस्तुविषय: स्यादिति चेत् , नैवं । स्वसंविदितरूपकल्पनाकारयोर्भिन्नोपादानत्वेन संतानभेदप्रसंगात् । तथा च सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति व्याहन्यतो स्वसंवेदनाद्भिन्नस्य विकल्पस्य स्वसंविदितत्वविरोधात् रूपादिवत्। स्वसंवेदनस्यैवोपादानत्वात् कल्पनोत्पत्तौ शब्दवासनाया: सहकारित्वान्न स्वसंविदितस्वरूपात् कल्पनाकारो भिन्नसंतान इति चेत् , कथमिदानीं ततोसावनन्य एव न स्यादभिन्नोपादानत्वात् । तथापि तस्य ततोन्यत्वे कथमुपादानभेदो भेदक:? कार्याणां व्यतिरेकासिद्धे: कार्यभेदस्योपादानभेदमंतरेणापि भावात् तस्य

पूर्व की मिथ्या शब्द वासनाओं से उत्पन्न होते हैं अर्थात् कल्पनाकार विकल्प की उत्पत्ति में पूर्व की मिथ्या शब्द वासना उपादान (निमित्त कारण) है। अत: उन कल्पित आकारों में प्रवृत्ति करने वाला शब्द वास्तविक स्वसंवेद्यमान स्वरूप में प्रवृत्ति कैसे कर सकता है जिससे कि वस्तुभूत अर्थों का विषय करने वाला हो सके?

समाधान : बौद्ध का यह कथन सुसंगत नहीं है। क्योंकि स्वसंविदित (स्व के द्वारा अनुभूत) स्वरूप का और कल्पित आकारों का भिन्न-भिन्न उपादान होने से सन्तान भेद का प्रसंग आता है अर्थात् एक ही विवक्षा के कुछ अंशों के संवेदन का कारण शुद्ध संवेदन होगा और कुछ अंशों का (कल्पित आकारों का) उपादान (ग्राहक) मिथ्या शब्द वासना होगी अत: भिन्न-भिन्न सन्तान माननी पड़ेगी।

तथा च (ऐसा होने पर) ''सर्व चित्तों (आत्माओं) के चैतन्य भावों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है'' बौद्ध के इस सिद्धान्त का अपघात (खण्डन) होगा और स्वसंवेदन से सर्वथा पृथक् विकल्प का स्वसंवेदन के द्वारा ज्ञान होना विरुद्ध है जैसे बौद्ध दर्शन में स्वसंवेदन से सर्वथा भिन्न होने से रूपादि बाह्य पदार्थ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होते हैं।

बौद्ध कहता है कि कल्पना ज्ञान की उत्पत्ति में स्वसंवेदन के उपादान कारणत्व है और शब्द वासनाएँ कल्पना की उत्पत्ति में सहकारी कारण हैं इसलिए कल्पना के आकार वाला ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भिन्न संतान वाला नहीं है अर्थात् कल्पना का उपादान कारण शब्द वासना नहीं है अपितु संवेदन के द्वारा ज्ञात ज्ञान ही उपादान कारण है निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान की धारा पृथक्-पृथक् नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्ध मतानुसार सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान की धारा पृथक्-पृथक् नहीं है तो फिर ये दोनों ज्ञान एक क्यों नहीं हैं, इनमें भेद क्यों माना गया है। जब इन दोनों ज्ञानों का उपादान अभिन्न है तो इन दोनों में अभिन्नत्व ही होना चाहिए।

यदि दोनों का उपादान एक होते हुए भी इन दोनों ज्ञानों को पृथक्-पृथक् मानोगे तो ''उपादान का भेद ही कार्यों का भेदक है'' यह कैसे घटित होगा? क्योंकि इसमें व्यतिरेक की असिद्धि है अर्थात् जहाँ-जहाँ उपादान में भिन्नत्व है वहाँ-वहाँ कार्यों में भिन्नपना है-जैसे घट, पट आदि यह अन्वय तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु जहाँ-जहाँ उपादान भेद नहीं है वहाँ-वहाँ कार्य भेद नहीं है यह व्यतिरेक घटित नहीं हो सकता क्योंकि उपादान का भेद न होने पर भी कार्य भेद माना गया है। जैसे निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान में भेद होते हुए भी बौद्धों ने दोनों का उपादान एक ही स्वीकार किया है अत: उस उपादान भेद को उस कार्यभेद की साधकता नहीं बन सकती।

तत्साधनतानुपपत्तेः। स्वसंविदिताकारस्य कल्पिताकारस्य चैकस्य विकल्पज्ञानस्य तथाविधानेकाकारविकल्पोपादानत्वाददोषोयमिति चेत्, नैकस्यानेकाकारस्य वस्तुनः सिद्ध्यनुषंगात्। संविदि कल्पिताकारस्य भ्रांतत्वान्नैकमनेकाकारं विकल्पवेदनमिति चेत् न, भ्रांतेतराकारस्य तदवस्थत्वात्। भ्रांताकारस्यासत्त्वे तदेकं *सदसदात्मकमिति कुतो न सत्त्वसिद्धिः। यदि पुनरसदाकारस्याकिंचिद्रूपत्वादेकरूपमेव विकल्पवेदनमिति* मतिः, तदा तत्र शब्दः प्रवर्तत इति न क्वचित्प्रवर्तत इत्युक्तं स्यात्। तथोपगमे च विवक्षाजन्मानो हि शब्दास्तामेव गमयेयुरिति रिक्ता वाचोयुक्तिः। गमयेयुरिति संभावनायां लिङ्प्रयोगात्तामपि माजीगमन्न गीर्बहिरर्थवत्सर्वथा निर्विषयत्वेन तेषां व्यवस्थापनादित्यप्यात्मघातिनो वचनं स्वयं

बौद्ध कहते हैं कि- एक विकल्प ज्ञान के संविदित आकार और कल्पित आकारों का उपादान कारण उस प्रकार के अनेक आकारों का धारक विकल्प ज्ञान है अर्थात् सविकल्प ज्ञान का उपादान कारण निर्विकल्प ज्ञान नहीं है अपितु स्वसंवेदन और कल्पित पदार्थों के विकल्पों का उत्पादक अनेकाकार धारक विकल्प ज्ञान है इसलिए उक्त दोष (एक उपादान होने से कार्य में भेद कैसे होता है, इत्यादि) हमारे प्रति नहीं आते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का इस प्रकार कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक आकार वाली एक वस्तु की सिद्धि का प्रसंग आयेगा। **भावार्थ :** स्याद्वाद मत में कथंचित् एक वस्तु अनेक आकार वाली हो सकती है, एकान्तवाद में नहीं।

ज्ञान में कल्पित अनेक आकार भ्रान्त हैं, अतः एक विकल्प ज्ञान वास्तविक अनेक आकार वाला नहीं है, इस प्रकार का बौद्धों का कथन भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि भ्रान्त आकार और अभ्रान्त आकार ये दो आकार एक विकल्प ज्ञान में वैसे के वैसे अवस्थित हैं अर्थात् एक ही विकल्प ज्ञान में अनेक कल्पित आकारों की अपेक्षा भ्रान्तपना है और स्व का संवेदन अभ्रान्त है, अतः एक ज्ञान में दो आकार सिद्ध हो जाते हैं जो बौद्ध मत का व्याघात और स्याद्वाद को पुष्ट करने वाले हैं।

विकल्प ज्ञान में भ्रान्त आकार का असत्त्व स्वीकार करने पर एक ज्ञान सद् -असदात्मक सिद्ध होता है अतः इससे स्याद्वाद दर्शन में कथित अनेक धर्मात्मक सत्त्व की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी। यदि पुनः बौद्ध का मन्तव्य हो कि विकल्प ज्ञान के असद् आकार किसी के भी स्वरूप नहीं हैं (अवस्तु वा शून्य हैं) अतः विकल्प ज्ञान एक स्वरूप ही है अनेक रूप वाला नहीं है तब तो कल्पित आकारों में शब्द प्रवृत्ति करता है। इसका अर्थ है शब्द किसी भी वस्तुभूत पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं करता है। क्योंकि बौद्ध मतानुसार शब्द का विषय असद्भूत आकार है। इस प्रकार शब्द किसी भी सद्भूत पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं करता है ऐसा मान लेने पर ''विवक्षा से उत्पन्न शब्द विवक्षा का ही ज्ञान कराता है'' यह वचनोक्ति (कथन) निष्फल हो जायेगी।

'गमेयुः' यह क्रिया गम्लृ धातु के लिङ्लकार के प्रथम पुरुष सम्बन्धी बहुवचन है।

'हो भी और नहीं भी हो', ऐसी संभावना अर्थ में लिङ् लकार का प्रयोग होता है अतः शब्द बहिअर्थ के समान वक्ता की इच्छा का गमक नहीं भी हो सकता है, सभी शब्द स्वकीय वाच्य बहिरंग अर्थ से युक्त नहीं हैं क्योंकि 'वाणी' शब्दों का सर्वथा विषयों से रहितपना व्यवस्थापित (निश्चित) किया गया

साधनदूषणवचनानर्थक्यप्रसक्तेः। संवृत्या तद्वचनमर्थवदिति चेत् केनार्थेनेति वक्तव्यं? तदन्यापोहमात्रेणेति चेत्, विचारोपपन्नेनेतरेण वा? न तावत्प्रथमपक्षस्तस्य विचार्यमाणस्याकिंचिद्रूपत्वसमर्थनात्। विचारानुपपन्नेन त्वन्यापोहेन सांवृतेन वचनस्यार्थवत्त्वे बहिरर्थेन तथाभूतेन तस्यार्थवत्त्वं किमनिष्टं तथा व्यवहर्तुर्वचनाद्बहिः प्रवृत्तेरपि घटनात्॥

अन्यापोहे प्रतीते च कथमर्थे प्रवर्तनम्। शब्दात्सिद्‌ध्येज्जनस्यास्य सर्वथातिप्रसंगतः॥ ४५॥

न ह्यन्यत्र शब्देन चोद्यतेऽन्यत्र तन्मूला प्रवृत्तिर्युक्ता गोदोहचोदने बलीवर्दवाहनादौ तत्प्रसंगात्॥

है। इस प्रकार बौद्धों का कहना भी अपना ही घात करने वाला वचन है। क्योंकि यदि शब्द किसी बहिरंग अर्थ के वाचक नहीं होंगे तब तो बौद्धों के द्वारा उच्चारित शब्द अपने सिद्धान्त के साधक और अपर सिद्धान्त के दूषक नहीं हो सकेंगे अत: शब्दों का उच्चारण करना ही व्यर्थ होगा।

बौद्ध कहता है कि शब्द वास्तव में अर्थ का वाचक नहीं है परन्तु संवृत्ति (कल्पना) से बहिरंग अर्थ का वाचक होता है। जैनाचार्य कहते हैं कि संवृत्ति शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त है (किस अर्थ का वाचक है) इसका कथन बौद्धों को करना चाहिए।

यदि शब्द अन्यापोह मात्र के वाचक हैं, ऐसा कहते हो तो वे अन्यापोह के वाचक शब्द विचारों से युक्त हैं कि विचार रहित हैं? उसमें प्रथम पक्ष (अन्यापोह वाचक शब्द विचार सहित है) तो युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उस अन्यापोह का यदि विचार किया जायेगा तो वह तुच्छाभावरूप अन्यापोह कुछ भी पदार्थ नहीं होगा, इसका पूर्व में समर्थन और कथन कर दिया गया है अर्थात् विचार करने पर अन्यापोह कुछ भी पदार्थ नहीं है अत: अन्यापोह का कथन करने वाले शब्द कुछ भी नहीं कहते हैं।

यदि द्वितीय पक्ष के अनुसार विचारों से अपरीक्षित कल्पित व्यवहार्य (सांवृत) अन्यापोह के द्वारा शब्दों को अर्थवान् माना जायेगा तो तथाभूत बहिरंग घट पटादि पदार्थों के द्वारा शब्द को अर्थवान् (अर्थ का वाचक) मानना बौद्धों को अनिष्ट क्यों है तथा इस प्रकार व्यवहारी पुरुषों के वचन द्वारा भी बहिरंग अर्थों में प्रवृत्ति होना घटित हो जाता है अत: शब्द का वाच्य अर्थ बहिरंग आत्मा, आकाश आदि पदार्थ मानना चाहिए।

अथवा बौद्ध मतानुसार शब्द के द्वारा अन्यापोह में प्रवृत्ति करने पर व्यवहारी प्राणी की शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे होगी वा अर्थ की जानकारी कैसे होगी अर्थ प्रतीति नहीं होने पर सर्वथा अति प्रसंग दोष आयेगा अर्थात् लिखना, पढ़ना किसी बात को सुनकर कार्य में प्रवृत्ति करना आदि सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा॥४५॥

क्योंकि शब्द के द्वारा कथित विषय से भिन्न पदार्थ में प्रवृत्ति होगी। शब्द को मूल मानकर अन्यत्र प्रवृत्ति होना युक्त (युक्तिसंगत) नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वक्ता के द्वारा गाय दूहने की प्रेरणा करने पर बैल आदि के वाहन आदि में प्रवृत्ति करने का प्रसंग आयेगा अर्थात् वक्ता कहता कुछ और है और प्रवृत्ति किसी और पदार्थ में होगी।

एकत्वारोपमात्रेण यदि दृश्यविकल्पयोः । प्रवृत्तिः कस्यचिद्दृश्ये विकल्पेप्यस्त्वभेदतः ॥ ४६ ॥

नैकत्वाध्यवसायोपि दृश्यं स्पृशति जातुचित् । विकल्प्यस्यान्यथा सिद्ध्येत् दृश्यस्पर्शित्वमंजसा ।४७।

विकल्प्यदृश्यसामान्यैकत्वेनाध्यवसीयते । यदि दृश्यविशेषे स्यात् कथं वृत्तिस्तदर्थिनाम् ॥ ४८ ॥

तस्य चेद् दृश्यसामान्यैकत्वारोपात्क्व वर्तनम् । सौगतस्य भवेदर्थेनवस्थाप्यनुषंगतः ॥ ४९ ॥

नान्यस्माद्व्यावृत्तिरन्यार्थस्य न च व्यावृत्तोन्य एवेत्युच्यते घटस्याघटव्यावृत्तेः निवर्तमानस्याघटत्वसंगात् । तथा च न तस्या घटव्यावृत्तिर्नाम तस्माद्यैवान्या व्यावृत्तिः स एव व्यावृत्तः

यदि बौद्ध लोग मानते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयभूत दृश्य में और मिथ्यास्वरूप सविकल्प ज्ञान के विषयभूत विकल्प्य में एकत्व का आरोप करने मात्र से कभी किसी दृश्य में, कभी किसी विकल्प्य पदार्थ में शब्द की प्रवृत्ति होती है तब तो एकत्व रूप अभेद होने के कारण विकल्प ज्ञान का विषयभूत विकल्प में भी प्रवृत्ति होना सिद्ध हो जाता है॥४६॥

अथवा-दृश्य और निर्विकल्प दोनों विषयों में एकत्व का निर्णय करने वाला ज्ञान कभी भी वस्तुभूत दृश्य का स्पर्श नहीं करता है अन्यथा शीघ्र ही विकल्प ज्ञान के भी दृश्य विषय को स्पर्श करना सिद्ध हो जायेगा अर्थात् विकल्प ज्ञान दोनों को विषय करेगा। जो ज्ञान दोनों का विषय करता है वही तो दोनों के एकत्व का आरोप कर सकता है, सिंह और बिल्ली इन दोनों का जिसको एक साथ ज्ञान है वही मानव बिल्ली में सिंह का आरोप कर सकता है॥४७॥

यदि कहो कि विकल्प्य और दृश्य विषयों में विकल्प ज्ञान के द्वारा सामान्य एकत्व का निश्चय कर लिया जाता है तो जैनी कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो विशेष के अभिलाषी पुरुषों की विशेष दृश्य व्यक्ति में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी अर्थात्-एकत्व के आरोप से दृश्य (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) स्वलक्षण का सामान्य रूप से ज्ञान होता है, परन्तु प्रवृत्ति तो विशेष अर्थ में ही होती है क्योंकि विशेष रहित सामान्य वृक्ष से आम-अमरूद की प्राप्ति नहीं होती है॥४८॥

सौगत मतानुसार यदि दृश्य और सामान्य में एकत्व का आरोप होने से व्यक्तिरूप दृश्य में प्रवृत्ति होती है तो उस शब्द की प्रवृत्ति बौद्धों के किस विशेष अर्थ में होती है अर्थात् किसी में भी प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि एकत्व के समारोप से अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति मानोगे तो अनवस्था दोष आयेगा अतः शब्द का वाच्य अर्थ अन्यापोह और कल्पित विकल्प्य नहीं हैं॥४९॥

कोई बौद्ध कहता है कि- अन्य अर्थ की व्यावृत्ति अन्य अर्थ से नहीं होती है और व्यावृत्त वस्तु पृथग्भूत ही है ऐसा नहीं कहना चाहिए अर्थात् अन्य व्यावृत्तियों से वास्तविक पदार्थ (स्वलक्षण) व्यावृत्त नहीं होते हैं। यदि ऐसा होगा तो अघट व्यावृत्ति से निवर्तमान घट के अघट का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर उस घट की अघट व्यावृत्ति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती इसलिए जो ही अन्य व्यावृत्ति है वही पदार्थ व्यावृत्त कहलाता है अर्थात् गोपदार्थ व्यावृत्त है और अगो व्यावृत्ति है गाय है ऐसा शब्द नहीं कहता है अगो व्यावृत्ति (भैंस, घोड़ा आदि नहीं हैं) ऐसा कहता है।

शब्दप्रतिपत्तिभेदस्तु संकेतभेदादेव व्यावृत्तिर्व्यावृत्त इति। धर्मधर्मिप्राधान्येन संकेतविशेषे प्रवृत्तेस्तद्वाच्यभेदस्तु न वास्तवोतिप्रसंगात् । तदुक्तं । "अपि चान्योन्यव्यावृत्तिवृत्त्योर्व्यावृत्त इत्यपि । शब्दाश्च निश्चयाश्चैवं संकेतं न निरुंधते" इति दृश्यविकल्पयोर्व्यावृत्त्योरेकत्वारोपाव्यावृत्तिचोदनेपि शब्देन विकल्पेन वा व्यावृत्तेः प्रवृत्तिरर्थे स्यादिति कश्चित् । तस्य विकल्प्येपि कदाचित्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात् । न हि दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायाविशेषेपि दृश्य एव प्रवृत्तिर्न तु विकल्पे जातुचिदिति बुद्ध्यामहे।

'अघट व्यावृत्ति' 'अगो' व्यावृत्ति इत्यादिक भिन्न-भिन्न शब्दों का और भिन्न ज्ञानों का होना तो संकेत ग्रहण के भेद से ही हा जाता है। तथा भाव में 'क्ति' प्रत्यय करने से व्यावृत्ति और 'क्त' प्रत्यय करने से व्यावृत्त शब्द की निष्पत्ति होती है। व्यावृत्त धर्म पदार्थ है और व्यावृत्ति धर्मी पदार्थ है। कल्पित धर्म और धर्मी की प्रधानता से संकेत विशेष में प्रवृत्ति हो जाती है। भिन्न शब्दों का भिन्न वाच्य मानना वास्तविक नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् क्वचित् शब्द एक है और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। जैसे गो शब्द एक है परन्तु उसका वाच्यार्थ वाणी, पृथ्वी, किरण आदि अनेक हैं।

कहीं शब्द भिन्न-भिन्न हैं और उनका वाच्यार्थ एक है जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि भिन्न शब्दों का वाच्यार्थ एक इन्द्र ही है इसलिए भिन्न-भिन्न वाच्यों का भिन्न अर्थ मानने से अतिप्रसंग दोष आता है। सो ही बौद्ध ग्रन्थों में कहा है "परस्पर में होने वाली एक दूसरे की व्यावृत्ति और वृत्तियाँ भी इसी प्रकार व्यावृत्त हैं। शब्द और शब्दों के द्वारा हुआ निश्चय संकेत को रोकता नहीं है।

भावार्थ : लौकिक जनों ने संकेत प्रणाली के अनुसार अनेक शब्द इच्छानुसार प्रचलित कर लिये हैं और इसलिए उन शब्दों से होने वाला ज्ञान भी कल्पित है, वास्तविक नहीं है।

इस प्रकार शब्द रूप दृश्य और विकल्प्यों की व्यावृत्तियों में एकत्व के आरोप से अव्यावृत्ति की चोदना (प्रेरणा) होने पर भी शब्द विकल्प से दृश्य और विकल्प्य में व्यावृत्ति हो जाने से किसी वास्तविक अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति हो जाती है।

अब जैनाचार्य कहते हैं कि उस बौद्ध दर्शन में क्वचित् दृश्य के समान विकल्प्य में भी प्रवृत्ति हो सकती है क्योंकि दृश्य और विकल्प्य में विशेषता का अभाव है अर्थात् इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दृश्य विषय और विकल्प्य विषय में विशेषता रहित एकत्व का अध्यवसाय (निर्णय) होने पर भी शब्द की दृश्य में ही प्रवृत्ति होती है, विकल्प्य में कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसे नियम का कारण हम नहीं समझ रहे हैं अर्थात् ऐसा नियम किस कारण से है, यह ज्ञात नहीं हुआ है।

क्योंकि दृश्य का शब्द के द्वारा उच्चारण करने पर विकल्प हो जाता है और दर्शन के विषय को दृश्य कहते हैं विकल्प के विषय को विकल्प्य कहते हैं दोनों का अर्थ एक होते हुए भी शब्द की प्रवृत्ति दृश्य में होती है विकल्प्य में नहीं, ऐसा क्यों माना जाता है यह समझ में नहीं आया।

्येर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिस्तस्यार्थक्रियायां समर्थनान्न पुनर्विकल्प्ये तस्य तत्रासमर्थत्वादिति चेन्ना, अर्थक्रियासमर्थेन कल्पेन सहैकत्वाध्यारोपमापन्नस्य दृश्यस्यार्थक्रियासमर्थत्वैकांताभावात् । स्वतोर्थक्रियासमर्थं दृश्यमिति त् तदेकत्वाध्यारोपाद्विकल्प्यमपि स्वतो न तत्समर्थमिति चेत् तदैक्यारोपाद् दृश्यमपि दनयोरेकत्वेनाध्यवसितयोरविशेषात् सर्वथा क्वचित्प्रवृत्तौ कथमन्यत्रापि प्रवृत्तिर्विनिवार्यते । न ानयोरेकत्वाध्यवसायः संभवति दृश्यस्याध्यवसायाविषयत्वात् अन्यथा विकल्प्यस्य वस्तुसंस्पर्शित्वप्रसंगात्। च परमार्थतो दृश्यमविषयीकुर्वन् विकल्पो विकल्प्येन सहैकतयाध्यवस्यति नामातिप्रसंगात् । ननु च दृश्यं ्कल्पस्यालंबनं मा भूदध्यवसेयं तु भवतीति युक्तं तद्विकल्प्येन सहैकतयाध्यवसायत्वमिति चेत् , तर्हि न

निर्विकल्प दर्शन के द्वारा जानने योग्य स्वलक्षण रूप दृश्य में ही अर्थक्रिया के इच्छुक जीवों की ृवृत्ति होती है, क्योंकि अर्थक्रिया करने में दृश्य पदार्थ ही समर्थ हैं परन्तु विकल्प्य पदार्थ में अर्थ-क्रियाभिलाषी जीवों की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि असत् पदार्थ रूप विकल्प्य अर्थक्रिया करने में समर्थ ाहीं हैं इसलिए विकल्प्य में प्रवृत्ति नहीं होती है इस प्रकार का बौद्धों का प्रत्युत्तर भी उचित नहीं है क्योंकि अर्थक्रिया करने में असमर्थ विकल्प्य के साथ एकत्व से अध्यारोपित दृश्य के भी एकान्त रूप से अर्थक्रिया करने के सामर्थ्य का अभाव हो जायेगा अर्थात् दृश्य और विकल्प्य जब दोनों एक साथ हैं तब एक के अर्थक्रिया का अभाव होने से दूसरे के भी अर्थक्रिया के सामर्थ्य का अभाव हो जायेगा।

यदि दृश्य स्वयमेव अर्थक्रिया करने में समर्थ है, ऐसा कहते हो तो दृश्य के साथ एकत्व का अध्यारोप होने से विकल्प्य भी स्वयं अर्थक्रिया करने में समर्थ हो जायेंगे।

यदि कहो कि विकल्प्य अर्थ स्वतः अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है तो विकल्प्य के साथ एकत्व का अध्यारोप होने से दृश्य (स्वलक्षण) भी स्वतः अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होगा क्योंकि एकत्व से निर्णीत दृश्य और विकल्प्य में कोई विशेषता नहीं है फिर भी सर्वथा क्वचित् (दृश्य) पदार्थ में प्रवृत्ति मानते हैं तो दूसरे विकल्प्य में प्रवृत्ति को कैसे रोका जा सकता है अर्थात् नहीं रोका जा सकता।

अथवा दृश्य और विकल्प्य में एकत्व का अध्यवसाय संभव नहीं है क्योंकि दृश्य अध्यवसाय (निश्चय) का विषय नहीं है अर्थात् बौद्ध मतानुसार स्वलक्षण दृश्य निर्विकल्प है अतः निश्चय ज्ञान वस्तुभूत दृश्य को नहीं जानता है अन्यथा (दृश्य का निश्चय ज्ञान होगा तो) विकल्प ज्ञान के भी वस्तु स्पर्श करने का प्रसंग आयेगा।

तथा जब तक विकल्प ज्ञान दृश्य का विषय नहीं कर पाता है तब तक वह विकल्प ज्ञान विकल्प्य के साथ एकत्व का निश्चय नहीं कर सकता। यदि विकल्प ज्ञान अज्ञात विषय में प्रवृत्ति करेगा तो अति प्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् आत्मा और आकाश के भी एकत्व के निर्णय का प्रसंग आयेगा।

शंका : निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयभूत स्वलक्षण दृश्य विकल्प्य का अवलम्बन (कारण) नहीं होता है अपितु निर्णय करने योग्य होता है, यह युक्त है (दृश्य के साथ मिला हुआ है) इसलिए निश्चयात्मक विकल्प ज्ञान विकल्प्य के साथ दृश्य पदार्थ के एकता की निर्णय कर लेता है।

विशेषरूपं तेनैक्येनाध्यवसीयते सामान्याकारस्यैवाध्यवसेयत्वात् । दृश्यसामान्येन सह विकल्प्यमेकत्वेनाध्यवसीयत इति चेत्, कथं दृश्यविशेषे तदर्थिनां प्रवृत्तिः स्यात् । दृश्यविशेषस्य दृश्यसामान्येन सहैकत्वारोपात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्, क्वेदानीं सौगतस्य प्रवृत्तिरनवस्थानात् । सुदूरमप्यनुसृत्य विशेषेध्यवसायासंभवात् । ततोर्थप्रवृत्तिमिच्छता शब्दात्तस्य नान्यापोहमात्रं विषयोभ्युपेयो जातिमात्रादिवत्। सर्वथा निर्विषयः शब्दोस्त्वित्यसंगतं, वृत्त्यापि तस्य निर्विषयत्वे साधनादिवचनव्यवहारविरोधात् ।

किं पुनरेवं शब्दस्य विषय इत्याह;—

जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु ततोस्तु ज्ञानगोचरः। प्रसिद्धं बहिरंतश्च शाब्दव्यवहृतीक्षणात् ॥५०॥

ऐसा बौद्धों के कहने पर उसका **समाधान** करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि- तब तो असाधारण विशेष रूप दृश्य विकल्प्य के साथ एकत्व से निश्चित (ज्ञात) नहीं होते हैं। उसमें सामान्याकार से ही एकत्व के निर्णय होने की योग्यता है अर्थात् विकल्प्य के साथ विशेष रूप से दृश्य का एकत्वारोप होना असंभव है। दृश्य सामान्य के साथ यदि विकल्प्य के एकत्व का निश्चय करते हैं तो अर्थक्रियाओं के अभिलाषियों की दृश्य विशेष में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी अर्थात् दृश्य सामान्य जानकर दृश्य विशेष में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दृश्य विशेष का दृश्य सामान्य के साथ एकत्व का आरोप कर लेने पर अर्थक्रिया के अभिलाषियों की दृश्य विशेष में प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानने पर भी बौद्ध की प्रवृत्ति कहाँ हो सकेगी क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आने से कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होगी अर्थात् दृश्य विशेष का ज्ञान हो जाने पर तो दृश्य सामान्य का दृश्य विशेष के साथ एकत्व का निर्णय होगा और उन दोनों के एकत्व का निर्णय करने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी अतः अनवस्था दोष आता है। अतः बहुत दूर जाकर भी विशेष में निर्णय की असंभवता ही रहेगी। इसलिए शब्द के द्वारा अर्थ में प्रवृत्ति के इच्छुक पुरुषों को शब्द का वाच्यार्थ केवल अन्यापोह मात्र स्वीकार नहीं करना चाहिए जैसे अर्थ में प्रवृत्ति करने के इच्छुक पुरुषों ने केवल जाति व्यक्ति और आकृति को शब्द के वाच्य अर्थ को स्वीकार नहीं किया है। उसी प्रकार शब्द अपोह मात्र का कथन करता है ऐसा भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

शब्द सर्वथा निर्विषय है अर्थात् शब्द का वाच्य अर्थ ही नहीं है, ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि संवृत्ति (व्यवहार या कल्पना) से भी शब्द को निर्विषय मान लेने पर साधनादिक वचन व्यवहार का विरोध आता है। अर्थात् जब शब्द का कोई वाच्य अर्थ नहीं है तब विपक्ष व्यावृत्ति, पक्ष धर्मत्व सपक्षसत्व आदि तीन अंग वाले हेतु का उच्चारण करना और उच्चरित हेतु के द्वारा सपक्षसिद्धि और परपक्ष व्यावृत्ति करना आदि व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

पुनः शब्द का विषय क्या है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं :

जाति व्यक्ति (सामान्य विशेष) आत्मक ही बहिरंग (घट पट आदि) अंतरंग (आत्मा ज्ञानादि) वस्तु (पदार्थ) ज्ञान का विषय है यह लोकप्रसिद्ध है। इसलिए शब्द का वाच्य अर्थ (विषय) भी जाति, व्यक्ति आत्मक वस्तु ही मानना चाहिए क्योंकि जाति व्यक्ति आत्मक वस्तु में ही शब्दजन्य व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही शाब्द ज्ञान का विषय है ऐसा मानना चाहिए॥५०॥

यद्यत्र व्यवहृतिमुपजनयति तत्तद्विषयं यथा प्रत्यक्षादि । जातिव्यक्त्यात्मके वस्तुनि व्यवहृतिमुपजनयत्तद्विषयं । तथा च शब्द इत्यत्र नासिद्धं साधनं बहिरंतश्च व्यवहृते: सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि समीक्षणात् । तथा च यत्रैव शब्दात् प्रतिपत्तिस्तत्रैव प्रवृत्ति: तस्यैव प्राप्ति: प्रत्यक्षादेरिवेति सर्वं सुस्थं । सत्ताशब्दाद्द्रव्यत्वादिशब्दाद्वा कथं सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि प्रतिपत्तिरिति चेत् , सद्विशेषोपहितस्य सत्सामान्यस्य द्रव्यादिविशेषोपहितस्य च द्रव्यत्वादिसामान्यस्य तेन प्रतिपादनात् । तदनेनाभावशब्दादद्रव्यत्वादित्वाद्वा तत्र प्रतिपत्तिरुक्ता भावांतरस्वभावत्वादभावस्य, गुणादिस्वभावत्वाच्चाद्रव्यत्वादे: भावोपहतस्याभावस्याभावशब्देन गुणाद्युपहितस्य

जो ज्ञान जिस विषय में व्यवहार को उत्पन्न करता है वह ज्ञान उस वस्तु का विषय करने वाला होता है। जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण जाति व्यक्ति आत्मक वस्तु में व्यवहार के जनक हैं। अत: उनको उस वस्तु का विषय करने वाला माना गया है।

वैसे शब्द ज्ञान भी जाति, व्यक्ति आत्मक वस्तु में व्यवहार को उत्पन्न करता है अत: शाब्द ज्ञान का विषय जाति व्यक्ति आत्मक वस्तु है। जाति व्यक्ति आत्मक वस्तु में व्यवहार को उत्पन्न कराना रूप हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि ब्रहिरंग और अन्तरंग सामान्य विशेषात्मक (जाति व्यक्ति आत्मक) वस्तु में शाब्द (शब्दजन्य) ज्ञान का व्यवहार देखा जाता है अर्थात् शब्द सुनकर प्राणी सामान्य विशेष आत्मक (आम्र से युक्त वृक्षादि) वस्तु में प्रवृत्ति करता है।

तथा च (ऐसे होने पर) शब्द के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसी में प्रवृत्ति होती है और उसी की प्राप्ति होती है जैसे अग्नि के ज्ञापक प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा ज्ञाता की अग्नि के विषय में प्रवृत्ति होती है अत: शब्द ज्ञान का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है, यह सुव्यवस्थित है अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है।

शंका : केवल सत्ता शब्द वाचक या द्रव्य गुण आदि वाचक शब्द के द्वारा सामान्य विशेषात्मक वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता है ? **समाधान :** सत् विशेष (घट पट आदि उपाधियों) से युक्त सत्ता सामान्य का सत्ता शब्द से और द्रव्यत्व गुणत्व आदि विशेष से युक्त द्रव्यत्वादि सामान्य का द्रव्यत्व, गुणत्व आदि विशेषणों से युक्त शब्दों के द्वारा प्रतिपादन होता है अर्थात् 'वृक्ष' इस शब्द से वृक्ष सामान्य का और 'आम्र वृक्ष' शब्द से वृक्ष विशेष का प्रतिपादन होता है और वैसा ही ज्ञान होता हैं सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है।

किं च- इस कथन से "अभाव को कहने वाले अभाव शब्द से वा अद्रव्यत्व, अगुणत्व आदि को कहने वाले अद्रव्यत्व अगुणत्व आदि शब्द के द्वारा सामान्य विशेषात्मक वस्तु का ही ज्ञान होता है" यह कथन किया गया है क्योंकि भावस्वरूप विशेषणों से युक्त अभाव का अभाव शब्द के द्वारा तथा गुण कर्म आदि उपाधियों से तदात्मक गुण आदिक का अद्रव्य आदि शब्दों के द्वारा प्रकाशन (वाचन कथन) होता

चाद्रव्यत्वादेरद्रव्यत्वादिशब्देन प्रकाशनाद्वा । न च भावोपहितत्वमभावस्यासिद्धं सर्वदा घटस्याभावः पटस्याभाव इत्यादि भावोपाधेरेवाभावस्य प्रतीतेः। स्वातंत्र्येण सकृदप्यवेदनात्। तथैवाद्रव्यं गुणादिरजीवो धर्मादिरिति गुणाद्यपाधेरद्रव्यत्वादेः सुप्रतीतत्वात् न तस्य तदुपहितत्वमसिद्धं तथा प्रतीतेरबाधत्वात्। एतेन सत्सामान्यस्य विशेषोपहितत्वं द्रव्यत्वादिसामान्यस्य च द्रव्यत्वादिविशेषोपहितत्वमसिद्धं ब्रुवाणः प्रत्याख्यातः, सतां विशेषाणां भावः सत्ता द्रव्यादीनां भावो द्रव्यादित्वमिति सत्तादिसामान्यस्य स्वविशेषाश्रयस्यैव प्रत्ययाभिधानव्यवहारगोचरत्वात्। सद्द्रव्यं सुवर्णं वानयेत्युक्ते तन्मात्रस्यानयनादर्शनात् स्वविशेषात्मन एव सदादिसामान्यस्य तद्गोचरत्वं प्रतीतिसिद्धं । सदादिविशेषमानयेति वचने तस्य सत्त्वादिसामान्यात्मकस्य

है। क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभाव वाला है। जैसे सुख नहीं है, दुःख है। मधुर नहीं है, कटु है। मधुर का अभाव कटु रूप भावान्तर स्वभाव वाला है। द्रव्य नहीं है, गुण है। गुण नहीं है, द्रव्य है अभाव भी भावान्तर स्वभाव वाला है।

तथा, भाव विशेषण से युक्त अभाव की असिद्धि भी नहीं है। क्योंकि घट का अभाव, पट का अभाव इत्यादि अभाव की प्रतीति सदा भाव उपाधियों से युक्त ही होती है। घट का अभाव है, इस वाक्य में अभाव विशेष्य है घट विशेषण है अतः निश्चय होता है कि भाव से युक्त अभाव का अभाव शब्द से प्रतिपादन होता है स्वतंत्र अभाव एक बार भी अनुभव में नहीं आता है।

तथा अद्रव्य यह भी गुण, पर्याय आदि स्वरूप है। अजीव ये धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल आदि भाव स्वरूप हैं अतः अद्रव्य शब्द से गुण आदि उपाधियों (विशेषणों) की तथा अजीव शब्द से धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल और काल द्रव्य की प्रतीति होती है।

इन प्रतीतियों का कोई बाधक प्रमाण नहीं होने से इन उपाधियों से युक्त द्रव्य की असिद्धि नहीं है। अतः अभाव भी भावान्तर का वाचक सिद्ध है।

इस कथन के द्वारा ''सत्ता सामान्य को सद्विशेषों से युक्त और द्रव्यत्वादि सामान्य का द्रव्यत्व आदि से युक्तता को असिद्ध कहने वाले वैशेषिकों के मत का'' खण्डन कर दिया गया है क्योंकि घट आदि विशेष सत्पदार्थों का भाव ही सत्ता है, और द्रव्य आदि का भाव ही द्रव्यत्व आदि है। इस प्रकार निज-निज विशेषों का आश्रयीभूत सत्तादि सामान्य का ज्ञान व्यवहार अभिधान (शब्द) व्यवहार दृष्टिगोचर होता है अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान और शब्द व्यवहार के गोचर होती है। ''जैसे सद् द्रव्य सुवर्ण को लाओ'' ऐसा कहने पर केवल सुवर्ण सत्ता द्रव्य का लाना दृष्टिगोचर नहीं होता है। अपितु स्वविशेष से युक्त (सामान्य सुवर्ण विशेष कुण्डल पासा आदि से युक्त वस्तु) नियत सुवर्ण का लाना व्यवहार का विषय होता है। अर्थात् अपने विशेषों के साथ तादात्म्य रखने वाले सत् द्रव्य सुवर्ण आदि सामान्य का विषय भी प्रतीति सिद्ध है।

सत् आदि विशेष (कुण्डल आदि) को लाओ ऐसा कहने पर केवल विशेष की प्रतीति नहीं होती है अपितु सत् सामान्य से तदात्मक विशेष व्यवहार गोचर होता है अर्थात् कुण्डल लाओ कहने पर सुवर्ण

व्यवहारगोचरत्ववत् । ततः सूक्तं सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः शब्दगोचरत्वं तथा शब्दव्यवहारस्य निर्बाधमवभासनात् । कथमेवं पंचतयी शब्दानां वृत्तिर्जात्यादिशब्दानामभावादिति न शंकनीयं, यस्मात्:—

तत्र स्याद्वादिनः प्राहुः कृत्वायोद्धारकल्पनाम् । जातेः प्रधानभावेन कांश्चिच्छब्दान् प्रबोधकान् ।।५१।।

व्यक्तेः प्रख्यापकांश्चान्यान् गुणद्रव्यक्रियात्मनः । लोकसंव्यवहारार्थमपरान् पारिभाषिकान् ।।५२।।

न हि गौरश्व इत्यादिशब्दाज्जातेः प्रधानभावेन गुणीभूतव्यक्तिस्वभावायाः प्रकाशने गुणक्रियाद्रव्यशब्दाद्वा यथोदितादव्यक्तेर्गुणाद्यात्मिकायाः प्राधान्येन गुणीभूतजात्यात्मनः प्रतिपादने स्याद्वादिनां कश्चिद्विरोधो येन सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयशब्दमाचक्षाणानां पंचतयी शब्दप्रवृत्तिर्न सिद्ध्येत् ॥

तेनेच्छामात्रतंत्रं यत्संज्ञाकर्म तदिष्यते । नामाचार्यैर्न जात्यादिनिमित्तापन्नविग्रहम् ।। ५३ ।।

चाँदी आदि से निर्मित कुण्डल के लाने का व्यवहार होता है, अतः सामान्य विशेषात्मक वस्तु शब्द का विषय है, ऐसा कहना ठीक है।

इस प्रकार लोक में शब्दजन्य व्यवहार का बाधा रहित प्रतिभास होता है केवल सामान्य या केवल विशेषात्मक पदार्थ ही नहीं है अतः वे शब्द के विषय कैसे हो सकते है।

जब सम्पूर्ण शब्दों का वाच्य सामान्य विशेषात्मक वस्तु है तब पूर्वोक्त जाति, गुण, क्रिया, संयोगी और समवायी इन पाँचों अवयवों में शब्द की प्रवृत्ति कैसे घटित हो सकती है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि-ऐसी शंका का निराकरण करते हुए स्याद्वादी कहते हैं कि- सामान्य विशेषात्मक वस्तु के प्रतिपादक शब्दों में से जातिवाचक शब्दों की व्यावृत्ति कल्पना करके प्रधान रूप जाति को समझाने वाले शब्दों को जाति शब्द माना जाता हैं-जैसे मनुष्य हाथी, घोड़ा, आदि। कुछ अन्य गुण, द्रव्य, क्रियास्वरूप, व्यक्तिभूत पदार्थों के कथन करने वाले शब्दों को लोक व्यवहार के लिए गुण शब्द, द्रव्य शब्द, और क्रिया शब्द कहा जाता है तथा अपने-अपने सिद्धान्तानुसार सम्यग्दर्शन, ब्रह्म, सु और जस आदि शब्दों को पारिभाषिक शब्द कहा है। ये सर्व शब्द सामान्य विशेषात्मक वस्तु के प्रतिपादक हैं।।५१-५२।।

'गाय,' अश्व इत्यादि शब्दों से गौणभूत व्यक्ति के स्वभाव रूप जाति का प्रधानता से प्रकाशन करने में अथवा आगम कथित गुणादि आत्मक व्यक्ति की प्रधानता से गौणभूत जात्यात्मक पदार्थ का शब्द के द्वारा प्रतिपादन करने में स्याद्वादियों को कोई विरोध नहीं है। जिससे कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु का विषय करने वाले शब्द को कहने वाले अनेकान्तवादियों के व्यवहार में पाँच प्रकार के शब्दों की प्रवृत्ति होना सिद्ध न हो अर्थात् सभी शब्दों का वाच्य अर्थ जाति और व्यक्ति (सामान्य विशेषात्मक) इन दोनों से तदात्मक पिण्डरूप हो रही वस्तु है। इसमें कभी जाति (सामान्य) की मुख्यता से कथन होता है और कभी व्यक्ति (विशेष) की मुख्यता से कथन होता है। जाति और व्यक्ति (सामान्य और विशेष) का रूप, रस के समान तदात्मक सहचर सम्बन्ध है।

इसलिए जाति द्रव्य गुण क्रिया की अपेक्षा न करके वक्ता की इच्छा से संज्ञा (नाम) कर्म किया जाता है (किसी का नाम रखा जाता है) आचार्यदव ने उसको नाम निक्षेप कहा है। यह नाम निक्षेप जाति, गुण, द्रव्य; क्रिया, परिभाषा आदि निमित्तों से युक्त नहीं है।।५३।।

सिद्धे हि जात्यादिनिमित्तांतरे विवक्षात्मनः शब्दस्य निमित्तात् संव्यवहारिणां निमित्तांतरानपेक्षं संज्ञाकर्म नामेत्याहुराचार्यास्ततो जात्यादिनिमित्तं संज्ञाकरणमनादियोग्यतापेक्षं न नाम । केनचित् स्वेच्छया संव्यवहारार्थं प्रवर्तितत्वात् , परापरवृद्धप्रसिद्धेस्तथैवाव्यवच्छेदात् , बाधकाभावात् ॥

का पुनरियं स्थापनेत्याह—

वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः॥ ५४ ॥

स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः सा चाहितनामकस्येंद्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सोऽयमित्यभिसंबंधेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात् । तत्राध्यारोप्यमानेन भावेंद्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात् । कथंचित्सादृश्यसद्भावात् । मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात् ॥

इस प्रकार शब्द के विवक्षात्मक निमित्त से पृथक् जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषात्मक निमित्तान्तर के सिद्ध हो जाने पर संव्यवहारियों के निमित्तान्तर की अपेक्षा न करके संज्ञा कर्म को जैनाचार्य नाम निक्षेप कहते हैं अतः अनादिकालीन योग्यता की अपेक्षा से जाति आदि के निमित्त से संज्ञा करना नाम निक्षेप नहीं है। किसी पुरुष के स्वयं की इच्छा से समीचीन संव्यवहार के लिए किसी संज्ञा कर्म की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार पर वृद्ध (प्राचीनवृद्ध) और अपर (आधुनिक) वृद्धों की आम्नायानुसार अक्षुण्ण अनादिकालीन प्रसिद्धि है। इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस प्रकार नाम निक्षेप का कथन पूर्ण हुआ।

स्थापना निक्षेप किसे कहते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

किया गया है नाम निक्षेप जिसका ऐसी वस्तु के उन वास्तविक धर्मों में अध्यारोप से यह वही है, ऐसी प्रतिष्ठा करना स्थापना निक्षेप है।सद्भाव तदाकार और असद्भाव अतदाकार के भेद से स्थापना दो प्रकार की है।।५४।।

ण्यत् स्था धातु से युट् और टाप् प्रत्यय लगाने से स्थापना शब्द निष्पन्न होता है। जो स्थापित की जाती है वह स्थापना कहलाती है। इसका अर्थ है किसी की प्रकृति अर्थात् प्रतिबिम्ब।

परमैश्वर्य लक्षण वाले वास्तविक नाम वाले इन्द्रादिक को किसी अन्य वस्तु में अध्यारोपित करना (प्रतिनिधित्व करना) प्रतिष्ठा स्थापना है। 'यह वह है' इस प्रकार के संबंध से अन्य की व्यवस्थापना स्थापनामात्र वा स्थापना कहलाती है क्योंकि स्थापना कर देना ही स्थापना है, इस प्रकार ऋषियों ने स्थापना को भाव प्रधान कहा है।

इस स्थापना के प्रकरण में वास्तविक इन्द्र पर्याय से परिणत और स्वर्ग में स्थित भाव निक्षेप से कथित इन्द्र आदि के समान प्रतिमा में आरोपित इन्द्र आदि की स्थापना सद्भाव स्थापना है क्योंकि वस्तु को देखने वाले के हृदय में स्वयं उस प्रतिमा के अनुसार 'सादृश्य से यह वह है' ऐसी बुद्धि की संभवता है क्योंकि कथंचित् उसमें सादृश्य का सद्भाव है अतः यह सद्भाव स्थापना है। मुख्य आकार से शून्य केवल वस्तु में यह वही है ऐसी स्थापना करना असद्भाव स्थापना है क्योंकि मुख्य पदार्थ को देखने वाले भी जीव को दूसरों के उपदेश से ही 'यह वही है' इस प्रकार का उसमें समीचीन ज्ञान होता है अर्थात् असद्भाव स्थापना में परोपदेश के बिना 'यह वही है' ऐसा ज्ञान नहीं होता है, परोपदेश से ही होता है।

सादरानुग्रहाकांक्षाहेतुत्वात्प्रतिभिद्यते। नाम्नस्तस्य तथाभावाभावादत्राविवादतः ॥ ५५ ॥

स्थापनायामेवादरोनुग्रहाकांक्षा च लोकस्य न पुनर्नाम्नीत्यत्र न हि कस्यचिद्विवादोस्ति येन ततः सा न प्रतिभिद्यते । नाम्नि कस्यचिदादरदर्शनान्न ततस्तद्भेद इति चेन्न, स्वदेवतायामतिभक्तितस्तन्नामकेर्थे तदध्यारोपस्याशुवृत्तेस्तत्स्थापनायामेवादरावतारात् । तदनेन नाम्नि कस्यचिदनुग्रहाकांक्षाशंका व्युदस्ता, केवलमाहितनामके वस्तुनि कस्यचित्कादाचित्की स्थापना कस्यचित्तु कालांतरस्थायिनी नियता । भूयस्तथा संप्रत्ययहेतुरिति विशेषः ॥

नन्वनाहितनाम्नोपि कस्यचिद्दर्शनेंजसा। पुनस्तत्सदृशे चित्रकर्मादौ दृश्यते स्वतः ॥ ५६ ॥

सोऽयमित्यवसायस्य प्रादुर्भावः कथंचन। स्थापना सा च तस्येति कृतसंज्ञस्य सा कुतः ॥ ५७ ॥

आदर करना, अनुग्रह कराने की आकांक्षा अभिलाषा रखना आदि कारणों से नाम निक्षेप से स्थापना निक्षेप पृथक् है क्योंकि उस नाम निक्षप में आदर, अनुग्रह की आकांक्षा आदि के भाव का अभाव है अर्थात् नाम निक्षेप में पूज्यता आदि के भाव नहीं होते हैं परन्तु स्थापना निक्षेप में आदर आदि के भाव में किसी का विवाद भी नहीं है क्योंकि सभी मतावलम्बी अपने इष्ट की स्थापना करके आदर आदि करते ही हैं ॥५५॥

लौकिक जनों की, स्थापना में ही आदर और अनुग्रह की अभिलाषा रहती है, किन्तु नाम निक्षेप में नहीं। इस विषय में किसी का विवाद भी नहीं है। जिससे नाम निक्षेप और स्थापना में भेद न हो अर्थात् इन दोनों में आदर अनादर की प्रवृत्ति देखी जाती है अतः इन दोनों में भेद है। जैनाचार्य कहते हैं, नाम में भी किसी का आदर देखा जाता है इसलिए नाम और स्थापना में कोई भेद नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि अपने इष्ट देवता में अतिभक्ति के वश से उस नाम वाले अर्थ में उस देवता की मूर्ति की शीघ्र ही अध्यारोप स्थापना कर ली जाती है अतः उस देवता की स्थापना में ही आदर का अवतार होता है, आदर अनुग्रह की अभिलाषा उत्पन्न होती है, नाम निक्षेप में नहीं। जैसे नाम महावीर का आदर नहीं होता अपितु स्थापना महावीर का आदर वा पूजा होती है।

इस कथन से किसी की इस शंका का भी खण्डन हो जाता है कि नाम वाले पदार्थ में भी किसी की अनुग्रह की आकांक्षा होती है क्योंकि स्थापना का स्मरण करके ही उस प्रतिबिम्ब से अनुग्रह कराने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, केवल नाम से नहीं तथा उस नाम को धारण करने वाली वस्तु में किसी पुरुष के तो कादाचित्की (कभी-कभी होने वाली) स्थापना होती है और किसी पुरुष के बहुत कालतक स्थिर रहने वाली नियत स्थापना होती है अर्थात् जैसे चावल, सुपारी आदि में की गई देव-शास्त्र आदि की स्थापना कुछ काल के लिए होती है और जिनमन्दिर में सुवर्ण, पाषाण आदि में की गई देव आदि की स्थापना बहुत काल तक स्थिर रहती है यह स्थापना सम्यग्ज्ञान की कारण है। यह नाम और स्थापना में विशेषता है।

प्रश्न : जिसका नाम निक्षेप नहीं हुआ है, ऐसे किसी पदार्थ के देखने पर तथा पुनः शीघ्र ही उसके सदृश चित्र कर्म आदि में यह वही है इस प्रकार के निर्णय की उत्पत्ति स्वतः देखी जाती है और वह स्थापना

नैतत्सन्नाम सामान्यसद्भावात्तत्र तत्त्वतः । क्वान्यथा सोयमित्यादिव्यवहारः प्रवर्तताम् ॥ ५८ ॥

नन्वेवं सति नाम्नि स्थापनानुपपत्तेस्तस्यास्तेन व्याप्तिः कथं न तादात्म्यमिति चेन्न, विरुद्धधर्माध्यासात्॥ तथाहि—

सिद्धं भावमपेक्ष्यैव स्थापनायाः प्रवृत्तितः । तदपेक्षां विना नाम भावाद्भिन्नं ततः स्थितम् ॥ ५९ ॥

किं स्वरूपप्रकारं द्रव्यमित्याह;—

यत्स्वतोभिमुखं वस्तु भविष्यत्पर्ययं प्रति । तद्द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः ॥ ६० ॥

न ह्यवस्त्वेव द्रव्यमबाधितप्रतीतिसिद्धं वा, नाप्यनागतपरिणामविशेषं प्रति ग्रहीताभिमुख्यं न भवति पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थानलक्षणत्वाद्वस्तुनः सर्वथा तद्विपरीतस्य प्रतीतिविरुद्धत्वात् । तच्च द्विविधमागमनोआगमभेदात् प्रतिपत्तव्यम् ।

कथञ्चन किसी प्रकार से उसकी है अतः कृत नाम निक्षेप वाले के ही स्थापना होती है, ऐसा कैसे हो सकता है? **उत्तर :** ऐसी शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि उसमें भी परमार्थ से सामान्य नाम विद्यमान है अन्यथा सामान्य नाम के बिना 'वह यह है' इत्यादि व्यवहार कैसे हो सकता है अर्थात् यह वह ऐसे व्यवहार की प्रवृत्ति सामान्य नाम के बिना किस में हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती ।।५६-५७-५८।। **प्रश्न :** नाम निक्षेप के होने पर ही स्थापना की उत्पत्ति मानने पर स्थापना की नाम के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूप व्याप्ति क्यों नहीं होगी? **उत्तर :** ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि नाम और स्थापना में विरुद्ध धर्म का आधार है। दोनों का धर्म पृथक्-पृथक् है अतः दोनों में तादात्म्य संबंध नहीं है। तथाहि-

सिद्ध (निष्पन्न) भाव की अपेक्षा स्थापना की प्रवृत्ति होती है परन्तु नाम निष्पन्न पदार्थ के बिना भी होता है इसलिए नाम और स्थापना पृथक्-पृथक् है अर्थात् स्थापना सार्थक नाम की होती है, नाम चाहे जिसका रखा जा सकता है अतः नाम निक्षेप से स्थापना निक्षेप भिन्न है ।।५९।।

इस प्रकार स्थापना निक्षेप पूर्ण हुआ।

द्रव्य निक्षेप का स्वरूप क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं

जो वस्तु स्वतः भावी पर्याय के प्रति अभिमुख है, वह द्रव्य निक्षेप है, ऐसा जानना चाहिए। यह द्रव्य निक्षेप आगम और नो आगम के भेद से दो प्रकार का है ।।६०।। अर्थात् अनागत परिणाम विशेष के अभिमुख को द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

अबाधित प्रतीति प्रसिद्ध द्रव्य अवस्तु नहीं है तथा अनागत परिणाम विशेष के प्रति गृहीताभिमुख (भावी पर्याय के ग्रहण करने के सन्मुख) द्रव्य नहीं है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि पूर्व स्वभाव (पूर्व पर्याय) का त्याग करना उत्तर पर्याय का ग्रहण करना और द्रव्य रूप से स्थित रहना उत्पाद व्यय ध्रौव्य ही वस्तु का लक्षण है। इससे सर्वथा विपरीत की प्रतीति विरुद्ध है अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से विपरीत कूटस्थ नित्य वा सर्वथा क्षणिक वस्तु नहीं है क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। वह द्रव्यनिक्षेप आगम और नो आगम के भेद से दो प्रकार का है, ऐसा जानना चाहिए।

आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः। सोऽत्रागमः समाम्नातः स्याद्द्रव्यं लक्षणान्वयात् ॥६१॥

अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञायी आत्मागमः । कथं द्रव्यमिति नाशंकनीयं द्रव्यलक्षणान्वयात् । जीवादिप्राभृतज्ञस्यात्मनोनुपयुक्तस्योपयुक्तं तत्प्राभृतज्ञानाख्यमनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यस्वभावत्वसिद्धेः ॥

नो आगमः पुनस्त्रेधा ज्ञशरीरादिभेदतः। त्रिकालगोचरं ज्ञातुः शरीरं तत्र च त्रिधा ॥ ६२ ॥

अनुपयुक्त धी (शास्त्र में जिसका उपयोग नहीं है ऐसा मानव) सम्यग्दर्शनादि के प्रतिपादक शास्त्रों का ज्ञाता वह आत्मा सर्वज्ञ की आम्नाय से आगम द्रव्य कहलाता है। द्रव्य के उक्त लक्षणों से अन्वित होने से द्रव्य कहलाता है॥६१॥ अर्थ की जानकारी है, परन्तु वर्तमान में उपयोग नहीं है तो भी उसको आगम का ज्ञाता कहते हैं।

जीवादि के कथन करने वाले शास्त्रों का ज्ञाता, परन्तु वर्तमान काल में उसके उपयोग से रहित आत्मा द्रव्य कैसे कहलाता है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसमें द्रव्य निक्षेप का लक्षण अन्वय रूप से चला आ रहा है। जीव आदिक शास्त्रों का ज्ञाता किन्तु वर्तमान काल में उपयोग रहित आत्मा के आगम द्रव्य निक्षेप से व्यवहार होना उपयुक्त है क्योंकि उस आत्मा के भावी काल में होने वाले उन शास्त्रों के ज्ञान नामक विशेष परिणामों के प्रति गृहीताभिमुख स्वभावत्व की सिद्धि है अर्थात् यद्यपि सामान्य द्रव्य की अपेक्षा द्रव्य अनादि काल से है परन्तु पर्याय विशेष की अपेक्षा भावी पर्याय के सन्मुख को वर्तमान में उस पर्याययुक्त कहा जाता है। जो शास्त्रों का ज्ञाता तो है परन्तु वर्तमान में उपयोग रहित है तो भी वह वर्तमान में उस शास्त्र का ज्ञाता कहलाता है क्योंकि वह ज्ञान भविष्य में उपयोगयुक्त है।

आगम द्रव्य निक्षेप का सहायक नो आगम द्रव्य है। ज्ञाता का शरीर, भावी और तद्व्यतिरेक के भेद से नोआगम द्रव्य निक्षेप तीन प्रकार का है।

जीव शास्त्र वा मोक्ष शास्त्र को जानने वाले ज्ञाता का शरीर ज्ञायक शरीर कहलाता है। वह ज्ञायक शरीर भूत, भविष्यत् और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है। वर्तमान और भावी शरीर का अर्थ सुगम है क्योंकि वर्तमान में शरीर धारण किया हुआ है और भविष्यत् में धारण करेगा। भूतकालीन शरीर च्युत च्यावित और त्यक्त के भेद से तीन प्रकार का है।

भूत काल में अपनी आयु पूर्ण करके शरीर छोड़ा है वह च्युत कहलाता है जैसे देव नारकियों की पर्याय को छोड़कर यहाँ आये हुए ज्ञाता का शरीर च्युत कहलाता है।

कदलीघात अकाल मरण करके आया है वह च्यावित कहलाता है और संन्यास मरण कर के शरीर छोड़ा है वह त्यक्त कहलाता है।

वर्तमान में जीवादि शास्त्र को जानने वाले ज्ञाता का शरीर वर्तमान है। भविष्य काल में ज्ञाता का शरीर होगा वह भावी है और जो भूत में हो चुका है वह भूत काल का शरीर कहलाता है॥६२॥

भावि नोआगमद्रव्यमेष्यत् पर्यायमेव तत् । तथा तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मभेदभृत् ॥ ६३ ॥

ज्ञानावृत्त्यादिभेदेन कर्मानेकविधं मतम् । नोकर्म च शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम् ॥ ६४ ॥

पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम् । विज्ञातव्यं प्रपंचेन यथागममबाधितम् ॥ ६५ ॥

नन्वागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तं, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात् , तदागमविरोधादिति कश्चित् । सोपि सूत्रार्थानभिज्ञ:। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानतक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तं । तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रांतं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयतेन्यथानागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत् । केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचनेऽनागतपरिणामाभिमुखमतीतपरिणामं वानुपायि द्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा

जीवादि शास्त्रों का ज्ञाता आत्मा भविष्य में आने वाली पर्यायों के अभिमुख आत्मा भावी नो आगम द्रव्य है। तथा कर्म और नोकर्म के भेदों को धारण करने वाला तद्व्यतिरेक नोआगम द्रव्य निक्षेप है। वह तद्व्यतिरेक नो आगम द्रव्य निक्षेप ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के भेद से अनेक प्रकार का है ॥६३॥

वर्तमान में शरीर रूप से परिणत होने के लिए निरुत्सुक आहार वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और तेजोवर्गणा रूप एकत्र हुए पुद्गल द्रव्य को नो कर्म समझना चाहिए। इसका विस्तार से वर्णन अबाधित रूप से आगमानुसार जानना चाहिए ॥६४-६५॥

शंका : अनागत परिणाम विशेष के प्रति गृहीताभिमुख परिणाम वाला द्रव्य कहलाता है परन्तु द्रव्य का यह लक्षण युक्त नहीं है क्योंकि सूत्रकार ने द्रव्य का लक्षण गुण-पर्याय वाला कहा है अर्थात् 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' यह सूत्र हैं अत: इस कथन में आगम से विरोध आता है, ऐसा कोई कहता है। **समाधान :** इस प्रकार कहने वाला विद्वान् भी सूत्र के अर्थ से अनभिज्ञ (सूत्र के अर्थ को नहीं जानने वाला) है क्योंकि पर्ययवद् द्रव्यं-द्रव्य पर्याय वाला है, इस प्रकार कहने वाले सूत्रकार ने त्रिकालगोचर अनन्त क्रमभावी पर्यायों से आश्रित द्रव्य का कथन किया है। वह द्रव्य जब भविष्य में होने वाली विशेष पर्याय के सम्मुख होता है तो वह उस समय वर्तमान पर्याय से आक्रान्त है और भूत पर्याय से रहित है, ऐसे द्रव्य का निश्चय किया जाता है अर्थात् त्रिकाल गोचर पर्याय और गुणों का समूह द्रव्य कहलाता है अन्यथा (गुण पर्यायों से रहित द्रव्य) अनागत परिणामों पर्यायों के प्रति अभिमुख नहीं हो सकेगा। जैसे गधे का सींग भावी पर्याय के सम्मुख नहीं हो सकता अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा पूर्व स्वभाव का परित्याग, उत्तर स्वभाव का ग्रहण और स्थायी अंशों से ध्रुवपना यह द्रव्य का स्वरूप है।

केवल नित्य द्रव्यरूप अर्थ की प्रधानता से कथन करने पर भावी पर्याय की ओर अभिमुख तथा अतीत परिणामों को ग्रहण कर चुका है और अनपायी (ध्रुव) पदार्थ द्रव्य है। इस प्रकार भावी परिणाम की अभिमुखता की प्रधानता से निक्षेप प्रकरण में द्रव्य का लक्षण कहा गया है अर्थात् द्रव्य निक्षेप मूल द्रव्य में नहीं होता है क्योंकि द्रव्य तो नित्य है परन्तु पर्याय की अपेक्षा भावी पर्याय को वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप कहलाता है।

द्रव्यलक्षणमुक्तं । सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन प्रमाणार्पणाद्गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति सूत्रितं क्रमाक्रमानेकांतस्य तथा व्यवस्थितेः ॥

कुतस्तर्हि त्रिकालानुयायि द्रव्यं सिद्धमित्याह;—

अन्वयप्रत्ययात्सिद्धं सर्वथा बाधवर्जितात् । तद्द्रव्यं बहिरंतश्च मुख्यं गौणं ततोऽपरम् ॥६६॥

तदेवेदमित्येकत्वप्रत्यभिज्ञानमन्वयप्रत्ययः स तावज्जीवादिप्राभृतज्ञायिन्यात्मन्यनुपयुक्ते जीवाद्यागमद्रव्येस्ति । य एवाहं जीवादि प्राभृतज्ञाने स्वयमुपयुक्तः प्रागासन् स एवेदानीं तत्रानुपयुक्तो वर्ते पुनरुपयुक्तो भविष्यामीति संप्रत्ययात् । न चायं भ्रांतः सर्वथा बाधवर्जितत्वात् । न तावदस्मदादिप्रत्यक्षेण तस्य बाधस्तद्विषये स्वसंवेदनस्यापि विशदस्य वर्तमानपर्यायविषयस्याप्रवर्तनात् । नाप्यनुमानेन तस्य बाधस्तस्य

सूत्रकार के द्वारा पाँचवें अध्याय में अन्य दर्शनों में माने गये द्रव्य के लक्षण का खण्डन करके प्रमाण दृष्टि की अपेक्षा सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय वाला द्रव्य कहा गया है क्योंकि क्रम और अक्रम से अनेकान्त की इस प्रकार व्यवस्था होती है अर्थात् प्रमाण दृष्टि से अक्रम से होने वाला अनेकान्त है और नय दृष्टि से कथन करने पर क्रमानेकान्त है। जैसे क्रम से होने वाले जीव के मतिज्ञान आदि और पुद्गल के काली पीली आदि पर्यायें क्रमानेकान्त हैं। तथा चेतना, सुख, ज्ञान आदि जीव की और रूप रस आदि पुद्गल सहभावी पर्याय की अपेक्षा अक्रमानेकान्त हैं।

इस द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा त्रिकाल अन्वय रखने वाले द्रव्य की सिद्धि कैसे होती है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि-

सर्वथा बाधक प्रमाणों से रहित अन्वय ज्ञान से शरीर आदि बहिरंग और ज्ञानस्वरूप आत्मा अंतरंग द्रव्यमुख्य सिद्ध है। तथा उनसे भिन्न आरोपित किया गया गौण द्रव्य है॥६६॥

'यह वही है, यह वही है' इस प्रकार एकत्व को जानने वाला प्रत्यभिज्ञान अन्वय ज्ञान है। वह ज्ञान जब जीवादि शास्त्र को जानने वाला है परन्तु वर्तमान में उसका उस शास्त्र में उपयोग नहीं है ऐसा जीवादि आगम द्रव्य आत्मा में अवश्य विद्यमान है। क्योंकि जो मैं जीवादि के कथन करने वाले शास्त्र ज्ञान में स्वयं उपयुक्त था वही मैं इस समय उस शास्त्रज्ञान में उपयोग रहित होकर स्थित हूँ। भविष्य काल में मैं ही उस शास्त्र में उपयुक्त हो जाऊंगा। इस प्रकार का ज्ञान हो रहा है अर्थात् एक ही विद्वान् भक्तामर का ज्ञाता हैं उसमें उपयुक्त नहीं है परन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में उपयुक्त है, ऐसा देखा जाता है।

सर्वथा बाधाओं से वर्जित होने से यह ज्ञान भ्रान्त भी नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञान हमारे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित भी नहीं है क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञान के विषय में वर्तमान पर्यायों का विषय करने वाले विशद स्वरूप स्वसंवेदन की भी प्रवृत्ति नहीं है। अर्थात् नित्य द्रव्य को सिद्ध करने वाले प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि में प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधा नहीं आती है।

अनुमान प्रमाण से भी प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि में बाधा नहीं आती है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विरुद्ध विषय के व्यवस्थापक अनुमान की असंभवता है अर्थात् अनित्य द्रव्य को सिद्ध करने वाला अनुमान नहीं है।

तद्विपरीतविषयव्यवस्थापकस्यासंभवात् । यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके सर्वथार्थक्रियाविरो-धात्तल्लक्षणसत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानेन तद्बाध इति चेन्नास्य विरुद्धत्वात् । सत्त्वं ह्यर्थक्रियया व्याप्तं, सा च क्रमयौगपद्याभ्यां ते च कथंचिदन्वयित्वेन, सर्वथानन्वयिनः क्रमयौगपद्यविरोधादर्थक्रियाविरहात् सत्त्वानुपपत्तेरिति समर्थनात् । सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमात्मन्येकत्वप्रत्ययं बाधत इति चेन्न, एकत्र संताने तस्य

जो सत् है वह सर्व क्षणिक है, अक्षणिक नित्य पदार्थ में सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध आता है। अत: अर्थक्रिया स्वरूप उस सत् (सर्वथा नित्य मान लेने पर) लक्षण द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस अनुमान के द्वारा प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि में विरोध आता है। इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सर्वथा क्षणिक द्रव्य की सिद्धि करने वाला यह अनुमान विरुद्ध है। अर्थात् द्रव्य को क्षणिक सिद्ध करने के लिए दिया गया सत्त्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

सत्त्व की व्याप्ति अर्थक्रिया के साथ है और वह अर्थक्रिया क्रम तथा युगपत् होने वाले परिणाम (पर्याय) के साथ व्याप्ति रखती है। और वे क्रम एवं युगपत् दोनों कथंचित् अन्वयी से व्याप्ति रखते हैं। सर्वथा अनन्वयी क्षणिक स्वलक्षण के यौगपद्य तथा क्रम होने का विरोध है। जहाँ क्रम और यौगपद्य नहीं है वहाँ अर्थक्रिया का भी अभाव होता है और अर्थक्रिया के अभाव में व्याप्य सत्त्व की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार हेतु का समर्थन है अत: सत्त्व हेतु कथंचित् अन्वय रूप से व्याप्त है, सर्वथा क्षणिक नहीं है।

त्रिकालगोचर पर्यायों के अन्वय रखने वाले आत्मा में एकत्व का विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान का सादृश प्रत्यभिज्ञान बाधक है अर्थात् भिन्न-भिन्न समयों में होने वाले निरन्वय परिणाम में ही सादृश्य होता है, अन्वयी एक द्रव्य में सादृशपना नहीं होता है ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि पूर्वापर परिणामों की एक सन्तान रूप में सादृश्य ज्ञान कभी नहीं होता है।

अनेक सन्तान रूप चित्तों (आत्माओं) में सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता हुआ देखा जाता है अत: एक सन्तान रूप चित्तों में भी सादृश्य ज्ञान का सद्भाव है अर्थात् अनेक ज्ञान और सुख में अन्वित रहने वाला कोई एक द्रव्य नहीं है- अत: इनमें सादृश्य का ज्ञान होता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अनेक संतानों के विभाग के अभाव का प्रसंग आयेगा अर्थात् द्रव्य के संबंध को स्वीकार न करके सादृश्य पदार्थों में एक सन्तान मानने वाले बौद्धों के सन्तान के सांकर्य का निवारण नहीं हो सकता है। अनेक संतानों का विभाग करना अशक्य हो जायेगा।

यदि अनेक (स्वकीय परकीय) परिणामों (पर्यायों) में सदृशत्व की अपेक्षा विशेषता न होते हुए भी किन्हीं विशेष चित्तों का संबंध विशेष हो जाने के कारण एक सन्तानपना माना जाता है और किन्हीं चित्त विशेषों का विशेष संबंध होने से दूसरी सन्तान मानी जाती है। इस प्रकार बौद्ध प्रत्यासत्ति से अनेक सन्तानों के विभाग की सिद्धि करेंगे तब तो एक द्रव्य रूप चित्त के विशेष परिणामों के एक सन्तानत्व सिद्ध होता है। द्रव्य नामक प्रत्यासत्ति को ही एक सन्तानपने की कारणता सिद्ध होती है।

कातुचिदभावात् । नाना संतानचित्तेषु तद्दर्शनादेकसंतानचित्तेषु सद्भाव इति चेन्न, अनेकसंतानविभागाभावप्रसंगात् । सदृशत्वाविशेषेपि केषांचिदेव चित्तविशेषाणामेकसंतानत्वं प्रत्यासत्तिविशेषात् परेषां नानासंतानविभागसिद्धौ सिद्धमेकद्रव्यात्मकचित्तविशेषाणामेकसंतानत्वं द्रव्यप्रत्यासत्तेरेव तथा भावनिबंधनत्वोपपत्तेरुपादानोपादेयभावानंतर्यादेरपाकृतत्वात् । ततोऽस्खलत्सादृश्यप्रत्यभिज्ञानात् सादृश्यसिद्धिवदस्खलदेकत्वप्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धिरेवेति निरूपितप्रायं । एतेन जीवादिनोआगमद्रव्यसिद्धिरुक्ता । य एवाहं मनुष्यजीवः प्रागासन् स एवाधुना देवो वर्ते पुनर्मनुष्यो भविष्यामीत्यन्वयप्रत्ययस्य सर्वथाप्यबाध्यमानस्य सद्भावात् । यदेवं जलं शुक्तिविशेषे पतितं तदेव मुक्ताफलीभूतमित्याद्यन्वयप्रत्ययवत् । ननु च जीवादिनोआगमद्रव्यमसंभाव्यं *जीवादित्वस्य सार्वकालिकत्वेनानागतत्वासिद्धेस्तदभिमुख्यस्य कस्यचिदभावादिति चेत् । सत्यमेतत् । तत*

एक द्रव्य के नाना परिणामों की एक सन्तान करने में उपादान उपादेयभाव, आनन्तर्य, क्षेत्र प्रत्यासत्ति, भाव संबंध आदि के प्रयोजकत्व का खण्डन किया जा चुका है अर्थात् जैसे पुद्गल द्रव्य स्वरूप मिट्टी का विचार किया जाये तो घड़ा, सिकोरा आदि में एक सन्तान रूप है परन्तु घट सिकोरा आदि की अपेक्षा एकसन्तानत्व नहीं है। तथा एक साथ बोये गये गेहूँ , जौ आदि के अंकुर में कालप्रत्यासत्ति होने पर भी एक सन्तानत्व नहीं है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों में क्षेत्र प्रत्यासत्ति होने पर भी एक सन्तानत्व नहीं है। सर्व सयोग केवली, अयोग केवली, सिद्ध परमेष्ठियों में केवलज्ञान, केवलदर्शनादि की अपेक्षा भाव प्रत्यासत्ति है परन्तु द्रव्य प्रत्यासत्ति न होने से एकसन्तानत्व नहीं है। पारिशेष न्याय से यह सिद्ध होता है कि द्रव्यप्रत्यासत्ति ही एकसन्तानत्व का कारण है। इसलिए अबाधित सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से पर्यायों में जैसे सादृश्य की सिद्धि होती है, वैसे ही अविचलित प्रामाणिक एकत्व प्रत्यभिज्ञान से पर्यायों में एकत्व की भी सिद्धि होती है। इस प्रकार पूर्व में बहुत बार निरूपण कर चुके हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उपादान उपादेय भाव का या एकत्व सन्तान का कारण एक द्रव्य प्रत्यासत्ति है। इस प्रकार जीव सम्यग्दर्शनादि के नो आगम द्रव्य निक्षेप की सिद्धि कही है।

पहले जो मैं मनुष्य जीव था वही मैं इस समय देव हूँ पुनः मनुष्य हो जाऊँगा। इस प्रकार सर्वथा अबाधित निर्दोष अन्वय प्रत्यय का सद्भाव पाया जाता है। जैसे सीप के मुख में गिरा हुआ जल ही मोती रूप से परिणत होता है। इत्यादि निर्दोष अन्वय की प्रतीति होती है।

शंका : जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्यों में नो आगम द्रव्य असंभव है क्योंकि जीवादि छह द्रव्यों का अस्तित्व सर्वकालीन होने से अनागतत्व की असिद्धि है। सामान्य जीवादि छह द्रव्यों का भविष्य में प्राप्त होना असिद्ध है। इसलिए जीवादि धर्म के सम्मुख होने वाले किसी भी पदार्थ का अभाव है। अर्थात् पूर्व में जीवादि द्रव्य नहीं थे, ऐसा हो नहीं सकता।

समाधान : यह आपका कथन सत्य है क्योंकि सामान्य रूप से जीवादिक में नो आगम द्रव्य निक्षेप

एव जीवादिविशेषापेक्षयोदाहृतो जीवादिद्रव्यनिक्षेपो। नन्वेवमागमद्रव्यं वा बाधितात्तदन्वयप्रत्ययान्मुख्यं सिद्‌ध्यतु ज्ञायकशरीरं तु त्रिकालगोचरं तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मविकल्पमनेकविधं कथं तथा सिद्ध्येत् प्रतीत्यभावादिति चेन्न, तत्रापि तथाविधान्वयप्रत्ययस्य सद्भावात् । यदेव मे शरीरं ज्ञातुमारभमाणस्य तत्त्वं तदेवेदानीं परिसमाप्ततत्त्वज्ञानस्य वर्तत इति वर्तमानज्ञायकशरीरे तावदन्वयप्रत्ययः। यदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य मे शरीरमासीत्तदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्येत्यतीतज्ञायकशरीरे प्रत्यवमर्शः । यदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य शरीरं तदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य भविष्यतीत्यनागतज्ञायकशरीरे प्रत्ययः। तर्हि ज्ञायकशरीरं भाविनोआगमद्रव्यादनन्यदेवेति चेन्न, ज्ञायकविशिष्टस्य ततोन्यत्वात्। तस्यागमद्रव्यादन्यत्वं सुप्रतीतमेवानात्मत्वात् । कर्म नोकर्म वान्वयप्रत्ययपरिच्छिन्नं ज्ञायकशरीरादनन्यदिति चेत् न, कार्मणस्य शरीरस्य तैजसस्य च शरीरस्य

घटित नहीं हो सकता है परन्तु जीवादि द्रव्य विशेष की अपेक्षा जीवादि द्रव्यों में नो आगम द्रव्य निक्षेप कहा गया है।

शंका : स्याद्वाद मत के कथनानुसार बाधारहित अन्वय ज्ञान से मुख्य आगम द्रव्य तो सिद्ध हो सकता है परन्तु त्रिकालगोचर ज्ञायक शरीर और कर्म नोकर्म के भेद से अनेक प्रकार का तद्व्यतिरेक नो आगम द्रव्य कैसे सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इसमें बाधा रहित प्रतीति का अभाव है। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार के अन्वय का सद्भाव ज्ञायक शरीर और कर्म नोकर्म रूप तद्व्यतिरेक में भी पाया जाता है क्योंकि तत्त्वों को जानने का प्रारम्भ करते समय जो मेरा शरीर था वही शरीर तत्त्व ज्ञान की परिसमाप्ति के समय भी है। इस प्रकार वर्तमानकालीन ज्ञायक शरीर में अन्वय ज्ञान होता है और जो मेरा दो दिन पूर्व शरीर था वही आज है ऐसा प्रतीत होता है। तथा तत्त्व ज्ञान के उपयोग काल में जो मेरा शरीर था वही शरीर तत्त्व के अनुपयोग काल में भी है, इस प्रकार अतीत ज्ञायक शरीर में प्रत्यभिज्ञान होता ही है। तथा जैसे इस समय अनुपयुक्त तत्त्वज्ञानी का शरीर है वही शरीर भविष्य काल में तत्त्व ज्ञान के उपयोग के समय रहेगा अतः अनागत भावी काल के ज्ञायक शरीर में अन्वय ज्ञान घटित होता है।

ऐसा मानने पर तो भावी नो आगम द्रव्य निक्षेप से ज्ञायक शरीर अभिन्न ही सिद्ध होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उस ज्ञायक शरीर से ज्ञायक आत्मा से विशिष्ट भावी नोआगम द्रव्य भिन्न है वह ज्ञायक शरीर आगम द्रव्य से भिन्न प्रतीत होता है अनात्मत्व होने से।

अर्थात् आगम ज्ञान के उपयोग से रहित आत्मा को आगम द्रव्य कहा है और जो आगम को जानने वाला आत्मा आगे होगा वह भावी है और जीव के जड़ शरीर को ज्ञायक शरीर कहा है अतः ज्ञायक शरीर चेतना रहित है, भावी चेतना सहित है अतः इन दोनों में अन्तर है।

तद्व्यतिरेक के कर्म और नोकर्म भेद भी अन्वय ज्ञान से जाने नहीं जाते हैं अतः ये दोनों ज्ञायक शरीर से पृथक् नहीं हैं। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि कार्मण वर्गणाओं से निर्मित कार्मण शरीर (कर्म) और कार्मण शरीर के अविनाभावी तैजस शरीर को प्राप्त आहारादि पुद्गल वर्गणाओं के ज्ञायक

शरीरभावमापन्नस्याहारादिपुद्गलस्य वा ज्ञायकशरीरत्वासिद्धेः, औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपपत्तेरन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्योपयुक्तज्ञानत्वप्रसंगात् तैजसकार्मणशरीरयोः सद्भावात्। कर्म नोकर्म नोआगमद्रव्यं भाविनोआगमद्रव्यादनर्थांतरमिति चेन्न, जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्म नोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधानात् ततोन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात् । तदेतदुक्तप्रकारं द्रव्यं यथोदितस्वरूपापेक्षया मुख्यमन्यथात्वेनाध्यारोपितं गौणमवबोद्धव्यम् ॥

सांप्रतो वस्तुपर्यायो भावो द्वेधा स पूर्ववत् । आगमः प्राभृतज्ञायी पुमांस्तत्रोपयुक्तधीः ॥६७॥

नोआगमः पुनर्भावो वस्तु तत्पर्ययात्मकम् । द्रव्यादर्थांतरं भेदप्रत्ययाद् ध्वस्तबाधनात् ॥६८॥

शरीरपना सिद्ध नहीं है। अथवा आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा आदि के ज्ञायक शरीरत्व सिद्ध नहीं है क्योंकि औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों को ही ज्ञायक शरीरपना युक्त है। अन्यथा (यदि इन तीन शरीर को ज्ञायक शरीरपना नहीं मानेंगे तो) विग्रह गति में भी जीव के उपयोगात्मक ज्ञान हो जाने का प्रसंग आयेगा क्योंकि विग्रह गति में तैजस और कार्मण शरीर का सद्भाव पाया जाता है। अतः ज्ञायक शरीर और तद्व्यतिरेक कर्म नोकर्म पृथक्-पृथक् हैं ।

कर्म और नोकर्म रूप नोआगम द्रव्य से नोआगमभावी द्रव्य पृथक् नहीं है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि जीव, सम्यग्दर्शन आदि शास्त्रों को जानने वाले पुरुष के कर्म नोकर्म को प्राप्त द्रव्य को कर्म नोकर्म नोआगम द्रव्य कहा है।

उन कर्म नोकर्म से भिन्न आगे कर्म नोकर्म से युक्त होने वाले जीव को भावी नोआगम द्रव्य कहा है, यह इन दोनों में अन्तर है । इस प्रकार उक्त प्रकार से कथित द्रव्य निक्षेप यथोदित स्वरूप की अपेक्षा मुख्य और गौण की अपेक्षा दो प्रकार का है। ऊपर में जिसका स्वरूप कहा है वह द्रव्य निक्षेप मुख्य है और किसी में कल्पना से आरोपित किया जाता है वह गौण है, ऐसा समझना चाहिए। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य को विद्वान् कहना मुख्य है और कुन्दकुन्दाचार्य के फोटो को विद्वान् कहना गौण है। इस प्रकार द्रव्य निक्षेप का कथन किया है।

अब **भाव निक्षेप** कहते हैं :-

वस्तु की वर्तमान कालीन पर्याय को भाव निक्षेप कहते हैं। द्रव्य निक्षेप के समान भाव निक्षेप भी आगम और नो आगम के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जीवादि शास्त्रों को जानने वाला उसमें उपयुक्त आत्मा आगम भाव कहलाता है और जीव शास्त्रादि पर्यायों का स्वरूप नो आगम भाव निक्षेप कहलाता है ॥६७॥

बाधाओं से रहित भेद का ज्ञान होने से भाव निक्षेप द्रव्य निक्षेप से भिन्न है। अर्थात् अन्वय ज्ञान से द्रव्य निक्षेप जाना जाता है और पर्याय को जानने वाले भेद (व्यतिरेक) से भाव निक्षेप जाना जाता है द्रव्य निक्षेप में अन्वय ज्ञान लिया जाता है, भाव निक्षेप में उस ज्ञान से युक्त वर्तमान पर्याय का ग्रहण होता है ॥६८॥

वस्तुन: पर्यायस्वभावो भाव इति वचनात्तस्यावस्तुस्वभावता व्युदस्यते। सांप्रत इति वचनात्कालत्रयव्यापिनो द्रव्यस्य भावरूपता । नन्वेवमतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य भावरूपताविरोधाद्वर्तमानस्यापि सा न स्यात्तस्य पूर्वापेक्षयानागतत्वात् उत्तरापेक्षयातीतत्वादतो भावलक्षणस्याव्याप्तिरसंभवो वा स्यादिति चेन्न, अतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य स्वकालापेक्षया सांप्रतिकत्वाद्भावरूपतोपपत्तेरननुयायिन: परिणामस्य सांप्रतिकत्वोपगमादुक्तदोषाभावात् । स तु भावो द्वेधा द्रव्यवदागमनोआगमविकल्पात् । तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगम: जीवादिपर्यायाविष्टोऽन्य इति वचनात् । कथं पुनरागमो जीवादिभाव इति चेत् , प्रत्ययजीवादिवस्तुन: सांप्रतिकपर्यायत्वात् । प्रत्ययात्मका

वस्तु का पर्याय स्वभाव भाव निक्षेप है, ऐसा कहने से भाव निक्षेप अवस्तु है इसका खण्डन हो जाता है अर्थात् भाव निक्षेप भी वस्तु का स्वरूप है, अवस्तु नहीं है। साम्प्रत, वर्तमान काल ऐसा कहने से त्रिकालवर्ती द्रव्य के भाव निक्षेप का खण्डन हो जाता है अर्थात् त्रिकालवर्ती द्रव्य भाव निक्षेप नहीं है अपितु वर्तमान काल संबंधी द्रव्य की पर्याय भाव निक्षेप है ऐसा समझना चाहिए।

शंका : इस प्रकार भूत और भविष्य काल की पर्यायों के भाव निक्षेप का विरोध होने से वर्तमान काल के भी भावरूपता नहीं हो सकती क्योंकि वर्तमान काल की पर्याय पूर्व पर्याय की अपेक्षा से भावी है और उत्तर पर्याय की अपेक्षा वर्तमान पर्याय भूतकालीन है अर्थात् वर्तमान पर्याय भी भूत और भविष्यत् पर्याय में अन्तर्भूत है अत: भाव निक्षेप का लक्षण विशेष भावों में न जाने से अतिव्याप्ति और वर्तमान पर्याय में न रहने से असंभव दोष से दूषित है अर्थात् एकान्त से कोई वर्तमान पर्याय ही नहीं है- अत: यह लक्षण असंभव है। **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि भूतकालीन और भविष्यकालीन पर्यायें अपने-अपने काल की अपेक्षा तो वर्तमान काल की ही हैं अत: उनमें भावरूपता भावनिक्षेप घटित हो जाता है। परन्तु जो पर्याय आगे पीछे की पर्यायों में अनुगमन नहीं करती है केवल वर्तमान काल में ही रहती है वह वर्तमान काल की पर्याय भाव निक्षेप का विषय होती है ऐसा माना गया है अत: पूर्वोक्त दोषों का भाव निक्षेप में अभाव है।

भावार्थ : वर्तमान काल की अपेक्षा ही भूत और भविष्यत् काल की सिद्धि होती है। क्योंकि वर्तमान में जिसका ध्वंस है वह भूतकाल है और वर्तमान में जिसका प्राग् अभाव है वह भविष्य है। अत: पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तीनों काल पृथक्-पृथक् हैं ।

द्रव्य निक्षेप के समान आगम और नो आगम के विकल्प से भाव निक्षेप दो प्रकार के हैं। जीवादि शास्त्रों को जानने वाले और उनमें उपयुक्त आत्मा आगम भाव निक्षेप है और उसके सहायक जीवन प्राणधारण आदि पर्यायों से युक्त आत्मा नो आगम भाव निक्षेप है। इस प्रकार आर्ष ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है।

प्रश्न : ज्ञान स्वरूप आगम को जीवादि भाव निक्षेपत्व कैसे घटित होता है? **उत्तर :** ज्ञानस्वरूप जीवादि वस्तुओं के वर्तमान काल की पर्यायपना है। क्योंकि जीवादि पदार्थ ज्ञानात्मक प्रसिद्ध ही हैं। जैसे

हि जीवादय: प्रसिद्धा एवार्थाभिधानात्मकजीवादिवत् । तत्र जीवादिविषयोपयोगाख्येन तत्प्रत्ययेनाविष्ट: पुमानेव तदागम इति न विरोध:, ततोन्यस्य जीवादिपर्यायाविष्टस्यार्थादेर्नोआगमभावजीवत्वेन व्यवस्थापनात् । न चैवंप्रकारो भावोऽसिद्धस्तस्य बाधरहितेन प्रत्ययेन साधितत्वात् प्रोक्तप्रकारद्रव्यवत् । नापि द्रव्यादनर्थांतरमेव तस्याबाधितभेदप्रत्ययविषयत्वात् अन्यथान्वयप्रत्ययविषयत्वानुषंगाद्द्रव्यवत् ।।

नामोक्तं स्थापना द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यास: सम्यगीरित: ।।६९।।

नन्वस्तु द्रव्यं शुद्धमशुद्धं च द्रव्यार्थिकनयादेशात् नामस्थापने तु कथं तयो: प्रवृत्तिमारभ्य

अर्थ और शब्दात्मक पदार्थ प्रसिद्ध हैं अर्थात् सर्व पदार्थ ज्ञान, शब्द और अर्थात्मक होते हैं। जैसे जीव कहने से तीन पदार्थ ध्वनित होते हैं। जीव यह शब्द है, जीव शब्द सुनकर आत्मा में चेतनात्मक जीव का ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक है और जानने देखने वाला आत्मा पदार्थ है। अत: इस भाव निक्षेप के प्रकरण में जीवादि विषय का कथन करने वाले आगम ज्ञान में उपयुक्त आत्मा को आगम भाव कह दिया जाता है अत: आगम भाव से भिन्न जीवादि पर्यायों से युक्त सहकारी पदार्थ नो आगम भाव जीव से व्यवस्थापना होती है। इसमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् आगम भाव से भिन्न नो आगम भाव है। आगमभाव शास्त्र में उपयुक्त आत्मा है और नो आगम भाव उसका सहकारी कारण है।

इस प्रकार भाव निक्षेप असिद्ध नहीं है क्योंकि जैसे दो प्रकार के द्रव्य निक्षेप की निर्दोष ज्ञान से सिद्धि हो गई है उसी प्रकार दो प्रकार के भाव निक्षेप की भी समीचीन ज्ञान से सिद्धि हो चुकी है। तथा वह भाव निक्षेप द्रव्य निक्षेप से पृथक्भूत ही है। क्योंकि भाव निक्षेप का विषय अबाधित भेद प्रत्यय रूप वर्तमान कालीन है। अन्यथा (यदि भेद रूप वर्तमान कालीन नहीं माना जायेगा तो) द्रव्य निक्षेप के समान भाव निक्षेप के भी त्रिकालगोचर पदार्थों का ज्ञान कराने वाले अन्वय ज्ञान की विषयता का प्रसंग आयेगा।

भावार्थ : अन्वयज्ञान का विषय द्रव्य निक्षेप है और विशेषरूप भेद के ज्ञान का विषय भाव निक्षेप है। तीनों काल की पर्यायों का संकलन द्रव्य निक्षेप में होता है और वर्तमान काल का आकलन भाव निक्षेप से होता है।

द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप होते हैं। तथा पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से भाव निक्षेप का कथन है। इस प्रकार जीव अजीव आदि तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि में लोक व्यवहार के लिए नामादि निक्षेप भली प्रकार कहे गये हैं ।।६९।।

शंका : द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से शुद्ध और अशुद्ध के भेद से द्रव्य दो प्रकार का कहा जा सकता है परन्तु नाम और स्थापना ये द्रव्यार्थिक नय के विषय कैसे हो सकते है? **समाधान :** नाम और

प्रागुपरमादन्वयित्वादिति ब्रूमः । न च तदसिद्धं देवदत्त इत्यादि नाम्नः क्वचिद्बालाद्यवस्थाभेदाद्भिन्नेपि विच्छेदानुपपत्तेरन्वयित्वसिद्धेः। क्षेत्रपालादिस्थापनायाश्च कालभेदेपि तथात्वाविच्छेद इत्यन्वयित्वमन्वयप्रत्ययविषयत्वात् । यदि पुनरनाद्यनंतान्वयासत्त्वान्नामस्थापनयोरनन्वयित्वं तदा घटादेरपि न स्यात् । तथा च कुतो द्रव्यत्वं ? व्यवहारनयात्तस्यावांतरद्रव्यत्वे तत एव नामस्थापनयोस्तदस्तु विशेषाभावात्। ततः सूक्तं नामस्थापनाद्रव्याणि द्रव्यार्थिकस्य निक्षेप इति। भावस्तु पर्यायार्थिकस्य सांप्रतिकविशेषमात्रत्वात्तस्य । तदेतैर्नामादिभिर्न्यासो न मिथ्या, सम्यगित्यधिकारात् सम्यक्त्वं पुनरस्य सुनयैरधिगम्यमानत्वात् ॥

स्थापना में प्रवृत्ति के प्रारम्भ से लेकर विराम के पूर्व तक अन्वयीपना पाया जाता है और अन्वयीपना ही द्रव्य निक्षेप का आधार है, इसलिए हम नाम, स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कहते हैं तथा नाम और स्थापना में अन्वयीपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि देवदत्त आदि नामों का किन्हीं व्यक्तियों में बालक कुमार आदि अवस्थाओं के भेद से भिन्न होते हुए भी विच्छेद की अनुपपत्ति (विच्छेद का अभाव) होने से अन्वयीपना सिद्ध है अर्थात् देवदत्तादि नाम बालक युवा आदि सभी अवस्था में व्यापी है, तभी तो उस में एकत्व आदि प्रत्यभिज्ञान होता है। क्षेत्रपाल की स्थापना आदि में काल की अपेक्षा भेद होते हुए भी स्थापनात्व की अपेक्षा व्यवच्छेद नहीं पाया जाता है। इसीलिए पाषाण आदि में स्थापित क्षेत्रपालादि में 'यह वही है, यह वही है' इस प्रकार के अन्वयी ज्ञान की विषयता होने से अन्वयीपना बहुत काल तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है अर्थात् अनादि काल से स्थापित अकृत्रिम जिन मन्दिर, जिन प्रतिमाओं के नाम स्थापना का अन्वय सिद्ध ही है।

यदि पुनः अनादिकाल से लेकर अनन्त कालतक अन्वय का असत्व होने से नाम और स्थापना में अन्वयपना नहीं माना जायेगा तो घट आदिक के भी अन्वयपना नहीं हो सकेगा और घटादि में अन्वयपना न होने से उनमें द्रव्यत्व भी घटित कैसे होगा? अर्थात् कुछ काल तक अन्वयत्व होने के कारण ही घटादि द्रव्यार्थिक नय के विषय होते हैं। घट मनुष्यादि पर्याय अनादि अनन्त काल तक रह नहीं सकती है।

यदि व्यवहार नय की अपेक्षा उन घट आदि पदार्थों में अनादि अनन्त महाद्रव्य व्यापी अवान्तर विशेष द्रव्य माना जायेगा तो उसी प्रकार नाम और स्थापना निक्षेप में भी महाद्रव्यव्यापी अवान्तर द्रव्य विशेष मान लेना चाहिए क्योंकि द्रव्य निक्षेप के अन्वय में और नाम स्थापना के अन्वय में कोई विशेषता नहीं है।

अतः नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और भाव निक्षेप वर्तमान कालविशेष गोचर होने से पर्यायार्थिक नय का विषय है; यह आचार्यदेव का कथन समीचीन है।

यहाँ सम्यग्दर्शन का अधिकार होने से नाम स्थापनादि के द्वारा होने वाला लोक व्यवहार मिथ्या नहीं है। क्योंकि सुनयों के द्वारा वस्तु धर्म का निर्णय कर के ही **नाम स्थापना आदि द्वारा जीवादि तत्त्वों का समीचीन न्यास (अधिगम) होता है अतः चारों निक्षेप समीचीन हैं।**

तेषां दर्शनजीवादिपदार्थानामशेषतः । इति संप्रतिपत्तव्यं तच्छब्दग्रहणादिह ॥ ७० ॥

यदमंस्त कश्चित् तद्ग्रहणं सूत्रेनर्थकं तेन विनापि नामादिभिर्न्यासः । सम्यग्दर्शनजीवादीनामित्यभिसंबंधसिद्धेस्तेषां प्रकृतत्वान्न जीवादीनामेव अनंतरत्वात्तदभिसंबंधप्रसक्तिस्तेषां विशेषादिष्टत्वात् प्रकृतदर्शनादीनामबाधकत्वात् तद्विषयत्वेनाप्रधानत्वाच्च। नापि सम्यग्दर्शनादीनामेव नामादिन्यासाभिसंबंधापत्तिः जीवादीनामपि प्रत्यासन्नत्वेन तदभिसंबंधघटनादिति । तदनेन निरस्तं । सम्यग्दर्शनादीनां प्रधानानामप्रत्यासन्नानां जीवादीनां च प्रधानानां प्रत्यासन्नानां नामादिन्यासाभिसंबंधार्थत्वात् तद्ग्रहणस्य । तदभावे प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीय इति न्यायात् सम्यग्दर्शनादीनामेव तत्प्रसंगस्य निवारयितुमशक्तेः ॥

इस सूत्र में **तत् शब्द का ग्रहण होने से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तथा जीवादि सात तत्त्वों का अशेष (सर्व) रूप से न्यास (नामस्थापनादि के द्वारा लोक व्यवहार) होता है, ऐसा विश्वास करना चाहिए ॥७०॥**

कोई वादी मानते हैं कि सूत्र में तत् शब्द का ग्रहण निष्प्रयोजन है क्योंकि तत् शब्द के बिना भी नामादि के द्वारा जीवादि पदार्थों का न्यास (लोक व्यवहार) हो सकता है। तथा जीवादि तत्त्वों का और सम्यग्दर्शन आदि मोक्षप्राप्ति के उपायों का प्रकरण होने से उनका नामादि न्यास के साथ संबंध सिद्ध ही है अतः तत् शब्द का ग्रहण न करने पर भी अव्यवहित पूर्व होने से जीवादि सात तत्त्वों का ग्रहण हो ही जाता है परन्तु अनन्तर होने से तत् शब्द का ग्रहण करने पर भी सम्यग्दर्शनादि का न्यास के साथ संबंध नहीं हो सकता परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि उन जीवादिकों का अनन्तरत्व अर्थात् न्यास सूत्र के साथ निकटता होने से उनके अभिसंबंध तो होते ही हैं अतः उनका तो विशेष रूप से आदेश कर दिया गया है। व्यापक प्रकरण तो सम्यग्दर्शन आदि का ही है अतः वे जीवादिक प्रकरण में प्राप्त सम्यग्दर्शन आदिकों के बाधक नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनादि का विषय होने से जीवादि अप्रधानभूत हैं अर्थात् जीवादि सात तत्त्व सम्यग्दर्शन के विषयभूत पदार्थ हैं और सम्यग्दर्शनादि विषयी हैं अतः प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादि का संबंध होना छूट नहीं सकता तथा सम्यग्दर्शन आदिकों के ही साथ नामादि के द्वारा न्यास के संबंध होने की आपत्ति प्राप्त होगी, ऐसा भी नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि का ग्रहण हो ही जाता है क्योंकि अत्यन्त निकटवर्ती होने से जीवादिक के साथ भी न्यास का संबंध होना घटित हो जाता है। अब जैनाचार्य इस प्रकार तत् शब्द पर विचार करने वाले वादी का खण्डन करते हैं। "प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः" प्रधान और अप्रधान का प्रकरण होने पर प्रधान में ही ज्ञान होता है इसलिए दूरवर्ती प्रधानभूत सम्यग्दर्शन आदि का तथा निकटवर्ती अप्रधानभूत जीवादि का नामादि न्यास के साथ संबंध कराने के लिए तत् शब्द को ग्रहण किया है क्योंकि तत् शब्द के ग्रहण के अभाव में प्रत्यासत्ति से भी प्रधान अधिक बलवान होता है, इस न्याय के अनुसार प्रधानभूत सम्यग्दर्शन आदि के साथ ही न्यास का संबंध होने का प्रसंग आयेगा जीवादि के साथ नहीं इसका निवारण करना अशक्य होगा अर्थात् तत् शब्द के अभाव में प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादि का ही नामादिक के द्वारा लोकव्यवहार होगा, अप्रधानभूत जीवादिक के साथ नहीं; इस प्रसंग का निराकरण

नन्वनंतः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसन्। नामादिष्वेव तस्यांतर्भावात्संक्षेपरूपतः ॥ ७१ ॥

संख्यात एव निक्षेपस्तत्प्ररूपकनयानां संख्यातत्वात् , संख्याता एव नयास्तच्छब्दानां संख्यातत्वात् । "यावंतो वचनपथास्तावंतः संभवंति नयवादाः" इति वचनात् । ततो न निक्षेपोऽनंतविकल्पः प्रपंचतोऽ प्रसंजनीय इति चेन्न, विकल्पापेक्षयार्थापेक्षया च निक्षेपस्यासंख्याततोपपत्तेरनन्ततोपपत्तेश्च तथाभिधानात् केवलमनंतभेदस्यापि निक्षेपस्य नामादिविजातीयस्याभावान्नामादिष्वंतर्भावात् संक्षेपतश्चातुर्विध्यमाह ॥

द्रव्यपर्यायतो वाच्यो न्यास इत्यप्यसंगतम् । अतिसंक्षेपतस्तस्यानिष्टेरत्रान्यथास्तु सः ॥ ७२ ॥

न ह्यत्रातिसंक्षेपतो निक्षेपो विवक्षितो येन तद्द्विविध एव स्याद्द्रव्यतः पर्यायतश्चेति तथा विवक्षायां तु तस्य द्वैविध्ये न किंचिदनिष्टं । संक्षेपतस्तु चतुर्विधोसौ कथित इति सर्वमनवद्यम् ॥

दुःशक्य हो जायेगा अतः तत् शब्द का ग्रहण प्रधान अप्रधान दोनों का ग्रहण करने के लिए है। **शंका :** पदार्थ अनन्त हैं अतः निक्षेप भी अनन्त होने चाहिए। **समाधान :** ऐसी शंका भी प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि **संक्षेप रूप से नामादि चार निक्षेपों में ही अनन्त निक्षेपों का अन्तर्भाव हो जाता है** ॥७१॥

निक्षेप संख्यात ही हो सकते हैं, क्योंकि निक्षेपों के प्ररूपक नय संख्यात ही हैं। नयों के प्रतिपादक शब्द भी संख्यात हैं अतः नय संख्यात हैं, कहा भी है-

जितने वचन मार्ग हैं उतने ही नयवाद संभव हैं इसलिए विस्तार से निक्षेप अनन्त विकल्प वाले नहीं हो सकते हैं अर्थात् निक्षेपों के प्रतिपादक संख्यात नयों की अपेक्षा निक्षेप संख्यात तो हो ही सकते हैं। ऐसा कहना उचित नहीं है-**क्योंकि विकल्पों की अपेक्षा (ज्ञान के विकल्पों की अपेक्षा) निक्षेप असंख्यात प्रकार के हैं और तद्विषयक अर्थों की अपेक्षा निक्षेप अनन्त भेद वाले होते हैं** इस प्रकार का कथन है- अर्थात् यद्यपि शब्द संख्यात हैं तथापि शब्दजन्य ज्ञान जाति की अपेक्षा असंख्यात है और वाच्यअर्थ व्यक्ति की अपेक्षा अनन्त हैं। इसलिए निक्षेप भी असंख्यात और अनन्त हो सकते हैं परन्तु अनन्त भेद वाले निक्षेपों का नामादि चार निक्षेपों से भिन्न जाति काअभाव होने से ये संख्यात और अनन्त विकल्प नामादि चार निक्षेपों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए संक्षेप में निक्षेप चार प्रकार के कहे हैं।

शंका : ये चार प्रकार के निक्षेप कैसे सिद्ध हो सकते हैं? द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा न्यास दो प्रकार का हो सकता है **समाधान :** जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि दो प्रकार का निक्षेप कहना सुसंगत है। तथापि अत्यन्त संक्षेप से उस न्यास का निरूपण करना हम को इष्ट नहीं है, अन्यथा (अति संक्षेप से ही निरूपण किया जाये तो) वह द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार का हो सकता है। यह हमको इष्ट है इसमें कोई क्षति नहीं है ॥७२॥

परन्तु द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा अति संक्षेप से दो प्रकार का निक्षेप विवक्षित नहीं है। द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा होने पर संक्षेप से दो प्रकार का निक्षेप मानना किंचित् अनिष्ट भी नहीं है। इसलिए संक्षेप से नामादिक के भेद से निक्षेप चार प्रकार का कहा है। यह कथन निर्दोष है। अर्थात् अत्यन्त संक्षेप से निक्षेप दो प्रकार का है, संक्षेप से चार प्रकार का है। तथा विस्तार से संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रकार का भी है परन्तु संक्षेप से चार प्रकार के निक्षेप का कथन सर्व जन उपयोगी होने से कहा गया है।

ननु न्यासः पदार्थानां यदि स्यान्न्यस्यमानता । तदा तेभ्यो न भिन्नः स्यादभेदाद्धर्मधर्मिणोः ।।७३।।

भेदे नामादितस्तस्य परो न्यासः प्रकल्प्यताम् । तथा च सत्यवस्थानं क्व स्यात्तस्येति केचन ।।७४।।

न हि जीवादयः पदार्था नामादिभिर्न्यस्यंते, न पुनस्तेभ्यो भिन्नो न्यास इत्यत्र विशेषहेतुरस्ति यतोऽनवस्था न स्यात् धर्मधर्मिणोर्भेदोपगमात् । तन्न्यासस्यापि तैर्न्यासांतरे तस्यापि तैर्न्यासांतरे तस्यापि तैर्न्यासांतरस्य दुर्निवारत्वादिति केचित् ।।

तदयुक्तमनेकांतवादिनामनुपद्रवात् । सर्वथैकांतवादस्य प्रोक्तनीत्या निवारणात् ।। ७५ ।।

द्रव्यार्थिकनयात्तावदभेदे न्यासतद्वतोः । न्यासो न्यासवदर्थानामिति गौणी वचोगतिः ।। ७६ ।।

शंका : न्यास का अर्थ यदि पदार्थों की न्यस्यमानता है तब तो न्यास उन पदार्थों से भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि धर्म और धर्मी में भेद नहीं होता है। धर्म धर्मी में अभिन्नता है ।।७३।।

धर्म (न्यास) और धर्मी (न्यासमानता) में भेद मान लेने पर उस न्यास की नाम आदिक से फिर दूसरी न्यास कल्पना करनी पड़ेगी । पुन: तीसरा न्यास कल्पित करना पड़ेगा। ऐसा होने पर अवस्थान कहाँ होगा अर्थात् ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आयेगा इस प्रकार किसी का प्रश्न है? ।।७४।।

जीवादिक पदार्थ नामादि निक्षेप के द्वारा निक्षेप (न्यास) को प्राप्त होते हैं किन्तु फिर उन जीव आदिकों से भिन्न न्यास नाम का पदार्थ नाम आदिकों से न्यासमान नहीं किया जाता है। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है जिससे कि धर्म और धर्मी का भेद स्वीकार कर लेने पर स्याद्वाद मत में अनवस्था दोष नहीं आता है, अपितु आता ही है। क्योंकि जीव रूप धर्मी से न्यास रूप धर्म भिन्न पदार्थ है, उस न्यास पदार्थ का भी पुन: जीव के समान नाम स्थापना आदि के द्वारा न्यास किया जायेगा और न्यास का भी पुन: अन्य न्यास किया जावेगा, इसी प्रकार भिन्न न्यासान्तर किये जायेंगे।

इस अनवस्था का निवारण करना अत्यन्त कष्ट साध्य है। इस प्रकार कोई प्रतिवाद कहते हैं।

जैनाचार्य इसका **समाधान** करते हैं-

नामादि निक्षेप में अनवस्था दोष कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में दोषों का उपद्रव नहीं है। स्याद्वाद दर्शन में सर्वथा भेद या अभेद एकान्तवाद का पूर्वोक्त नीति (न्याय) से निवारण कर दिया है ।।७५।।

स्याद्वाद दर्शन में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न्यास और न्यास वाले न्यस्यमान पदार्थ में अभेद माना गया है। अत: न्यास वाले अर्थों में न्यास है, इस वचन का प्रयोग करना गौण है ।।७६।। अर्थात् जैसे ज्ञान और आत्मा में अभेद मानने पर ज्ञान ही आत्मा है यह प्रयोग मुख्य है और ज्ञान से युक्त आत्मा है यह कथन गौण है क्योंकि यह व्यवहार नय का कथन है। अभिन्न गुण-गुणी के पिण्ड रूप द्रव्य का विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय धर्म-धर्मी को एक स्वरूप से ग्रहण करता है।

पर्यायार्थनयाद्भेदे तयोर्मुख्यैव सा मता। न्यासस्यापि च नामादिन्यासेष्टेर्नानवस्थितिः ।। ७७ ।।

भेदप्रभेदरूपेणानंतत्वात्सर्ववस्तुनः । सद्भिर्विचार्यमाणस्य प्रमाणान्नान्यथा गतिः ।। ७८ ।।

न्यस्यमानता पदार्थेभ्योऽनर्थांतरमेव चेत्येकांतवादिन एवोपद्रवंते न पुनरनेकांतवादिनस्तेषां द्रव्यार्थिकनयार्पणात्तदभेदस्य, पर्यायार्थार्पणाद्भेदस्येष्टत्वात् । तत्राभेदविवक्षायां पदार्थानां न्यास इति गौणी वाचोयुक्तिः पदार्थेभ्योऽनन्यस्यापि न्यासस्य भेदेनोपचरितस्य तथा कथनात् । न हि द्रव्यार्थिकस्य तद्भेदो मुख्योस्ति तस्याभेदप्रधानत्वात्। भेदविवक्षायां तु मुख्या सा पर्यायार्थिकस्य भेदप्रधानत्वात् । न च तत्रानवस्था,

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा न्यास और न्यास वाले पदार्थ में भेद हो जाने पर पदार्थों का न्यास यह भेद गर्भित वचन का प्रयोग मुख्य माना गया है। जैसे आत्मा का ज्ञान। ऐसी दशा में न्यास पदार्थ का भी नामादि निक्षेपों के द्वारा पुनः न्यास करना इष्ट है। इसमें अनवस्था दोष नहीं है जैसे वृक्ष को कहने वाले वृक्ष शब्द में भी यह अकारान्त है, पुल्लिंग है यह नाम रखे जाते हैं। इसी प्रकार एक विशिष्ट ऋषि में आचार्य की स्थापना करली जाती है। उस आचार्य की अनुपस्थिति में दूसरे ऋषि में आचार्य की स्थापना की जाती है उसकी चित्राम में आचार्य की स्थापना की जाती है। बहुत पर्यायों का अन्तर होने पर भी उन मध्य में होने वाली पर्यायों की उत्प्रेक्षा करके द्रव्य निक्षेप का भी द्रव्य निक्षेप किया जाता है। जैसे रावण को भावी तीर्थंकर कहना। तथा स्थूल वर्तमान में सूक्ष्म वर्तमान पर्यायों का तारतम्य से भाव निक्षेप भी न्यस्यमान हो जाता है ।।७७।।

सम्पूर्ण वस्तुयें भेद और प्रभेद रूप से अनन्त हैं, बुद्धिमानों को उन सर्व भेद प्रभेदों को प्रमाण और नय के द्वारा जानना चाहिए अन्यथा (एकान्त वाद के द्वारा) वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती ।।७८।।

न्यस्यमानता[१] पदार्थों से अभिन्न ही है, इस प्रकार एकान्तवादी[२] उपद्रव करते हैं। परन्तु अनेकान्त वाद में कोई उपद्रव नहीं है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न्यास और न्यस्य मान पदार्थ में अभेद स्वीकार किया है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद को इष्ट माना है। उसमें अभेद विवक्षा होने पर पदार्थों का न्यास इस भेद प्रतिरूपक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग गौण हो जाता है। अतः पदार्थों से अभिन्न न्यास का भेद रूप व्यवहार नय से वैसा कथन कर दिया गया है। यह भेद रूप कथन उपचरित है। जैसे आत्मा के ज्ञान, पुद्गल के रूप आदि का कथन किया जाता है। द्रव्यार्थिक नय से किया गया न्यास और न्यस्यमान पदार्थ का भेद मुख्य नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय में अभेद की प्रधानता है।

भेद विवक्षा में पदार्थों का न्यास है, यह कथन व्यवहार नय से मुख्य है क्योंकि पर्यायार्थिक नय मुख्य रूप से भेद का कथन करता है। इस प्रकार नय विवक्षा होने पर अनवस्था दोष नहीं आता है क्योंकि

१. जिस पदार्थ में नामादि निक्षेप का न्याय लोकव्यवहार के लिए नाम आदि रखे जाते हैं वह पदार्थ-न्यस्यमान है और नाम आदि न्यास है।

२. सांख्य।

न्यासस्यापि नामादिभिर्न्यासोपगमात्। नामजीवादयः स्थापनाजीवादयो द्रव्यजीवादयो भावजीवादयश्चेति जीवादिभेदानां प्रत्येकं नामादिभेदेन व्यवहारस्य प्रवृत्तेः परापरतत्प्रभेदानामनंतत्वात् सर्वस्य वस्तुनोऽनंतात्मकत्वेनैव प्रमाणतो विचार्यमाणस्य व्यवस्थितत्वात् सर्वथैकांते प्रतीत्यभावात् ॥

ननु नामादयः केन्ये न्यस्यमानार्थरूपतः । यैर्न्यासोस्तु पदार्थानामिति केप्यनुयुंजते ॥ ७९ ॥

तेभ्योपि भेदरूपेण कथंचिदवसायतः । नामादीनां पदार्थेभ्यः प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥ ८० ॥

नामेंद्रादिः पृथक्तावद्भावेंद्रादेः प्रतीयते। स्थापनेंद्रादिरप्येवं द्रव्येंद्रादिश्च तत्त्वतः ॥ ८१ ॥

तद्भेदश्च पदार्थेभ्यः कथंचिद्घटरूपवत् । स्थाप्यस्थापकभावादेरन्यथानुपपत्तितः ॥ ८२ ॥

न्यास के भी नामादिक के द्वारा न्यास स्वीकार किया गया है अर्थात् जीवादि पदार्थों के समान न्यास भी स्वतंत्र पदार्थ है। उसके भी नाम स्थापना आदि न्यास किये जाते हैं जैसे - नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव, भाव जीव आदि। इस प्रकार जीवादि भेदों में प्रत्येक भेद में नाम स्थापना आदि भेद से व्यवहार की प्रवृत्ति होती है क्योंकि जीवादि पदार्थों के पर, अपर और उनके अवान्तर भेदों की अपेक्षा अनन्तपना है अर्थात् उनके अवान्तर भेद अनन्त होते है। प्रमाण के द्वारा विचार्यमाण सम्पूर्ण वस्तुएँ अनन्त धर्मों से *तदात्मक होकर व्यवस्थित हैं।* सर्वथा एकान्त पक्ष के अनुसार पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है अर्थात् अनेक धर्मों से व्याप्त वस्तु की सिद्धि स्याद्वाद दर्शन में कथित नय चक्र के द्वारा ही होती है, एकान्तवादियों के नहीं हो सकती । न्यस्यमान पदार्थों से भिन्न नामादि निक्षेप क्या वस्तु है, जिनके द्वारा पदार्थों का न्यास होता है। न्यास और न्यस्यमान पदार्थ भेद रूप से कथंचित् प्रतीत नहीं होते हैं, इनका भेद रूप से निर्णय नहीं होता है। ऐसा कोई वादी कहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि नामादि निक्षेपों का पदार्थों से कथंचित् भेद है इसका उत्तर पूर्व में दे चुके हैं क्योंकि नाम निक्षेप से व्यवहृत किये गये इन्द्रादि पदार्थ स्वर्गस्थ भाव इन्द्र आदि पदार्थों से पृथक्भूत प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार पाषाण आदि में स्थापित इन्द्र से स्वर्गस्थ भाव इन्द्र विभिन्न है। तथा भावी काल में होने वाले द्रव्य इन्द्रादि की अपेक्षा वर्तमान कालीन भाव इन्द्र आदि तत्त्वतः पृथक्भूत प्रतीत होते हैं। इसलिए जीवादि पदार्थों से नामादि निक्षेप कथंचित् भेदस्वरूप हैं। जैसे घट से घट का रूप कथंचित् भिन्न है अन्यथा (स्याद्वाद नय की पद्धति के बिना) स्थाप्य स्थापक भाव, वर्तमान भविष्य भाव, परिणामी परिणाम भाव आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती ॥७९-८०-८१-८२॥ अर्थात् प्रथम स्वर्ग का सौधर्म इन्द्र स्थाप्य है, किसी पदार्थ में इन्द्र की स्थापना करने वाला पुरुष स्थापक है, जिस पदार्थ में स्थापना की है वह स्थापना है। किसी पुरुष का 'इन्द्र' यह नाम रखना संज्ञा है, जिसका नाम रखा गया है वह संज्ञेय है। इत्यादि प्रकार से नामादि निक्षेपों का न्यस्यमान पदार्थों से कथंचित् भेद है।

नामादयो विशेषा जीवाद्यर्थात् कथंचिद्भिन्ना निक्षिप्यमाणनिक्षेपकभावात् सामान्यविशेषभावात् प्रत्ययादिभेदाच्च । ततस्तेषामभेदे तदनुपपत्तेरिति । घटाद्रूपादीनामिव प्रतीतिसिद्धत्वान्नामादीनां न्यस्यमानार्थाद्भेदेन तस्य तैर्न्यासो युक्त एव । न हि नामेंद्रः स्थापनेंद्रो द्रव्येंद्रो वा भावेंद्रादभिन्न एव प्रतीयते येन नामेंद्रादिविशेषाणां तद्वतो भेदो न स्यात् । नन्वेवं नामादीनां परस्परपरिहारेण स्थितत्वादेकत्रार्थेवस्थानं न स्यात् विरोधात् शीतोष्णस्पर्शवत्, सत्त्वासत्त्ववद्वेति चेन्न; असिद्धत्वाद्विरोधस्य नामादीनामेकत्र दर्शनाद् विरोधस्यादर्शनसाध्यत्वात् । परमैश्वर्यमनुभवत्कश्चिदात्मा हि भावेंद्रः सांप्रतिकेंद्रत्वपर्यायाविष्टत्वात् । स एवानागतमिंद्रत्वपर्यायं प्रति गृहीताभिमुख्यत्वाद्द्रव्येंद्रः, स एवेंद्रांतरत्वेन व्यवस्थाप्यमानः स्थापनेंद्रः , स एवेंद्रांतरनाम्नाभिधीयमानो नामेंद्र इत्येकत्रात्मनि दृश्यमानानां कथमिह विरोधो नाम अतिप्रसंगात् । तत एव

जीवादि पदार्थों से नामादि निक्षेप निक्षेप्यमाण, निक्षेपक भाव, सामान्य विशेष भाव और ज्ञान भेद की अपेक्षा कथंचित् भिन्न है अर्थात् जीवादि पदार्थ सामान्य हैं और नामादि निक्षेप विशेष हैं अतः निक्षेप्य सामान्य जीवादि पदार्थ और निक्षेपक नामादि निक्षेप ये पृथक्-पृथक् हैं। वाचक शब्द (निक्षेप्य और निक्षेपक) प्रयोजन, संख्या, कारण आदि के भेद से भी इनमें भेद है। तथा जीवादि पदार्थ निक्षेपित किये जाते हैं अतः ये कर्म हैं और नामादि निक्षेप करने वाले करण हैं तथा इनका ज्ञान भी पृथक्-पृथक् होता है। इसलिए ये भिन्न-भिन्न हैं। यदि पदार्थों से उन नामादिकों का अभेद माना जायेगा तो उनमें निक्षेप्य, निक्षेपक आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे घट से घट रूप में कथंचित् भेद है अतः न्यस्य पदार्थों से नामादि निक्षेपों की कथंचित् भेद रूप प्रतीति सिद्ध होने से निक्षेप के द्वारा पदार्थों का न्यास (लोक व्यवहार) होता है, यह कथन युक्तिसंगत है। नाम इन्द्र, स्थापना इन्द्र और द्रव्य इन्द्र भाव इन्द्र से अभिन्न ही प्रतीत होते है,क्योंकि नाम इन्द्र, स्थापना इन्द्र आदि विशेषणों का विशेषणवान विशेष्य, भाव इन्द्र से भेद नहीं होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि विशेष्य और विशेषण में निक्षेप्य और निक्षेपक में कथंचित् भेद है।

जीवादि पदार्थों में नामादिक निक्षेप युगपत् दृष्टिगोचर होते हैं

शंका : इस प्रकार निक्षेप्य और निक्षेपक में (नामादिकों में) भेद होने पर परस्पर परिहार (एक दूसरे का निराकरण) रूप भेद स्थित होगा और उनका एक जगह, एक अर्थ में अवस्थान नहीं होगा क्योंकि शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श के समान वा सद् असत् के समान एकस्थान में रहने का विरोध होगा। **समाधान:** ऐसा कहना उचित नहीं है इनमें विरोध की असिद्धि है। क्योंकि एकत्र दृष्टिगोचर नहीं होना ही विरोध साध्य है। परन्तु जीवादि पदार्थों में नाम, स्थापनादि निक्षेप युगपत् दृष्टिगोचर होते हैं (अतः अनुपलंभ प्रमाण से साधने योग्य विरोध यहाँ कैसे संभव है, कैसे भी नहीं) जैसे परम ऐश्वर्य का अनुभव करने वाला सौधर्म स्वर्गस्थ कोई आत्मा वर्तमान कालीन इन्द्र पर्याय से युक्त भाव इन्द्र है। वही भाव इन्द्र भविष्य काल में होने वाली अनेक पल्य प्रमाण काल तक भोगने योग्य इन्द्र पर्याय के प्रति अभिमुख होने से द्रव्य रूप इन्द्र है। वही इन्द्र इन्द्रान्तरत्व में स्थापित किया जाता है अतः वह स्थापना इन्द्र हो जाता है। अर्थात् एक राजा में दूसरे राजा की स्थापना की जाती है इसमें कोई क्षति नहीं है। तथा वही सौधर्म इन्द्र ब्रह्म, आनत आदि दूसरे इन्द्रों के नामों से कहा जाता है तब वह नाम इन्द्र भी हो जाता है। इस प्रकार एक ही भाव इन्द्र

न नामादीनां संकरो व्यतिकरो वा स्वरूपेणैव प्रतीतेः । तदनेन नामादीनामेकत्राभावसाधने विरोधादिसाधनस्यासिद्धिरुक्ता। येनात्मना नाम तेनैव स्थापनादीनामेकत्रैकदा विरोध एवेति चेत् न, तथानभ्युपगमात् ॥

एकत्रार्थे विरोधश्चेन्नामादीनां सहोच्यते। नैकत्वासिद्धितोर्थस्य बहिरंतश्च सर्वथा ॥ ८३ ॥

न हि बहिरंतर्वा सर्वथैकस्वभावं भावमनुभवामो नानैकस्वभावस्य तस्य प्रतीतेर्बाधकाभावात्। न च तथाभूतेर्थे, येन स्वभावेन नामव्यवहारस्तेनैव स्थापनादिव्यवहरणं तस्य प्रतिनियतस्वभावनिबंधनतयानुभूतेरिति कथं विरोधः सिद्ध्येत् । किं च । नामादिभ्यो विरोधोनन्योऽन्यो वा स्यादुभयरूपो वा ?

रूप आत्मा में नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप युगपत् पाये जाते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। इसमें विरोध कैसे संभव हो सकता है ? इसमें विरोध मानने पर अति प्रसंग दोष आता है। अर्थात् नामादि निक्षेपों में एकत्र विरोध मान लेने पर माता पुत्री, रूप रस आदि के भी एक पदार्थ में रहने का विरोध आयेगा।

इसीलिए नामादि निक्षेपों की निज-निज स्वरूप से स्वतंत्रता पूर्वक अर्थ में प्रतीति होने से संकर व्यतिकर दोष भी नहीं हैं। (सम्पूर्ण धर्मों के परस्पर मिल जाने को संकर दोष कहते हैं। एक दूसरे में परिवर्तन हो जाने को वा परस्पर बदल जाने को व्यतिकर कहते हैं।)

इस कथन से यह सिद्ध किया गया है कि एक पदार्थ में नामादिक निक्षेपों का अभाव सिद्ध करने के लिए दिये गए विरोध, संकर आदि हेतु असिद्ध हेत्वाभास हैं।

जिस स्वभाव से नाम निक्षेप है उसी स्वरूप से स्थापना, द्रव्य निक्षेप आदि एक काल में और एक पदार्थ में नहीं है क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है, ऐसा कथन उचित नहीं है क्योंकि हमने उस प्रकार स्वीकार नहीं किया है अर्थात् जिस धर्म या स्वभाव से नाम निक्षेप है उसी धर्म या स्वभाव से स्थापना आदि निक्षेप नहीं स्वीकार किये गये हैं। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से नाम आदिक युगपत् एक अर्थ में पाये जाते हैं।

एक पदार्थ में नाम आदिकों के साथ रहने का विरोध है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि बहिरंग और अन्तरंग अर्थों में सर्वथा एकपने की असिद्धि है अर्थात् ज्ञान, आत्मा, सुखादि पदार्थ तथा घट अग्नि आदि बहिरंग पदार्थ अनेक स्वभाव वाले हैं अतः भिन्न-भिन्न स्वभावों से एक अर्थ में नामादिक सभी निक्षेप रह जाते हैं ॥८३॥

बहिरंग अथवा अंतरंग सम्पूर्ण पदार्थों का हम सर्वथा एक ही स्वभाव से अनुभव नहीं कर रहे हैं। अपितु एक और अनेक स्वभाव से युक्त सम्पूर्ण पदार्थों की प्रतीति होती है। इस प्रतीति के बाधक प्रमाण का अभाव है। इस एक और अनेक स्वभाव वाले पदार्थ में जिस स्वभाव से नाम निक्षेप का व्यवहार होता है उसी स्वभाव से स्थापनादि निक्षेपों का व्यवहार नहीं होता है। क्योंकि नाम स्थापना आदि चारों निक्षेपों में प्रत्येक निक्षेप में प्रतिनियत भिन्न-भिन्न स्वभाव के कारणत्व की अनुभूति (प्रतीति) होती है अतः इसमें विरोध कैसे सिद्ध हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। क्योंकि नाम निक्षेप स्वभाव की योग्यता भिन्न है और स्थापनादि की योग्यता का स्वभाव भिन्न है। एक वस्तु में पृथक्-पृथक् स्वभाव स्वीकार किये बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रथमद्वितीयपक्षयोर्नासौ विरोधक इत्याह;—

नामादेरविभिन्नश्चेद्विरोधो न विरोधकः । नामाद्यात्मवदन्यश्चेत्कः कस्यास्तु विरोधकः ॥ ८४ ॥

न तावदात्मभूतो विरोधो नामादीनां विरोधकः स्यादात्मभूतत्वान्नामादिस्वात्मवत् विपर्ययो वा। नाप्यनात्मभूतोऽनात्मभूतत्वाद्विरोधकोर्थांतरवत् विपर्ययो वा ॥

भिन्नाभिन्नो विरोधश्चेत्किं न नामादयस्तथा । कुतश्चित्तद्वतः संति कथंचिद्भिदभिद्धृतः ॥ ८५ ॥

विरोधो विरोधिभ्यः कथंचिद्भिन्नोऽभिन्नश्चाविरुद्धो न पुनर्नामादयस्तद्वतोर्थादिति ब्रुवाणो न प्रेक्षा वान् ॥

अथवा-नाम, स्थापनादि में जो परस्पर विरोध करते हो वह विरोध नामादिक से भिन्न है कि अभिन्न है या उभयरूप है ? इनमें प्रथम और द्वितीय पक्ष तो विरोधक नहीं है उसी को जैनाचार्य कहते हैं-

यदि विरोध नामादि से अभिन्न है तो वह विरोध विरोधक नहीं है। जैसे नाम, स्थापना आदि अपने स्वरूप के विरोधक नहीं हैं। क्योंकि यदि निज स्वरूप ही निज स्वरूप का विरोध करेगा तो वस्तु का नाश ही हो जायेगा।

यदि विरोध पदार्थ से है तो कौन किसका विरोधक होगा ? अर्थात् अनेक भिन्न पदार्थ परस्पर विरोध करने लगेंगे तो कोई भी किसी का विरोधक हो जायेगा ॥८४॥

जीवादि पदार्थों में और नामादि निक्षेपों में अभेद पक्ष ग्रहण करने पर प्रतियोगी और अनुयोगी पदार्थों में नामादिक निक्षेपों का आत्मस्वरूप विरोध तो विरोधक नहीं होगा। क्योंकि तदात्मक स्वरूप विरोध तो पदार्थों का आत्म स्वरूप है जैसे नाम स्थापनादि का स्वस्वरूप नामादिक से विरोध नहीं करता है। अथवा विपरीत होंगे अर्थात् नाम निक्षेप आदि से अभिन्न विरोध नाम का विरोधक होगा तो नामादिक स्वयं आकाश के फूल के समान असत् हो जायेंगे तथा द्वितीय पक्ष के अनुसार नामादिक निक्षेपों का अनात्म-भूत (पृथक्) विरोध भी विरोधक नहीं है क्योंकि वह सर्वथा नामादिक से पृथक्भूत है जैसे सर्वथा पृथक् घट आदिक पट के विरोधक नहीं हैं। अथवा विपरीत अवस्था होगी अर्थात् यदि सर्वथा भिन्न भी विरोध विरोधक होगा तो कोई भी पदार्थ किसी का भी विरोधक हो जायेगा।

यदि विरोध के आधारभूत अनुयोगी प्रतियोगी रूप विरोधियों से विरोध पदार्थ कथंचित् भिन्नाभिन्न है तब तो उसी प्रकार कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्नत्व के धारक नामादि निक्षेपों से विशिष्ट पदार्थ नाम, स्थापनादि से कथंचित् भिन्नाभिन्न सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार विरोधी पदार्थ में विरोध कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर स्थित है उसी प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चारों निक्षेप एक साथ एक पदार्थ में कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर रहते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है ॥८५॥

तृतीय पक्ष के अनुसार विरोधियों से विरोध कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर पदार्थों में अविरुद्ध है (रहता है)। किन्तु नाम, स्थापना आदि से युक्त पदार्थों में नाम स्थापना आदि निक्षेप कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न नहीं रहते हैं, ऐसा कहने वाला बुद्धिमान नहीं है।

एकस्य भावतोऽक्षीणकारणस्य यदुद्भवे। क्षयो विरोधकस्तस्य सोऽर्थो यद्यभिधीयते ॥ ८६ ॥

तदा नामादयो न स्युः परस्परविरोधकाः । सकृत्संभविनोऽर्थेषु जीवादिषु विनिश्चिताः ॥ ८७ ॥

न विरोधो नाम कश्चिदर्थो येन विरोधिभ्यो भिन्नः स्यात् केवलमक्षीणकारणस्य संतानेन प्रवर्तमानस्य शीतादेः क्षयो यस्योद्भवे पावकादेः स एव तस्य विरोधकः। क्षयः पुनः प्रध्वंसाभावलक्षणः कार्यांतरोत्पाद एवेत्यभिन्नो विरोधिभ्यां भिन्न इव कुतश्चिद्व्यवह्रियत इति यदुच्यते तदापि नामादयः क्वचिदेकत्र परस्परविरोधिनो न स्युः सकृत्संभवित्वेन विनिश्चितत्वात् । न हि द्रव्यस्य प्रबंधेन वर्तमानस्य नामस्थापनाभावानामन्यतमस्यापि तत्रोद्भवे क्षयोनुभूयते नाम्नो वा स्थापनाया भावस्य वा तथा वर्तमानस्य तदितरप्रवृत्तौ येन विरोधो गम्येत ।

अक्षीण परिपूर्ण कारण वाले एक पदार्थ के अस्तित्व का जिसके उदय होने पर क्षय हो जाता है वह अर्थ उसका विरोधक कहा जाता है। यदि यह विरोध का सिद्धान्तीय लक्षण है तब तो जीवादि पदार्थों का एक साथ रहने से निंश्चित नामादिक परस्पर विरोधक नहीं हो सकते अर्थात् जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रहते हैं अतः इनमें सहानवस्थान नामक विरोध है परन्तु नाम, स्थापना आदि तो एक साथ पाये जाते हैं अतः इनमें सहानवस्था नामक विरोध नहीं है॥८६-८७॥

वैशेषिक मतानुसार विरोध नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ ही नहीं है जिससे वह विरोधियों से भिन्न हो सके। अपितु केवल सन्तान रूप से प्रवर्तमान अक्षीणकारण वाले शीतादि का अग्नि आदि के उत्पन्न (प्रकट) हो जाने पर क्षय हो जाना ही अग्नि आदि को शीतादिक का विरोधक माना गया है। अग्नि के सद्भाव में शीत का क्षय होना ही विरोध है। यह क्षय कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है किन्तु वह क्षय पुनः प्रध्वंसाभाव लक्षण एक पर्याय रूप कार्यान्तर का उत्पाद ही है अर्थात् दूसरे कार्य का उत्पाद हो जाना ही पूर्व पर्याय का ध्वंस है। आत्मा में स्थित कर्मों का नाश हो जाना ही मोक्ष है। उपादान कारण का क्षय ही कार्य का उत्पाद होना है। इसलिए विरोधियों से अभिन्न भी विरोध किसी कारणवश भिन्न रूप से व्यवहार में कहा जाता है। जैसे शीत-उष्ण का विरोध है परन्तु इस प्रकार नाम, स्थापना आदि में परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि नाम आदि एक पदार्थ में एक साथ रहते हैं, यह सुनिश्चित है।

प्रवाह रूप से प्रवर्तमान द्रव्य के नाम, स्थापना और भावों में से किसी एक के प्रकट होने पर उस द्रव्य के क्षय का अनुभव नहीं होता है अर्थात् नामादि निक्षेप के प्रगट होने पर त्रिकाल ध्रुव द्रव्य का नाश नहीं होता है। अथवा नाम या स्थापना वा भाव में से किसी एक के प्रकट होने पर जिससे एक का नाश रूप विरोध जाना जाता हो, ऐसा भी नहीं है परन्तु नामादि किसी एक के प्रगट होने पर एक का अभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस प्रकार एक के होने पर एक के विनाश का अनुभव नहीं होने पर भी उन नामादि निक्षेपों में परस्पर विरोध की कल्पना कर लेने पर तो कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ से अविरुद्ध नहीं होगा।

बौद्धों के मतानुसार विरोध सर्वथा कल्पित भी नहीं है। क्योंकि सर्वत्र विरोध सत्त्व आदि के समान वस्तु के धर्म स्वरूप से निर्णीत है अर्थात् जैसे सत्त्व, क्षणिकत्व आदि वस्तु के धर्म हैं उसी प्रकार विरोध भी वस्तु का धर्म है।

तथानुभवाभावेपि तद्विरोधकल्पनायां न किंचित्केनचिदविरुद्धं सिद्ध्येत् । न च कल्पित एव विरोध: सर्वत्र तस्य वस्तुधर्मत्वेनाध्यवसीयमानत्वात् सत्त्वादिवत् । सत्त्वादयोपि सत्त्वेनाध्यवसीयमाना: कल्पिता एवेत्ययुक्तं तत्त्वतोर्थस्यासत्त्वादिप्रसंगात् । सकलधर्मनैरात्म्योपगमाददोषोयमिति चेत् कथमेवं धर्मी तात्त्विक: । सोपि कल्पित एवेति चेत् , किं पुनरकल्पितं ? स्पष्टमवभासमानं स्वलक्षणमिति चेत् नैकत्रेंद्रौ द्वित्वस्य बाधितत्वप्रसंगात्। यदि पुनरबाधितस्पष्टसंवेदन वेद्यत्वात्स्वलक्षणं परमार्थसत् नैकत्रेंद्रौ द्वित्वादिबाधितत्वादिति मन्यसे तदा कथमबाधितविकल्पाध्यवसीयमानस्य धर्मस्य धर्मिणो वा परमार्थसत्त्वं निराकुरुषे । विकल्पाध्यवसितस्य सर्वस्याबाधितत्वासंभवान्न वस्तुसत्त्वमिति चेत् , कुतस्तस्य तदसंभवनिश्चय: । विवादापन्नो धर्मादिर्नाबाधितो

सत्त्व आदि धर्म विकल्प ज्ञान के द्वारा कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर परमार्थ रूप से पदार्थों के असत्त्वादि का प्रसंग आता है अर्थात् पदार्थ सत् और क्षणिक वास्तव में नहीं रहेंगे।

यदि वास्तव में तत्त्वों को सर्व धर्मों से रहित स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं आता है तो ऐसा बौद्धों के कहने पर धर्मी तात्त्विक कैसे रहेंगे। यदि धर्मी भी कल्पित हैं ऐसा माना जायेगा तो पुन: अकल्पित क्या रहेगा अर्थात् कुछ भी अकल्पित नहीं रहेगा।

स्पष्ट अवभासमान स्वलक्षण ही अकल्पित (वास्तविक) है ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि जिसका स्पष्ट प्रतिभास होता है वह वास्तविक है ऐसा नियम करने पर तो एक चन्द्रमा में स्पष्ट रूप से प्रतिभासित दो चन्द्रमा के स्पष्ट प्रतिभास भी अकल्पित (वास्तविक) होगा अर्थात् दृष्टि में कोई दोष हो जाने पर दो चन्द्रमा दृष्टिगोचर होते हैं तो उनके भी वास्तविक हो जाने का प्रसंग आयेगा। स्वप्न में भी पदार्थों का स्पष्ट प्रतिभास होता है परन्तु वे वास्तविक नहीं हैं। एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा के दृष्टिगोचर होने में बाधितत्व का प्रसंग आता है।

यदि पुन: बाधारहित स्पष्ट संवेदन के द्वारा वेद्यत्व होने से स्वलक्षण परमार्थ सत् (मुख्य सत्) है किन्तु एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा का दृष्टिगोचर होना प्रमाणों के द्वारा बाधित होने से परमार्थ सत् नहीं है ऐसा मानते हो तो स्वलक्षण के समान अबाधित विकल्प ज्ञान के द्वारा निर्णीत धर्म और धर्मी के परमार्थ सत्त्व का निराकरण कैसे किया जायेगा अर्थात् विकल्प ज्ञान के द्वारा जाने गये धर्म धर्मी भी वास्तविक हो जायेंगे।

विकल्प ज्ञान के द्वारा निर्णीत सम्पूर्ण धर्म धर्मी आदि पदार्थों के अबाधितपना असंभव होने से वस्तु सत्त्व वास्तविक नहीं है। ऐसा कहने पर तो हम पूछते हैं कि उन धर्म धर्मी के अबाधितत्व की असंभवता का निश्चय किस प्रमाण से होता है ?

बौद्ध अनुमान के द्वारा धर्म धर्मी को बाधासहित सिद्ध करते है, विवादापन्न धर्म और धर्मी अबाधित नहीं है, विकल्प ज्ञान से निश्चित होने के कारण; जैसे मन में राज्य प्राप्त कर लेना वा स्वप्न में

विकल्पाध्यवसितत्वात् मनोराज्यादिवदित्यनुमानादिति चेत्, स तर्ह्यबाधितत्वाभावस्तस्यानुमानविकल्पेनाध्यवसितः परमार्थसन्नपरमार्थसन् वा ? प्रथमपक्षे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः, पक्षांतरे तत्त्वतस्तस्याबाधितत्वं अबाधितत्वाभावस्याभावे तदबाधितत्वविधानात् । न चाविचारसिद्धयोर्धर्मिधर्मयोरबाधितत्वाभावः प्रमाणसिद्धमबाधितत्वं विरुणद्धि संवृत्तिसिद्धेन परमार्थसिद्धस्य बाधनानिष्टेः । तदिष्टौ वा स्वेष्टसिद्धेरयोगात् । कथं विकल्पाध्यवसितस्याबाधितत्वं प्रमाणसिद्धमिति चेत् , दृष्टस्य कथं ?

धन प्राप्त कर लेना आदि कल्पनाओं से ज्ञेय होने के कारण वास्तविक नहीं हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि यदि अनुमान से बौद्ध धर्म और धर्मी के विकल्प ज्ञान के द्वारा ज्ञेय होने से अबाधित के अभाव को सिद्ध करेंगे तो वह अबाधित का अभाव अनुमान रूप विकल्प ज्ञान से निर्णीत किया गया है वह परमार्थसत् है कि अपरमार्थ सत् है प्रथम पक्ष अर्थात् अनुमान विकल्प ज्ञान के द्वारा निर्णीत अबाधित अभाव परमार्थ सत् है तब तो अबाधित अभाव पदार्थ से हेतु व्यभिचरित होता है अर्थात् अबाधित अभाव में विकल्प ज्ञान से निर्णीत किया गया हेतु अबाधित अभावरूप साध्य में नहीं रहा क्योंकि बौद्धों ने इसको अबाधित (वास्तविक) नहीं माना है।

द्वितीय पक्ष अर्थात् अबाधिताभाव पदार्थ वास्तविक नहीं है, ऐसा मानने पर वास्तविक रूप से उसके अबाधितपना आ जाता है अर्थात् अबाधिताभाव जब वास्तविक नहीं है तो धर्म, धर्मी आदि में अबाधितपना वास्तविक है। अबाधित पन के अभाव का अभाव हो जाने पर उसके अबाधित का विधान हो जाता है।

किंच बौद्धों द्वारा बिना विचारे सिद्ध किये गये धर्म धर्मी का अबाधिताभाव धर्म धर्मी के प्रमाण द्वारा साधे गये अबाधितत्व का विरोध नहीं कर सकता। (जैसे मिट्टी से निर्मित काल्पनिक गरुड़ वस्तुभूत सर्प को बाधा नहीं पहुँचा सकता है वैसे कल्पित अनुमान से सिद्ध किया गया अबाधिताभाव प्रमाण सिद्ध अबाधितत्व का विरोध नहीं कर सकता।) अतः कल्पनारूप व्यवहार द्वारा सिद्ध किये गये पदार्थ से परमार्थ रूप प्रमाण से सिद्ध पदार्थ का बाधित हो जाना इष्ट नहीं किया है। यदि कल्पित पदार्थों से वास्तविक पदार्थों का बाधित होना स्वीकार किया जायेगा तो स्व इष्ट सिद्धि का अयोग होगा अर्थात् स्व इष्ट सिद्धि नहीं हो सकेगी।

शंका : विकल्प से निर्णीत किया गया धर्म-धर्मी का अबाधितपना प्रमाणों से सिद्ध है, यह कैसे जाना जाता है। **उत्तर :** जैन कहते हैं निर्विकल्प प्रत्यक्ष रूप दर्शन से ज्ञात स्वलक्षण रूप दृष्ट का अबाधित पना बौद्ध कैसे जानते हैं यदि कहो कि दृश्य का अबाधितपना बाधक प्रमाण के न होने से जान लिया जाता है तो जैन धर्म में भी बाधक का अभाव होने से विकल्प ज्ञान से निर्णीत किये गये दूसरे विकल्प का भी अबाधितपना जान लिया जाता है।

बाधकाभावादिति चेत् तत एवान्यस्यापि । न हि दृष्टस्यैव सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वथा बाधकाभावो निश्चेतुं शक्यो न पुनरध्यवसितस्येति ब्रुवाण: स्वस्थ: प्रतीत्यपलापात् । ततो विरोध: क्वचित्तात्त्विक एवाबाधितप्रत्ययविषयत्वादिष्टो वस्तुस्वभाववदिति विरोधिभ्यां भिन्नसिद्धे: । स भिन्न एव सर्वथेत्ययुक्तमुक्तोत्तरत्वात् । ताभ्यां भिन्नस्य तस्य विरोधकत्वे सर्व: सर्वस्य विरोधक: स्यादिति । ननु चार्थांतरभूतोपि विरोधिनोर्विरोधको विरोध: तद्विशेषणत्वे सति विरोधप्रत्ययविषयत्वात् , यस्तु न तयोर्विरोधक: स न तथा यथापरोर्थ: ततो न सर्व: सर्वस्य विरोधक इति चेन्न; तस्य तद्विशेषणत्वानुपपत्ते: । विरोधो हि भाव: स च तुच्छस्वभावो यदि शीतोष्णद्रव्ययोर्विशेषणं तदा सकृत्तयोरदर्शनापत्ति: । अथ शीतद्रव्यस्यैव विशेषणं तदा तदेव विरोधि स्यान्नोष्णद्रव्यं । तथा च न द्विष्ठोसौ एकत्रावस्थिते: । न चैकत्र विरोध: सर्वदा तत्प्रसंगात्

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा दृष्ट पदार्थों के सर्वत्र और सर्वकाल में सब जीवों के सर्वथा बाधकों के अभाव का निश्चय करना शक्य है परन्तु अध्यवसाय रूप ज्ञान से ज्ञात विकल्प्य का बाधक अभाव निश्चय नहीं किया जा सकता। ऐसा कहने वाला बौद्ध प्रतीति में आने वाले पदार्थ का लोप करने वाला होने से स्वस्थ कैसे हो सकता है अर्थात् ऐसा कहने वाला मूर्ख है अत: क्वचित् विशिष्ट पदार्थों में विरोध वास्तविक है। क्योंकि वह विरोध निर्बाध ज्ञान के विषयत्व से इष्ट है। जैसे वस्तु का स्वभाव परमार्थ भूत है (अर्थात् जैसे पाचकत्व दाहकत्व उष्णत्व आदि अग्नि के स्वभाव वास्तविक हैं वैसे विरोध भी वास्तविक हैं) अत: अनुयोगी और प्रतियोगी विरोधी पदार्थ से विरोध कथंचित् भिन्न सिद्ध है क्योंकि परिणामी से परिणाम कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। विरोध सर्वथा भिन्न ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है इसका उत्तर पूर्व में दिया गया है। यदि प्रतियोगी और अनुयोगी पदार्थ से सर्वथा भिन्न स्थित विरोध-निरोधक होगा तो सबके सभी विरोधी हो जायेंगे।

शंका : सर्वथा अर्थान्तरभूत (भिन्न) विरोध प्रतियोगी और अनुयोगी विरोधियों का विरोधक है क्योंकि वह विरोध विरोधियों के विशेषण रूप से विरोध ज्ञान का विषय है। जो पदार्थ उन विरोधियों का विरोधक नहीं है वह विरोधियों के विशेषण रूप से विरोध ज्ञान का विषय भी नहीं है। जैसे भिन्न पड़ा हुआ दूसरा पदार्थ विरोध ज्ञान का विषय नहीं है अत: सर्व पदार्थ सर्व के विरोधक नहीं हैं। **उत्तर :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि विरोधक विरोधियों का विशेषण नहीं बन सकता। वैशेषिकों ने भाव अभाव के भेद से पदार्थ दो प्रकार के माने हैं। उसमें अभाव तुच्छस्वरूप है और भाव अतुच्छ स्वभाव है। जो आधारता, कार्यता आदि स्वभाव से रहित है वह तुच्छ है और आधारता आदि स्वभाव सहित हैं वह अतुच्छ है। विरोध भाव है तो वह अतुच्छ स्वभाव हैं। ऐसा विरोध यदि शीत और उष्ण द्रव्य रूप विरोधियों का विशेषण माना जाता है तब तो दोनों का एक समय में नहीं दिखने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् दोनों में रहने वाला कार्यकारी विरोध तो युगपत् दोनों का नाश कर देगा।

यदि वह विरोध स्वतंत्र पदार्थ शीत द्रव्य का विशेषण होगा तो वह शीत द्रव्य का ही विरोधी होगा- उष्ण द्रव्य शीत द्रव्य दोनों का विरोधी नहीं हो सकता। तथा ऐसा होने पर एक में स्थित रहने के कारण वह विरोध पदार्थ दो में रहने वाला नहीं हो सकता और एक में रहने वाला विरोध नहीं हो सकता। अन्यथ

। एतेनोष्णद्रव्यस्यैव विरोधो विशेषणं इत्यपि निरस्तं । यदि पुनः कर्मस्थक्रियापेक्षया विरुद्धमानत्वं विरोधः स शीतद्रव्यस्य विशेषणं, कर्तृस्थक्रियापेक्षया विरोधः स उष्णद्रव्यस्य । विरोधसामान्यापेक्षया विरोधस्योभयविशेषणत्वोपपत्तेर्द्विष्ठत्वं तदा रूपादेरपि द्विष्ठत्वनियमापत्तिस्तत्सामान्यस्य द्विष्ठत्वात् , रूपादेर्गुणविशेषणात् तत्सामान्यस्य पदार्थांतरत्वात् न तदनेकस्थत्वे तस्यानेकस्थत्वमिति चेत् तर्हि कर्मकर्तृस्थाद्विरोधविशेषात् पदार्थांतरस्य । विरोधसामान्यस्य द्विष्ठत्वे कुतस्तद्‌द्विष्ठत्वं येन द्वयोर्विशेषणं विरोधः । एतेन गुणयोः कर्मणोर्द्रव्यगुणयोः गुणकर्मणोः द्रव्यकर्मणोर्वा विरोधो विशेषणं इत्यपास्तं, विरोधस्य

सब का सर्वकाल विरोध होते रहने का प्रसंग आयेगा। (वस्तुतः पृथक्त्व, विरोध, विभाग, द्वित्व, संयोग आदिक भाव दो आदि पदार्थों में रहते हुए माने गये हैं, अकेले में नहीं।) इस कथन से वह विरोध उष्ण द्रव्य का ही विशेषण है इसका भी खण्डन कर दिया है ऐसा समझना चाहिए।

वैशेषिक कहता है-

यदि पुनः कर्मस्थ क्रिया की अपेक्षा (सकर्मक धातु की अपेक्षा) विरोध दो में रहता है अर्थात् सकर्मक धातु की क्रिया कर्ता और कर्म दोनों में रहती है; जैसे माता दाल पकाती है यहाँ पच् धातु का वाच्यार्थ पचन क्रिया माता में भी रहती है और दाल में भी रहती है। माता में कर्ता की अपेक्षा से है और दाल में कर्म की अपेक्षा से पचन क्रिया रहती है। उसी प्रकार शीत द्रव्य का उष्ण द्रव्य विरोध करता है यह कर्म में स्थित क्रिया की अपेक्षा विरोध है और शीत द्रव्य का विरुद्ध्यमानत्व विरोध है, वह शीत द्रव्य रूप कर्म का विशेषण है और कर्त्ता में स्थित क्रिया की अपेक्षा से विरोध करने वाले उष्ण द्रव्य का विरोधकत्व रूप विरोध है वह उष्ण द्रव्य का विशेषण है तथा विरोध सामान्य की अपेक्षा वह विरोध शीत द्रव्य और उष्णद्रव्य इन दोनों का विशेषण है अतः विरोध द्विष्ठत्व है अर्थात् विरोध दोनों में रहता है, यह सिद्ध है।

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं-

यदि इस प्रकार विरोध दोनों में रहता है तब तो रूप रस आदि के भी दो में रहने के नियम का प्रसंग आयेगा क्योंकि रूप आदिक में भी सामान्य की अपेक्षा द्विष्ठत्व (दो में रहना) सिद्ध है अर्थात् व्यक्ति रूप गुण की अपेक्षा रूपादि एक में रहते हैं और रूप सामान्य की अपेक्षा अनेक में रहते हैं अतः रूपादि एक और अनेक का विशेषण हो जाते हैं क्योंकि रूपादि से रूपादि सामान्य पृथक् नहीं है।

वैशेषिक कहता है- रूप, रसादि गुण विशेष हैं और उनमें रहने वाला रूपत्व, रसत्व, सामान्य रूप जाति गुण पदार्थ से भिन्न सामान्य पदार्थ है इसलिए गुण विशेष से भिन्न सामान्य पदार्थ के अनेक में स्थित होने पर भी विशेष रूपादि गुणों के अनेक में रहने का प्रसंग नहीं आता है।

वैशेषिक के इस कथन के प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो विरोध भी दो में रहने वाला नहीं हो सकता है। कर्म में और कर्त्ता में स्थित व्यक्ति स्वरूप विरोध विशेष से पदार्थान्तर (भिन्न पदार्थ) स्वरूप विरोध सामान्य के द्विष्ठ (दो में) रहना कैसे सिद्ध हो सकता है, जिससे विरोध भाव दो का विशेषण हो सके अर्थात् विरोधत्व दो में रह सकता है परन्तु रूप रस आदि के समान विरोध दो का विशेषण नहीं हो सकता।

गुणत्वे गुणादावसंभवाच्च । तस्याभावरूपत्वे कथं सामान्यविशेषभावो येनानेकविरोधिविशेषणभूतविरोधविशेषमव्यापि विरोधसामान्यमुपेयते । यदि पुन: षट्पदार्थव्यतिरेकत्वात् पदार्थशेषो विरोधोऽनेकस्थ:, स च विरोध्यविरोधकभावप्रत्ययविशेषसिद्धेः समाश्रीयते तदा तस्य कुतो द्रव्यविशेषणत्वं ? न तावत्संयोगात् पुरुषे दंडवत्तस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात्, नापि समवायाद्गवि विषाणवत्तस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वेनासमवायित्वात् । न च संयोगसमवायाभ्यामसंबंधस्य

इस कथन से शीत और स्पर्श दो गुणों में रहने वाला विरोध दोनों का विशेषण है।

उत्क्षेपण, अवक्षेपण या आकुंचन, प्रसारण आदि क्रियाओं में रहने वाला विरोध उन दोनों क्रियाओं का विशेषण है। आत्म द्रव्य रूप गुण है, पुद्गल द्रव्य और ज्ञान गुण आदि द्रव्य और गुणों में होने वाला द्रव्य गुण का विरोध द्रव्य गुण का विशेषण है।

गमन, उत्क्षेपण आदि कर्म(क्रिया) और ज्ञानादि गुण इन विरोधी गुण कर्म का विरोध विशेषण है।

आकाशादि द्रव्य और भ्रमण आदि क्रिया रूप द्रव्य कर्म का विरोध विशेषण है। इस प्रकार वैशेषिक द्वारा कथित विरोध विशेषण का निराकरण हो जाता है अर्थात् वैशेषिक दर्शन में सामान्य पदार्थ से अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ स्वीकार नहीं किया गया है। जो दो गुण, दो कर्म, गुण कर्म, गुण द्रव्य, द्रव्य कर्म रूप दो में रह सके। गुण तो द्रव्य में ही रहते हैं अत: दो गुणों में या दो कर्मों में कोई विरोध स्वरूप गुण नहीं रह सकते हैं। विरोध को गुण मान लेने पर गुण आदि में विरोध के रहने की असंभवता है अर्थात् गुणों में गुण नहीं रह सकते हैं। यहाँ तक भावस्वरूप विरोध का कथन किया है।

यदि विरोध को अभावरूपत्व स्वीकार करते हैं तो वह विरोध सामान्य विशेष रूप कैसे हो सकता है ? जिससे अनेक अनुयोगी प्रतियोगी रूप विरोधियों का विशेषण होकर व्यक्ति रूप अनेक विरोध विशेषों में व्यापक विरोध सामान्य स्वीकार किया जाये अर्थात् भावस्वरूप पदार्थ में सामान्यत्व, विशेषत्व होता है, अभावरूप पदार्थ में नहीं।

यदि जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल इन छह द्रव्यों से अतिरिक्त अवच्छेदक, अवच्छिन्नत्वादि शेष पदार्थों से शेष रहा पदार्थ विरोध है जो अनेक पदार्थों में रहता है तो वह पदार्थ शेष विरोध विरोध्य, विरोधक भाव के ज्ञान विशेष से सिद्ध हो जाने के कारण आश्रय कर लिया जाता है। ऐसा वैशेषिक के कहने पर आचार्य कहते हैं कि तब तो उस विरोध को द्रव्य का विशेषण कैसे कहा जायेगा ? प्रथम तो पुरुष में दण्ड के समान संयोग संबंध से वह विरोध अपने विशेष्यभूत द्रव्य का विशेषण हो नहीं सकता क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में होता है परन्तु विरोध अद्रव्य है अत: अद्रव्य होने से संयोग का आश्रय नहीं हो सकता है अत: विरोध संयोग संबंध से द्रव्य में नहीं रह सकता है।

गाय में सींग के समान द्रव्य में विरोध को समवाय संबंध से द्रव्य का विशेषण मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ समवायी नहीं है अर्थात् समवाय संबंध द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य और विशेष में रहता है और किसी में नहीं रहता है अत: असमवायी होने से विरोध समवाय संबंध से द्रव्य का विशेषण नहीं हो सकता।

विरोधस्य क्वचिद्विशेषणता युक्ता, सर्वस्य सर्वविशेषणानुषंगात् । समवायवत्समवायिषु संयोगसमवायासत्त्वेपि तस्य विशेषणतेति चेन्न, तस्यापि तथा साध्यत्वात् न चाभाववद्भावेषु तस्य विशेषणता तस्यापि तथा सिद्ध्यभावात् । न ह्यसिद्धमसिद्धस्योदाहरणं, अतिप्रसंगात् । ननु च विरोधिनावेतौ समवायिनाविमौ नास्तीह घट इति विशिष्टप्रत्ययः कथं विशेषणविशेष्यभावमंतरेण स्यात् । दंडीति प्रत्ययवद्भवति चायमबाधितवपुर्न

समवाय और संयोग संबंध से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होने वाले विरोध को किसी भी द्रव्य का विशेषण कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संबंध को प्राप्त नहीं हुए भी पदार्थ यदि विशेषण हो जायेंगे तब तो सब को सभी का विशेषण होने का प्रसंग आयेगा। ज्ञान अचेतन पुद्गल का और रूपादि अचेतन चेतन आत्मा के विशेषण हो जायेंगे।

द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय और संयोग इन पाँच भावों से अतिरिक्त समवाय नामक पदार्थ जैसे संयोग या समवाय संबंध से संबंधित (युक्त) नहीं होता हुआ भी द्रव्य आदि पाँच समवायियों में विशेषण हो जाता है वैसे ही विरोध समवाय और संयोग संबंध के बिना भी द्रव्य गुण कर्म आदि का विशेषण हो जाता है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि समवाय नामक पदार्थ के भी समवाय या संयोग संबंध के बिना द्रव्य आदि का विशेषण हो जाना (वा गुण समवाय, द्रव्य समवाय आदि निष्पन्न हो जाना) साध्य है, सिद्ध नहीं है। दृष्टांत सिद्ध पदार्थ का होता है साध्य का नहीं होता है जो स्वयं अन्धा है वह दूसरे का मार्गदर्शक नहीं हो सकता। समवाय भी द्रव्य है वह गुण कर्म आदि का विशेषण समवाय या संयोग संबंध से ही होगा अन्यथा नहीं अतः समवाय पदार्थ बिना किसी संबंध से द्रव्य गुण आदि में कैसे रह सकता है ?

जैसे संयोग और समवाय संबंध के बिना भी अभाव भाव पदार्थों में विशेषण हो जाता है उसी प्रकार संयोग और समवाय संबंध के बिना भी विरोध विरोधियों का विशेषण हो जाता है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि किसी संबंध के बिना अभाव भाव रूप पदार्थों का विशेषण हो जाता है इसकी सिद्धि का अभाव है । असिद्ध असिद्ध का दृष्टान्त नहीं हो सकता। (लंगड़ा हाथी लंगड़े सवार को घर नहीं पहुँचा सकता।) अर्थात् जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे को सिद्ध कैसे कर सकता है। अन्यथा (यदि स्वयं असिद्ध पदार्थ असिद्ध की सिद्धि करेगा तो) अति प्रसंग दोष आयेगा अर्थात् किसी भी असिद्ध पदार्थ की, किसी भी असिद्ध पदार्थ से सिद्धि हो जायेगी अतः समवाय और अभाव का दृष्टान्त देकर वैशेषिक विरोध को विरोधियों का विशेषण सिद्ध नहीं कर सकते।

शंका : चेतन अचेतन, अन्धकार प्रकाश, ये परस्पर विरोधी हैं। आत्मा और ज्ञान, पुद्गल और रूप ये परस्पर समवायी हैं, ये विरोधी हैं, ये समवायी हैं, इस स्थान पर घट नहीं है इत्यादि विशिष्ट ज्ञान विशेषण विशेष्य भाव के बिना कैसे हो सकता है। जैसे दण्ड वाला पुरुष है यह ज्ञान किसी संयोग सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता। उक्त ज्ञानों का यह पूर्ण शरीर अबाधित है अर्थात् अनुमान सिद्ध है जैसे जो विशिष्ट ज्ञान होता है वह विशेषण, विशेष्य और सबंध इन तीनों को विषय करता है, जैसे 'दण्डी' यह विशिष्ट,

च द्रव्यादिषट्पदार्थानामन्यतमनिमित्तोऽयं तदनुरूपत्वात् प्रतीतेः, नाप्यनिमित्तः कदाचित्कचिद्भावात्। ततोस्यापरेण हेतुना भवितव्यं सतो विशेषणविशेष्यभावः संबंधशेषः पदार्थशेषेष्वविनाभाववदिति समवायवदभाववद्वा विरोधस्य क्वचिद्विशेषणत्वसिद्धौ तस्यापि विशेषणविशेष्यभावस्य स्वाश्रयविशेषाश्रयिणः कुतस्तद्विशेषणत्वं। परस्माद्विशेषणविशेष्यभावादितिचेत् तस्यापि स्वविशेष्यविशेषणत्वं। परस्मादित्यनवस्थादप्रतिपत्तिविशेष्यस्य विशेषणप्रतिपत्तिमंतरेण तदनिष्टेः, नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति वचनात्। सुदूरमपि गत्वा विशेषणविशेष्यभावस्यापरविशेषणविशेष्यभावाभावेपि स्वाश्रयविशेषणत्वोपगमे

ज्ञान दण्डरूप विशेषण, पुरुष रूप विशेष्य और संयोग रूप संबंध इन तीनों को विषय करता है। 'घट' यह ज्ञान भी घट घटत्व और समवाय इन तीनों को जानता है वैसे ही विरोधी, समवायी, अभाववान ये ज्ञान भी विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त किसी मध्यवर्ती संबंध के बिना नहीं हो सकते हैं। इन विरोधी समवायी अभाववान ज्ञानों का द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह भाव पदार्थों में से अन्यतम कोई एक निमित्त कारण नहीं हो सकता क्योंकि उन द्रव्य आदिकों के अनुसार होने वाले ज्ञानों की सरूपता इन ज्ञानों में प्रतीत नहीं होती है अर्थात् द्रव्य गुण आदिक को कारण मानकर होने वाले ज्ञानों से विरोधी, समवायी, अभाववान ज्ञान विलक्षण हैं। तथा विरोधी समवायी आदि ज्ञान कदाचित् क्वचित् होते हैं अतः उनको अनिमित्तक भी नहीं कह सकते अर्थात् कार्य में देश काल आदि की नियतता बिना निमित्त नहीं हो सकता। इसलिए उक्त विशिष्ट ज्ञान का द्रव्य, गुण, समवाय आदि से भिन्न कोई हेतु होना चाहिए। अतः इनका (विरोधी और विरोध का) संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय और समवेत समवाय इन पाँच संबंधों से पृथक्भूत विशेषण विशेष्य भाव संबंध माना जाता है। यह संबंध जीवादि सात पदार्थों से अतिरिक्त शेष बचे धर्म स्वरूप अन्य पदार्थों में गिना जाता है। जैसे हेतु और साध्य का अविनाभाव संबंध सप्त पदार्थों से भिन्न है इस प्रकार समवाय अथवा अभाव के समान विरोध भी किसी का विशेषण हो सकता है, यह सिद्ध होता है इसलिए वैशेषिक दर्शन में विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध है।

उत्तर : जैनाचार्य कहते हैं कि विरोधियों में विरोध के विशेष्य भाव संबंध मान लेने पर विशेषण विशेष्य भाव संबंध दो पदार्थों में रहने वाला धर्म है वह अपने आश्रय विशेष में रहने वाला आश्रयी (आधेय) में किस संबंध से स्थित होकर उसका विशेषण बनेगा ? वह विशेषण विशेष्य भाव संबंध दूसरे विशेषण विशेष्यभाव से संबंध को प्राप्त होता है, ऐसा कहोगे तो उसके भी स्व विशेषण विशेष्य सम्बन्ध दूसरा विशेषण विशेष्य संबंध होगा और उसका फिर तीसरे विशेषण विशेष्य भाव से संबंध होगा अतः अनवस्था दोष प्राप्त होने से विशेषण विशेष्य संबंध का ज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि विशेषण के ज्ञान के बिना विशेष्य का ज्ञान होना इष्ट नहीं है। वैशेषिक दर्शन में भी कहा है कि "विशेषण को ग्रहण किये बिना विशेष्य को विषय करने वाला ज्ञान नहीं होता है।" इसलिए बहुत दूर जाकर भी विशेष्य विशेषण भाव का दूसरे विशेष्य विशेषण भाव के बिना भी यदि अपने विशेष्य विशेष रूप विशेष्य आश्रयों में विशेषण हो जाना स्वीकार करोगे तो उसी प्रकार समवाय, अभाव और विरोध का भी विशेषणपना उस विशेष्य विशेषण

समवायादेरपि क्व विशेषणत्वं, तदभावेपि किं न स्यात् ? इति न विशेषणविशेष्यभावसिद्धिः । तदसिद्धौ च न किंचित्कस्यचिद्विशेषणमिति न विरोधो विरोधिविशेषणत्वेन सिद्ध्यति। विरोधप्रत्ययविशेषत्वं तु केवलं विरोधमात्रं साधयेन्न पुनरनयोर्विरोध इति तत्प्रतिनियमं, ततो न विरोधिभ्योत्यंतभिन्नो विरोधोभ्युपगंतव्यः । कथंचिद्विरोध्यात्मकत्वे तु विरोधस्य प्रतिनियमसिद्धिर्न कश्चिदुपालंभ इति सूक्तं विरोधवत्स्वाश्रयान्नामादीनां भिन्नाभिन्नत्वसाधनं । नामादिभिर्न्यासोऽर्थानामनर्थक इति चेन्न, तस्य प्रकृतव्याकरणार्थत्वाद-प्रकृताव्याकरणार्थत्वाच्च। भावस्तम्भप्रकरणे हि तस्यैव व्याकरणं नामस्तंभादीनामव्याकरणं च अप्रकृतानां न

भाव संबंध के बिना क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता है। अर्थात् समवाय वा अभाव अपने आप संबंध को प्राप्त क्यों नहीं हो जाते हैं अतः विशेषण विशेष्य भाव की सिद्धि नहीं हो सकती तथा विशेषण विशेष्य भाव की असिद्धि हो जाने पर कोई पदार्थ किसी का विशेषण नहीं बन सकता। इसलिए विरोध, विरोधी का विशेषण सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् विरोधी पदार्थों का विरोध रूप पदार्थ विशेषण सिद्ध नहीं हो सकता है।

विरोध ज्ञान का विषयत्व तो केवल विरोध मात्र को सिद्ध करता है किन्तु उन नियमित शीत, उष्ण, प्रकाश, अन्धकार आदि दो पदार्थों में होने वाले विरोध के नियम का कथन नहीं कर सकता इसलिए विरोधियों से अत्यन्त भिन्न विरोध स्वीकार नहीं करना चाहिए।

स्याद्वाद मतानुसार विरोध को विरोधियों के साथ कथंचित् तदात्मक स्वीकार कर लिया जाये तो विरोध का स्वकीय विरोधियों के साथ प्रतिनियम बन जाना सिद्ध हो जाता है इसमें कोई उलाहना नहीं है अर्थात् विरोध कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है अपितु पदार्थ का स्वभाव ही है अतः विरोध के समान नाम स्थापना आदिक निक्षेप भी अपने-अपने आश्रित द्रव्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं यह कथनयुक्ति संगत है।

नाम स्थापना द्रव्य और भाव रूप निक्षेपों के द्वारा पदार्थों का न्यास करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि प्रकरणगत पदार्थ के व्युत्पादन करने के लिए और अप्रकरणगत पदार्थ का निवारण करने के लिए न्यास (निक्षेप) की आवश्यकता है क्योंकि भाव स्तंभ के प्रकरण में उस पाषाण या काष्ठ के स्तंभ की ही नियम से व्युत्पत्ति (ज्ञान) कराना है और प्रकरण प्राप्त कार्य में अनुपयोगी नामस्तंभ, चित्रित किये स्थापना स्तंभ, भविष्य में होने वाले वृक्ष या शिला रूप द्रव्य स्तंभ रूप अप्रकृतों का बोध नहीं कराना है इसमें प्रकृत का (प्रकरण द्रव्य का) ज्ञान और अप्रकरण का निवारण नामादि निक्षेप के बिना घटित नहीं हो सकता है क्योंकि नामादि निक्षेप के बिना प्रकरण प्राप्त विषय में और अप्रकरण प्राप्त पदार्थों में संकर-व्यतिकर व्यवहार का प्रसंग आयेगा अर्थात् महावीर ऐसा कहने पर प्रकरण में नाम महावीर से प्रयोजन है कि स्थापना महावीर से या द्रव्य तथा भाव रूप महावीर से प्रयोजन है उसका ज्ञान निक्षेपों के द्वारा ही होता है अन्यथा महावीर इस शब्द को सुनकर यद्वा तद्वा प्रवृत्ति भी हो सकती है।

नामादिनिक्षेपाभावेर्थस्य घटते, तत्संकरव्यतिकराभ्यां व्यवहारप्रसंगात्। ननु भावस्तंभस्य मुख्यत्वाद्व्याकरणं न नामादीनां ''गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय'' इति वचनात् । नैतन्नियतं, गोपालकमानय कटजकमानयेत्यादौ गौणे संप्रत्ययसिद्धेः । न हि तत्र यो गाः पालयति यो वा कटे जातो मुख्यस्तत्र संप्रत्ययोस्ति । किं तर्हि ? यस्यैतन्नाम कृतं तत्रैव गौणे प्रतीतिः। कृत्रिमत्वाद्गौणे संप्रत्ययो न मुख्ये तस्याकृत्रिमत्वात् ''कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्यय'' इति वचनात्। नैतदेकांतिकं पांसुलपादस्य तत्रैवोभयगतिदर्शनात्। स ह्यप्रकरणज्ञत्वादुभयं प्रत्येति किमहं यो गाः पालयति यो वा कटे जातस्तमानयामि किं वा यस्यैषा संज्ञा तं ? इति विकल्पनात् । प्रकरणज्ञस्य कृत्रिमे संप्रत्ययोस्तीति चेत् न, तस्याकृत्रिमेपि संप्रत्ययोपपत्तेस्तथा प्रकरणात् । ननु च

शंका : पर्याय स्वरूप भाव स्तंभ की मुख्यता होने से भाव स्तंभ का ही ज्ञान होता है नाम स्तंभ, स्थापना स्तंभ आदि का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि गौण और मुख्य का प्रकरण होने पर मुख्य के ही ज्ञान का ग्रहण होता है, ऐसा विद्वानों का कथन है।

समाधान : गौण और मुख्य में मुख्य का ही ज्ञान होता है यह परिभाषा नियत नहीं है अर्थात् प्रधान और अप्रधान में प्रधान का ही बोध होता है यह नियम सर्व देश काल में लागू नहीं होता है। जैसे, गोपाल को लाओ, कटज को लाओ आदि कहने पर गौण (नाम गोपालादि) पदार्थों का ही ज्ञान होता है। जो गायों का पालन करता है ऐसे भावरूप गोपाल को लाने का ज्ञान नहीं होता है। तथा कटज को बुलाओ, ऐसा कहने पर गौण स्वरूप कटज नामक व्यक्ति का ही ज्ञान होता है, चटाई पर उत्पन्न भाव कटज का बोध नहीं होता है। हाथी के लिए रुदन करने वाले बालक को काष्ठ वा मिट्टी निर्मित हाथी लाकर दिया जाता है, असली नहीं। कृत्रिम और अकृत्रिम में कृत्रिम का ही बोध होता है, ऐसा कहा गया है अतः कृत्रिम होने से गौण में बोध होता है अकृत्रिम होने से मुख्य का ज्ञान नहीं होता है ऐसा भी एकान्त नियम नहीं है अर्थात् गौण और मुख्य में मुख्य का ही ज्ञान होता है तथा कृत्रिम और अकृत्रिम में कृत्रिम का ही ज्ञान होता है, यह नियम सर्व देश काल संबंधी व्यक्तियों में लागू नहीं होता है क्योंकि धूलि से धूसरित पैर वाले अज्ञात व्यक्ति में दोनों प्रकार के बोध की गति देखी जाती है अर्थात् जिसको प्रकरण का ज्ञान नहीं है ऐसे अज्ञात व्यक्ति को कहा गया कि गोपाल को लाओ या कटज को लाओ तो उसे मुख्य और गौण दोनों का ज्ञान होता है। वह विचारता है कि जो गायों का पालन करता है उस गोपाल को लाना चाहिए या गोपाल यह जिसका नाम है उसको लाना चाहिए। अथवा कटज शब्द को सुनकर चटाई पर उत्पन्न हुए मुख्य कटज को लाता हूँ या कटज इस नाम वाले को लाता हूँ। इस प्रकार दोनों विकल्प होते हैं अर्थात् प्रधान और अप्रधान दोनों पदार्थों को जानकर उसके हृदय में किसी एक को ले जाने के लिए विकल्प उठ रहा है।

प्रकरण के जानने वाले मानव को कृत्रिम का ही ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि प्रकरण को जानने वाले पुरुष को भी प्रकरणवश मुख्य अकृत्रिम का ज्ञान हो सकता है। अतः प्रकरण के अनुसार निक्षेप विधि से मुख्य वा गौण का, अकृत्रिम वा कृत्रिम का समीचीन ज्ञान होता है। इसलिए निक्षेप-विधान कार्यकारी है।

जीवशब्दादिभ्यो भावजीवादिष्वेव संप्रत्ययस्तेषामर्थक्रिया-कारित्वादितिचेत् न, नामादीनामपि स्वार्थक्रियाकारित्वसिद्धेः। भावार्थक्रियायास्तैरकरणादनर्थक्रियाकारित्वं तेषामिति चेत्, नामाद्यर्थक्रियायास्तर्हि भावेनाकरणात्तस्यानर्थक्रियाकारित्वमस्तु। कांचिदप्यर्थक्रियां न नामादयः कुर्वंतीत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसंगात्।

शंका : जीव वाचक जीव शब्द, अश्व शब्द आदि, अजीव वाचक जल दूध आदि शब्द अथवा चित्राम प्रतिबिम्ब आदि के द्वारा वास्तविक भाव जीवादि पदार्थों में ज्ञान होता है क्योंकि भावरूप पदार्थ के ही अर्थक्रियाकारित्व है अर्थात् वास्तविक जलादि का पान करने से पिपासा दूर होती है। चित्राम स्थित नदी के जल से वा नाम जल से तथा भविष्य काल में जल रूप परिणत होने वाले परमाणु से पिपासा दूर नहीं हो सकती है अतः भाव निक्षेप ही मानना उपयुक्त है, अन्य तीन निक्षेपों को मानना व्यर्थ है। **उत्तर:** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप में भी अपनी अर्थक्रिया करने की सिद्धि है।

भावार्थ : जैसे भाव निक्षेप में अर्थक्रिया होती है वैसे नाम आदि तीन निक्षेप से भी अर्थक्रिया होती है। क्योंकि आत्मा, जल आदि नामों से ज्ञात पदार्थ अपने अनुरूप क्रिया करते हैं। व्याकरण शास्त्र में तो शब्द ही प्रधान है, अग्नि शब्द की सुसंज्ञा है, अग्नि के ज्ञान की या अत्युष्ण अग्नि पदार्थ की सुसंज्ञा नहीं है। मंत्रों में शब्द प्रधान है अर्थ नहीं है। प्रभु की वाणी सुनने में शब्द कृत आनन्द है। मरजाय शब्द सुनकर मन खेदखिन्न हो जाता है, अतः शब्द अर्थक्रिया करने वाले हैं। राजकीय मुद्रा से अनेक कार्य होते हैं, जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, अतः स्थापना निक्षेप में भी अर्थक्रियाकारित्व है।

अनिवृत्तिकरण परिणाम भविष्य में सम्यग्दर्शन उत्पन्न करते हैं अतः द्रव्यनिक्षेप में भी अर्थक्रिया-कारित्व है अतः नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेप भी कार्यकारी हैं। वस्तु के पर्याय स्वरूप भाव से होने वाली अर्थक्रिया का करना उन नामादिक निक्षेप के द्वारा नहीं होता है अतः नामादिक अर्थक्रिया को करने वाले नहीं होने से निष्प्रयोजन हैं ; ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि नामादिक निक्षेपों से होने वाली अर्थक्रिया वास्तविक भाव निक्षेप से नहीं होती है अतः भाव निक्षेप का ग्रहण निष्प्रयोजन होगा अर्थात् जो कार्य नाम स्थापना आदि से होता है वह भाव से नहीं होता और जो भाव से होता है वह नामादि से नहीं होता है।

नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप किसी भी अर्थक्रिया को नहीं करते हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर नामादि निक्षेप में अवस्तुपने का प्रसंग आता है। नामादि अवस्तु नहीं है क्योंकि भाव निक्षेप के समान नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप की निर्बाध प्रतीति से वस्तुत्व की सिद्धि है।

भावार्थ : नाम निक्षेप संज्ञा-संज्ञेय व्यवहार को करता है। नाम निक्षेप के अभाव में शास्त्रपरिपाटी वाच्यवाचकपन आदि व्यवहार का अभाव हो जाता है तथा नाम निक्षेप के बिना स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप भी नहीं हो सकते हैं।

न चैतदुपपन्नं भाववन्नामादीनामबाधितप्रतीत्या वस्तुत्वसिद्धेः । एतेन नामैव वास्तवं न स्थापनादित्रयमिति शब्दाद्वैतवादिमतं, स्थापनैव कल्पनात्मिका न नामादित्रयं वस्तु सर्वस्य कल्पितत्वादिति विभ्रमैकांतवादिमतं, द्रव्यमेव तत्त्वं न भावादित्रयमिति च द्रव्याद्वैतवादिदर्शनं प्रतिव्यूढं । तदन्यतमापाये सकलसंव्यवहारानुपपत्तेश्च युक्तः सर्वपदार्थानां नामादिभिर्न्यासस्तावता प्रकरणपरिसमाप्तेः ॥

ननु नामादिभिर्न्यस्तानामखिलपदार्थानामधिगमः केन कर्तव्यो यतस्तद्व्यवस्था अधिगमजसम्यग्दर्शनव्यवस्था च स्यात् । न चास्तधना कस्यचिद्व्यवस्था सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वव्यवस्थानुषंगादिति वदंतं प्रत्याह सूत्रकार;—

स्थापना निक्षेप के अभाव में मूर्तिदर्शन, राजकीय मुद्रा से होने वाला व्यवहार, साधारण मानव में आरोपित सभापतित्व, मैत्रीत्व आदि व्यवहार का अभाव हो जाता है।

द्रव्य निक्षेप भावी काल में परिणत द्रव्य की योग्यता को सँभालता है। द्रव्य निक्षेप के माने बिना घृत के लिए दूध को ग्रहण करना, गेहूँ के लिए गेहूँ बीज को बोना, आदि सर्व व्यवहार नष्ट हो जाते हैं। अतः नाम स्थापना आदि में अर्थक्रियाकारित्व होने से ये अवस्तु नहीं हैं अपितु वस्तुस्वरूप ही हैं।

शब्दाद्वैतवादी कहते हैं कि जगत् में शब्द स्वरूप नामनिक्षेप ही वस्तुभूत है। स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप परमार्थभूत नहीं हैं कल्पित हैं।

सम्पूर्ण पदार्थों को एकान्त से भ्रान्त स्वरूप मानने वाला कहता है कि कल्पना स्वरूप स्थापना ही जगत् में पदार्थ है; नाम द्रव्य और भाव ये तीन निक्षेप वास्तविक वस्तुभूत नहीं हैं, कल्पित हैं।

द्रव्याद्वैतवादी का सिद्धान्त है कि भविष्य काल में द्रवण करने योग्य (भावरूप परिणत होने योग्य) द्रव्य निक्षेप ही वास्तविक है नाम, स्थापना और भाव निक्षेप वास्तविक नहीं हैं। परन्तु इन तीनों एकान्त वादियों के मन्तव्य (कथन) का स्याद्वाद मतानुसार चारों निक्षेपों की सिद्धि हो जाने से खण्डन का निराकरण हो जाता है। क्योंकि नामादि चारों में से किसी निक्षेप का अभाव हो जाने पर जगत् के सम्पूर्ण समीचीन व्यवहारों का अभाव हो जाता है। अतः सम्पूर्ण पदार्थों का यथायोग्य नाम आदि चारों निक्षेपों से न्यास (लोक व्यवहार) करना युक्तिसंगत है। क्योंकि चारो का अविनाभाव संबंध है। एक के अभाव में चारों का अभाव हो जाता है। इस प्रकार निक्षेप का प्रकरण पूर्ण हुआ।

शंका : नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों के द्वारा न्यस्यमान सम्पूर्ण पदार्थों का अधिगम (निर्णय वा निश्चय) किसके द्वारा करना चाहिए ? जिससे लोकप्रसिद्ध नाम, स्थापनादि के द्वारा व्यवहृत पदार्थों की व्यवस्था हो सके तथा दूसरों के उपदेश से वा शास्त्रों के पठन, मनन से उत्पन्न अधिगमज सम्यग्दर्शन की व्यवस्था बन सके क्योंकि ज्ञापक साधन के बिना किसी भी नामादि निक्षेपों की तथा जीवादि पदार्थों की व्यवस्था नहीं हो सकती है अन्यथा- (यदि ज्ञापक साधन के बिना भी किसी पदार्थ की सिद्धि मानेंगे तो) प्रमाण विरुद्ध बोलने वाले सभी वादियों के अपने इष्ट तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आयेगा इस प्रकार शंका करने वाले के प्रति सूत्रकार कहते हैं:

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

सर्वार्थानां मुमुक्षुभिः कर्तव्यो न पुनरसाधन एवाधिगम इति वाक्यार्थः ॥ कथमसौ तैः कर्तव्य इत्याह;—

सूत्रे नामादिनिक्षिप्ततत्त्वार्थाधिगमस्थितः । कात्स्र्न्यतो देशतो वापि स प्रमाणनयैरिह ॥ १ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वेत्यत्र सूत्रे नामादिनिक्षिप्तानां तत्त्वार्थानां योधिगमः सम्यग्दर्शनहेतुत्वेन स्थितः स इह शास्त्रे प्रस्तावे वा कात्स्र्न्यतः प्रमाणेन कर्तव्यो देशतो नयैरेवेति व्यवस्था । नन्वेवं प्रमाणनयानामधिगमस्तथान्यैः प्रमाणनयैः कार्यस्तदधिगमोप्यपरैरित्यनवस्था, स्वतस्तेषामधिगमे सर्वार्थानां स्वतः सोस्त्विति न तेषामधिगमसाधनत्वं । न वानधिगता एव प्रमाणनयाः पदार्थाधिगमोपाया

प्रमाण और नयों के द्वारा जोवादि पदार्थों का अधिगम (ज्ञान) होता है अर्थात् पदार्थों का निर्णय वा जानने का साधन प्रमाण और नय हैं, क्योंकि पदार्थों का निर्णय प्रमाण और नयों के द्वारा ही होता है॥ ६॥

भावार्थ : वस्तु के सकलादेश को जानने वाले स्व-पर-प्रकाशक प्रमाणों से और वस्त्वंश को विकलादेश जानने वाले श्रुत ज्ञानांशरूप नयों से सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि सम्पूर्ण पदार्थों का निर्णय होता है।

इस सूत्र वाक्य का अन्य उपयोगी पदों के उपस्कार कर लेने पर यह अर्थ हुआ कि मोक्ष को चाहने वाले पुरुषों को सम्पूर्ण अर्थों का प्रमाण और नयों से निर्णय कर लेना चाहिए क्योंकि पुनः ज्ञापक कारण के बिना वाक्य अर्थ का अधिगम नहीं किया जा सकता है। कोई भव्य कहता है कि वह अधिगम उन प्रमाण नयों द्वारा कैसे करना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य उत्तर कहते हैं।

पूर्व सूत्र में नाम आदिक के द्वारा निक्षिप्त किये तत्त्वार्थों का सम्पूर्ण रूप से अधिगम होना प्रमाणों से और एक देश से अधिगम होना नयों से व्यवस्थित है। वही इस सूत्र में निर्णीत कर दिया गया है॥ १॥

इस वार्त्तिक का विवरण इस प्रकार है, "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" इस सूत्र में नाम आदिक के द्वारा निक्षिप्त किये गये तात्त्विक पदार्थों का अधिगम होना अधिगमजन्य सम्यग्दर्शन के हेतु रूप से व्यवस्थित किया गया है। यह अधिगम इस शास्त्र में या इस प्रकरण में पूर्ण रूप से प्रमाण और प्रमाण के एक अंश रूप नयों से ही होता है, ऐसा जानना चाहिए, यह इस सूत्र का अभिप्राय है।

शंका : जैसे जीव आदिकों का अधिगम प्रमाण और नयों से किया जाता है उसी प्रकार उन प्रमाण नयों का अधिगम भी अन्य प्रमाण और नयों के द्वारा किया जाना चाहिए तथा उनका भी अधिगम तीसरे प्रमाण नयों से होना चाहिए। अतः चौथे, पाँचवें आदि की जिज्ञासा होते हुए, आकांक्षा के बढ़ जाने पर अनवस्था दोष आता है। यदि अनवस्था को दूर करने के लिए उन प्रमाण नयों का अपने आप ही अधिगम हो जाना स्वीकार करते हैं, तब तो सम्पूर्ण जीव आदि पदार्थों के भी अपने आप से वह अधिगम हो जायेगा। इसलिए उन प्रमाण नयों के अधिगम का साधकपना सिद्ध नहीं होता है। दूसरों से या स्वयं नहीं जाने गये

ज्ञापकत्वादतिप्रसंगाच्चेत्यपर:। सोप्यप्रस्तुतवादी। प्रमाणनयानामभ्यासानभ्यासावस्थयो: स्वत: परतश्चाधिगमस्य वक्ष्यमाणत्वात्। परतस्तेषामधिगमे क्वचिदभ्यासात्स्वतोधिगमसिद्धेरनवस्थापरिहरणात्। स्वतोधिगमे सर्वार्थानामधिगमस्य तेषामचेतनत्वेनातिप्रसंगात्। चेतनार्थानां कथंचित्प्रमाणनयात्मकत्वेन स्वतोधिगमस्येष्टत्वाच्च श्रेयान् प्रमाणनयैरधिगमोर्थानां सर्वथा दोषाभावात्॥

ननु च प्रमाणं नयाश्चेति द्वंद्ववृत्तौ नयस्य पूर्वनिपात: स्यादल्पाच्तरत्वान्न प्रमाणस्य बह्वच्तरत्वादित्याक्षेपे प्राह;—

प्रमाण और नय तो पदार्थों के जानने के उपाय नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञापक हैं। दूसरे से या अपने से जो ज्ञात नहीं है, वह पदार्थ ज्ञापक नहीं होता है अन्यथा अति प्रसंग दोष आता है। अज्ञात घट, पट, आदिक पदार्थ भी चाहे जिस किसी भी वस्तु के ज्ञापक बन जायेंगे ? इस प्रकार कोई मतावलम्बी पूछ रहा है। उसको आचार्य उत्तर कहते हैं कि :

वह शङ्काकार भी प्रकरण के विषय को नहीं समझ कर ऐसा कह रहा है, क्योंकि अभ्यास दशा में प्रमाण और नयों का अपने आप अधिगम हो जाता है और अनभ्यास दशा में प्रमाण तथा नयों की दूसरे ज्ञापकों से ज्ञप्ति होती है। इस विषय को आगे स्पष्ट करने वाले हैं। प्रमाण की उत्पत्ति तो परत: ही होती है किन्तु प्रमाणपने की ज्ञप्ति अभ्यासदशा में स्वत: यानी ज्ञान के सामान्य कारणों से ही होती है और अनभ्यास दशा में दूसरों यानी ज्ञान के सामान्य से एवं अतिरिक्त निर्मलता आदि कारणों से होती है अर्थात् जैसे अपने परिचित घर में अन्धकार होने पर भी अभ्यास के वश अर्थों को जानने वाले ज्ञान के प्रमाणपने की स्वत: ज्ञप्ति कर लेते हैं किन्तु अपरिचित गृह में अन्य कारणों से प्रामाण्य की ज्ञप्ति होती है। जिन ज्ञापक दूसरे कारणों से अधिगम होना माना है, उनके प्रामाण्य को जानने में कहीं तो प्रथम अभ्यास होने से अपने आप अधिगम होना सिद्ध है। अत: अनवस्था दोष का निवारण हो जाता है।

''प्रमाण नयों का अपने आप अधिगम होना मानोगे तो सम्पूर्ण अर्थों का भी अपने आप अधिगम हो जावेगा'' आचार्यों का कहना है कि सभी जड़ या चेतन अर्थों की अपने आप ज्ञप्ति होना माना जाएगा तो ज्ञप्ति का अति प्रसंग दोष हो जावेगा, क्योंकि वे घट, पट, आदिक अर्थ अचेतन होने के कारण स्वयं अपना ज्ञान नहीं कर सकते हैं। अचेतन पदार्थ यदि ज्ञान करने लगे तो वे चेतन हो जावेंगे तथा ज्ञान के समान कंकड़ भी अपने को जानकर इष्टानिष्ट पदार्थों का ग्रहण या त्याग करने लग जावेंगे। अत: सम्पूर्ण अर्थों में से ज्ञान, आत्मा, इच्छा, सुख, दु:ख आदि चेतन या चेतन के अंश रूप पदार्थों को किसी अपेक्षा से प्रमाण नय स्वरूप होने के कारण अपने आप अधिगम होना इष्ट किया है अत: सभी प्रकार दोष न होने से प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का अधिगम होना श्रेष्ठ है।

दूसरी शंका इस सूत्र में प्रमाण और नय अथवा नय और प्रमाण इस प्रकार चाहे जैसे भी द्वन्द्व नाम की समास वृत्ति करने पर नय शब्द का पहले निपात (पहले प्रयोग) करना चाहिए, क्योंकि ''अल्पाच्तरं पूर्वम्'' व्याकरण के इस सूत्रानुसार अनेक पदों में से थोड़े स्वर वाले एक पद का पूर्व निपात होता है, परन्तु

प्रमाणं च नयाश्चेति द्वन्द्वे पूर्वनिपातनम् । कृतं प्रमाणशब्दस्याभ्यर्हितत्वेन बह्वचः ॥ २ ॥

न ह्यल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति कस्यचिदप्रसिद्धं लक्षणहेत्वोरित्यत्र हेतुशब्दादल्पाच्तरादपि लक्षणपदस्य बह्वचोऽभ्यर्हितस्य पूर्वप्रयोगदर्शनात् ॥

कथं पुन: प्रमाणमभ्यर्हितं नयादित्याह;—

प्रमाणं सकलादेशि नयादभ्यर्हितं मतम् । विकलादेशिनस्तस्य वाचकोपि तथोच्यते ॥ ३ ॥

कथमभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वाभ्यां सकलादेशित्वविकलादेशित्वे व्याप्तिसिद्धे यत: प्रमाणनययोस्ते सिद्ध्यत इति चेत् , प्रकृष्टाप्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्वादभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वयोस्तद्व्यापकत्वमिति ब्रूम: । न हि

प्रमाण और नय पद में से नय पद के अल्प स्वर हैं, यानी दो अच् हैं तथा प्रमाण पद के बहुत स्वर हैं, यानी तीन स्वर हैं, अत: अपेक्षाकृत बहुत स्वर होने से प्रमाण का पूर्व में वचनप्रयोग नहीं होना चाहिए। और ''नयप्रमाणैरधिगम:'' ऐसा सूत्र कहना चाहिए। इस प्रकार कहने पर **आचार्य उत्तर देते हैं :**

प्रमाण और नय इस प्रकार द्वन्द्व समास करने पर, बहुत स्वर वाले भी प्रमाण शब्द का पूज्यपने के कारण पहले निक्षेपण कर दिया है अर्थात् अल्प स्वर वाला पहले प्रयुक्त किया जाता है। इस सामान्य नियम का ''अभ्यर्हितं पूर्वम्'' अतिपूज्य का पूर्व में निपात होना रूप अपवाद नियम बाधक है अत: अंशी होने के कारण पूज्य प्रमाण शब्द का पहले प्रयोग किया है अर्थात् प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित पुरुषों प्रकरण होने पर प्रतिष्ठित पुरुषों का नाम पहले लिया जाता है ॥२॥

प्रकृष्ट रूप से अल्प स्वर वाले पद की अपेक्षा अधिक पूज्य का वाचक पद पूर्व में प्रयुक्त हो जाता है। यह नियम किसी के यहाँ भी अप्रसिद्ध नहीं है; सभी शब्द शास्त्रों में प्रसिद्ध है। यहाँ ''लक्षणहेत्वो'' इस सूत्र में लक्षण और हेतु या हेतु और लक्षण ऐसा इतरेतर द्वन्द्व करने पर स्वन्त एवं अल्प स्वर वाले भी हेतु शब्द से बहुत स्वर वाले किन्तु अधिक पूज्य लक्षण पद का पहले प्रयोग होना देखा जाता है।

नय से प्रमाण अधिक पूज्य कैसे है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य उत्तर देते हैं -

वस्तु के एकदेशीय विकल अंशों को कहने वाले नय ज्ञान से वस्तु के सम्पूर्ण अंशों को कहने वाला प्रमाणज्ञान अधिक पूज्य माना गया है। अत: उस सम्यग्ज्ञान रूप अभिधेय को कहने वाला प्रमाण वाचक शब्द भी पूज्य कहा जाता है॥ ३॥

पूज्यपने और अपूज्यपने के साथ सकलादेशीपने और विकलादेशीपने की व्याप्ति कैसे सिद्ध कर ली जाती है ? अर्थात् जो ज्ञान वस्तु के सम्पूर्ण अंशों का निरूपण करने वाला है वह अभ्यर्हित है और जो ज्ञान वस्तु के कुछ अंश का प्ररूपण करता है वह अपूज्य है। इस प्रकार की व्याप्ति किस प्रकार सिद्ध की गई है, जिससे कि वे अपने-अपने हेतुओं से व्यापक पूज्यपने और अपूज्यपने साध्य को प्रमाण और नयरूपी पक्ष में सिद्ध कर देते हों। ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि पूज्यपने का प्रयोजन अतिशययुक्त श्रेष्ठ विशुद्धि होना है और न्यून विशुद्धि होना अपूज्यपने का लक्षण है अत: सकलादेशीपन का व्यापक पूज्यपना है और विकलादेशीपन का व्यापक अपूज्यपना है। अधिक श्रेष्ठ विशुद्धि के बिना प्रमाण ज्ञान अनेक धर्म

प्रकृष्टां विशुद्धिमंतरेण प्रमाणमनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलमर्थमादिशति, नयस्यापि सकलादेशित्वप्रसंगात्। नापि विशुद्ध्यपकर्षमंतरेण नयो धर्ममात्रं वा विकलमादिशति प्रमाणस्याविकलादेशित्वप्रसंगात्॥

स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्। स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः॥ ४॥

नयः प्रमाणमेव स्वार्थव्यवसायकत्वादिष्टप्रमाणवद् विपर्ययो वा, ततो न प्रमाणनययोर्भेदोस्ति येनाभ्यर्हितेतरता चिंत्या इति कश्चित्। तदसत्। नयस्य स्वार्थैकदेशलक्षणत्वेन स्वार्थनिश्चायकत्वासिद्धेः।

स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदे छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य स न चेद्वस्तु तद्विषयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वादिति चोद्यमसदेव। कुतः?

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥ ५॥

और धर्मीरूप स्वभावों से तादात्म्य रखने वाले सम्पूर्ण अर्थ का निरूपण नहीं कर सकता है। अन्यथा थोड़ी विशुद्धि से युक्त नय को भी पूरी वस्तु के समझाने का प्रसंग आयेगा तथा विशुद्धि की अल्पता के बिना नय ज्ञान एक अंश रूप विकल अकेले धर्म या केवल धर्मी का कथन नहीं कर सकता अन्यथा प्रमाण को भी विकलादेशीपने का प्रसंग होगा।

अपना और अर्थ का निश्चय कराने वाला होने के कारण नयज्ञान भी प्रमाण हैं। इस प्रकार कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि नय का लक्षण अपना और अर्थ का एकदेशरूप से निर्णय करना कहा है॥४॥

कोई कहता है कि नय ज्ञान प्रमाणरूप ही है क्योंकि वह नय स्वयं अपना और अर्थ का निर्णय कराने वाला है। जैसे इष्ट प्रमाण, प्रमाण ही है। यदि अपने और अर्थ को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण न मानकर नय मान लिया जावेगा तो इष्ट प्रमाण को भी नय मानना पड़ेगा। इस प्रकार मानने पर सिद्धान्त से विपरीत नियम हो जाने का प्रसंग आयेगा अतः प्रमाण और नय में कोई भेद नहीं है जिससे कि प्रमाण के पूज्यपने का और नयों के अपूज्यपने का विचार किया जाये अर्थात् प्रमाण के समान नय भी पूज्य है और अल्पस्वर वाला तो है ही, अतः सूत्र में नय शब्द का पहले प्रयोग करना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि आपका यह कथन प्रशस्त नहीं है, क्योंकि अपना और अर्थ का एकदेश से निर्णय करना नय का लक्षण है अतः पूर्ण रूप से अपना और अर्थ का निश्चय कराने वाला हेतु असिद्ध है, अर्थात् पक्ष में हेतु के नहीं रहने से उक्त हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

नय के द्वारा जाने गये स्वांश और अर्थांश को भी यदि वस्तुभूत माना जावेगा, तब तो उनको जान लेने पर वस्तु का ग्रहण कर लेने वाला हो जाने से नय ज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा। प्रमाण का लक्षण वस्तु को जानना है यदि नय से जाने गये स्व और अर्थ के अंश को वस्तु न माना जावेगा तब तो उस अवस्तु को विषय करने वाला नय ज्ञान मिथ्या ज्ञान होगा, क्योंकि अवस्तु को विषय करना उस मिथ्या ज्ञान का लक्षण है। इस प्रकार कहना वा शंका करना उचित नहीं है क्योंकि –

तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता। समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कास्तु समुद्रवित्॥ ६॥

यथैव हि समुद्रांशस्य समुद्रत्वे शेषसमुद्रांशानामसमुद्रत्वप्रसंगात् समुद्रबहुत्वापत्तिर्वा तेषामपि प्रत्येकं समुद्रत्वात्। तस्यासमुद्रत्वे वा शेषसमुद्रांशानामप्यसमुद्रत्वात् क्वचिदपि समुद्रव्यवहारायोगात् समुद्रांशः स एवोच्यते। तथा स्वार्थैकदेशो नयस्य न वस्तु स्वार्थैकदेशान्तराणामवस्तुत्वप्रसंगात्, वस्तुबहुत्वानुषक्तेर्वा। नाप्यवस्तु शेषांशानामप्यवस्तुत्वेन क्वचिदपि वस्तुव्यवस्थानुपपत्तेः। किं तर्हि ?। वस्त्वंश एवासौ तादृक्प्रतीतेर्बाधकाभावात्॥

नांशेभ्योर्थांतरं कश्चित्तत्त्वतोंशीत्ययुक्तिकम्। तस्यैकश्च स्थविष्ठस्य स्फुटं दृष्टेस्तदंशवत्॥ ७॥

नय द्वारा विषय किया गया वस्तु का अंश न तो पूरी वस्तु है और न वस्तु से सर्वथा पृथक् अवस्तु है किन्तु वस्तु का एकदेश कहा जाता है जैसे कि समुद्र का एक अंश पूर्ण समुद्र नहीं है, और घट या नदी, सरोवर के समान वह असमुद्र भी नहीं है किन्तु वह समुद्र का एक अंश कहा जाता है। यदि समुद्र के केवल उतने अंश को पूरा समुद्र मान लिया जावेगा तो शेष बचे हुए समुद्र अंशों को भी सरोवर आदि के समान समुद्ररहितपने का प्रसंग आयेगा। समुद्र के एक-एक अंश को यदि पूरा समुद्र कह दोगे तो एक-एक टुकड़े के बहुत से समुद्र हो जावेंगे, ऐसी दशा में एक अवयवी समुद्र का ज्ञान कैसे होगा॥ ५-६॥

समुद्र के अंश को पूर्ण समुद्र मान लेने पर बचे हुए समुद्र के अंशों को असमुद्रपने का प्रसंग आता है अथवा एक-एक अंश को समुद्रपना हो जाने से बहुत से समुद्र हो जाने की आपत्ति होती है, क्योंकि वे सम्पूर्ण एक-एक अंश भी पृथक्-पृथक् समुद्र बन जावेंगे। यदि उस समुद्र के अंश को समुद्रपना न माना जावेगा तो समुद्र के बचे हुए अंशों को भी समुद्रपना न होगा। तब तो कहीं भी समुद्रपने का व्यवहार न हो सकेगा। अतः परिशेष न्याय से यही निर्णय करना पड़ेगा कि वह समुद्र का अंश न तो समुद्र है और न असमुद्र है, किन्तु वह समुद्र का एकदेश अंश ही कहा जाता है। उसी प्रकार नय के गोचर स्व और अर्थ का एकदेश भी पूरी वस्तु नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर स्वार्थ से बचे हुए अन्य कतिपय एकदेशों को अवस्तुपने का प्रसंग आता है। अथवा वस्तु के एक-एक अंश को यदि पूरी एक-एक वस्तु मान लिया जावेगा तो एक वस्तु में बहुत सी वस्तुएँ हो जाने की आपत्ति होती है।

तथा नय से जान लिया गया कि स्वार्थ का अंश अवस्तु भी नहीं है, क्योंकि उस प्रकृत अंश के समान बचे हुए अन्य अंशों को भी अवस्तुपना हो जाने से कहीं भी वस्तु की व्यवस्था सिद्ध न हो सकेगी।

शंका : नय के द्वारा जाना गया स्वार्थांश क्या है ? **समाधान :** वह वस्तु का अंश ही है, ऐसी प्रतीति होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

भावार्थ : अकेले हाथ को शरीर भी नहीं कह सकते हैं और अशरीर भी नहीं कह सकते, अपितु हाथ, शरीर का एकदेश है, उसी प्रकार **नय के द्वारा जानी हुई वस्तु अवस्तु नहीं है अपितु वस्तु का अंश है।**

बौद्ध दर्शन अंशों से भिन्न कोई भी पदार्थ वास्तविक रूप से नहीं मानता है अतः उसके मत में अंशी नहीं है केवल अंशरूप अवयव ही पदार्थ है। क्षणिक परमाणु ही वास्तविक है, अवयवी कोई वस्तु नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना युक्तियों से रहित है क्योंकि उस एक अवयवी रूप अधिक

नांतर्बहिर्वांशेभ्यो भिन्नोंशी कश्चित्तत्त्वतोस्ति यो हि प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्पयति प्रत्यक्षतां च स्वीकरोति । सोयममूल्यदानक्रयीत्ययुक्तिकमेव, स्थविष्ठस्यैकस्य स्फुटं साक्षात्करणात् तद्व्यतिरेकेणांशानामेवाप्रतिभासनात् । तथा इमे परमाणवो नात्मनः प्रत्यक्षबुद्धौ स्वरूपं समर्पयंति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमुत्सहंत इत्यमूल्यदानक्रयिणः ॥

कल्पनारोपितोंशी चेत् स न स्यात् कल्पनांतरे । तस्य नार्थक्रियाशक्तिर्न स्पष्टज्ञानवेद्यता ॥ ८ ॥

शक्यंते हि कल्पनाः प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं नेंद्रियबुद्धय इति स्वयमभ्युपेत्य कल्पनांतरे

स्थूल अंशी (अवयवी) का स्पष्ट रूप में प्रत्यक्षज्ञान द्वारा दर्शन हो रहा है। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञान से उसके अंश दिख रहे हैं ॥७॥

भावार्थ : कपाल, तन्तु, आदि छोटे-छोटे अनेक अवयवों से कथञ्चित् भिन्न एक स्थूल घट, पट, आदि अवयवी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। सौगतों का मन्तव्य ज्ञान परमाणु रूप अन्तरंग और स्वलक्षण परमाणु रूप बहिरंग अंशों से भिन्न कोई अंशवान् स्थूल अवयवी पदार्थ वास्तविक रूप से नहीं है, क्योंकि अंशी प्रत्यक्ष प्रमाण में अपने स्वरूप को अर्पित नहीं करता है और अपने प्रत्यक्ष हो जाने को स्वीकार करना चाहता है अतः जैन, नैयायिक, मीमांसक आदि के द्वारा मान लिया गया वह यह अंशी मूल्य न देकर क्रय (खरीद) करने वाला है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार सौगत का कहना अयुक्त ही है, क्योंकि अधिक मोटा एक अर्थ (पदार्थ) स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रत्युत् उस अवयवी से सर्वथा भिन्न माने गये अंश ही दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं अतः बौद्धों के द्वारा स्वीकृत परमाणु ही प्रत्यक्ष ज्ञान में अपने स्वरूप को अर्पण नहीं करता है, किन्तु अपने प्रत्यक्ष हो जाने पन को स्वीकार करने के लिए उत्साहित हो रहा है। इस प्रकार तुम्हारे अंतरंग, बहिरंग परमाणु ही बिना मूल्य देकर सौदा लेने वाले हैं, हमारा अवयवी नहीं।

भावार्थ : घट, पुस्तक, आत्मा, हाथी, घोड़ा आदि अवयवियों का स्पष्ट प्रतिभास होता है, अवयव का नहीं।

बौद्ध कहता है कि अंशी वास्तविक पदार्थ नहीं है, कल्पित है।

जैन आचार्य प्रतिवाद करते हैं कि यदि अवयवी पदार्थ कल्पित होता तो दूसरी कल्पनाओं के उत्पन्न हो जाने पर वह नहीं रहने पाता, किन्तु हृदय में अनेक कल्पनाओं के उठते रहने पर भी अवयवी ओझल नहीं होते हैं। कल्पना किये हुए पदार्थों में तो ऐसा नहीं होता है। अतः अवयवी कल्पित नहीं है, किन्तु वस्तुभूत है। अथवा कल्पित किया गया वह अवयवी अर्थ क्रियाओं को नहीं कर सकता है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि प्रकरण में घट, पट आदि अवयवी पदार्थों से जलधारण आदि अर्थक्रियायें हो रही हैं तथा स्थिर स्थूल साधारण, अवयवी पदार्थ का प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान द्वारा स्पष्ट संवेदन हो रहा है, अर्थात् प्रकरण में अवयवी तो स्पष्ट ज्ञान द्वारा जाना जा रहा है ॥८॥

कल्पनाएँ तो उनके प्रतिकूल अन्य कल्पनाओं से निवारण की जा सकती हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अन्य प्रतिकूल ज्ञानों से हटाये नहीं जा सकते हैं, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार

सत्यप्यनिवर्तमानं स्थवीयान्सं एकमवयविनं कल्पनारोपितं ब्रुवन् कथमवयवेवयविवचन: ? यदि पुनरवयविकल्पनाया: कल्पनांतरस्य वाशुवृत्तेर्विच्छेदानुपलक्षणात् सहभावाभिमानो लोकस्य । ततो न कल्पनांतरे सति कल्पनात्मनोप्यवयविनोस्तित्वमिति मति: तदा कथमिंद्रियबुद्धीनां क्वचित्सहभावस्तात्त्विक: सिद्ध्येत् । तासामप्याशुवृत्तेर्विच्छेदानुपलक्षणात्सहभावाभिमानसिद्धे: । कथं वाश्वं विकल्पयतोपि च गोदर्शनाद्दर्शनकल्पनाविरहसिद्धि: ? कल्पनात्मनोपि गोदर्शनस्य तथाश्वविकल्पेन सहभावप्रतीतेरविरोधात् । तत: सर्वत्र कल्पनाया: कल्पनांतरोदये निवृत्तिरेष्टव्या, अन्यथेष्टव्याघातात् । तथा च न कल्पनारोपितोंशी कल्पनांतरे सत्यप्यनिवर्तमानत्वात् स्वसंवेदनवत् । तस्यार्थक्रियायां सामर्थ्याच्च न कल्पनारोपितत्वं । न हि

स्वयं स्वीकार करता हुआ भी बौद्ध अन्य कल्पनाओं के होने पर भी निवृत्त नहीं होने वाले अधिक स्थूल एक अवयवी को कल्पना से आरोपित कर रहा है। अत: अवयव में अवयवी को कल्पित करने वाले के द्वारा अवयव और अवयवी का विवेचन कैसे हो सकता है ? अर्थात् जब दूसरे कल्पना ज्ञान के होते हुए भी अवयवी का ज्ञान हो रहा है, निवृत्त नहीं होता है तो सिद्ध हुआ कि वह एक अवयवी का ज्ञान प्रमाणज्ञान है, कल्पित नहीं है।

यहाँ अंशों का निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान करते समय अवयवी का कल्पना से ज्ञान होता है उस कल्पना ज्ञान के अव्यवहित उत्तर समय में अत्यन्त शीघ्र दूसरे कल्पान्तर का ज्ञान हो जाता है (कुम्हार के चक्रभ्रमण के समान शीघ्रता होने से मध्यवर्ती देश, काल का अन्तराल स्थूल दृष्टि वाले लोक को नहीं दिखता है) अत: एक समय में साथ-साथ उत्पन्न हुए दो कल्पना ज्ञानों की सगर्व मान्यता हो जाती है (यानी जन समुदाय दो कल्पना ज्ञानों का एक समय में होना भ्रमवश कहता है वस्तुत: विचारा जाए तो दो कल्पनाएँ दो समयों में हुई हैं) अत: दूसरी कल्पना के होने पर पूर्व समय की कल्पना स्वरूप से आरोपित अवयवी का वस्तुत: अस्तित्व नहीं है। बौद्धों का ऐसा विचार होने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञानों का कहीं वास्तविक रूप से साथ रहना कैसे सिद्ध होगा ? वहाँ भी कहा जा सकता है कि उन ज्ञानों की भी अतिशीघ्रता से अव्यवहित उत्तरोत्तर समयों में प्रवृत्ति होने के कारण मध्य का अन्तराल नहीं दीखता है अत: संसारी जीवों को इन्द्रिय ज्ञानों का एक साथ होना मानना सिद्ध है। (वस्तुत: इन्द्रियजन्य ज्ञान भी एक साथ उत्पन्न नहीं होते हैं। जैनाचार्य उपयोग आत्मक पाँच का तो क्या दो ज्ञानों का भी एक साथ होना अभीष्ट नहीं करते हैं चेतना गुण की एक समय में एक ही पर्याय हो सकती है, न्यून अधिक नहीं)

किंच अश्व का विकल्प करने वाले पुरुष के गाय का निर्विकल्पक दर्शन हो जाने से दर्शनरूप कल्पना के अभाव की सिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि कल्पना स्वरूप भी गो दर्शन की उस प्रकार अश्व विकल्प ज्ञान के साथ होने वाली प्रतीति का कोई विरोध नहीं है अत: सभी स्थलों पर दूसरी कल्पना के उदय हो जाने पर पहली कल्पना की निवृत्ति हो जाना इष्ट कर लेना चाहिए। अन्यथा आपके अभीष्ट मन्तव्यों का व्याघात हो जावेगा और ऐसा होने पर तो सिद्ध हो जाता है कि अन्वयी या अंशी कल्पना मात्र नहीं है क्योंकि दूसरी कल्पनाओं के उत्पन्न हो जाने पर भी वह निवृत्त नहीं होती है। जैसे कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कल्पित नहीं है।

माणवकेऽग्निरध्यारोपित: पाकादावाधीयते । करांगुलिष्वारोपितो वैनतेयो निर्विषीकरणादावाधीयत इति चेत् न, समुद्रोल्लंघनाद्यर्थक्रियायामपि तस्याधानप्रसंगात् । निर्विषीकरणादयस्तु तदा पानादिमात्रनिबंधना एवेति न ततो विरुध्यंते । नन्वर्थक्रियाशक्तिरसिद्धावयविन: परमाणूनामेवार्थक्रियासमर्थसिद्धेस्त एव ह्यसाधारणार्थक्रियाकारिणो रूपादितया व्यवह्रियंते । जलाहरणादिलक्षणसाधारणार्थक्रियायां प्रवर्तमानास्तु घटादितया । ततो घटाद्यवयविनो अवस्तुत्वसिद्धिस्तस्य संवृतसत्त्वादितिचेन्न, परमाणूनां जलाहरणाद्यर्थक्रियायां

भावार्थ : चाहे निर्विकल्पक ज्ञान हो या सविकल्पक ज्ञान हो, पूरा मिथ्या ज्ञान भी क्यों न हो; ये सब अपने को तो प्रमाण स्वरूप संवेदन से जानते हैं वह संवेदन प्रत्यक्ष जैसे कल्पित ज्ञान नहीं है उसी प्रकार **अंशी पदार्थ कल्पित नहीं है अनेक अंशवाला एक अंशी पदार्थ वस्तुभूत है।**

अर्थात् जो अर्थक्रियाओं को करता है, वह वस्तुभूत है (अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्)। घट, पट, आदिक अवयवी और आत्मा, आकाश, आदि अंशी पदार्थों को सिद्ध करने में यह युक्ति है। अर्थक्रिया करने में समर्थ होने से अंशी कल्पना आरोपित नहीं है जैसे एक तेजस्वी चंचल बालक में अग्निपने का आरोप कर लिया गया इतने से ही वह आरोपी अग्नि बेचारी पचाना, जलाना, आदि क्रियाओं के उपयोग करने में नहीं ली जाती है क्योंकि कल्पित अवयवी कुछ कार्य नहीं कर सकता।

शंका : हाथ की अंगुलियों में कल्पित कर लिया गया गरुड़ पक्षी विष उतारने रूप क्रिया आदि मे अर्थक्रियाकारी माना गया है अर्थात् गारुड़िक जन अपनी अंगुलियों में गरुड़ की स्थापना कर उसके द्वारा साँप के काटे हुए मनुष्य का विष उतार देते हैं। इस प्रकार कल्पित पदार्थ भी कुछ कार्य कर देते हैं।

समाधान : ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर तो समुद्र का उल्लंघन करना, पर्वत को लांघ जाना आदि अर्थक्रियाओं में भी उस अंगुली रूप गरुड़ के उपयोग हो जाने का प्रसंग आयेगा। विष रहित करना आदिक कार्य तो उस समय मन्त्रित जल के पान अथवा गरुड़ की आकृति आदि को कारण मानकर ही उत्पन्न होते हैं अत: उस कल्पित गरुड़ से हुए विरुद्ध नहीं माने जाते हैं (किन्तु समुद्र का उल्लंघन करना तो वस्तुभूत मुख्य गरुड़ का कार्य है अत: अवयवी अनेक अर्थक्रियाओं को करता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, अत: अंशी परमार्थ है, कल्पित नहीं।)

बौद्ध की शंका : अवयवी में अर्थक्रिया करने की शक्ति सिद्ध नहीं है परमाणुओं के ही अर्थ-क्रिया करने की सामर्थ्य सिद्ध है, वे परमाणु ही अपनी-अपनी असाधारण अर्थ क्रियाओं को करते हुए रूप परमाणु, रस परमाणु अथवा रूपस्कन्ध, वेदना स्कन्ध आदि से व्यवहार में प्रचलित होते हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तुभूत परमाणु की अर्थक्रिया न्यारी-न्यारी है। जिस समय अनेक परमाणु एक सी जलधारण, शीत को दूर करना, आदि स्वरूप साधारण अर्थक्रियाओं को करने में प्रवृत्ति करते हैं तब वे घट, पट आदि रूप से व्यवहृत किये जाते हैं अत: घट, पट आदिक अवयवियों को वस्तुभूतपना सिद्ध नहीं है (जो कुछ भी अर्थक्रिया हो रही है सब परमाणुओं की है)। वह अवयवी तो केवल व्यवहार से सत् मान लिया जाता है, वस्तुत: नहीं।

सामर्थ्यानुपपत्तेर्घटादेरेव तत्र सामर्थ्यात् परमार्थसिद्धेः। परमाणवो हि तत्र प्रवर्तमानाः कंचिदतिशयमपेक्षन्ते न वा ? न तावदुत्तरः पक्षः सर्वदा सर्वेषां तत्र प्रवृत्तिप्रसंगात्। स्वकारणकृतमतिशयमपेक्षंत एवेति चेत्, कः पुनरतिशयः ? समानदेशतयोत्पाद इति चेत्, का पुनस्तेषां समानदेशता ? भिन्नदेशानामेवोपगतत्वात् जलाहरणाद्यर्थक्रियायोग्यदेशता तेषां समानदेशता नान्या, यादृशि हि देशे स्थितः परमाणुरेकस्तत्रोपयुज्यते तादृशि परेपि परमाणवः स्थितास्तत्रैवोपयुज्यमानाः समानदेशाः कथ्यंते न पुनरेकत्र देशे वर्तमाना, विरोधात्

उत्तर : अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिए क्योंकि जल को लाना, जल को धारण करना, आदि अर्थक्रियाओं के करने में सूक्ष्म परमाणुओं का सामर्थ्य सिद्ध नहीं होता है। उन क्रियाओं को करने में तो घट, पट आदि अवयवियों की ही सामर्थ्य है अतः घट, पट, आदिक अवयवी है, ये वास्तविक अर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न : अर्थक्रियाओं को करने में प्रवृत्त परमाणु क्या किसी अतिशय की अपेक्षा रखते हैं अथवा नहीं ? दूसरा पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं है, क्योंकि बिना किसी चमत्कार के उत्पन्न हुए यदि परमाणु जलधारण आदि कार्यों को कर लेते हैं तब तो सदा ही सम्पूर्ण परमाणुओं को उन कार्यों में प्रवृत्ति करने का प्रसंग आयेगा अर्थात् तृण भी छत के बोझ को सम्भाल लेंगे (यदि प्रथम पक्ष के अनुसार वे परमाणु अपने-अपने कारणों से किये गये अतिशयों की अपेक्षा करते हैं। यानी जिन कारणों से परमाणु उत्पन्न होते हैं उन्हीं कारणों से जलाहरण, शीतापनोद आदि को उत्पन्न कराने वाले अतिशय भी उनमें साथ ही पैदा हो जाते हैं) ऐसा कहने पर तो हम जैन फिर पूछते हैं कि परमाणुओं में उत्पन्न हुआ वह अतिशय क्या पदार्थ है ? यदि कहो कि अनेक परमाणुओं का वही अतिनिकट समानदेशवाला होकर उत्पन्न हो जाना अतिशय है तो फिर उन परमाणुओं का देशपना क्या है ? यदि कहो कि वस्तुतः प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् ही देश में रहते हैं, अतः सम्पूर्ण परमाणु भिन्न-भिन्न देशों में उत्पन्न माना गया है, किन्तु जल धारण आदि अर्थक्रियाओं के लिए उपयोगी उन परमाणुओं का व्यवधान रहित सदृश देशों में उत्पन्न हो जाना ही उनकी समानदेशता है। अन्य नहीं। जिस देश में स्थित एक परमाणु उस अर्थक्रिया में उपयुक्त होता है, वैसे ही दूसरे अव्यवहित देश में स्थित दूसरे परमाणु भी उस ही अर्थक्रिया में करते हुए समान देश वाले कहे जाते हैं। केवल एक ही देश में स्थित परमाणु समान देश वाले नहीं कहे जाते हैं क्योंकि इसमें विरोध है। (समान देश और एक-देश मे बहुत अन्तर है। उस ही एक आधार को एक देश कहते हैं और उसके समान दूसरे देशों मे रहने पर समान देश कहे जाते हैं। मूर्त एक परमाणु जब एक प्रदेश को घेर लेता है तो दूसरे परमाणु के ठहरने का विरोध है)। यदि अनेक परमाणु एक जगह स्थित हो जावेंगे तो सम्पूर्ण परमाणुओं को केवल एक परमाणुरूप हो जाने का प्रसंग आयेगा। जब परमाणु अपने सम्पूर्ण स्वरूप से परस्पर एक दूसरे में प्रविष्ट हो जावेंगे तो अनेक परमाणुओं का पिण्ड भी एक परमाणुरूप हो जावेगा, यह स्पष्ट है। अन्यथा परमाणुओं का एक देशपना न बन सकेगा।

। सर्वेषामेकपरमाणुमात्रत्वप्रसंगात् सर्वात्मना परस्परानुप्रवेशादन्यथैकदेशत्वायोगादिति चेत् । का पुनरियमेका जलाहरणाद्यर्थक्रिया? यस्यामुपयुज्यमाना भिन्नदेशवृत्तयोप्यणवः समानदेशाः स्युः । प्रतिपरमाणुभिद्यमाना हि सानेकैव युक्ता भवतामन्यथानेकघटादिपरमाणुसाध्यापि सैका स्यादविशेषात् । सत्यं । अनेकैव सा जलाहरणाद्याकारपरमाणूनामेव तत् क्रियात्वेन व्यवहरणात् । तद्व्यतिरेकेण क्रियाया विरोधात् केवलमेककार्यकरणादेकत्वेनोपचर्यत इतिचेन्न, तत्कार्याणामप्येकत्वासिद्धेस्तत्त्वतोनेकत्वेनोपगतत्वात् स्वकीयैककार्यकरणात् तत्कार्याणामेकत्वोपगमे स्यादनवस्था तत्त्वतः सुदूरमपि गत्वा बहूनामेकस्य कार्यस्यानभ्युपगमात्। तदुपगमे वा नानाणूनामेकोवयवी कार्यं किं न भवेत्। यदि पुनरेकतया प्रतीयमानत्वादेकैव जलाहरणाद्यर्थक्रियोपेयते तदा घटाद्यवयवी तत एवैकः किं न स्यात् ? संवृत्यास्तु तदेकत्वप्रत्ययस्य

इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैन आचार्य कहते हैं कि यह अनेक परमाणुओं के साधन से उत्पन्न एक जलाहरण आदि अर्थक्रिया क्या है ? जिसमें उपयोगी भिन्न-भिन्न देशों में रहते हुए भी परमाणु समान देश वाले कहे जाते हैं ? बौद्धों ने प्रत्येक परमाणु के प्रति भिन्न-भिन्न होने वाली अर्थक्रिया को अनेक ही माना है। अन्यथा अनेक परमाणुओं की यदि एक ही अर्थक्रिया हो सके तो घट आदिक के अनेक परमाणुओं से साध्य भी वह अर्थक्रिया एक हो जावेगी, इसमें कोई अन्तर नहीं है।

अर्थात्- अनेक परमाणुओं से जैसे एक जल लाने रूप अर्थक्रिया हो सकती है, उसी प्रकार अनेक परमाणुओं से एक अवयवी घट भी बन सकता है, हमारे और आपके मन्तव्य में कोई विशेषता नहीं है।

बौद्ध कहते हैं कि आप जैनों का कथन सत्य है, वह अनेक परमाणुओं से की गई जल लाना रूप क्रिया अनेक ही है, जल लाना आदि आकार वाले परमाणुओं का ही उस क्रिया रूप से व्यवहार होता है। जितने परमाणु है, उतनी ही तद्रूप क्रियायें हैं। उन परमाणुओं से भिन्न होकर क्रिया का विरोध है अतः केवल अनेक अर्थक्रियायें एक कार्य करने से एकपने से व्यवहृत (उपचरित) हो जाती हैं, वस्तुतः वे अनेक हैं। जैनाचार्य कहते हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उन अनेक परमाणुओं के जल लाना रूप अनेक कार्यों को भी एकपना असिद्ध है, क्योंकि वास्तविक रूप से वे कार्य बौद्धों के यहाँ अनेकपने से स्वीकार भी किये गये हैं। यदि उन कार्यों को भी अपने-अपने द्वारा सम्पादित हुए एक कार्य करने की अपेक्षा से एकपना स्वीकार करोगे तब तो अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि अनेक कार्यों के बनाये गये कार्य भी वस्तुतः अनेक हैं, फिर उनके भी कार्य अनेक ही होंगे। बहुत दूर भी जाकर अनेक अर्थों से उत्पन्न हुआ वस्तुतः एक कार्य बौद्धों ने नहीं माना है। यदि बौद्ध अनवस्था दोष को हटाने के लिए उत्तरवर्ती अनेक कार्यों से अन्त में जाकर उस एक कार्य का होना स्वीकार कर लेंगे तब तो नाना परमाणुओं का कार्य एक अवयवी क्यों न होगा? अर्थात् एक अवयवी सिद्ध हो जाता है।

यदि एकपने से प्रतीति का विषय होने के कारण जल लाना आदि अर्थक्रिया एक ही मान ली जाती है यानी एक परमाणु से यद्यपि अनेक क्रियायें होती हैं, फिर भी अनेक में एकत्व धर्म रहता है, अतः वे सब एक हैं, ऐसा माना जाता है; तब तो घट आदि अवयवी भी एक क्यों नहीं हो जावेंगे ? यदि केवल

सांवृतत्वादिति चेत्, जलाहरणाद्यर्थक्रियापि संवृत्त्यैकास्तु तदविशेषात् । तथोपगमे कथं तत्त्वतो भिन्नदेशानामणूनामेकस्यामर्थक्रियायां प्रवृत्तेः समानदेशता ययोत्पादेतिशयस्तैस्तत्रापेक्षते। तदनपेक्षाश्च कथं साधारणाद्यर्थक्रियाहेतवोतिप्रसंगादिति न घटादिव्यवहारभाजः स्युः। न चायं घटाद्येकत्वप्रत्ययः सांवृतः स्पष्टत्वादक्षजत्वाद्बाधकाभावाच्च यतस्तदेकत्वं पारमार्थिकं न स्यात् । ततो युक्तांशिनोर्थक्रियायां शक्तिरंशवदिति नासिद्धं साधनं स्पष्टज्ञानवेद्यत्वाच्च नांशी कल्पनारोपितोंशवत् । नन्वंशा एव स्पष्टज्ञानवेद्या नांशी तस्य प्रत्यक्षेऽप्रतिभासनादिति चेत् न, अक्षव्यापारे सत्ययं घटादिरिति संप्रत्ययात् । असति तदभावात्।

संवृत्ति (व्यवहार) से अवयवी होता है, क्योंकि उन अनेक अवयवों में एकपने का ज्ञान उपचार से कल्पित है, ऐसा कहने पर तो सौगत के द्वारा स्वीकृत जल लाना आदि अर्थक्रिया भी कल्पित व्यवहार से एक हो जाना चाहिए, क्योंकि संवृत्ति (व्यवहार) से एकपने के ज्ञान में कोई विशेषता नहीं है। वस्तुतः जल लाना आदि अर्थक्रियायें भी अनेक ही हैं। व्यवहार में अर्थक्रियाओं के एकत्व को स्वीकार कर लेने पर वास्तविक रूप से भिन्न-भिन्न देश में रहने वाले परमाणुओं की एक अर्थक्रिया में प्रवृत्ति होने से समानदेशत्व कैसे सिद्ध होगा। जिस समान देशता से उत्पादितातिशय उन परमाणु के द्वारा अपेक्षणीय होता है और समानदेशता से उत्पादित अतिशयों की अपेक्षा नहीं रखने वाले परमाणु अनेक परमाणुओं के द्वारा साधारण रूप से साध्य जल लाना आदि अर्थक्रिया के कारण कैसे हो सकते हैं ? यदि अतिशय रहित परमाणु जल लाना अर्थक्रिया में प्रवृत्ति करेंगे तो अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् अतिशय रहित बालू रेत के परमाणु भी जलधारण आदि क्रिया के करने में समर्थ हो जायेंगे अतः अतिशयों (घटादि होने योग्य योग्यता) से रहित परमाणु घट आदि व्यवहार के धारक नहीं हो सकते है।

किंच-घटादि के अवयवों के एकत्व का ज्ञान सांवृत्त (कल्पित) नहीं है, क्योंकि घटादि के अवयवों के एकत्व का ज्ञान विशद है, इन्द्रियजन्य है और बाधक प्रमाण से रहित है जिससे कि उस अवयवी का एकपना पारमार्थिक नहीं हो सकता हो अर्थात् प्रमाण ज्ञान से अवयवी में एकपना वस्तुभूत सिद्ध है।

अतः **अंशी (अवयवी) की अर्थक्रिया करने में सामर्थ्य मानना युक्त (ठीक) ही है, जैसे अंश (अवयव) अपनी योग्य क्रिया को करता है, अतः अर्थक्रिया करने में समर्थ रूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।**

तथा-स्पष्ट (विशद प्रत्यक्ष) ज्ञान के द्वारा संवेद्य (जानने योग्य) होने से अंश के समान (परमाणु के समान) अंशी (घटादि स्कन्ध) कल्पना से आरोपित नहीं हैं।

शंका : अंश ही स्पष्ट (विशद प्रत्यक्ष) ज्ञान के द्वारा संवेद्य (जानने योग्य) हैं; अंशी स्पष्ट ज्ञान से नहीं जाना जाता है, क्योंकि अंशी का प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि चक्षु इन्द्रियों के व्यापार में (चक्षु आदिक इन्द्रियों के विषय में) घटादि अंशी का ज्ञान होता है, अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा घट,पट, काले, मोटे आदि जाने जाते हैं और इन्द्रियों का व्यापार नहीं होने पर उनका ज्ञान नहीं होता है अतः अंशी इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं।

नन्वक्षव्यापारेंशा एव परमसूक्ष्माः संचिताः प्रतिभासंते त एव स्पष्टज्ञानवेद्याः केवलप्रतिभासानंतरमाश्वेवांशिविकल्पः प्रादुर्भवन्नक्षव्यापारभावीति लोकस्य विभ्रमः, सविकल्पाविकल्पयोर्ज्ञानयोरेकत्वाध्यवसायाद्युगपद्वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा । यदांशदर्शनं स्पष्टं तदैव पूर्वांशदर्शनजनितांशिविकल्पस्याभावात्। तदुक्तं। ''मनसोर्युगपद्वृत्तेस्सविकल्पाविकल्पयोः । विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति'' इति। तदप्ययुक्तं। विकल्पेनास्पष्टेन सहैकत्वाध्यवसाये निर्विकल्पस्यांशदर्शनस्यास्पष्टत्वप्रतिभासनानुषंगात् । स्पष्टप्रतिभासेन दर्शनेनाभिभूतत्वाद्विकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासनमेवेति चेत् न, अश्वविकल्पगोदर्शनयोर्युगपद्वृत्तौ तत एवाश्वविकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासप्रसंगात्।

शंका : इन्द्रियों का व्यापार होने पर अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु अंश ही एकत्रित हुए प्रतिभासित होते हैं क्योंकि वे अंश ही स्पष्ट (विशद) ज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं, परन्तु केवल प्रतिभास के अन्तर अंशों की ज्ञप्ति शीघ्र ही अंशी की कल्पना को उत्पन्न करती है। जिससे अंशी का ज्ञान इन्द्रियों के व्यापार से हुआ है, ऐसा जन समुदाय को भ्रम होता है।

अर्थात् इन्द्रिय व्यापार से अंशों का निर्विकल्प ज्ञान होता है और शीघ्र ही वासना के कारण अंशों में अंशी की कल्पना कर ली जाती है। अतः भ्रान्तिवश अंशी के ज्ञान को इन्द्रियजन्य कह देते हैं। उनको यह विवेक नहीं है कि-अंशी को जानने वाले सविकल्प (मिथ्या) ज्ञान और अंश को जानने वाले निर्विकल्प (सम्यग्) ज्ञान में एक साथ वृत्ति होने से अथवा घूमते हुए चक्के के समान अतिशीघ्रता पूर्वक लघु वृत्ति होने से अंश अंशी में एकत्व का अध्यवसाय (निश्चय) हो रहा है अतः जिस समय अंश का दर्शन स्पष्ट होता है, उस समय पूर्वांश के देखने से उत्पन्न अंशी के विकल्प ज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् विकल्प ज्ञान तो कल्पना से कर लिया जाता है। बौद्ध ग्रन्थ में इस प्रकार कहा भी है कि- ''मूर्ख जन ही मन की युगपत् (अंशी और अंश में एक साथ) वृत्ति होने से अथवा चक्र भ्रमण के समान लघु (शीघ्र) वृत्ति होने से सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान में एकत्व का निर्णय कर लेते हैं। वस्तुतः इन्द्रियों से अंशी का सविकल्प ज्ञान नहीं हो सकता।

समाधान : ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है ? क्योंकि अविशद अवस्तुरूप विकल्प ज्ञान के साथ यदि निर्विकल्प अंश दर्शन का एकत्व आरोपित किया जायेगा तो अंश को जानने वाले निर्विकल्प ज्ञान के भी अविशद रूप से प्रतिभास करने का प्रसंग आयेगा, तथा स्पष्ट प्रतिभासक, निर्विकल्प दर्शन के द्वारा तिरोभूत (आच्छादित) विकल्प ज्ञान का भी आरोपित स्पष्ट प्रतिभास हो जायेगा। ऐसा कहना उचित नहीं है-क्योंकि अश्व (घोड़े) का विकल्प ज्ञान और गाय का निर्विकल्प दर्शन इन दोनों की एक साथ प्रवृत्ति होने पर अश्व के विकल्प का स्पष्ट प्रतिभास (विशद निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान) होने का प्रसंग आएगा अर्थात् तिरोभूत करने वाला गोदर्शन अश्व के विकल्प को आच्छादित करके उसका निर्विकल्प प्रतिभास करा देगा।

बौद्ध का अभिमत है कि-गोदर्शन और अश्व विकल्प का भिन्न विषय होने से गौ के निर्विकल्प दर्शन के द्वारा अश्व का तिरोभाव नहीं हो सकता। जैनाचार्य कहते हैं कि ''एकविषयत्व होने पर विकल्प ज्ञान का

तस्य भिन्नविषयत्वान्न गोदर्शनेनाभिभवोस्तीतिचेत् , किमिदानीमेकविषयत्वे सति विकल्पस्य दर्शनेनाभिभव: साध्यते ततस्तस्य स्पष्टप्रतिभास इति मतं । नैतदपि साधीय: । शब्दस्वलक्षणदर्शनेन तत्क्षणक्षयानुमानविकल्पस्याभिभवप्रसंगात् । नहि तस्य तेन युगपद्भावो नास्ति विरोधाभावात् ततोस्य स्पष्टप्रतिभास: स्यात् । भिन्नसामग्रीजन्यत्वादनुमानविकल्पस्य न दर्शनेनाभिभव इति चेत् , स्यादेवं । यद्यभिन्नसामग्रीजन्ययोर्विकल्पदर्शनयोरभिभाव्याभिभावकभाव: सिद्ध्येत् नियमात् । न चासौ सिद्ध: सकलविकल्पस्य स्वसंवेदनेन स्पष्टावभासिना प्रत्यक्षेणाभिन्नसामग्रीजन्येनाप्यभिभवाभावात् । स्वविकल्पवासनाजन्यत्वाद्विकल्पस्य पूर्वसंवेदनमात्रजन्यत्वाच्च स्वसंवेदनस्य । तयोर्भिन्नसामग्रीजन्यत्वमेवेति चेत् । कथमेवमंशदर्शनेनांशिविकल्पस्याभिभवो नाम तथा दृष्टत्वादिति चेन्न, अंशदर्शनेनांशिविकल्पोऽभिभूत

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा तिरोभाव हो जाता है और तिरोभूत हो जाने पर उस विकल्प ज्ञान का विशद रूप से प्रतिभास होता है।'' क्या आप ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं ? परन्तु आपका यह कथन श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि शब्द स्वरूप स्वलक्षण के निर्विकल्प ज्ञान से शब्द के क्षणिकत्व को जानने वाला अनुमान रूप विकल्प ज्ञान के तिरोभूत हो जाने का प्रसंग आयेगा क्योंकि क्षणिकत्व को जानने वाला विकल्प निर्विकल्प के साथ नहीं रहता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि निर्विकल्प और विकल्प के युगपत् रहने में कोई विरोध नहीं है। अत: अनुमान रूप विकल्प का भी प्रतिभास होना चाहिए।

यदि कहो कि भिन्न सामग्रीजन्य होने से अनुमान के विकल्प का निर्विकल्प दर्शन के द्वारा तिरोभाव नहीं होता है, अर्थात् अनुमानरूप विकल्प की हेतुदर्शन, व्याप्तिस्मरण, आदि सामग्री है और निर्विकल्पक की अर्थजन्यता इन्द्रियवृत्ति, आलोक आदि सामग्री है अत: भिन्न-भिन्न सामग्री से जन्य होने के कारण क्षणिकत्व जानने वाले अनुमान रूप विकल्प के शब्दस्वरूप स्वलक्षण को जानने वाले निर्विकल्पक दर्शन से तिरोभाव नहीं होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों का कहना तो तब हो सकता था कि यदि अभिन्न सामग्री से उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञान और निर्विकल्पक का अभिभूत हो जाना तथा अभिभूत करा देनापन नियम से सिद्ध हो जाता, किन्तु वह छिप जाना, छिपादेनापन तो सिद्ध नहीं होता है अर्थात् सम्पूर्ण विकल्पज्ञानों को स्पष्ट रूप से जानने वाले और अभिन्न सामग्री से उत्पन्न हुए भी ऐसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा सविकल्पपना अभिभव नहीं हो रहा है अर्थात् बौद्धों के यहाँ भी चाहे निर्विकल्पक ज्ञान हो या सविकल्पक, सभी सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञानों का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो जाना माना गया है। जानने की इच्छा होने पर प्रत्येक विकल्पज्ञान को जानने वाला स्वसंवेदनप्रत्यक्ष अवश्य होगा। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में स्पष्टपना है विकल्प में अस्पष्टपना है। ऐसी दशा में सभी विकल्पज्ञान स्वसंवेदन के वैशद्यप्रभाव से दब जावेंगे अपनी विकल्पवासनाओं से उत्पन्न होने से सविकल्प के और पहले समय के केवल शुद्ध संवेदन से ही उत्पन्न स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की भिन्न-भिन्न सामग्री से उत्पन्न है ऐसा मानने पर जैन कहते हैं कि इस प्रकार तो अंश के दर्शन से अंशी के विकल्पज्ञान का अभिभव भला कैसे हो सकेगा? क्योंकि वे दोनों पृथक्-पृथक् सामग्री

इति कस्यचित्प्रतीत्यभावात् । ननु चापि विकल्पः स्पष्टाभोऽनुभूयते नचासौ युक्तस्तस्यास्पष्टावभासित्वेन व्याप्तत्वात् । तदुक्तं । "न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता" इति । ततोस्य दर्शनाभिभवादेव स्पष्टप्रतिभासोऽन्यथा तदसंभवादिति चेन्न, विकल्पस्यास्पष्टावभासित्वेन व्याप्त्यसिद्धेः । कामाद्युपप्लुतचेतसां कामिन्यादिविकल्पस्य स्पष्टत्वप्रतीतेः सोक्षज एव प्रतिभासो न विकल्पज इत्ययुक्तं, निमीलिताक्षस्यान्धकारावृतनयनस्य च तदभावप्रसंगात् भावनातिशयजनितत्वात्तस्य योगिप्रत्यक्षतेत्यसम्भाव्यं, भ्रांतत्वात् । ततो विकल्पस्यैवाक्षजस्य मानसस्य वा कस्यचित्स्पष्टमतिज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षस्याभ्रांतस्य भ्रांतस्य वा निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वादवयविविकल्पस्य स्वतः स्पष्टतोपपत्तेः सिद्धमंशिनः स्पष्टज्ञानवेद्यत्वमंशवत्

से उत्पन्न होते हैं अतः अंशी के स्पष्टदर्शन हो जाने से अंशी का वस्तुभूतपना सिद्ध हो जाता है अर्थात् अंश के निर्विकल्पक से अंशी के विकल्पज्ञान का छिपाया जाना देखा जाता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अंश के दर्शन से अंशीका विकल्पज्ञान छिपाया गया है इस प्रकार की प्रतीति का अभाव है।

शंका : स्याद्वादियों के यहाँ विकल्पज्ञान जो स्पष्ट प्रकाश करता हुआ अनुभव में आ रहा कहा जाता है; किन्तु यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि उस विकल्पज्ञान की अस्पष्ट प्रकाशीपन के साथ व्याप्ति सिद्ध होती है। (यानी जो विकल्पज्ञान है वह अविशद रूप से प्रकाशक है)। हमारे ग्रन्थों में भी कहा है कि कल्पनाओं से अनुविद्ध विकल्प ज्ञान को अर्थ का स्पष्ट प्रकाशपना नहीं है अतः विकल्पज्ञान का निर्विकल्पक से अभिभव हो जाने के कारण ही स्पष्ट प्रतिभास होता है। अन्यथा दर्शन के प्रभाव बिना विकल्प में स्पष्टता का होना असम्भव है। जैन आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि विकल्पज्ञान की अस्पष्ट प्रकाशत्व के साथ व्याप्ति असिद्ध है। बौद्ध कहते हैं कि काम, शोक, भय, उन्मत्तता आदि से घिरे हुए चित्तवाले पुरुष को कामिनी, इष्ट पुत्र, पिशाच, सिंह आदिक पदार्थों के विकल्पज्ञानका स्पष्टपना प्रतीत होता है, वह विकल्प प्रतिभास तो इन्द्रियजन्य ही है, विकल्पजन्य नहीं है। इन्द्रियों से ज्ञान में स्पष्टता आ जाती है। जैन आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना युक्तियों से रहित है। क्योंकि ऐसा माननेपर इन्द्रिय व्यापार को संरुद्ध कर अथवा आँखों को मींच कर विचार करने वाले या गाढ़ान्धकार से ढ़की हुई आँखवाले पुरुषको कामिनी आदि में उस विकल्पज्ञान होने के अभाव का प्रसंग आयेगा अर्थात् इन्द्रिय व्यापार के बिना भी कामिनी आदि के ज्ञान में स्पष्टता झलक रही है।

भावना ज्ञान के चमत्कार उत्पन्न हो जाने के कारण उस कामिनी आदि के ज्ञान को योगिप्रत्यक्षपना मान लेना तो असम्भव है क्योंकि कामपीड़ित पुरुषों को वियुक्त अवस्था में कामिनी का ज्ञान होना या शोकी पुरुष को मृतक पुत्र का सन्मुख दीखना ये सब भ्रान्त (विपर्ययज्ञान) हैं तथा अतीन्द्रियदर्शी योगी के विपर्ययज्ञान होने की सम्भावना कैसे हो सकेगी ? अतः बहिरंग इन्द्रियों से जन्य अथवा अन्तरंग मन इन्द्रिय से जन्य किसी भी विकल्पज्ञान को स्पष्ट मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा से स्पष्टपना प्राप्त होता है। (स्पष्टपना इन्द्रियों से नहीं आता है किन्तु ज्ञानावरण के स्पष्ट क्षयोपशम से ज्ञान में स्पष्टता मानी गयी है)। चाहे समीचीन ज्ञान हो अथवा भ्रान्तज्ञान हो दोनों में स्पष्टपना अपने कारणरूप क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है।

। तच्च न कल्पनारोपितत्वं संभवतीति तस्यानारोपितत्वसिद्धेः । ननु स्पष्टज्ञानवेद्यत्वं नावयविनो अनारोपितत्वं साधयति कामिन्यादिना स्पष्टभावनातिशयजनिततद्विकल्पवेद्येन व्यभिचारादिति चेन्न, स्पष्टसत्यज्ञानवेद्यत्वस्य हेतुत्वात् । तथा स्वसंवेद्येन सुखादिनानैकांत इत्यपि न मंतव्यं, कल्पनानारोपितत्वस्याक्षजत्वस्य साध्यतयानभ्युपगमात् । परमार्थसत्त्वस्यैव साध्यत्वात् । ननु परमार्थसतोवयविनः स्पष्टज्ञानेन वेदनं सर्वावयववेदनपूर्वकं कतिपयावयववेदनपूर्वकं वावयवावेदनपुरःसरं वा ? न तावदाद्यः पक्षः सर्वदा तदभावप्रसंगात् , किंचिज्ज्ञस्य सर्वावयववेदनासंभवात् । तदवयवानामपि स्थवीयसामवयवित्वेन

प्रकरण में अवयवी का विकल्पज्ञान बाधकरहित प्रतीतियों से सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध हो रहा है। उसकी स्पष्टता भी स्वयं अपने आप हो रही है अतः अंशी का अंश के समान स्पष्ट ज्ञान से जानना सिद्ध होता है। यदि अंशी को कल्पना से आरोपित मान लिया जाय तो वह स्पष्ट ज्ञान से जानना भी नहीं हो सकता। अतः उस अंशी के वास्तविक होने के कारण कल्पनाओं से अनारोपितपना सिद्ध है अर्थात् अंश के समान अंशी भी स्पष्ट ज्ञान से वेद्य होने के कारण कल्पना मनगढ़न्त नहीं है, अपितु अंशी या अवयवी वास्तविक पदार्थ हैं।

शंका : स्पष्टज्ञान से ज्ञात हेतु अवयवी का अनारोपितपना सिद्ध नहीं करा सकता है। क्योंकि विशद रूप भावना के अतिशय से उत्पन्न हुए उन विकल्पज्ञानों के द्वारा जाने गये कामिनी, पिशाच, आदि से हेतु व्यभिचारी हो जाता है।

भावार्थ : स्पष्ट ज्ञान से वेद्यत्व कामिनी आदि में है परन्तु वहाँ अनारोपितपना नहीं है। अतः जैसे कामिनी आदिक कल्पित हैं, वैसे ही अवयवी कल्पित है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि हमारे हेतु के शरीर में सत्यशब्द निविष्ट है, वास्तविक स्पष्टपना सत्यज्ञान में ही माना गया है। जो स्पष्ट रूप से सत्यज्ञान के द्वारा जाना जाता है वह अनारोपित (वास्तविक) अवश्य होता है; इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं है, तथा हमारे हेतु का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जान लिये गये सुख, इच्छा आदि से व्यभिचार आयेगा, यह भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियजन्य कल्पना अनारोपितपने को हमने साध्य नहीं स्वीकार किया है, जिससे कि सुख आदि में साध्य के न रहने से हेतु व्यभिचारी होता, किन्तु वास्तविक रूप से विद्यमान को ही हम साध्य कह रहे हैं।

शंका : जैनों के द्वारा स्वीकृत वास्तविक सत्रूप अवयवी का स्पष्ट ज्ञान के द्वारा जो वेदन होता है वह सम्पूर्ण अवयवों का पहले ज्ञान होकर पश्चात् उत्पन्न होता है ? अथवा कितने ही अवयवों को पहले जानकर पीछे पूरे अवयवी का ज्ञान होता है ? या पूर्व में किसी भी अवयव को न जानकर झट अवयवी का ज्ञान हो जाता है। इन तीन पक्षों में से पहले आदि का पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सदा ही उस अवयवी के अभाव का प्रसंग आता है। सर्वज्ञ के ही सम्पूर्ण सूक्ष्म, स्थूल, अवयवों का ज्ञान होना बन सकता है। अल्पज्ञ के सम्पूर्ण अवयवों का ज्ञान होना असम्भव है। उन घट, पट, आदिक

सकलावयववेदनपुर:सरत्वे तस्य परमाणूनामवयवानामवेदनेन तदारब्धशताणुकादीनां वेदनानुषंगादभिमतपर्वतादेरपि वेदनानुपपत्ते: । एतेन द्वितीयपक्षोपाकृत:, कतिपयपरमाणुवेदने तदवेदनानुपपत्तेरविशेषात् । तृतीयपक्षे तु सकलावयवशून्ये देशेवयविवेदनप्रसंगस्ततो नावयविन: स्पष्टज्ञानेन वित्ति: । यत: स्पष्टज्ञानवेद्यत्वं तत्त्वत: सिद्ध्येत् । इत्यपि प्रतीतिविरुद्धं, सर्वस्य हि स्थवीयानर्थ: स्फुटतरमवभासत इति प्रतीति: ॥

अवयवियों के कपाल, तन्तु आदिक अवयव भी तो अतीव स्थूल होने के कारण अवयवी हैं अत: उन अवयवरूप अवयवियों का ज्ञान भी पहले सम्पूर्ण कपालिका, छोटे तन्तु आदि सम्पूर्ण अवयवों का ज्ञान हो जाने पर ही होगा। इस प्रकार षडणुक, पञ्चाणुक आदि के क्रम से परमाणु रूप अवयवों तक वेदन के द्वारा पहुँचना पड़ेगा। अन्त में प्राप्त हुए परमाणु रूप अवयवों का ज्ञान नहीं होने के कारण उनसे मिलाकर बनाये गये परमाणुओं के शताणुक आदिकों का ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रसंग की आपत्ति होने से अभीष्ट बड़े पर्वत, समुद्र आदिक अवयवियों का भी ज्ञान होना न बन सकेगा अर्थात् परमाणुओं का ज्ञान न होने से द्व्यणुक का और द्व्यणुक का न होने से त्र्यणुक का भी ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रकार कारणभूत नीचे के अवयवों का ज्ञान न होने से कार्यरूप ऊपर के महाअवयवी का ज्ञान न हो सकेगा।

इस कथन से जैनों के दूसरे पक्ष का भी खण्डन हो जाता है। द्वितीय पक्ष के अनुसार कितने ही एक परमाणुओं का अस्मदादिक हम लोगों को ज्ञान होता नहीं है अत: किसी भी अवयवी का ज्ञान होना बन नहीं सकता। पहले और दूसरे पक्ष में कुछ परमाणुओं का ज्ञान करना तो आवश्यक है, किन्तु जैन मतानुसार परमाणुओं का ज्ञान नहीं होता है। अत:, उनसे बने हुए अवयवी का ज्ञान न हो सकने रूप दोष दोनों पक्षों में समानरूप से लागू हो जाता है; कोई अन्तर नहीं है। तीसरा पक्ष ग्रहण करने पर तो सम्पूर्ण अवयवों से रहित देश में अवयवी के ज्ञान होने का प्रसंग होगा अर्थात् अवयवों का सर्वथा ज्ञान हुए बिना ही जब अवयवी का ज्ञान होने लगेगा तो जहाँ घट, पट आदिक का अंशमात्र भी नहीं है, वहाँ भी घट,पट, पर्वत आदिक का ज्ञान हो जाना चाहिए अत: जैनों के यहाँ अवयवी की स्पष्ट ज्ञान द्वारा प्रतीति नहीं हो सकती है। जिससे कि स्पष्ट ज्ञान से ज्ञात हेतु वास्तविक रूप से सिद्ध होवे। यानी अवयवी को वास्तविक सिद्ध करने के लिए जैनों के द्वारा कहा गया स्पष्टज्ञान वेद्यपना हेतु अवयवी में न रहने के कारण असिद्ध हेत्वाभास है। अब जैन आचार्य कहते हैं कि बौद्ध का यह कथन लोकप्रसिद्ध प्रतिभासित प्रतीतियों से विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि अतीव स्थूल, घट, पट, पर्वत आदि अर्थ अधिक स्पष्टपने से प्रतिभासित हो रहे हैं। यह प्रतीति सब जीवों को निश्चय से हो रही है अत: भेद अथवा संघात या उभय से उत्पन्न हुए स्थूल अवयवी का स्पष्ट ज्ञान होना प्रतीति सिद्ध है। बौद्ध कहता है कि अधिक स्थूल आकार को दिखलाने वाली यह इन्द्रियजन्य ज्ञप्ति भ्रान्तिरूप है।

जैसे कि अनेक धान्यों के समुदाय को एक राशि मान लेना विपर्ययज्ञान है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर इन्द्रियों से उत्पन्न निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्तिरहित सिद्ध होवेगा। परस्पर अति प्रत्यासन्न

भ्रांतिरिंद्रियजेयं चेत्स्थविष्ठाकारदर्शिनी । क्वाभ्रांतमिंद्रियज्ञानं प्रत्यक्षमिति सिद्ध्यतु ॥ ९ ॥

प्रत्यासन्नेष्वयुक्तेषु परमाणुषु चेन्न ते । कदाचित्कस्यचिद्बुद्धिगोचरा: परमात्मवत् ॥ १० ॥

सर्वदा सर्वथा सर्वस्येंद्रियबुध्यगोचरान् परमाणूनसंस्पृष्टान् स्वयमुपयंस्तत्रेंद्रियजं प्रत्यक्षमभ्रांतं कथं ब्रुयात् , यतस्तस्य स्थविष्ठाकारदर्शनं भ्रांतं सिद्ध्येत् । कयाचित् प्रत्यासत्त्या तानिंद्रियबुद्धिविषयानिच्छत् कथमवयविवेदनमपाकुर्वीत सर्वस्यावयव्यारंभकपरमाणूनां कात्स्न्र्यतोऽन्यथा वा वेदनसिद्धेस्तद्वेदनपूर्वकावयविवेदनोपपत्ते: सहावयवावयविवेदनोपपत्तेर्वा नियमाभावात् । यदि पुनर्न परमाणव: कथंचित्कस्यचिदिंद्रियबुद्धेर्गोचरा[१] नाप्यवयवी । न च तत्रेंद्रियजं प्रत्यक्षमभ्रांतं सर्वमालंबते, भ्रांतमितिवचनात्।

परन्तु एक दूसरे से असंयुक्त ऐसे अनेक सूक्ष्म परमाणुओं में इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान अभ्रान्त प्रत्यक्ष है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय होने के कारण परमशुद्ध आत्मा का कभी किसी को जैसे इन्द्रिय जन्य ज्ञान गोचर नहीं होता है,·वैसे ही वे सूक्ष्म अतीन्द्रिय परमाणु भी कभी किसी भी जीव के बुद्धि के गोचर नहीं हो सकते, अर्थात् ज्ञान का विषय नहीं हो सकते॥९-१०॥

परस्पर अबद्ध परमाणु सदा सर्व प्रकार से सभी जीवों के इन्द्रियजन्य विषय नहीं होते हैं, ऐसा स्वयं स्वीकार करने वाला मनुष्य उन परमाणुओं में इन्द्रियों से उत्पन्न हुए प्रत्यक्षज्ञान को अभ्रान्त कैसे कह सकता है? जिससे कि उन बौद्धों के यहाँ अत्यन्त स्थूल आकारवाले अवयवी का दीखना भ्रान्त सिद्ध हो सके।

यदि बौद्ध किसी सम्बन्ध विशेष से उन परमाणुओं का इन्द्रियजन्य ज्ञान में विषय पड़ जाना स्वीकार करते हैं, तब तो स्थूल अवयवी के प्रत्यक्ष होने का खण्डन कैसे कर सकते हैं ? सभी वादियों के यहाँ अवयवी को बनाने वाले परमाणुओं का सम्पूर्णरूप से अथवा अनुमान द्वारा दूसरे प्रकार से ज्ञान होना सिद्ध है। पहले उन परमाणुरूप अवयवों का ज्ञान करके पीछे अवयवी का ज्ञान होना सिद्ध हो जाता है। अथवा एक साथ भी अवयव और अवयवी का ज्ञान हो सकता है। कोई एकान्त रूप से नियम नहीं है अर्थात् इन्द्रियगोचर अवयवों का ज्ञान होकर पीछे अवयवी का ज्ञान हो जाता है, जैसे कि तन्तुओं को देखकर पट का ज्ञान हो जाता है। तथा अवयव और अवयवी दोनों का ज्ञान एक साथ भी हो सकता है (स्याद्वादियों के जैन सिद्धान्त में अवयव और अवयवी के प्रत्यक्ष करने में नैयायिक या सांख्यों के समान एकान्तवाद नहीं है)।

यदि फिर परमाणु किसी भी प्रकार किसी के भी इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय नहीं हैं और अवयवी भी किसी के ज्ञान से नहीं जाना जाता है तथा उनमें उत्पन्न हुआ इन्द्रियजन्य भ्रान्ति रहित प्रत्यक्ष ज्ञान भी ठीक ठीक सभी विषयों को आलम्बन नहीं करता है क्योंकि बहिरंग विषयों को जानने वाले सम्पूर्ण ज्ञान भ्रान्त हैं, ऐसा हमारे शास्त्रों का कथन है। सभी ज्ञानों का विषयभूत कोई आलम्बन कारण नहीं है जिसको कि ज्ञान द्वारा जाना जाये। इस प्रकार योगाचार या वैभाषिक बौद्धों का कथन हो तो जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों ने प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पना भ्रान्ति से रहित स्वीकार किया है, वह वचन व्यर्थ ही हो जावेगा क्योंकि अपने विचारानसार तो किसी भी प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। सौत्रान्तिक बौद्धों ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष,

१. बुद्ध्यगोचर-यह पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

सर्वज्ञानानामनालंबनत्वादिति मतिस्तदा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रांतमिति वचोऽनर्थकमेव स्यात् कस्यचित्प्रत्यक्षस्याभावात् ॥

स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षं यदि तत्त्वतः। सिद्धिरंशांशिरूपस्य चेतनस्य ततो न किम्॥ ११ ॥

यथेंद्रियजस्य बहिःप्रत्यक्षस्य तत्त्वतोऽसद्भावस्तथा मानसस्य योगिज्ञानस्य च स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वात् ततः स्वसंवेदनमेकं प्रत्यक्षमितिचेत् सिद्धं तर्हि चेतनातत्त्वमंशांशिस्वरूपं स्वसंवेदनात्तस्यैव प्रतीयमानत्वात् । न हि सुखनीलाद्याभासांशा एव प्रतीयंते स्वशरीरव्यापिनः सुखादिसंवेदनस्य महतोऽनुभवात् नीलाद्याभासस्य चेंद्रनीलादेः प्रचयात्मनः प्रतिभासनात् ॥

विज्ञानप्रचयोप्येष भ्रांतश्चेत् किमविभ्रमम्। स्वसंवेदनमध्यक्षं ज्ञानाणोरप्रवेदनात् ॥ १२ ॥

अनुमान प्रत्यक्ष, योगी प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, इस प्रकार चार प्रत्यक्ष माने हैं किन्तु ये चारों ही अपने विषयों को जानते हुए आलम्बन सहित हैं।

यदि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध अन्य प्रत्यक्षों को न मानकर केवल स्वसंवेदन को ही वास्तविक रूप से एक प्रत्यक्ष स्वीकार करेंगे, तब तो उस स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अंश और अंशीस्वरूप चेतन आत्मा की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो स्थूल सांश आत्मा को सिद्ध कर देता है॥११॥

बौद्ध कहते हैं कि जैसे पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न बहिरंग प्रत्यक्ष की परमार्थरूप से सत्ता सिद्ध नहीं है, उसी प्रकार अंतरंग मनोजन्य मानस प्रत्यक्ष की और योगियों के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की भी स्वरूप मात्र से अवस्थित होने से सत्ता सिद्ध नहीं है ऐसा नहीं है अपितु उनकी सत्ता सिद्ध है क्योंकि कोई भी बहिरंग ज्ञेय पदार्थ वस्तुभूत नहीं है। केवल विज्ञान परमाणु ही परमार्थस्वरूप है। अत: हम योगाचार मत में केवल स्व को जानने वाले एक स्वसंवेदन को ही प्रत्यक्ष मानते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो अंश और अंशी स्वरूप चेतना (ज्ञान) तत्त्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से धर्म-धर्मी रूप चेतना की ही प्रतीति होती है। अन्तरंग सुख, इच्छा, आदि को और बहिरंग नील, पीत आदि को प्रकाश करने वाले केवल अंश ही प्रतीत नहीं है किन्तु साथ में अपने शरीर में व्यापक रूप से रहने वाले महान् सुख आदि अंशी के संवेदन का भी अनुभव होता है, जैसे इन्द्र नीलमणि, माणिक्य, आदि के अनेक प्रदेशों का समुदाय रूप नील, रक्त, आदि प्रकाशों का प्रतिभास होता है अत: बहिरंग और अन्तरंग पदार्थों के ज्ञानों में अंशीपना भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जाना जाता है।

यदि बौद्ध कहें कि विज्ञानों का प्रदेश समुदाय रूप महान् प्रकाश भी भ्रान्तरूप है, अर्थात् घट, पट आत्मा आदि पदार्थों का महान्पना जैसे कोरा कल्पित है, वास्तविक नहीं है वैसे ही विज्ञान के प्रकाश का महान्पना भी भ्रान्त है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि कौनसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण रूप अभ्रान्तसिद्ध है ? सभी स्वसंवेदन तो अंश अंशीरूप होकर अनुभूत हो रहे हैं। कहीं भी प्रमाण ज्ञान के प्रसिद्ध होने पर दूसरे स्थल में वस्तु के नहीं होने पर भ्रान्तज्ञान माना जाता है, सर्वत्र भ्रान्ति होने पर तो प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है। बौद्धों के द्वारा स्वीकृत परमाणुओं का ज्ञान तो होता नहीं है। अत: स्वसंवेदन को और उससे जानने योग्य विज्ञान को वस्तुभूत कैसे सिद्ध कर सकेंगे ?॥१२॥

न हि स्वसंविदिं प्रतिभासमानस्य विज्ञानप्रचयस्य भ्रांततायां किंचित्स्वसंवेदनमभ्रांतं नाम यतस्तदेव प्रत्यक्षं सिद्ध्येत्। विज्ञानपरमाणोः संवेदनं तदितिचेत् न, तस्य सर्वदाप्यप्रवेदनात् । सर्वस्य ग्राह्यग्राहकात्मनः संवेदनस्य सिद्धेः । स्यान्मतं । न बुद्ध्या कश्चिदनुभाव्यो भिन्नकालोस्ति सुप्रसिद्धभिन्नकालाननुभाव्यवत् ।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान अंशीरूप विज्ञान समुदाय को भ्रान्त मानने पर कोई भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भ्रांतिरहित प्रमाणात्मक कैसे हो सकता है जिससे कि योगाचार के द्वारा माना गया वह स्वसंवेदन ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हो सके। क्षणिक विज्ञान के परमाणु का स्वकीय ज्ञान होना ही वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। यह भी कहना उचित नहीं है। उस विज्ञान के परमाणु का सब कालों में वेदन नहीं होता है क्योंकि सभी जीवों को यहाँ ग्राह्य और ग्राहकरूप संवेदन की सिद्धि हो रही है।

शंका : उत्तर क्षण में ज्ञान को उत्पन्न करने वाला पूर्वक्षणवर्ती भिन्न काल में रहने वाला कोई भी पदार्थ बुद्धि के द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं है। जैसे कि सुप्रसिद्ध चिरंतर भूत या भविष्यत् भिन्न कालों में रहने वाले पदार्थ वर्तमान बुद्धि के ज्ञेय नहीं हैं, वैसे ही अव्यवहित, पूर्व समय में रहने वाला जनक पदार्थ भी बुद्धि का ज्ञेय नहीं है (बुद्धि स्वयं बुद्धि को ही जानती रहती है, अन्य को नहीं)। यदि उस पूर्व समय-वर्ती विषय को बुद्धि का कारणपना होने से उसके द्वारा ज्ञेयपना सिद्ध करोगे तो चक्षु, पुण्य-पाप, आदि से व्यभिचार दोष आयेगा क्योंकिं चक्षु, पुण्य, पाप ये विज्ञान के कारण हैं किन्तु इनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अतीन्द्रिय चक्षु और कर्मों के क्षयोपशम को नहीं जान सकता।

अत: ज्ञान का कारणभूत विषय तज्जन्यज्ञान से जाना ही जाता है, यह व्याप्ति बनाना उचित नहीं है। इस दोष को दूर करने के लिए तज्जन्य के साथ अपने आकार को देने में समर्थ ज्ञेय यदि सौत्रान्तिक के द्वारा माना जावेगा अर्थात् इन्द्रियाँ अदृष्टज्ञान की जनक अवश्य हैं, किन्तु ज्ञान में अपने आकारों का समर्पण नहीं करती हैं अत: ज्ञान इनको नहीं जानता है। घट, पट आदिक विषय तो अपने आकारों को ज्ञान के लिए अर्पण कर देते हैं, अत: ज्ञान उन घट आदि को जान लेता है। इस प्रकार अपने आकार को सौंप देने की सामर्थ्य से वह अनुभाव्यपना यदि सिद्ध करते हैं, तो समान अर्थ के अव्यवहित उत्तर कालवर्ती ज्ञान से व्यभिचार आता है, अर्थात् उत्तर कालवर्त्ती पदार्थ भी आकार को अर्पण करने से अनुभाव्य हो जायेंगे अत: सिद्ध होता है कि तज्जन्यपना, तदाकारपना और तदध्यवसायपना ये तीनों मिलकर भी बुद्धि के द्वारा अनुभाव्यपने का नियम नहीं करा सकते हैं। वास्तव में विचारा जाय तो किसी भी क्षणिक परमाणुरूप विज्ञान में उस बुद्धि का कारणपना, आकार देनापना और निर्णय करानापन आदि सब कार्य असिद्ध ही हैं अत: विषयविषयीभाव वास्तविक नहीं है। केवल बुद्धि (विज्ञान) ही एक पदार्थ है।

बुद्धि के आगे पीछे रहने वाले भिन्नकालीन पदार्थ उस बुद्धि के द्वारा अनुभव कराने योग्य नहीं हैं। क्योंकि समान काल में रहने वाले दोनों पदार्थ अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होकर वर्तमान में स्वतन्त्र हैं। ऐसी दशा में किसको विषयरूप कारण कहा जाय और किसको विषयी रूप कार्य कहा जाय ? कार्य को करते समय एक (कारण) स्वतंत्र हो और दूसरा (कार्य) परतन्त्र हो, तब कार्यकारण भाव हो सकता है। सौत्रान्तिकों ने ज्ञाप्यज्ञापक भाव में भी यही व्यवस्था मानी है।

तस्य हेतुत्वेनाप्यनुभाव्यत्वसाधने नयनादिनानेकांतात् । स्वाकारार्पणक्षमेणापि तेन तत्साधने समानार्थसमनंतरप्रत्ययेन व्यभिचारात् तेनाध्यवसायसहितेनापि तत्साधने भ्रांतज्ञानसमनंतरप्रत्ययेनानेकांतात्। तत्त्वतः कस्यचित्तत्कारणत्वाद्यसिद्धेश्च । नापि समानकालस्तस्य स्वतंत्रत्वात्, योग्यताविशेषस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्यासंभवात् तस्याप्यनुभाव्यत्वासिद्धेः । परेण योग्यताविशेषेणानुभाव्यत्वेनवस्थानात्, प्रकारांतरासंभवाच्च । नापि बुद्धेर्ग्राहकत्वेन परोनुभवोस्ति, सर्वथानुभाव्यवदनुभावकस्यासंभवे तदघटनात् ।

किन्तु स्वतन्त्र दोनों के एक काल में विद्यमान होने पर अनुभाव्य अनुभावक भाव नहीं बन सकता है। यदि समान काल वाले पदार्थों में भी किसी दूसरे योग्यता विशेष से अनुभाव्यपना माना जावेगा तो उस योग्यता विशेष का भी उस शुद्ध ज्ञान से अतिरिक्त होना असम्भव है अतः उस योग्यता विशेष को भी अनुभाव्यपना असिद्ध है। यदि इस योग्यता विशेषको दूसरे योग्यताविशेष से अनुभाव्यपना माना जावेगा तब तो अनवस्था दोष आता है अर्थात् बुद्धि में ही अनुभावकपने की योग्यता है, विषय में नहीं और विषय में अनुभाव्यपने की योग्यता है, बुद्धि में नहीं। इसके नियम कराने के लिए पुनः दूसरी योग्यता की आवश्यकता पड़ेगी, इस प्रकार दूसरी योग्यता की व्यवस्था करने के लिए तीसरी विशेष योग्यता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी। यह अनवस्था दोष हुआ।

यह प्रकारान्तर संभव भी नहीं है विशेष यह है कि शुद्ध द्वैतवादियों के यहाँ जब बुद्धि से अतिरिक्त कोई भिन्नकाल या समकाल में रहने वाला पदार्थ ही नहीं माना गया है तो बुद्धि से निराला अनुभव कराने योग्य कौन हो सकता है ? अतः उस योग्यताविशेष की भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

बुद्धि के ग्राहकत्व से अतिरिक्त कोई दूसरा अनुभव भी नहीं है। सर्वथा अनुभाव्य पदार्थ के समान अनुभव करने वाले ज्ञान के असम्भव हो जाने पर वह अनुभव होना घटित नहीं होता है (अर्थात् दो पदार्थों में अनुभाव्य और अनुभावकपना घटित होता है, अकेले शुद्ध ज्ञान में अनुभावक द्वारा अनुभाव्य का अनुभव होता है, इस प्रकार करण, कर्म और क्रिया का विवेचन असम्भव है)।

अतः अकेली शुद्ध बुद्धि ही स्वयं प्रकाशमान होती रहती है। क्योंकि वह ग्राह्य और ग्राहकत्व से रहित है। स्याद्वाद में स्वीकृत ज्ञान में ग्राह्य अंश और ग्राहक अंश हमको इष्ट नहीं है। सो ही कहा है कि बुद्धि के द्वारा उससे भिन्न पदार्थ अनुभव कराने योग्य नहीं है, तथा बुद्धि से भिन्न उसका फल कोई अनुभव भी नहीं है। ग्राह्यभाव और ग्राहक भावों से सर्वथा रहित होने से बुद्धि स्वयं ही अकेली प्रकाशित रहती है (मूल ग्रन्थ में बुद्धि का विशेषण ग्राह्यग्राहक विवेक है। यहाँ विवेक शब्द विचारने अर्थ में प्रसिद्ध विचष्ट् धातु से बनाया जाता है। तब तो जैनों के समान सौत्रान्तिक पण्डित बुद्धि में ग्राह्यग्राहक अंशों को स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु पृथग्भाव अर्थ को कहने वाली 'विचिर्' धातु से विवेक शब्द को बनाकर वैभाषिक बौद्ध बुद्धि में ग्राह्य ग्राहक अंशों का अभाव मानते हैं)। जैनाचार्य ज्ञान को सांश सिद्ध करने के लिए कहते हैं। बौद्धों की कारिका में से ही एव के स्थानों में न को रखकर एक अक्षर का परिवर्तन कर आचार्य बौद्धमत के निराकरण करने के लिए सार्थ वार्तिक कहते हैं कि बुद्धि के द्वारा कोई ज्ञेयरूप अनुभाव्य नहीं है और बुद्धि को कोई पृथक् अनुभव रूपी फल नहीं है। ऐसी दशा में ग्राह्यग्राहक भावों से रिक्त होने के कारण वह बुद्धि स्वयं कभी प्रकाशमान नहीं हो सकती ह किन्तु तीनों अंशों से तदात्मक बुद्धि सदा प्रकाशित रहती है।

ततो बुद्धिरेव स्वयं प्रकाशते ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् । तदुक्तं । "नान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपर:। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥" इति ॥ अत्रोच्यते;—

नान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोपर:। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

न हि बुद्ध्यान्योनुभाव्यो नास्ति संतानांतरस्याननुभाव्यत्वानुषंगात्। कुतश्चिदवस्थितेरयोगात्। तदुपगमे च कुत: स्वसंतानसिद्धि: ? पूर्वोत्तरक्षणानां भावतोननुभाव्यत्वात्। स्यादाकूतं । यथा वर्तमानबुद्धि: स्वरूपमेव वेदयते न पूर्वामुत्तरां वा बुद्धिं संतानांतरं बहिरर्थं वा। तथातीतानागता च बुद्धिस्तत: स्वसंविदित: स्वसंतान: स्वसंविदितक्रमवर्त्यनेकबुद्धिक्षणात्मकत्वादिति । तदसत् । वर्तमानया बुद्ध्या पूर्वोत्तरबुद्ध्योरवेदनात् स्वरूपमात्रवेदित्वानिश्चयात् । ते चानुमानबुद्ध्या वेद्येते । स्वरूपमात्रवेदिन्यावित्यप्यसारं ।

आज तक किसी को भी ग्राह्य, गाहक, ग्रहीति अंशों से रहित बुद्धि का प्रतिभास नहीं हुआ है। अत: बुद्धि के द्वारा अनुभाव्य (ग्राह्य) का प्रकाश ग्रहीति होना मान लेना चाहिए अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य पदार्थ पृथक् है। उनका अनुभव भी बुद्धि से कथंचित् भिन्न है। ग्राह्य ग्राहक स्वभावों से सहित बुद्धि सदा प्रकाशित होती है।।१३।।

बुद्धि के द्वारा कोई अन्य विषय अनुभव कराने योग्य नहीं है, यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर सन्तान से अतिरिक्त दूसरी सन्तानों को अनुभव में नहीं प्राप्त होने का प्रसंग आता है। बुद्धि के अतिरिक्त किसी भी अन्य उपाय से दूसरे संतानों की व्यवस्था नहीं हो सकती है। बुद्धि के द्वारा अन्य सन्तानों को नहीं जानने योग्यपने को स्वीकार करने पर स्व संतान की सिद्धि भी कैसे हो सकती है ? क्योंकि अन्य संतानों के समान अपने संतान के पूर्वोत्तर क्षणों में होने वाले क्षणिक परिणामों को भी वास्तविक रूप से अनुभाव्यपना नहीं है अर्थात् बुद्धि स्वकीय पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती परिणामों (पर्यायों) को प्रकाशित नहीं करती है इसलिए बुद्धि के द्वारा ज्ञेय न होने के कारण अन्य संतानों का जैसे अभाव कर दिया जाता है, वैसे स्वसंतान का भी अभाव हो जायेगा और न एक समयवर्त्ती पर्याय ही सिद्ध हो सकेगी।

शंका : जैसे वर्तमान कालीन बुद्धि स्वस्वरूप का ही वेदन करती है, पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती स्वकीय बुद्धि रूप परिणामों (पर्यायों) का तथा अन्य संतानों का अथवा घट, पट आदि बहिरंग अर्थों का ज्ञान नहीं कराती है (क्योंकि ज्ञेय पदार्थों के काल में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है और ज्ञान काल में ज्ञेय नहीं रहते हैं)। इसी प्रकार भूत और भावी काल में परिणत बुद्धि स्वकीय क्षणवर्त्ती स्वरूप को ही जान सकती है।

इसलिए स्वकीय ज्ञान धारा रूप सन्तान तो स्वसंवेदन के द्वारा जानने योग्य है क्योंकि वह स्वसंतान स्वसंवेदन से ज्ञात और क्रम-क्रम से होने वाले बुद्धि के क्षणिक परिणामों का समुदाय है अत: अपनी ज्ञानधारा तो बुद्धि के द्वारा अनुभाव्य है।

समाधान : इस प्रकार बौद्ध के द्वारा स्वसंतान की सिद्धि कर देने पर जैनाचार्य कहते हैं-बौद्धों का यह कथन प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वर्तमान कालीन बुद्धि के द्वारा पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती बुद्धि क्षणों का ज्ञान नहीं हो सकता है।

वह बुद्धि केवल स्वरूप को ही जानती है इसका निश्चय नहीं है अर्थात् क्षणसमयवर्त्ती बुद्धि द्वारा स्वकीय वेदन जानने योग्य है, ऐसा कैसे जाना जा सकता है ?

अनुमान रूपी बुद्धि के द्वारा पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती बुद्धि क्षणों का ज्ञान कर लिया जाता है। और वह

संतानांतरसिद्धिप्रसंगात्। तथा च संतानांतरं स्वसंतानश्चानुमानबुद्ध्यानुभाव्यो न पुनर्बहिरर्थ इति कुतो विभागः सर्वथाविशेषाभावात् । विवादापन्ना बहिरर्थबुद्धिरनालंबना बुद्धित्वात् स्वप्नादिबुद्धिवदित्यनुमानाद्बहिरर्थोननुभाव्यो बुद्ध्या सिद्ध्यति न पुनः संतानांतरं । स्वसंतानश्चेति न बुद्ध्यामहे, स्वप्नसंतानांतरस्वसंतानबुद्धेरनालंबनत्वदर्शनादन्यथापि तथात्वसाधनस्य कर्तुं शक्यत्वात् । बहिरर्थग्राह्यतादूषणस्य च संतानांतरग्राह्यतायां समानत्वात् तस्यास्तत्र कथंचिद्दूषणत्वे बहिरर्थग्राह्यतायामप्यदूषणत्वात् कथं ततस्तत्प्रतिक्षेप इत्यस्त्येव बुद्ध्यानुभाव्यः। एतेन बुद्धेर्बुद्ध्यंतरेणानुभवोपि परोस्तीति निश्चितं ततो न ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं बुद्धिरेव प्रकाशते। माभूत् संतानांतरस्य स्वसंतानस्य वा

क्षणिक बुद्धि केवल स्व को ही जानती है। इस प्रकार बौद्धों का कथन भी निस्सार है क्योंकि इस प्रकार मानने पर स्वसंतान के समान अन्य संतानों के भी सिद्धि होने का प्रसंग आता है।

तथा अनुमान ज्ञान से अन्य संतान और स्वसंतान को अनुभव कराने योग्य स्वीकार किया जाय और बहिरंग अर्थ को ज्ञेय नहीं माना जाय, इस प्रकार का विभाग कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि स्वसन्तान, पर संतान और बाह्य ज्ञेय पदार्थों में अनुमान से जानने की योग्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। बौद्ध कहते हैं-

"विवाद में प्राप्त हुई बहिरंग अर्थों को जानने वाली बुद्धि स्वकीय जानने योग्य विषय रूप आलम्बन से रहित है (साध्य)। क्योंकि वह बुद्धि है (हेतु), जैसे स्वप्नावस्था में होने वाली बुद्धि अपने विषयभूत अर्थों से रहित है। इस अनुमान से बहिरंग अर्थ तो बुद्धि द्वारा अनुभव में नहीं आने योग्य सिद्ध किया जाता है किन्तु दूसरे संतान और पूर्वोत्तर क्षण में होने वाली स्वसंतान को जानने वाली बुद्धियाँ आलम्बन रहित हैं ऐसा नहीं कहा जाता है। जैनाचार्य कहते कि हम नहीं समझते हैं कि ऐसी पक्षपात की कृति में क्या रहस्य हैं ? क्योंकि स्वप्न, अन्य सन्तान और स्व संतान को जानने वाली बुद्धि के निर्विषयपना दृष्टिगोचर होने से अन्य जागृत आदि अवस्था में भी वस्तुभूत स्व पर संतानों के ज्ञान को भी उसी प्रकार निर्विषयपना सिद्ध करना शक्य हो सकता है, तथा बहिरंग अर्थ की ग्राह्यता में दिये गये दूषण का सन्तानान्तर के ग्राह्यपने में भी समानता है अर्थात् सन्तानान्तर के जानने में भी दूषण आता है। क्योंकि जैसे क्षणिक बुद्धि केवल अपने स्वरूप को ही जानती है बहिरंग अर्थ को नहीं जानती है, इसलिए बहिरर्थ का ग्राह्यपना यदि कथंचित् दूषण सहित है तो वह संतानान्तर भी तो बहिर्भूत अर्थ है। यदि उस सन्तानान्तर के ग्राह्यपने में उस बहिरर्थ की ग्राह्यता में दूषण नहीं है तो बहिरर्थ की ग्राह्यता में भी बुद्धि से बहिर्भूत अर्थ का जान लेना भी दूषित नहीं होगा।

तथा ऐसा होने पर नील परमाणु आदि बहिर्भूत अर्थों का निराकरण आप कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् नहीं कर सकते अतः बुद्धि के द्वारा सन्तानान्तर या बहिर्भूत अर्थ अवश्य ही अनुभव कराने योग्य हैं। इस प्रकार बौद्ध कथित कारिका के "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति" इस प्रथम पाद का खण्डन किया गया है।

इस पूर्वोक्त कथन से यह भी निश्चित हो चुका है कि दूसरी बुद्धि से प्रकृत बुद्धि का अनुभव भी पृथक् है अर्थात् स्वयं बुद्धि से अपना अनुभव भी कथंचित् भिन्न है, जैसे अग्नि की दाहकत्व शक्ति से दाह

व्यवस्थितिर्बहिरर्थवत्संवेदना। द्वैतस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकेन स्वयं प्रकाशनादित्यपरः । तस्यापि सन्तानान्तराद्यभावोऽनुभाव्यः , संवेदनस्य स्यादन्यथा तस्याद्वयस्याप्रसिद्धेः। स्वानुभवनमेव संतानांतराद्यभावानुभवनं संवेदनस्येति च न सुभाषितं, स्वरूपमात्रसंवेदनस्यैवासिद्धिः । न हि क्षणिकानंशस्वभावं संवेदनमनुभूयते, स्पष्टतयानुभवनस्यैव क्षणिकत्वात्। क्षणिकं वेदनमनुभूयत एवेति चेत् न, एकक्षणस्थायित्वस्याक्षणिकत्वस्याभिधानात् । अथ स्पष्टानुभवनमेवैकक्षणस्थायित्वं अनेकक्षणस्थायित्वे तद्विरोधात् । तत्र तदविरोधे वानाद्यनंतस्पष्टानुभवप्रसंगात्। तथा चेदानीं स्पष्टं वेदनमनुभवामीति प्रतीतिर्न

परिणाम कथंचित् भिन्न है। उसी प्रकार करण स्वरूप बुद्धि से भाव रूप अनुभव किसी अपेक्षा भिन्न है अत: ग्राह्य और ग्राहक अंशों से रिक्तपने स्वरूप से स्वयं बुद्धि ही प्रकाशित होती है, ऐसा नहीं है। इसका सारांश यह है कि विषय के साथ बुद्धि स्वयं अपने को भी उसी समय जान लेती है। इसलिए संवेद्य, संवेदक और संवेदन तीनों अंश एक साथ ज्ञान (बुद्धि) में प्रतिबिम्बित होते हैं।

अपर (शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी) कहते हैं कि बहिरंग अर्थ के समान अन्य संतानों की और अपने संतानों की भी व्यवस्था भले ही नहीं होवे, यह हमको इष्ट है, होना इष्ट नहीं है। क्योंकि ग्राह्य ग्राहक भाव के आकारों से पृथग्भाव करके अकेले संवेदनाद्वैत का स्वयं प्रकाश हो रहा है। अर्थात् ''विचिर् पृथग्भावे'' विचिर् धातु से निष्पन्न विवेक शब्द का अर्थ पृथग्भाव है और ''विचिलृ विचारणे'' धातु से निष्पन्न विवेक शब्द का अर्थ जानना है अत: यहाँ पृथग्भाव अर्थ इष्ट है।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस बौद्ध सिद्धान्त के भी अन्य संतान, आदि का अभाव तो संवेदन के द्वारा अवश्य अनुभव कराने योग्य है अन्यथा (यदि सन्तानान्तर आदि के अभाव को यदि ज्ञेय नहीं माना जाएगा तो) सन्तानान्तर आदि की सत्ता सिद्ध हो जाने से अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अपने स्वरूप का अनुभव करना ही संवेदन का सन्तानान्तर आदि के अभाव का अनुभव करना है अर्थात्-संवेदन से अभाव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है-जो कि अनुभाव्य हो। संवेदनाद्वैत का यह कथन भी सुभाषित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर केवल स्वरूप का वेदन करने वाले संवेदन की सिद्धि भी नहीं है और न क्षणिक निरंश स्वभाव वाले संवेदन का अनुभव भी होता है।

स्पष्ट ज्ञान क्षणिक पदार्थ का ही होता है। स्पष्ट रूप से अपना अनुभव हो जाना ही क्षणिकपना है, इसलिए एक क्षणवर्त्ती अद्वैत संवेदन का अनुभव हो रहा है ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि एक क्षण स्थित रहने का अर्थ ही अक्षणिकत्व का अभिधान है अर्थात् एक क्षण स्थित को ही अक्षणिक कहते हैं।

क्षणवर्ती ज्ञान, पदार्थ, संवेदन आदि बौद्धमत का खण्डन

अथवा स्पष्ट का अनुभव होना ही एक क्षण स्थायित्व है। उस ज्ञान को अनेक क्षण स्थायी मानना विरुद्ध है। यदि पुन: अनेक क्षण स्थायी का भी स्पष्ट अनुभव होने में विरोध नहीं मानोगे तो अनादिकाल से अनन्त काल तक के ज्ञान क्षणों का स्पष्ट रूप से अनुभव होने का प्रसंग आयेगा, अर्थात् सभी त्रिकाल-दर्शी हो जायेंगे, तथा इस समय मैं क्षण मात्र स्थित स्पष्ट संवेदन का अनुभव कर रहा हूँ, इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार बौद्ध का कथन भी असत् है (प्रशंसनीय नहीं है) क्योंकि यदि ज्ञान को

स्यादितिमतं । तदसत् । क्षणिकत्वे वेदनस्येदानीमनुभवामीति प्रतीतौ पूर्वं पश्चाच्च तथा प्रतीतिविरोधात्। तदविरोधे वा कथमनाद्यनंतरसंवेदनसिद्धिर्न भवेत् । सर्वदेदानीमनुभवामीति प्रतीतिरेव हि नित्यता सैव च वर्तमानता तथाप्रतीतेर्विच्छेदाभावात् । ततो न क्षणिकसंवेदनसिद्धिः। इदानीमेवानुभवनं स्पष्टं न पूर्वं न पश्चादिति प्रतीतेः क्षणिकं संवेदनमितिचेत्, स्यादेवं यदि पूर्वं पश्चाद्वानुभवस्य विच्छेदः सिंद्ध्येत् । न चासौ प्रत्यक्षतः सिद्ध्यति तदनुमानस्य वैफल्यप्रसंगात्, पश्यन्नपीत्यादिग्रंथस्य विरोधात् । प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पादिदानीमनुभवनं ममेति निश्चयान्नोक्तग्रंथविरोधः। तद्बलादिदानीमेवेत्यनिश्चयाच्च नानुमाने नैष्फल्यं ततस्तथा निश्चयादिति चेत्, नैतत्सारं । प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्येदानीमनुभवो मे न पूर्वं पश्चाद्वेति विधिनिषेधविषयतयानुत्पत्तौ वर्तमानमात्रानुभवव्यवस्थापकत्वायोगात्। पश्यन्नपीत्यादिविरोधस्य

सर्वथा क्षणिक स्वीकार करते हैं तो "इस समय मैं अनुभव कर रहा हूँ" इस प्रकार की प्रतीति में वा पूर्व उत्तर काल में इस प्रकार की प्रतीति होने का विरोध आता है। यदि क्षणिक होते हुए भी पूर्वोत्तर काल में स्पष्ट अनुभव होने में कोई विरोध नहीं है, ऐसा मानते हो तो अनादि अनन्त संवेदन की सिद्धि कैसे नहीं होगी ? तथा इस समय वर्तमान काल में 'मैं अनुभव कर रहा हूँ' इस प्रकार निरंतर प्रतीति होते रहना ही नित्यत्व है और वही वर्तमानपना है, क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति के विच्छेद का अभाव है। इसलिए क्षणिक संवेदना की सिद्धि नहीं है।

बौद्ध कहता है कि इस समय वर्तमान काल में ही स्पष्ट अनुभव हो रहा है, पूर्व और पश्चात् (भूत और भविष्यत्) का नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति से क्षणिक संवेदन ही होता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का बौद्ध का कथन तो तब सिद्ध हो सकता है कि यदि स्पष्ट अनुर्भव का पूर्वोत्तर काल के परिणामों से व्यवधान सिद्ध हो जाता है, किन्तु वह व्यवधान प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो रहा है, ऐसी दशा में मध्यवर्ती अकेले क्षणिक ज्ञान का स्पष्ट अनुभव कैसे माना जा सकता है? यदि अन्तराल प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, तो अनुमान के निष्फलता का प्रसंग आता है। तथा "पश्यन्नपि न पश्यति" देखता हुआ भी नहीं देख रहा है अर्थात् भूत और भविष्यत् क्षणों के अन्तराल को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी नहीं देखता है" बौद्ध के इस ग्रन्थ वाक्य का विरोध भी आता है।

यदि कहो कि प्रत्यक्ष ज्ञान के पृष्ठभावी विकल्प ज्ञान से "इस समय मुझ को स्पष्ट अनुभव है" इस प्रकार निश्चय हो जाता है, अतः उक्त ग्रन्थ में विरोध नहीं आता है तथा उस प्रत्यक्ष और विकल्प के सामर्थ्य से "इसी समय अनुभव है" ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं होता है- अतः अनुमान में भी निष्फलता नहीं है क्योंकि "इस समय मुझे अनुभव हो रहा है" इस प्रकार का निश्चय अनुमान से होता है। जैनाचार्य कहते हैं कि यह बौद्ध का कथन सार रहित है क्योंकि प्रत्यक्ष का पृष्ठभावी विकल्प ज्ञान "इस समय मुझको स्पष्ट अनुभव हो रहा है, पूर्वोत्तर क्षणों का स्पष्ट अनुभव नहीं है" इस प्रकार के विधि और निषेध को विषय करता हुआ संवेदन ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है इसलिए केवल वर्तमान कालीन संवेदन की व्यवस्था करने का अयोग है अर्थात् संवेदन केवल वर्तमान को ही जानता है यह नियम घटित नहीं होता है।

तदवस्थत्वादन्यथा सर्वत्रेदमुपलभे नेदमुपलभेहमिति विकल्पद्वयानुत्पत्तावपि दृष्टव्यवहारप्रसंगात्। तदन्यव्यवच्छेदविकल्पाभावेपीदानीं तेनानुभवननिश्चये तदेवानुमाननैष्फल्यमिति यत्किंचिदेतत्। एतेनानुमानादनुभवस्य पूर्वोत्तरक्षणव्यवच्छेदः सिद्ध्यतीति निराकृतं स्वतस्तेनाध्यक्षतो व्याप्तेरसिद्धेः, परतोनुमानात् सिद्धावनवस्थाप्रसंगात्। विपक्षे बाधकप्रमाणबलाद्व्याप्तिः सिद्धेतिचेत् । किं तत्र बाधकं प्रमाणं? न तावदध्यक्षं तस्य क्षणिकत्वनिश्चायित्वेनाक्षणिकत्वे बाधकत्वायोगात् । नाप्यनुमानं क्षणिकत्वविषयं

"तथा देखता हुआ भी नहीं देख रहा हूँ" इत्यादि ग्रन्थ वाक्य का विरोध वैसे का वैसा ही अवस्थित रहेगा अन्यथा सर्वत्र मैं इसको प्राप्त कर रहा हूँ देख रहा हूँ इसको प्राप्त नहीं कर रहा हूँ, इसको नहीं देख रहा हूँ, इस प्रकार दो विकल्पों के उत्पन्न न होने पर भी प्रत्यक्ष किये गये पदार्थों के निश्चय कराने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् जैसे इतर पदार्थों का निषेध करने पर ही प्रकृत पदार्थों का निर्णय होता है-वैसे ही पूर्वोत्तर क्षणों का निषेध करने पर ही मध्यवर्त्ती परिणामों का अवधारण हो सकता है।

यदि उन पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती ज्ञान क्षणों के अन्तराल का विकल्प नहीं होने पर भी वर्तमान क्षण में उस विकल्प के द्वारा केवल संवेदन के अनुभव का निश्चय कर लिया जाता है तो वही अनुमान ज्ञान की निष्फलता है इसलिए सौगत के कथन में कोई सार नहीं है। *(व्यर्थ का बकवाद है)।*

इस उपर्युक्त अनुमान के द्वारा "अनुभव के पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती परिणामों के व्यवधान की सिद्धि होती है" इसका भी निराकरण कर दिया है, क्योंकि अनुमान में व्याप्ति की आवश्यकता होती है।

परन्तु स्वतः इस साध्य के साथ हेतु की प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से व्याप्ति की असिद्धि है, अर्थात् सत्त्व आदि हेतुओं के साथ रहने वाला क्षणों का मध्यवर्त्ती अन्तराल प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। तथा व्याप्ति सर्व देश और काल में रहने वाली है और प्रत्यक्ष सर्वदेश काल में नहीं रहता है।

दूसरे अनुमान (दूसरों के द्वारा कथित अनुमान) से पूर्वोत्तर क्षण के मध्यवर्त्ती अन्तराल रूप साध्य की सिद्धि करने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है अर्थात् उस अनमान को सिद्ध करने के लिए व्याप्ति की आवश्यकता होती है।

यदि कहो कि विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से व्याप्ति सिद्ध हो जाती है, तो वह बाधक प्रमाण क्या है ? उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो बाधक हो नहीं सकता क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्त में प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिकत्व का निश्चय करता है, अतः उसके अक्षणिकत्व में बाधा देने का अयोग है।

क्षणिकत्व को विषय करने वाला अनुमान ज्ञान भी विपक्ष में बाधक प्रमाण नहीं है क्योंकि, स्वयं अनुमान में पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती मध्यम अन्तराल की व्याप्ति असिद्ध है। पूर्वोत्तर क्षण के मध्यवर्त्ती व्यवधान को सिद्ध करने वाले प्रथम अनुमान से इस क्षणिकत्व सिद्ध करने वाले अनुमान की व्याप्ति सिद्ध करोगे तो 'अन्योऽन्याश्रय' दोष आयेगा क्योंकि विपक्ष में हेतु के सद्भाव का बाधक अनुमान की उत्थापक व्याप्ति

तस्यासिद्धव्याप्तिकत्वात्। प्रथमानुमानात्तद्व्याप्तिसिद्धौ परस्पराश्रयणात्। सति सिद्धव्याप्तिके विपक्षे बाधकेनुमाने प्रथमानुमानस्य सिद्धव्याप्तिकत्वं तत्सिद्धौ च तत्सद्भाव इति। विपक्षे बाधकस्यानुमानस्यापि परस्माद्विपक्षे बाधकानुमानाद्व्याप्तिसिद्धौ सैवानवस्था। एतेन व्यापकानुपलंभात् सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन व्याप्तिं साधयन् निक्षिप्तः। सत्त्वमिदमर्थक्रियाया व्याप्तं साधनं क्रमयौगपद्याभ्यां, ते चाक्षणिकाद्विनिवर्तमानेर्थक्रियां स्वव्याप्यां निवर्तयतः। सापि निवर्तमाना सत्त्वं। ततस्तीरादर्शिशकुनिन्यायेन क्षणिकत्व एव सत्त्वमवतिष्ठत इति हि प्रमाणांतरं क्रमयौगपद्ययोरर्थक्रियया तस्याश्च सत्त्वेन व्याप्यव्यापकभावस्य सिद्धौ सिद्ध्यति। तस्य बाध्यक्षतः सिद्ध्यसंभवेऽनुमानांतरादेव सिद्धौ कथमनवस्था न स्यात्? तत्सिद्धावपि नाक्षणिके क्रमयौगपद्ययोर्निवृत्तिः

के सिद्ध हो जाने पर प्रथम अनुमान की व्याप्ति सिद्ध होती है और व्याप्ति सिद्ध प्रथम अनुमान के सिद्ध हो जाने पर उसकी व्याप्ति का सद्भाव सिद्ध होता है।

विपक्ष में बाधक अनुमान की व्याप्ति का निर्णय भी यदि विपक्ष में बाधक दूसरे अनुमान से सिद्ध करोगे तो अनवस्था दोष आता है। (जहाँ व्यापक नहीं है वहाँ व्याप्य नहीं रह सकता। जैसे वृक्ष के न रहने पर शीशम नहीं रह सकता अत: अक्षणिकरूप विपक्ष में अर्थक्रिया और क्रम तथा यौगपद्य रूप व्यापकों के न दीखने से व्याप्य रूप सत्त्व भी नहीं दीखता है) अत: सत्त्व हेतु की अक्षणिक के साथ व्याप्ति का अभाव होने से क्षणिक के साथ सत्त्व हेतु की व्याप्ति को सिद्ध करने वाले बौद्ध का इस उक्त कथन से निराकरण हो जाता है।

''यह सत्त्व अर्थक्रिया से व्याप्त है और वह अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्य के साथ व्याप्त है। तथा वे क्रम और यौगपद्य यदि अक्षणिक पदार्थ से निवृत्त होते हैं तो अपने में व्याप्य अर्थक्रिया को भी निवृत्त कर लेता है और निवृत्त होती हुई अर्थक्रिया भी अपने व्याप्य सत्त्व को हटा लेती है अर्थात् अर्थक्रिया सत्त्व पदार्थ में होती है, परन्तु नित्य पदार्थ में नहीं अपितु क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया होती है। अर्थक्रिया के न होने पर सत्त्व पदार्थ का अभाव हो जाता है। इसलिए तीर को नहीं देखने वाले पक्षी के अनुसार सत्त्व हेतु क्षणिकत्व के होने पर ही अवस्थित रहता है।

भावार्थ : जैसे नौका के ऊपर स्थित पक्षी को नौका ही शरण है-अन्य कोई उपाय नहीं है उसी प्रकार अर्थक्रियाकारक पदार्थों के क्षणिकपना ही शरण है। इस प्रकार सौगत के कथनानुसार व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण देना तब सिद्ध होता है जबकि क्रम और यौगपद्य का अर्थक्रिया के साथ और अर्थक्रिया का सत्त्वके साथ व्याप्य व्यापक भाव सिद्ध हो जाता है परन्तु अर्थक्रिया की सत्त्व के साथ व्यापक, व्याप्य भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सिद्धि होना असंभव है।

यदि अर्थक्रिया के साथ होने वाले सत्त्व के साथ व्याप्य व्यापक भाव अनुमानान्तर से सिद्ध किया जाता है तो अनवस्था दोष कैसे नहीं आता है, अवश्य आता है, अर्थात् अनुमान प्रमाणों की प्रवृत्ति व्याप्ति

सिद्धा शश्वदविच्छिन्नात्मन्येवानुभवेऽनेककालवर्तित्वलक्षणस्य क्रमस्योपपत्तेर्यौगपद्यस्य वाविच्छिन्नानेकप्रतिभासलक्षणस्य तत्रैव भावात् सुखसंवेदने प्राच्यदु:खसंवेदनाभावान्नाविच्छिन्नमेकं संवेदनं यदनाद्यनंतकालवर्तितया क्रमवत् स्यादितिचेन्न, सुखदु:खाद्याकाराणामनाद्यविद्योपदर्शितानामेव विच्छेदात्। एतेन नानानीलपीतादिप्रतिभासानां देशविच्छेदाद्युगपत्सकलव्यापिनोनुभवस्याविच्छेदाभाव: प्रत्युक्त:, तत्त्वतस्तद्वद्विच्छेदाभावात्। ततो न क्षणिकमद्वयं संवेदनं नाम तस्य व्यापि नित्यस्यैव प्रतीतिसिद्धत्वात्।

के बिना नहीं होती है और व्याप्य, व्यापक भाव को सिद्ध करने के लिए पुन: दूसरे अनुमान की आकांक्षा होने पर अनवस्था दोष होगा ही।

तथा व्याप्य-व्यापक भाव के सिद्ध हो जाने पर भी अनेक क्षणों तक रहने वाले अक्षणिक में क्रम और युगपत् होने वाली अर्थक्रिया की निवृत्ति (अभाव) सिद्ध नहीं है, क्योंकि शाश्वत (निरंतर) अविच्छिन्न रूप वस्तु में अनुभव ज्ञान के द्वारा अनेक कालों में रहने वाले क्रम का और अविच्छिन्न स्वरूप अनेक प्रतिभास कराने रूप युगपत् का भी अस्तित्व पाया जाता है।

भावार्थ : मनुष्य पर्याय रूप आत्म द्रव्य के अनेक काल तक रहने पर बालक, युवा, वृद्धावस्था का क्रम घटित हो सकता है और आत्मा के स्थिर रहने पर ही क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, ज्ञान आदि परिणामों का युगपत् होना सिद्ध हो सकता है। **निरन्वय नाश होने वाले द्रव्य में क्रमिक और यौगपद्य क्रिया नहीं हो सकती।**

सुख का वेदन करते समय पूर्वकालीन दु:ख के वेदन का अभाव है अर्थात् सुख के अनुभव में दु:ख का अनुभव नहीं होता है। इसलिए अविच्छिन्न रूप से एक संवेदन नहीं होता है, जो अनादि अनन्त काल वर्ती होकर क्रम सहित हो सकता हो ? ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अनादि कालीन अविद्या के द्वारा उपदर्शित (दृष्टिगोचर होने वाले) सुख, दु:ख आदि आकारों का (विकल्पों का) उच्छेद हो जाता है अर्थात् सुख में दु:ख का तथा तीव्र कषाय में मन्द कषाय का अनुभव नहीं होता है तथापि प्रतिभास रूप सन्तति का अभाव नहीं होता है। अविच्छिन्न रूप से संतति चलती रहती है। द्रव्य का उच्छेद नहीं होता है।

इस कथन से "अनेक नील पीतादि प्रतिभासों का देश से व्यवधान होने के कारण एक समय में ही सम्पूर्ण संवेदनों में व्यापक रहने वाले अनुभव का अविच्छिन्नपना नहीं है" इसका भी खण्डन कर दिया है क्योंकि परमार्थ रूप से उस प्रकाशरूप संवित्ति का विच्छेद नहीं होता है। उसके विच्छेद का अभाव है अर्थात् एक द्रव्य के क्रम से होने वाले परिणामों में और एक साथ होने वाले परिणामों में ध्रौव्य रूप अन्वय बने रहने के कारण कालान्तर स्थायी पदार्थों में ही क्रम और यौगपद्य अर्थक्रिया घटित हो सकती है। कूटस्थ नित्य और क्षणिक पदार्थों में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। इसलिए एक क्षण में ही नष्ट हो जाने वाली शुद्ध अद्वैत संवेदन वस्तु नहीं है किन्तु अनेक आकारों में व्यापने वाले तथा अनेक समय तक रहने वाले नित्य पदार्थ के संवेदन की प्रतीति होती है, अर्थात् नित्य ही प्रतीति प्रसिद्ध है।

तदेवास्तु ब्रह्मतत्त्वमित्यपरस्तं प्रत्याह;—

यत्र प्रकाशसामान्यं सर्वत्रानुगमात्मकम् । तत्प्रकाशविशेषाणामभावे केन वेद्यते ॥ १४ ॥

केनचिद्विशेषेण शून्यस्य संवेदनस्यानुभवेपि विशेषांतरेणाशून्यत्वान्न सकलविशेषविरहितत्वेन कस्यचित्तदनुभव: खरशृंगवत् ॥

नात्र संवेदनं किंचिदनंशं बहिरर्थवत् । प्रत्यक्षं बहिरंतश्च सांशस्यैकस्य वेदनात् ॥ १५ ॥

यथैव क्षणिकमक्षणिकं वा नानैकं वा बहिर्वस्तु नानंशं तस्य क्षणिकेतरात्मनो नानैकात्मनश्च साक्षात् प्रतिभासनात् तथांत:संवेदनमपि तदविशेषात् ॥

स्वांशेषु नांशिनो वृत्तौ विकल्पोपात्तदूषणम् । सर्वथार्थान्तरत्वस्याभावादंशांशिनोरिह ॥ १६ ॥

तादात्म्यपरिणामस्य तयो: सिद्धे: कथंचन। प्रत्यक्षतोनुमानाच्च न प्रतीतिविरुद्धता ॥ १७ ॥

सर्वथा क्षणिक रूप विज्ञानाद्वैत मानने वाले बौद्धों का खण्डन कर देने पर ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि "नित्य और एक चैतन्य ही परम ब्रह्म है" उसके प्रति आचार्य कहते हैं-

जो अविच्छिन्नरूप से सर्वत्र रहने वाला, चैतन्य रूप प्रतिभास है, वह सामान्य प्रतिभास विशेषण के अभाव में किससे जाना जा सकता है **अर्थात् कोई भी पदार्थ विशेष रहित सामान्य रूप से प्रतिभासित नहीं होता है** अत: चित्सामान्य का ज्ञान नहीं हो सकता ॥१४॥

किसी एक विशेष से सर्वथा रहित संवेदन का अनुभव हो जाने पर भी वह वस्तु अन्य विशेषों से शून्य नहीं है क्योंकि गधे के सींग के समान सकल विशेष से रहित किसी भी पदार्थ का समीचीन अनुभव नहीं हो रहा है।

इस जगत् में बाह्य घटादि पदार्थ के समान कोई संवेदन अंश रहित नहीं है, क्योंकि बहिरंग घटादि और अन्तरंग ज्ञान सुखादि दोनों ही पदार्थों का अंश सहित प्रत्यक्ष वेदन होता है। निरंश पदार्थ का वेदन (ज्ञान) नहीं हो रहा है ॥१५॥

जिस प्रकार पर्यायार्थिक नय से क्षणिक और नाना रूप तथा द्रव्यार्थिक नय से अक्षणिक (नित्य) और एक रूप बहिरंग वस्तु अंश रहित नहीं है, क्योंकि नित्य-अनित्य, एक और अनेक रूप से बहिरंग वस्तु का प्रत्यक्ष प्रतिभास (ज्ञान) हो रहा है उसी प्रकार अंतरंग संवेदन (सुख दु:ख का अनुभव) भी अनंश (अंश रहित) नहीं है क्योंकि अंतरंग और बहिरंग पदार्थों में प्रतीति की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है।

स्याद्वाद सिद्धान्त में अंशी (पदार्थ) का स्वकीय अंशों में तादात्म्य रूप से वृत्ति करने में (रहने में) एकान्तवादियों के द्वारा विकल्प से गृहीत दूषण नहीं आ सकते हैं, **क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में अंश और अंशी में सर्वथा अर्थान्तरत्व (भिन्नत्व) का अभाव है** ॥१६॥

उन अंश और अंशी के कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध नामक परिणाम की प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सिद्धि हो जाना प्रतीति विरुद्ध नहीं है अर्थात् वृक्ष रूप अवयवी में शाखा रूप अवयव की कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध प्रतीति सिद्ध है ॥१७॥ अर्थात् सर्व अतरंग, बहिरंग पदार्थ अंश सहित ही दृष्टिगोचर होते हैं।

स्वांशेष्वंशिनः प्रत्येकं कार्त्स्न्येन वृत्तौ बहुत्वमेकदेशेन सावयवत्वमनवस्था चेति न दूषणं सम्यक्त्वस्य स्वांशेभ्यो भिन्नस्यानभ्युपगमात् । कथंचित्तादात्म्यपरिणामस्य प्रसिद्धेस्तस्यैव समवायत्वेन साधनात् । नवांशांशिनोस्तादात्म्यात्तादात्म्ये विरुद्धे प्रत्यक्षतस्तथोपलंभाभावप्रसंगात् । न च तथोपलंभोनुमानेन बाध्यते तस्य तत्साधनत्वेन प्रवृत्तेः । तथाहि-ययोर्न कथंचित्तादात्म्यं तयोर्नांशांशिभावो यथा सह्यविन्ध्ययोः, अंशांशिभावश्चावयवावयविनोर्धर्मधर्मिणोर्वा स्वेष्टयोरिति नैकांतभेदः । तदेवं परमार्थतोंशांशिसद्भावात्सूक्तं वस्त्वंश एव तत्र च प्रवर्तमानो नयः । स्वार्थैकदेशव्यवसायफललक्षणो नयः प्रमाणमिति कश्चिदाह;—

यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता। तथांशेष्वपि किं न स्यादिति मानात्मको नयः॥१८॥

"स्वकीय अंशों में अंशी की पूर्ण रूप से वृत्ति मानने पर जितने अंश हैं उतने प्रत्येक अंशी हो जाते हैं अर्थात् अंश के समान अंशी भी बहुत हो जायेंगे। अंशी को अंश के साथ एकदेश रूप सम्बन्ध मानने पर अनवस्था दोष आता है अर्थात् शेष अंशों की वृत्ति के होने की आकांक्षा समाप्त नहीं होती है।" इस प्रकार का दूषण स्याद्वाद में घटित नहीं हो सकता, क्योंकि स्याद्वादी अवयवी को अवयवों से सर्वथा भिन्न स्वीकार नहीं करते हैं। अंश और अंशी के सम्बन्ध को कथञ्चित् तादात्म्य परिणाम ही प्रसिद्ध है तथा उस तादात्म्य सम्बन्ध को ही समवाय सम्बन्ध सिद्ध किया गया है, अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध ही कथञ्चित् *समवाय सम्बन्ध से सिद्ध है।*

अंश और अंशी के कथञ्चित् तादात्म्य और कथञ्चित् अतादात्म्य दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। यदि अंश अंशी के तादात्म्य सम्बन्ध को विरुद्ध मानते हैं तो प्रत्यक्ष के द्वारा अंश और अंशी के भिन्न और अभिन्न रूप से प्रतिभास होने के अभाव का प्रसंग आयेगा परन्तु अंश और अंशी का कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रतिभास होना अनुमान प्रमाण से बाधित नहीं है अपितु, अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष ज्ञान का साधक होकर प्रवृत्ति कर रहा है।

अब अनुमान से कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध की सिद्धि करते हैं। जिन पदार्थों में कथंचित् तादात्म्य नहीं है, उनमें अंशी, अंशपना भी नहीं है।

जैसे सह्याचल और विंध्याचल में अंश और अंशी भाव नहीं है, परन्तु अवयव और अवयवी में अपने को इष्ट धर्म और धर्मी में अंश-अंशी भाव है अतः उनमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। उन अंश-अंशी में, गुण-गुणी में एकान्त से भेद नहीं है अतः परमार्थ रूप से अंश, अंशी का सद्भाव होने से "विकलादेशी वाक्य का विषय वस्तु का अंश है" यह कथन समीचीन है। वह अंश अवस्तु नहीं है उस अंश, अंशी के भेद में प्रवृत्त होने वाला नय है अर्थात् स्व और अर्थ के एकदेश का निर्णय करने वाला वस्तु के अंश का ग्राहक नय कहलाता है।

कोई कहता है कि अपने स्वरूप और विषय रूप अर्थ के एकदेश का निर्णय करना रूप फल है लक्षण जिसका ऐसा नय ज्ञान प्रमाण ही है, प्रमाण से भिन्न नहीं है ?

जिस प्रकार अंशी में प्रवर्त्तक ज्ञान की प्रमाणता इष्ट है (ज्ञान प्रमाण है) उसी प्रकार अंशों में प्रवृत्ति करने वाले नय ज्ञानों के भी स्वार्थ ग्राहकपना होने से प्रमाणपना क्यों नहीं है ? इसलिए नय भी प्रमाणात्मक है॥१८॥

यथांशो न वस्तु नाप्यवस्तु । किं तर्हि ? वस्त्वंश एवेति मतं, तथांशी न वस्तु नाप्यवस्तु तस्यांशित्वादेव वस्तुनोंशांशिसमूहलक्षणत्वात् । ततोंशेष्विव प्रवर्तमानं ज्ञानमंशिन्यपि नयोस्तु नोचेत् यथा तत्र प्रवृत्तं ज्ञानं प्रमाणं तथांशेष्वपि विशेषाभावात् । तथोपगमे च न प्रमाणादपरो नयोस्तीत्यपरः।।

तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ । द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ।। १९ ।।

धर्मिधर्मसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः । प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ।। २० ।।

गुणीभूताखिलांशेंशिनि ज्ञानं नय एव तत्र द्रव्यार्थिकस्य व्यापारात् । प्रधानभावार्पितसकलांशे तु प्रमाणमिति नानिष्टापत्तिरंशिनोत्र ज्ञानस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगमात् । ततः प्रमाणादपर एव नयः। नन्वेवमप्रमाणात्मको नयः कथमधिगमोपायः स्यान्मिथ्याज्ञानवदिति च न चोद्यं। यस्मात्—

जिस प्रकार अंश वस्तु भी नहीं है और अवस्तु भी नहीं है, अपितु वस्तु का एक अंश है, ऐसा स्याद्वाद सिद्धान्त में माना गया है, उसी प्रकार अंशी भी वस्तु नहीं है और न अवस्तु है, क्योंकि वह अंशी है। वस्तु तो अंशी और अंश का समूह है अर्थात् अंशी और अंशियों से पृथक् अंश और अंशी का समूह वस्तु है अतः जैसे अंशों में प्रवर्त्तक ज्ञान को नय मानते हैं उसी प्रकार अंशी को ग्रहण करने वाले ज्ञान को भी नय मानना चाहिए। यदि अंशी में प्रवर्त्तक ज्ञान को नय नहीं मानते हैं तो, अंश में प्रवर्त्तक ज्ञान को भी नय नहीं मानना चाहिए क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् **वस्तु के अंगभूत अंश और अंशी में जानने की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।**

तथा एक-एक अंश को जानने वाले ज्ञान को भी प्रमाण मान लेने पर प्रमाण से भिन्न दूसरा नय ज्ञान नहीं है, ऐसा कोई वादी कहता है।

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नय का लोप करना उचित नहीं है क्योंकि **सम्पूर्ण धर्मों को गौणता रूप से तथा अंशी को प्रधान रूप से जानना इष्ट होने पर (स्वीकार करने पर) मुख्य रूप से द्रव्यार्थिक नय का व्यापार माना गया है, प्रमाण का नहीं किन्तु जब धर्म और धर्मी दोनों के समूह को प्रधानता की विवक्षा से जानना अभिप्रेत होता है तब ज्ञान को प्रमाणपने से निर्णय किया जाता है। इसलिए प्रमाण से भिन्न नय ज्ञान है** ।।१९-२०।।

भावार्थ : गौण और मुख्यता से अंशी और अंश को जानने वाला नय कहलाता है-और अंश-अंशी दोनों को प्रधान रूप से जानने वाला प्रमाण कहलाता है।

अंश जिसमें गौणभूत है-अर्थात् जिसमें अंश की अपेक्षा नहीं है ऐसे अंशी का विषय करने वाला ज्ञान नय कहलाता है क्योंकि उसमें विषय को जानने के लिए द्रव्यार्थिक नय का व्यापार (प्रवृत्ति) है। तथा प्रधान रूप सकल अंश है जिसमें ऐसे अंशी का ग्राहक ज्ञान प्रमाण है इसमें अनिष्ट की आपत्ति नहीं है क्योंकि यहाँ प्रधान अंश वाले अंशी ज्ञान के ज्ञान को प्रमाण रूप से स्वीकार किया है अतः अंशी को जानने वाला (एकदेश वस्तु को ग्रहण करने वाला) नय सकलादेशी प्रमाण से भिन्न है।

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मत: । स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधत: ।। २१ ।।

प्रमाणादपरो नयोऽप्रमाणमेवान्यथा व्याघात: सकृदेकस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वनिषेधासंभवात् । प्रमाणत्वनिषेधेनाप्रमाणत्वविधानादप्रमाणप्रतिषेधेन च प्रमाणत्वविधेर्गत्यंतराभावादिति न चोद्यं, प्रमाणैकदेशस्य गत्यंतरस्य सद्भावात् । न हि तस्य प्रमाणत्वमेव प्रमाणादेकांतेनाभिन्नस्यानिष्टेर्नाप्यप्रमाणत्वं भेदस्यैवानुपगमात् देशादेशिनो: कथंचिद्भेदस्य साधनात् । येनात्मना प्रमाणं तदेकदेशस्य भेदस्तेनाप्रमाणत्वं येनाभेदस्तेन प्रमाणत्वमेवं

शंका : इस प्रकार अप्रमाणात्मक नय मिथ्याज्ञान के समान जीवादि पदार्थों के अधिगम का उपाय कैसे हो सकता है ? अर्थात् जैसे अप्रमाण होने से मिथ्याज्ञान जीवादि पदार्थों के अधिगम का उपाय नहीं है उसी प्रकार नय भी अप्रमाण होने से जीवादि पदार्थों के अधिगम के उपाय नहीं हैं।

समाधान : ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि नय ज्ञान प्रमाण भी नहीं है और अप्रमाण भी नहीं है अपितु प्रमाण का एकदेश है इसमें सर्वथा विरोध नहीं है।।२१।।

"स्याद्वाद सिद्धान्त में कथित प्रमाण से भिन्न नयज्ञान अप्रमाण ही है अन्यथा (यदि उसमें प्रमाण और अप्रमाण दोनों का निषेध करोगे तो) व्याघात दोष आयेगा। एक साथ एक ही पदार्थ का प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व रूप से निषेध करना असंभव है अर्थात् प्रमाण का निषेध करने पर अप्रमाण की सिद्धि हो जाती है, और 'अप्रमाण नहीं है' ऐसा कहने पर प्रमाण की सिद्धि हो जाती है। एक समय में दोनों का निषेध नहीं हो सकता। क्योंकि गत्यन्तर का अभाव है।" जैनाचार्य कहते हैं कि नय के विषय में इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रमाण के एक देश को जानने वाला नय है इस प्रकार गत्यन्तर (प्रमाण और अप्रमाण से रहित प्रमाण का एकदेश नय है इस) का सद्भाव है अर्थात् जैसे सर्वथा भेद और अभेद से भिन्न कथञ्चित् भेद-अभेद प्रशस्त मार्ग है उसी प्रकार सर्वथा प्रमाण और अप्रमाण से पृथक् तीसरा कथंचित् प्रमाणाप्रमाणात्मक नय ज्ञान व्यवस्थित है।

उस नय ज्ञान को पूर्ण रूप से प्रमाण नहीं कह सकते, क्योंकि एकान्त रूप से प्रमाण से अभिन्न नय ज्ञान इष्ट नहीं है।

तथा नय सर्वथा अप्रमाण भी नहीं है-क्योंकि एकान्त रूप से नय ज्ञान को प्रमाण से सर्वथा भिन्न स्वीकार नहीं किया है अपितु देश और देशवान में कथञ्चित् भेद स्वीकार किया है। अर्थात् एकदेश को ग्रहण करने वाले नय में और सर्वदेश को ग्रहण करने वाले प्रमाण में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है।

कोई कहता है-जिस रूप (जिस अपेक्षा से) नय ज्ञान प्रमाण से भिन्न है, भेदस्वरूप है उस अपेक्षा से वह अप्रमाण है। और जिस अपेक्षा नयज्ञान प्रमाण से अभिन्न (अभेद) रूप है, उस अपेक्षा से वह प्रमाण है। जैनाचार्य कहते हैं- इस प्रकार कहना क्या हमको अनिष्ट है ? नहीं, अपितु इष्ट ही है क्योंकि जैन सिद्धान्त में नय किसी अपेक्षा प्रमाणात्मक हैं और किसी अपेक्षा प्रमाणात्मक नहीं हैं। अत: नय ज्ञान में एकदेश से प्रमाणपना और अप्रमाणपना दोनों इष्ट हैं। सर्वथा नयज्ञान के प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व का निषेध किया

स्यादिति चेत् किमनिष्टं देशतः प्रमाणप्रमाणत्वयोरिष्टत्वात् , सामस्त्येन नयस्य तन्निषेधात् समुद्रैकदेशस्य तथासमुद्रत्वासमुद्रत्वनिषेधवत् । कात्स्न्र्येन प्रमाणं नयः संवादकत्वात्स्वेष्टप्रमाणवदिति चेन्न , अस्यैकदेशेन संवादकत्वात् कात्स्न्र्येन तदसिद्धेः । कथमेवं प्रत्यक्षादेस्ततः प्रमाणत्वसिद्धिस्तस्यैकदेशेन संवादकत्वादिति चेन्न , कतिपयपर्यायात्मकद्रव्ये तस्य तत्त्वोपगमात् । तथैव सकलादेशित्वप्रमाणत्वेनाभिधानात् सकलादेशः प्रमाणाधीन इति । न च सकलादेशित्वमेव सत्यत्वं विकलादेशिनो नयस्यासत्यत्वप्रसङ्गात् । न च नयोपि सकलादेशी , विकलादेशो नयाधीन इति वचनात् । नाप्यसत्यः सुनिश्चितासंभवद्बाधत्वात् प्रमाणवत् । ततः सूक्तं सकलादेशि प्रमाणं विकलादेशिनो नयादभ्यर्हितमिति सर्वथा विरोधाभावात् ॥

प्रमाणेन गृहीतस्य वस्तुनोंशेविगानतः । संप्रत्ययनिमित्तत्वात्प्रमाणाच्चेन्नयोर्चितः ॥ २२ ॥
नाशेषवस्तुनिर्णीतेः प्रमाणादेव कस्यचित् । तादृक् सामर्थ्यशून्यत्वात् सन्नयस्यापि सर्वदा ॥ २३ ॥

है। जैसे घट में भरा हुआ समुद्र का जल न समुद्र है और न असमुद्र है अपितु समुद्र का अंश है उसी प्रकार नय न प्रमाण है और न अप्रमाण है अपितु प्रमाण का एक अंश है।

''नय सम्पूर्ण रूप से प्रमाण है, समीचीन ज्ञप्ति कराने वाला होने से'', जैसे अपने को इष्ट प्रत्यक्ष आदि ज्ञान समीचीन ज्ञप्ति कराने वाले होने से प्रमाण हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इस नय के एक-देश से संवादकत्व (समीचीन ज्ञप्ति कराना) है; सम्पूर्ण रूप से नय के संवादकत्व की असिद्धि है।

''इस प्रकार स्मृति आदि प्रत्यक्ष ज्ञान में भी प्रमाणपना कैसे आ सकता है क्योंकि उनमें भी एक देश संवादकत्व है'' ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि कुछ पर्यायात्मक द्रव्य में प्रवर्त्तक उस प्रत्यक्ष स्मृति आदि ज्ञान के सम्पूर्णता से संवादकत्व इष्ट किया है। उसी प्रकार सकल वस्तु का कथन करने वाले वाक्य को प्रमाण रूप से स्वीकार किया है क्योंकि सकलादेश प्रमाणाधीन है। इति।

''सकलादेशित्व (प्रमाण) ही सत्य है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर विकलादेशी नय ज्ञान के असत्यपने का प्रसंग आता है।

तथा नयज्ञान को सकलादेशी कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ''विकलादेशो नयाधीनः, विकलादेश नय के आधीन है''- यह आगम वाक्य है। एकदेश वस्तु का कथन करने वाला नय असत्य भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण ज्ञान की सत्यता के समान बाधक प्रमाणों की निश्चयरूप से असंभवता होने से नय ज्ञान सत्यस्वरूप है। इसलिए ''विकलादेशी नय से सकलादेशी प्रमाण पूज्य है'' यह कहना श्रेष्ठ है। क्योंकि इसमें सर्वथा विरोध का अभाव है।

''प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के अंश में निर्दोष रूप से प्रतीति का निमित्त होने के कारण प्रमाण की अपेक्षा नय पूजनीय है अथवा नय के द्वारा ज्ञात विषय में उत्पन्न संशय को दूर करके समीचीन ज्ञप्ति कराने वाला होने से नय ज्ञान प्रमाण से भी अधिक पूज्य है'' ऐसा कहना उचित नहीं है,-क्योंकि किसी भी प्रमाण के अशेष वस्तु की निर्णीति (निर्णय) प्रमाण (ज्ञान) से ही होती है। अशेष वस्तु के समीचीन निर्णय कराने का सामर्थ्य नयज्ञान में नहीं है। नय ज्ञान सर्वदा सम्पूर्ण वस्तु के निर्णय करने के सामर्थ्य से शून्य है॥२२-२३॥

नयोभ्यर्हितः प्रमाणात् तद्विषयांशे विप्रतिपत्तौ संप्रत्ययहेतुत्वादिति चेन्न, कस्यचित्प्रमाणादेवाशेषवस्तुनिर्णयात्तद्विषयांशे विप्रतिपत्तेरसंभवान्नयात् संप्रत्ययासिद्धेः । कस्यचित् तत्संभवे नयात्संप्रत्ययसिद्धिरिति चेत् , सकले वस्तुनि विप्रतिपत्तौ प्रमाणात् किं न संप्रत्ययसिद्धिः । सोयं सकलवस्तुविप्रतिपत्तिनिराकरणसमर्थात् प्रमाणाद्वस्त्वेकदेशविप्रतिपत्तिनिरसनसमर्थं सन्नयमभ्यर्हितं ब्रुवाणो न न्यायवादी ॥

मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोपि वा । ज्ञातस्यार्थस्य नांशेस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥ २४ ॥

निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात् । तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥ २५ ॥

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तंते तेषां निःशेष-देशकालार्थगोचरत्वात् मत्यादीनां तदगोचरत्वात् । न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वा प्रवृत्तेः ॥

''प्रमाण से नय अधिक पूज्य है, क्योंकि उस प्रमाण के विषयभूत वस्तु के विशेष अंशों में विवाद उत्पन्न होने पर नय ज्ञान ही निर्णय कराने का निमित्त होता है।'' ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि किसी भी जीव को प्रमाण द्वारा पूर्ण वस्तु का निर्णय हो जाने से उस विषय के विशेष अंश में जब संशयपूर्वक विवाद होना ही असंभव है, तब नय से सम्प्रतिपत्ति होना तो असिद्ध ही है।

शंका : किसी-किसी ज्ञाता को विशेष अंश में उस विप्रतिपत्ति (संशय या विवाद) के संभव होने पर नय ज्ञान से प्रतीति (संशय का अभाव) होना देखा जाता है अतः नय पूज्य है।

समाधान : यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण वस्तु में विवाद हो जाने पर प्रमाण के द्वारा समीचीन निर्णय होना सिद्ध क्यों नहीं माना जाता है? अतः सकल वस्तु के विषय में उत्पन्न हुए समारोप (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) के निराकरण करने में समर्थ प्रमाण ज्ञान से, वस्तु के एकदेश में उत्पन्न विप्रतिपत्ति निराकरण करने में समर्थ नय ज्ञान को पूज्य कहने वाला न्यायवादी नहीं है, अर्थात् वह न्याय का ज्ञाता नहीं है।

शंका : मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के द्वारा ज्ञात अर्थ के अंश में नयज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि वे मति आदिक तीन ज्ञान सम्पूर्ण देशकाल के अर्थों को विषय नहीं कर सकते हैं, ऐसा विशेष रूप से निर्णीत है अतः नय ज्ञान ज्ञात अर्थ के एकदेश को जानता है, यह कैसे सिद्ध होता है ? इस प्रकार कोई तर्क पूर्वक कहता है।

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि उसका यह कहना ठीक है क्योंकि हमने वैसा ही स्वीकार किया है कि **मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा ज्ञात अर्थ के एकदेश विषय में नय की प्रवृत्ति नहीं होती है** ॥२४-२५॥

मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में से किसी एक प्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के अंश में नय ज्ञान प्रवृत्त नहीं होते हैं, क्योंकि मति, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान परिमित देश-काल के अर्थ को जानते हैं और नयों का विषय सम्पूर्ण देशकाल गोचर अर्थ है, अतः मति आदि ज्ञान के त्रिकाल विषय अगोचर

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥ २६ ॥

परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु। श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥ २७ ॥

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्यग्दर्शननिबन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनः पर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः। ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्यामस्तद्वत्तेषां स्पष्टत्व प्रसंगात्। न हि स्पष्टस्यावधेर्मनः पर्ययस्य वा भेदाः स्वयमस्पष्टा न युज्यंते श्रुताख्य प्रमाणमूलत्वे तु नयानामस्पष्टावभासित्वेनाविरुद्धानां सूक्तं तेभ्यः प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वात् प्राग्वचनम् ॥

हैं। मन और इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ मानस मतिज्ञान भी सम्पूर्ण देश, काल के विषय को नहीं जान सकता। क्योंकि इन्द्रियों के योग्य विषय में अथवा उनकी जाति वाले अतीन्द्रिय विषयों में मानस मतिज्ञान प्रवर्तक होता है।

त्रिकालगोचर सम्पूर्ण पदार्थों के अंशों में प्रवृत्ति करने वाले होने से उन नय ज्ञानों का केवलज्ञान को मूल कारण मानना भी युक्त नहीं है ॥२६॥ क्योंकि केवलज्ञान स्पष्ट है, विशद है, प्रत्यक्ष है और नय परोक्षाकार से प्रवृत्त होते हैं अर्थात् परोक्ष विषय को ग्रहण करने वाले हैं अर्थात् यदि केवलज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थ में नय की प्रवृत्ति होगी तो नय भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेंगे-

अतः परिशेष न्याय से श्रुतज्ञान मूल ही नय सिद्ध होता है अर्थात् **नय श्रुतज्ञान का भेद है**। प्रमाण के समान नयों का वर्णन भी आगे विस्तार से करेंगे ॥२७॥

जिस प्रकार अधिगमज सम्यग्दर्शन के कारणभूत जीवादि तत्त्वार्थों के अधिगम का उपाय श्रुतज्ञान है और आगे कहे जाने वाले मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान प्रमाण सिद्ध हैं; उसी प्रकार श्रुत ज्ञान है मूल कारण जिन्होंका ऐसे आगे कहे जाने वाले नैगमादि नय भी जीवादि पदार्थों के जानने के उपाय हैं- यह सिद्ध है।

उन नयों की परोक्षाकार (परोक्ष ज्ञान) से प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार प्रमाण पदार्थों के जानने का साधन है, वैसे नय भी वस्तु के जानने का साधन है।

तीनों काल सम्बन्धी सम्पूर्ण पदार्थों के अंशों में प्रवृत्ति करने वाले होने से नयों का मूल कारण केवलज्ञान को माना जाये, इसको हम (जैनाचार्य) युक्त नहीं समझते हैं क्योंकि केवलज्ञान को नयों का मूल कारण मान लेने पर केवलज्ञान के समान नयों के भी स्पष्ट प्रतिभास का प्रसंग आता है।

प्रश्न : विशद अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के भेद नय हैं और स्वयं अस्पष्ट (अविशद) हैं।

उत्तर : यह भी कथन युक्त नहीं है क्योंकि अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के अंश नय नहीं हैं। परन्तु श्रुतज्ञान नामक प्रमाण को मूल मानकर होने वाले नयों के अस्पष्ट प्रतिभास में कोई विरोध नहीं है इसलिए श्रुतज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों के अंश को अविशद रूप से जानने वाले अविरुद्ध नयों की अपेक्षा प्रमाण अधिक पूज्य है इसलिए प्रमाण का कथन पूर्व में करना ठीक ही कहा है अर्थात् पूज्य होने से प्रमाण शब्द का सूत्र में प्रथम प्रयोग किया है, यह वार्त्तिककार का कहना युक्त ही है।

ननु प्रमाणनयेभ्योऽधिगमस्याभिन्नत्वान्न तत्र तेषां करणत्वनिर्देश: श्रेयानित्यारेकायामाह-

प्रमाणेन नयैश्चापि स्वार्थाकारविनिश्चय:। प्रत्येयोऽधिगमस्तज्ज्ञैस्तत्फलं स्यादभेदभृत्॥ २८ ॥

तेनेह सूत्रकारस्य वचनं करणं कृत:। सूत्रे यद्घटनां याति तत्प्रमाणनयैरिति॥ २९ ॥

न हि प्रमाणेन नयैश्चाध्यवसायात्माधिगम: क्वचित्संभाव्य: क्षणक्षयादावपि तत्प्रसंगात्। व्यवसायजनन: स्वयमध्यवसायात्माप्यधिगमो युक्त इति चेन्न, तस्य तज्जननविरोधात्। स्वलक्षणवत् बोध: स्वयमविकल्पकोपि विकल्पमुपजनयति न पुनरर्थ इति किंकृतो विभाग:। पूर्वविकल्पवासनापेक्षादिविकल्पप्रतिभासाद्विकल्पस्योत्पत्तौ कथमर्थात्तादृशान्नोत्पत्ति:। यथा चाप्रतिभातादर्थात्तदुत्पत्तावतिप्रसंगस्तथा स्वयमनिश्चितादपि। यदि पुनरर्थदर्शनं

प्रश्न : प्रमाण और नयों से अधिगम होना जब अभिन्न है, तब सूत्र में उन प्रमाण नयों को "प्रमाणनयै:" यह साधक सम रूप करण (तृतीया विभक्ति) का निर्देश करना श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् अधिगम के समान प्रमाण नय पद भी प्रथमान्त होना चाहिए इस प्रकार की शंका होने पर आचार्य कहते हैं:-

उत्तर : प्रमाण और नयों के द्वारा स्व और अपूर्व का निश्चय होता है-उस प्रमाण और नयों से अभिन्न निश्चय को प्रमाण और नयों के ज्ञाताओं को नयप्रमाण का फल समझना चाहिए। अर्थात् प्रमाण और नय पदार्थों के जानने के उपाय हैं और पदार्थों का निर्णय हो जाने रूप अधिगम प्रमाण तथा नय का फल है वह फल प्रमाण और नयों से अभिन्न है इसलिए सूत्र में सूत्रकार के वचन करणकृत हैं (तृतीया विभक्त्यन्त हैं) अत: सूत्र में "प्रमाणनयै:" यह तृतीयान्त विभक्ति घटित हो जाती है क्योंकि क्रियारूप फल प्रथमान्त होता है, उसका जनक कारण तृतीयान्त होता है और वह फल रूप क्रिया कारण से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है॥२८-२९॥

प्रमाण और नयों के द्वारा कहीं भी अनिश्चयात्मक ज्ञान होना (अधिगम होना) संभव नहीं है अर्थात् **प्रमाण और नयों के द्वारा निश्चयात्मक अधिगम होता है।** यदि उसके अधिगम को निश्चयात्मक नहीं मानते हैं तो क्षणक्षयी ज्ञान में भी प्रमाणता का प्रसंग आयेगा अर्थात् अनिश्चयात्मक क्षणक्षयी ज्ञान एवं निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा।

"अनध्यवसाय रूप निर्विकल्प अधिगम भी उत्तर क्षण में निश्चयात्मक का जनक हो जाता है अर्थात् अनिश्चयात्मक निर्विकल्प ज्ञान से उत्तर क्षण में पदार्थों का निश्चय हो जाता है" ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण के समान निर्विकल्प ज्ञान से निश्चयात्मक सविकल्प की उत्पत्ति होने का विरोध है।

अथवा-स्वयं निर्विकल्प भी ज्ञान विकल्प उत्पन्न कर देता है, किन्तु निर्विकल्पक स्वलक्षण रूप अर्थ सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है, यह विभाग किस नियम से किया गया है ? अर्थात् जैसे निर्विकल्प अर्थ से उत्पन्न ज्ञान बौद्ध मत में निर्विकल्प है, वैसे निर्विकल्प ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान भी निर्विकल्प होना चाहिए। यदि कहो कि पूर्वकालीन वासना के कारण (अपेक्षा से) निर्विकल्प प्रतिभास (ज्ञान) से विकल्प की उत्पत्ति होती है-तो पूर्वकालीन वासना के कारण निर्विकल्प पदार्थ से उत्पन्न ज्ञान सविकल्प क्यों नहीं होता है? जिस प्रकार निर्विकल्प ज्ञान से नहीं जाने गये अर्थ से विकल्प की उत्पत्ति मानने में अति

तद्विकल्पवासनायाः प्रबोधकत्वाद्विकल्पस्य जनकं तदा क्षणक्षयादौ विकल्पजननप्रसंगस्तत एव तस्य नीलादाविव तत्राप्यविशेषात् । क्षणक्षयादावनभ्यासान्न तत्तद्विकल्पवासनायाः प्रबोधकमिति चेत्, कोयमभ्यासो नाम ? बहुशो दर्शनमिति चेन्न, तस्य नीलादाविव तत्राप्यविशेषादभावासिद्धेः । तद्विकल्पोत्पत्तिरभ्यास इति चेत्, तस्य कुतः क्षणक्षयादिदृष्टावभावः ? तद्विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावादिति चेत्, सोयमन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे हि क्षणक्षयादौ दर्शनस्य तद्विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावेभ्यासाभावस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति। एतेन नीलादौ दर्शनस्य तद्वासनाप्रबोधकत्वाभ्यासेभ्योऽन्योन्याश्रयो व्याख्यातः । सति तद्वासनाप्रबोधकत्वे

प्रसंग दोष आता है-अर्थात् अज्ञात पदार्थ के ज्ञान से कुछ भी विकल्प उठ सकते हैं उसी प्रकार स्वयं अनिश्चित निर्विकल्प ज्ञान से विकल्प ज्ञान की उत्पत्ति मान लेने पर भी अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् चाहे जिस अनिश्चित पदार्थ का विकल्प हो जायेगा क्योंकि दोनों में प्रश्न समान ही है।

यदि बौद्ध कहे कि अर्थ का निर्विकल्प दर्शन उसकी विकल्प वासना को जगाने वाला होने से विकल्प ज्ञान को उत्पन्न कर देता है तो जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का कथन करने पर तो क्षणक्षयादि (क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले निर्विकल्प पदार्थ) के विषय में भी विकल्प के उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि जैसे नीलादि स्वलक्षणों के निर्विकल्प ज्ञान से नील आदि में होने वाले विकल्प ज्ञान की जननी विकल्प वासना को जागृत करने में सहायक है उसी प्रकार क्षणिकत्व का निर्विकल्प ज्ञान भी क्षणिकत्व के विकल्प ज्ञान को उत्पन्न कराने में सहायक हो जायेगा, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

यदि कहो कि क्षणिकत्व आदि में अभ्यास न होने के कारण क्षणिकत्व का निर्विकल्प ज्ञान उसकी विकल्प वासना का उद्‌बोधक नहीं है, परन्तु नील पीत आदि में अभ्यास होने के कारण वासना उत्पन्न हो जाती है तो जैनाचार्य कहते हैं कि वह अभ्यास क्या है ? किसको कहते हैं अभ्यास ? बहुत बार किसी विषय का निर्विकल्प ज्ञान हो जाने को तो अभ्यास नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा अभ्यास तो जैसे नीलादि स्वलक्षणों में है उसी के समान क्षण क्षय आदि के दर्शन में भी विद्यमान है दोनों में अविशेषता होने से क्षण क्षयादिक के निर्विकल्प दर्शन में अभ्यास का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि उन विकल्प ज्ञानों की उत्पत्ति हो जाना ही अभ्यास है तब तो क्षणिकत्व आदि के निर्विकल्प दर्शन में अभ्यास का अभाव है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

यदि विकल्प वासनाओं के अप्रबोधकत्व होने से क्षणक्षयादि दर्शन में अभ्यास का अभाव माना जाता है तो अन्योऽन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि क्षणिकत्व आदि में होने वाले निर्विकल्प दर्शन को क्षण-क्षयादि में वासना के जागृत करने का अभाव सिद्ध होने पर विकल्प के उत्पादक अभ्यास के अभाव की सिद्धि होती है और अभ्यास के अभाव की सिद्धि होने पर क्षणिकत्व में उत्पन्न निर्विकल्प दर्शन के विकल्प वासना के प्रबोधकत्व का अभाव सिद्ध होता है, अतः स्पष्टरूप से परस्पराश्रय दोष आता है।

इस कथन से नील आदि से उत्पन्न निर्विकल्प दर्शन के उनकी विकल्प वासनाओं के प्रबोधकत्व रूप अभ्यासों से भी अन्योऽन्याश्रय दोष आता है-यह व्याख्यान कर दिया गया है।

तद्विकल्पोत्पत्तिलक्षणोभ्यासस्तत्र च सति तदिति नीलादाविव क्षणक्षयादावपि दर्शनस्यास्याविशेष एव, क्वचिदभ्यासस्यानभ्यासस्य वा व्यवस्थापयितुमशक्तेः । वस्तुस्वभावान्नीलादावनुभवः पटीयांस्तद्वासनायाः प्रबोधको न तु क्षणक्षयादाविति चेत् , किमिदं तत्रानुभवस्य पटीयस्त्वं? तद्विकल्पजनकत्वमिति चेत् तदेव कुतः ? तद्वासनाप्रबोधकत्वादिति चेत् , सोयमन्योन्यसंश्रयः । स्पष्टत्वं तु यदि तस्य पटीयस्त्वं तदा क्षणक्षयादावपि समानं । प्रकरणार्थित्वापेक्षो नीलादावनुभवस्तद्वासनायाः प्रबोधक इत्यप्यसारं, क्षणक्षयादावपि तस्याविशेषात् । सत्यपि क्षणक्षयादौ प्रकरणेर्थित्वे च तद्विकल्पवासनाप्रबोधकाभावाच्च नीलादौ न तदपेक्षं

क्योंकि उन नील आदिकों की वासनाओं का प्रबोधकत्व होने पर उनके विकल्प ज्ञान के उत्पन्न होने रूप अभ्यास की सिद्धि होती है और विकल्पोत्पत्ति रूप उस अभ्यास की सिद्धि हो जाने पर उनकी वासना का प्रबोधकत्व सिद्ध होता है अत: अन्योऽन्याश्रय दोष है। इस प्रकार नील आदि के समान क्षण-क्षयादि में भी इस निर्विकल्प दर्शन के हो जाने में कोई विशेषता नहीं है (दोनों समान ही हैं)। इसलिए क्वचित् (कहीं) नील आदिक में तो अभ्यास स्वीकार करना और क्षणिकत्व आदि में अभ्यास स्वीकार नहीं करना, ऐसी व्यवस्थापना करना शक्य नहीं है।

यदि बौद्ध कहे कि वस्तु का स्वभाव होने से नीलादि स्वलक्षणों में उत्पन्न हुआ अति कुशल अनुभव नील आदिक में विकल्प ज्ञानों की वासना का प्रबोधक हो जाता है परन्तु क्षणिकत्व आदि में उत्पन्न हुआ अनुभव विकल्प वासना का प्रबोधक नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि नील आदि में उत्पन्न अनुभव की वह दक्षता क्या वस्तु है जो वासना को जागृत करके विकल्प को उत्पन्न कर देती है ? यदि कहो कि विकल्पों को उत्पन्न करना ही अनुभव की दक्षता है तो, वह दक्षता अनुभव में किससे आई है ? यदि कहो कि वासना को जागृत करने से अनुभव में दक्षता आई है तब अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। यदि कहो कि स्पष्टता ही अनुभव की दक्षता है-जो विकल्प को उत्पन्न करती है तब तो स्पष्टपना क्षणिकत्व आदि में भी समान रूप से विद्यमान है अत: उनमें भी विकल्प ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए।

भावार्थ : सौगत के मतानुसार नील आदि स्वलक्षणों का निर्विकल्पत्व ज्ञान के द्वारा जैसा स्पष्ट अनुभव में आता है उसी प्रकार क्षणिक पदार्थों में स्पष्ट अनुभव होता है, अन्यथा क्षणिकत्व आदि वास्तविक नहीं रह सकते हैं, क्योंकि सौगत ने वस्तुभूत पदार्थ का ही प्रत्यक्ष होना माना है।

''अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि का चातुर्य और अर्थीपना, ये चार सौगत ने अनुभव की दक्षता के कारण माने हैं अत: प्रकरणत्व, अर्थित्व आदि की अपेक्षा रखने वाला अनुभव नीलादि में वासना का प्रबोधक होता है'' ऐसा कहना भी असार है, क्योंकि क्षणक्षयादि में भी चार कारणों से दक्ष अनुभव विकल्प उत्पन्न करा सकता है क्योंकि क्षणिक में कोई विशेषता नहीं है।

अथवा-क्षण क्षयादि में प्रकरण और अर्थित्व के होने पर भी अनुभव उन विकल्प ज्ञानों में वासना के जागृतत्व का अभाव है तथा नील आदि में भी उन प्रकरण और अर्थित्व की अपेक्षा रखने वाले निर्विकल्प ज्ञान को उस वासना का प्रबोधक कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर बौद्धों के द्वारा स्वीकृत कार्य-कारण भाव में व्यभिचार[1] दोष आता है।

१. कारण के होने पर भी कार्य का नहीं होना अन्वय व्यभिचार है और बिना कारण के भी कार्य का हो जाना व्यतिरेक व्यभिचार है।

दर्शनं तत्प्रबोधकं युक्तं, व्यभिचारात् । नीलादौ दर्शनस्य सामर्थ्यविशेषस्तत्कार्येण विकल्पेनानुमीयमानस्तद्वासनाया: प्रबोधको नाभ्यासादिति चेत् तर्हि सामर्थ्यविशेषोर्थस्यैव साक्षाद्व्यवसायेनामीयमानो व्यवसायस्य जनकोस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया ? यतश्च सामर्थ्यविशेषाद्दर्शनं व्यवसायस्य जनकं तद्वासनायाश्च प्रबोधकं तत एवात्मा तज्जनकस्तत्प्रबोधकश्चास्तु । तथा च नाम्न्येव विवादो दर्शनमात्मेति नार्थे तत्तदावरणविच्छेदविशिष्टस्यात्मन एवेंद्रियादिबहिरंगकारणापेक्षस्य यथासंभवं व्यवसायजनकत्वेनेष्टत्वात् तद्व्यतिरेकेण दर्शनस्याप्रतीतिकत्वाच्चेति निवेदयिष्यते प्रत्यक्षप्रकरणे । ततो नाध्यवसायात्मा प्रत्येयोधिगमोर्थानां सर्वथानुपपन्नत्वात् । पुरुषस्य स्वव्यवसाय एवाधिगमो

''नील आदिक के निर्विकल्प ज्ञान के अनन्तर उसका कार्य नील आदि के सविकल्प का ज्ञान होना देखा जाता है, परन्तु क्षणिकत्व के ज्ञान के पश्चात् विकल्प का ज्ञान रूप कार्य नहीं देखा जाता है, अत: नीलादि में उत्पन्न निर्विकल्प दर्शन के कार्य रूप विकल्प ज्ञान से नील दर्शन के विशेष सामर्थ्य का अनुमान कर लिया जाता है। वह अनुमान से ज्ञात किया गया विलक्षण सामर्थ्य ही नील आदि की विकल्प वासना का उद्बोधक है।

अभ्यास, प्रकरण आदि विकल्प वासना के उद्बोधक नहीं हैं। जिस विशेष सामर्थ्य से विकल्प वासना उत्पन्न होती है, वह सामर्थ्य क्षणिकत्व दर्शन में नहीं है, अत: क्षणक्षयादि में विकल्प वासना जागृत नहीं होती है। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो निश्चयात्मक ज्ञान से अनुमान किया गया विशेष सामर्थ्य ही अर्थ के साक्षात् निर्णय कराने का जनक है अत: अदृष्ट अप्रामाणिक कल्पना करने से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रथम निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न करना और पीछे उस निर्विकल्प के सामर्थ्य से सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है-ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं दिखता है।

''अथवा-निर्विकल्प दर्शन (ज्ञान) सामर्थ्य विशेष से व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान का उत्पादक है और वह निश्चयात्मक ज्ञान वासना का प्रबोधक है'' इस प्रकार कहने पर तो अपने सामर्थ्य से आत्मा ही उस निश्चय का जनक और उसकी वासना का प्रबोधक हो जायेगा अत: स्याद्वाद और बौद्ध सिद्धान्त में नाम मात्र का ही विवाद है कि बौद्ध निर्विकल्पदर्शन को निश्चय का उत्पादक मानता है और स्याद्वाद सिद्धान्त आत्मा को निश्चयात्मक ज्ञान का उत्पादक मानता है अत: आत्मा और दर्शन नाम मात्र का भेद है। स्वकीय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से विशिष्ट आत्मा ही इन्द्रिय, मन:प्रकाश आदि बाह्य कारणों की सहायता से यथायोग्य निश्चय ज्ञान का जनक होता है, ऐसा स्याद्वाद सिद्धान्त में इष्ट है। उस आत्म द्रव्य से अतिरिक्त निर्विकल्प दर्शन की कभी प्रतीति नहीं होती है। इसका वर्णन आगे प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकरण में करेंगे अत: प्रमाण और नय के द्वारा अर्थों का निश्चयात्मक अधिगम होता है।

प्रमाण और नयों के द्वारा अर्थों का अनिश्चयात्मक दर्शन या अनध्यवसाय स्वरूप ज्ञान नहीं होता है अत: सौगत का अनुमान सर्वथा अनुपपन्न है युक्तियों से सिद्ध नहीं है।

नार्थव्यवसायस्तद्व्यतिरेकेणार्थस्याभावादिति केचिद्वेदांतवादिनः, तेपि न तात्त्विकाः । पुरुषाद्भिन्नस्याजीवार्थस्य जीवादिसूत्रे साधितत्वात् तद्व्यवसायस्यापि घटनात्। अर्थस्यैव व्यवसायो न स्वस्य स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यपरः । सोपि यत्किंचनभाषी , स्वात्मन्येव क्रियायाः प्रतीतेः । स्वात्मा हि क्रियायाः स्वरूपं यदि तदा कथं तत्र तद्विरोधः सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपे विरोधानुषक्तेर्निःस्वरूपत्वप्रसंगात्। क्रियावदात्मा स्वात्मा चेत् , तत्र तद्विरोधे क्रियाया निराश्रयत्वं सर्वद्रव्यस्य च निष्क्रियत्वमुपढौकेत । न चैवं । कर्मस्थायाः क्रियायाः कर्मणि कर्तृस्थायाः कर्तरि प्रतीयमानत्वात् । यदि पुनः ज्ञानक्रियायाः कर्तृसमवायिन्याः स्वात्मनि कर्मतया

कोई वेदान्तवादी कहते हैं कि प्रमाण और नय के द्वारा पुरुष (आत्मा) का ही अधिगम (निश्चय) होता है, पदार्थों का निश्चय नहीं होता है, क्योंकि आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों का अभाव है। इसके उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि वे वेदान्तवादी भी तात्त्विक (वास्तविक तत्त्वों को जानने वाले) नहीं हैं। क्योंकि पुरुष से भिन्न अजीव पदार्थ की "जीवाजीवास्रव" आदि सूत्र में सिद्धि की है। इसलिए ज्ञान या आत्मा के सिवाय अर्थ का निर्णय होना घटित हो जाता है।

प्रमाण और नय के द्वारा अर्थ का ही निश्चय होता है, आत्मा का नहीं, क्योंकि स्वयं की स्वात्मा में क्रिया नहीं होती है ऐसा कोई (वैशेषिक) कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला यद्वातद्वाभावी है (योग्यायोग्य का विचार करने वाला नहीं है) क्योंकि स्वात्मा में ही क्रिया की प्रतीति होती है। यदि स्वात्मा ही क्रिया का स्वरूप है तो वहाँ स्वात्म क्रिया का विरोध कैसे है ? अन्यथा (यदि स्वात्मा में क्रिया नहीं मानेंगे तो) सभी वस्तुओं के स्वरूप में विरोध का प्रसंग होने से सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप रहितपने का प्रसंग आयेगा।

यदि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है, यहाँ स्वात्मा की अर्थक्रिया आधार स्वरूप अर्थ लिया जाय और ऐसा करने पर उस क्रियावान में उस क्रिया के रहने का विरोध माना जायेगा तब तो सम्पूर्ण क्रियायें आश्रय रहित हो जाएंगी और सम्पूर्ण द्रव्यों के क्रियारहितपने का प्रसंग आयेगा। परन्तु इस प्रकार क्रियाओं का निराधारपना और द्रव्यों की क्रिया दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, प्रत्युत् कर्म में रहने वाली सकर्म क्रिया का कर्म में रहना प्रतीत हो रहा है और कर्त्ता में रहने वाली अकर्मक क्रियाएँ कर्त्ता में स्थित देखी जाती हैं अर्थात् कर्म वाच्य-वाक्य में कर्म के अनुसार क्रिया देखी जाती है। "मया रोटिका खाद्यते" इस वाक्य में रोटी रूप कर्म के अनुसार क्रिया एकवचन प्रथम पुरुष है। "अहं रोटिकां खादामि" इस कर्तृ वाच्य में कर्त्ता "अहं" के अनुसार उत्तम पुरुष की क्रिया है, अतः कर्त्ता और कर्म के अनुसार क्रिया की प्रतीति होती है, अर्थात् क्रिया साश्रय है और द्रव्य सक्रिय है।

यदि फिर किसी का कथन हो कि कर्त्ता में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली ज्ञान क्रिया का अपने स्वरूप से कर्मत्व में रहने का विरोध है, क्योंकि उस अपने स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थ में ही कर्मपना देखा जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने पर तो "ज्ञान के द्वारा मैं अर्थ को जानता हूँ" इस स्थल में ज्ञान के करणत्व के साथ भी विरोध होगा क्योंकि कथंचित् क्रिया से भिन्न भी करण देखा जाता है (अर्थात्-वृक्ष को काटने वाला कुठार (करण) छेदन क्रिया से भिन्न है अतः ज्ञान क्रिया का कारण ज्ञान नहीं हो सकेगा।)

विरोधस्ततोन्यत्रैव कर्मत्वदर्शनादिति मतं, तदा ज्ञानेनार्थमहं जानामीत्यत्र ज्ञानस्य करणतयापि विरोधः स्यात् क्रियातोन्यस्य करणत्वदर्शनात् । ज्ञानक्रियायाः करणज्ञानस्य चान्यत्वादविरोध इति चेत् , किं पुनः करणज्ञानं का वा ज्ञानक्रिया ? विशेषणज्ञानं करणं विशेष्यज्ञानं तत्फलत्वात् ज्ञानक्रियेति चेत् , स्यादेवं यदि विशेषणज्ञानेन विशेष्यं जानामीति प्रतीतिरुत्पद्येत। न च कस्यचिदुत्पद्यते । विशेषणज्ञानेन विशेषणं विशेष्यज्ञानेन च विशेष्यं जानामीत्यनुभवात् । करणत्वेन ज्ञानक्रियायाः प्रतीयमानत्वादविरोधे कर्मत्वेनाप्यत एवाविरोधोस्तु , विशेषाभावात् । चक्षुरादिकरणं ज्ञानक्रियातो भिन्नमेवेति चेन्न, ज्ञानेनार्थं जानामीत्यपि प्रतीतेः। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुराद्येव ज्ञानक्रियायां साधकतमं करणमिति चेत् न , तस्य साधकतमत्वनिराकरणात् । तत्र ज्ञानस्यैव साधकतमत्वोपपत्तेः । ननु यदेवार्थस्य ज्ञानक्रियायां ज्ञानं करणं सैव ज्ञानक्रिया तत्र कथं क्रियाकरणव्यवहारः,

"ज्ञप्ति रूप ज्ञान क्रिया से करणरूप ज्ञान भिन्न है इसलिए भिन्न ज्ञान के द्वारा ज्ञप्ति रूप क्रिया हो जाने में कोई विरोध नहीं है ऐसा वैशेषिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वह करण ज्ञान क्या है ? क्या उस करण ज्ञान से भिन्न ज्ञप्ति क्रिया है ?

यदि विशेषण ज्ञान को करण और विशेष्य ज्ञान को विशेषण, ज्ञान के फल होने से ज्ञान की क्रिया कहते हो तो इस प्रकार कहना तब सिद्ध हो सकता है कि यदि विशेषण ज्ञान के द्वारा "मैं विशेष्य को जानता हूँ" ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती हो। परन्तु ऐसी प्रतीति किसी भी जीव को उत्पन्न नहीं होती है अपितु विशेषण ज्ञान के द्वारा विशेषण को और विशेष्य ज्ञान के द्वारा विशेष्य को जानता हूँ-ऐसी प्रतीति होती है (अर्थात् कृष्ण वर्ण के ज्ञान से गाय का ज्ञान नहीं होता है, अपितु कृष्ण वर्ण के ज्ञान से कृष्ण का और गाय के ज्ञान से गाय का ज्ञान होता है।)

"प्रतीति के अनुसार वस्तु की व्यवस्था होती है और ज्ञान क्रिया की करणत्व से ज्ञान के साथ रहने की प्रतीति हो रही है अतः कोई विरोध नहीं है" ऐसा वैशेषिक के कहने पर स्याद्वाद सिद्धान्त में भी कथंचित् भेद की अपेक्षा कर्मत्व और करणत्व में कोई अन्तर नहीं होने से, ज्ञान क्रिया का ज्ञान के साथ कर्मत्व को प्राप्त होने में कोई विरोध नहीं है-क्योंकि ऐसी प्रतीति होती है।

चक्षु, आलोक, सन्निकर्ष आदि करण, ज्ञान क्रिया से सर्वथा भिन्न हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि "मैं ज्ञान के द्वारा पदार्थ को जानता हूँ" ऐसी प्रतीति होती है।

"जिसके द्वारा जाना जाता है-वह ज्ञान है" अतः इस निरुक्ति अर्थ से "ज्ञान शब्द के अर्थ नेत्र आलोक आदि ही ज्ञान क्रिया के साधकतम करण होते हैं," ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि नेत्र आलोक आदि को ज्ञप्ति क्रिया के साधकतम का निराकरण किया गया है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा आलोक आदि ज्ञप्ति क्रिया के साधकतम करण नहीं हैं अपितु निमित्त कारण हैं क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया का साधकतम करणपना तो ज्ञान के ही सिद्ध है।

प्रतीतिकः स्याद्विरोधादिति चेन्न, कथंचिद्भेदात् । प्रमातुरात्मनो हि वस्तुपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्यापृतं रूपं करणं, निर्व्यापारं तु क्रियोच्यते , स्वातंत्र्येण पुनर्व्याप्रियमाणः कर्तात्मेति निर्णीतप्रायं। तेन ज्ञानात्मक एवात्मा ज्ञानात्मनार्थं जानातीति कर्तृकरणक्रियाविकल्पः प्रतीतिसिद्ध एव । तद्वत्तत्र कर्मव्यवहारोऽपि ज्ञानात्मा आत्मात्मानमात्मना जानातीति घटते । सर्वथा कर्तृकरणकर्मक्रियानामभेदानभ्युपगमात् , तासां कर्तृत्वादिशक्तिनिमित्तत्वात् कथंचिदभेदसिद्धेः । ततो ज्ञानं येनात्मनार्थं जानाति तेनैव स्वमिति वदतां स्वात्मनि क्रियाविरोध एव, परिच्छेद्यस्य रूपस्य सर्वथा परिच्छेदकस्वरूपादभिन्नस्योपगतेश्च । कथंचित्तद्भेदवादिनां तु

शंका : जो अर्थ की ज्ञानक्रिया करने में, ज्ञान करण है वही ज्ञान क्रिया है। उनमें करण और क्रिया का व्यवहार प्रमाण प्रतीतियों से सिद्ध कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञानकरण में और ज्ञानक्रिया में परस्पर विरोध है अर्थात् जो करण है वह क्रिया नहीं है और जो क्रिया है वह करण नहीं है ?

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में ज्ञप्ति क्रिया और करण ज्ञान में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है अर्थात् जैसे अग्नि का दाहक परिणाम और दाहक क्रिया कथंचित् भिन्न है, क्योंकि प्रमिति को करने वाला प्रमाता आत्मा वस्तु की ज्ञप्ति करने में प्रकृष्ट उपकारक रूप से व्यापार करने वाले स्वरूप को करण ज्ञान कहते हैं और व्यापार रहित शुद्धज्ञान रूप धातु अर्थ को ज्ञप्ति क्रिया कहते हैं तथा स्वतंत्र व्यापार करने वाला कर्त्ता कहलाता है। ऐसा बहुत बार निर्णीत कर दिया गया है इसलिए ज्ञान स्वरूप आत्मा ही स्वकीय ज्ञान स्वरूप के द्वारा ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा को और आत्मा से भिन्न जीवादि सारे पदार्थों को जानता है। इस प्रकार कर्त्ता, करण और क्रिया का विकल्प प्रतीतिसिद्ध ही है। उसी प्रकार ज्ञान में कर्मपना भी (कर्म का व्यवहार भी)। "ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को स्वकीय ज्ञान के द्वारा जानता है" यह घटित हो जाता है।

भावार्थ : प्रमिनोति जानता है, इस कर्त्तृवाच्य में 'युट्' प्रत्यय करने पर प्रमाण (ज्ञान) कर्तृ साधन हो जाता है। "प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणं" ऐसा कर्मवाच्य में 'युट्' प्रत्यय करने पर प्रमाण करण साधन हो जाता है। "प्रमितिमात्रं प्रमाणं" इस प्रकार भाव में 'युट्' प्रत्यय करने पर प्रमाण का अर्थ ज्ञप्ति क्रिया हो जाती है। **ज्ञान पदार्थ में अनेक स्वभाव हैं अतः भिन्न-भिन्न निमित्तों की अपेक्षा ज्ञान के कर्त्तापना, कर्मत्व, और क्रियात्व ये घटित हो जाते हैं।**

स्याद्वाद सिद्धान्त में कर्त्ता, कर्म और क्रिया में सर्वथा भेद स्वीकार नहीं किया गया है। उन कर्त्ता, कर्म और क्रिया में कर्त्तादि शक्ति के निमित्त से कथंचित् भेद की सिद्धि है। अथवा एक ही ज्ञान या आत्मा में कर्त्ता, कर्म और क्रिया का सर्वथा अभेद भी सिद्ध नहीं है, कथंचित् अभेद की सिद्धि है। "इसलिए ज्ञान जिस स्वरूप से जीवादि पदार्थों को जानता है उसी स्वरूप से अपने स्वरूप को भी जानता है" इस प्रकार कहने वाले के स्वात्मा में क्रिया का विरोध अवश्य है क्योंकि इस प्रकार कहने वाले के सिद्धान्त में, जानने योग्य स्वरूप को ज्ञापक स्वरूप कारणों से सर्वथा अभिन्न स्वीकार किया गया है परन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानने वाले स्याद्वादियों के सिद्धान्त में यह दोष नहीं आ सकता है।

नायं दोषः। ननु च येनात्मना ज्ञानमात्मानं व्यवस्यति येन चार्थं तौ यदि ततोनन्यौ तदा तावेव न ज्ञानं तस्य तत्र प्रवेशात्, स्वरूपवत् ज्ञानमेव वा तयोस्तत्रानुप्रवेशात्। तथाच न स्वार्थव्यवसायः। यदि पुनस्तौ ततोन्यौ, तदा स्वसंवेद्यौ स्वाश्रयज्ञानवेद्यौ वा? प्रथमपक्षे स्वसंविदितज्ञानत्रयप्रसंगः तत्र च प्रत्येकं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च। द्वितीयपक्षेपि स्वार्थव्यवसायहेतुभूतयोः स्वस्वभावयोर्ज्ञानं यदि व्यवसायात्मकं तदा स एव दोषोऽन्यथा प्रमाणत्वाघटनात्। ततो न स्वार्थव्यवसायः संभवतीत्येकांतवादिनामुपालंभः, स्याद्वादिनां

''बौद्ध का कथन स्याद्वाद सिद्धान्त में स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान है, वह ज्ञान जिस स्वरूप से अपना निश्चय करता है, अपने को जानता है और जिस स्वभाव से पदार्थों का निश्चय करता है वे ज्ञान के दोनों स्वभाव यदि ज्ञान से अभिन्न हैं तो ज्ञान के दो स्वभाव मानने चाहिए; ज्ञान को नहीं मानना चाहिए क्योंकि ज्ञान का उन दोनों स्वभावों में ही अन्तर्भाव हो जाता हैं। दोनों स्वभावों के स्वभाव का तादात्म्य सम्बन्ध है अतः दोनों स्वभावों में गर्भित हो जाता है।

यदि ज्ञान और ज्ञान के स्वभाव अभिन्न हैं तो अकेले ज्ञान को मानना चाहिए, उसके दो स्वभावों को नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये दोनों स्वभाव ज्ञान में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए स्वार्थ का निश्चय ज्ञान से नहीं होता है अर्थात् ज्ञान स्व को नहीं जानता है।

यदि वे दोनों स्वभाव ज्ञान से भिन्न हैं तब क्या वे दोनों स्वभाव अपने आपको स्वयमेव जान लेते हैं ? अथवा अपने आधारभूत ज्ञान के द्वारा दोनों जाने जाते हैं ? प्रथम पक्ष (अपने आपको स्वयमेव जानते हैं) को ग्रहण करने पर तो अपने आप अपने को जानने वाले तीन स्वसंवेदी ज्ञान मानने का प्रसंग आयेगा वा उनमें प्रत्येक को स्व और अर्थ का निश्चयात्मक मानने पर, पुनः दो प्रश्न उठेंगे अर्थात् दो स्वभाव वाले वे तीनों ज्ञान वा एक ज्ञान जिस स्वभाव से अपना और जिस स्वभाव से अर्थ का निर्णय करते हैं, वे स्वभाव ज्ञान से भिन्न हैं ? या अभिन्न हैं ? यदि स्वभाव ज्ञान से अभिन्न हैं तब तो दो स्वभाव मानने चाहिए, ज्ञान को नहीं, क्योंकि ज्ञान स्वभाव ज्ञान में गर्भित हो जायेगा। अथवा एक ज्ञान ही स्वीकार करना चाहिए,स्वभाव के दो भेद स्वीकार नहीं करने चाहिए क्योंकि वे दोनों स्वभाव ज्ञान में गर्भित हो जाते हैं। यदि ज्ञान से स्वभाव को भिन्न मानते हैं तो अपने आपको जानने के लिए तीन स्वसंवेदी ज्ञान के मानने का प्रसंग आयेगा। फिर भी प्रश्नमालाओं की शांति न होने से अनवस्था दोष आयेगा।

यदि द्वितीय पक्ष के अनुसार ज्ञान के भिन्न दो स्वभावों को उनके आधारभूत ज्ञान के द्वारा वेद्य माना जायेगा तो स्व और अर्थ के निश्चय कराने में कारणभूत उन अपने दोनों स्वभावों का ज्ञान यदि निश्चयात्मक है तब तो उपरिकथित वही अनवस्था दोष आयेगा अर्थात् भिन्न दो स्वभावों को ज्ञान के द्वारा स्व निश्चयात्मक मानने पर भिन्न-भिन्न अनेक स्वभावों की कल्पना करनी पड़ेगी और वे स्वभाव भी अपने-अपने आधारभूत ज्ञानों के द्वारा जानने योग्य होंगे अतः अनवस्था दोष आयेगा। अन्यथा (यदि अपने स्वभावों को जानने वाले ज्ञान यदि निश्चयात्मक नहीं होते हैं तो) उनमें प्रमाणत्व घटित नहीं हो सकता। क्योंकि जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण को निश्चयात्मक माना गया है परन्तु ज्ञान में स्वार्थ निश्चयात्मकत्व संभव नहीं है अर्थात् ज्ञान स्वार्थ निश्चयात्मक नहीं है। ''जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार एकान्तवादी के द्वारा कथित उपालंभ

न, यथाप्रतीति तदभ्युपगमात् स्वार्थव्यवसायस्वभावद्वयात् कथंचिदभिन्नस्यैकस्य ज्ञानस्य प्रतिपत्तेः । सर्वथा ततस्तस्य भेदाभेदयोरसंभवात्, तत्पक्षभाविदूषणस्य निर्विषयत्वाद्दूषणाभासतोपपत्तेः । परिकल्पितयोर्भेदाभेदैकांतयोस्तद्दूषणस्य प्रवृत्तौ सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसंगात् कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्थानुपपत्तेः । स्वसंवेदनमात्रमपि हि स्वरूपं संवेदयमानं येनात्मना संवेदयते तस्य हेतोर्भेदाभेदैकांतकल्पनायां यथोपवर्णितदूषणमवतरति किं पुनरन्यत्र । यदि पुनः संवेदनं संवेदनमेव , तस्य स्वरूपे वेद्यवेदकभावात् संवृत्या तत्स्वरूपं संवेदयत इति वचनं तदा स्वार्थव्यवसायः । स्वार्थव्यवसाय एव स्वस्यार्थस्य च व्यवसाय इत्ययोद्धारकल्पनया नयव्यवहारात् । ततो नासंभवः । स्वार्थविनिश्चयस्य स्वसंवेदनेर्थव्यवसायासत्त्वादव्याप्तिरिति चेन्न, ज्ञानस्वरूपस्यैवार्थत्वात् तस्यार्यमाणत्वादन्यथा बहिरर्थस्याप्यनर्थत्वप्रसंगात् । ननु स्वरूपस्य बाह्यस्य

(उलाहना) स्याद्वाद सिद्धान्तवादी के प्रति लागू नहीं होता है क्योंकि स्याद्वादी प्रतीति के अनुसार उस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। स्वका निश्चय करने वाले और अर्थ को निश्चय करने वाले दोनों ज्ञान के स्वभाव ज्ञान से कथञ्चित् अभिन्न हैं, ऐसे एक ज्ञान के प्रतीत होते हैं अर्थात् **एक ज्ञान ही स्वार्थ परार्थ का निश्चय करता है यह ज्ञान का स्वभाव है।** ज्ञान से ज्ञान के स्वभाव सर्वथा भिन्न या अभिन्न नहीं हैं अर्थात् उनमें भेद और अभेद की असंभवता है। स्वभाव और स्वभाववान में कथंचित् भेद और अभेद स्वीकार करने पर बौद्ध द्वारा कथित अनवस्था दोष स्याद्वाद सिद्धान्त में लागू नहीं होते हैं अतः बौद्धों के द्वारा दिया गया दूषण निर्विषय होने से दूषणाभास है।

अन्य वादियों के द्वारा कल्पित भेद एकान्त या अभेद एकान्त में अनवस्था दूषण की प्रवृत्ति होने पर सर्वत्र प्रमाण सिद्ध पदार्थों में भी अनेक दूषणों की प्रवृत्ति का प्रसंग आता है क्योंकि किसी भी वादी के स्वकीय इष्टतत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती। स्व संवेदन मात्र भी अपने स्वरूप का संवेदन करता हुआ जिस स्वरूप से संवेदन करता है, उस स्वभाव का अपने कारणभूत संवेदन से सर्वथा भेद या एकान्त अभेद रूप कल्पना करने पर उपरि कथित दोषों का अवतार (उत्पत्ति) हो सकता है परन्तु अनेकान्तवाद में दूषण नहीं है और तो कहना ही क्या? एकान्तवाद में सर्वत्र दूषण आ सकते हैं।

यदि पुनः कहो कि संवेदन तो संवेदन रूप ही है उस संवेदन का अपने स्वरूप में ही वेद्य और वेदकपना है वह संवेदन स्वकीय स्वरूप को ही जानता है संवृत्ति (व्यवहार) से स्व स्वरूप का वेदन करता है, ऐसा भेदरूप वचन कहा जाता है। वस्तुतः अकेले संवेदन में कर्त्ता, कर्म, क्रिया कैसे बन सकते हैं ? इस प्रकार कहने वाले बौद्धों के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो स्व और अर्थ का निर्णय करना तो स्वार्थ का निर्णय करना है। स्व और अर्थ का निश्चय करना यह भेद कथन व्यवहार नय से कल्पित है अतः स्व और अर्थ का निश्चय करना दोष से दूषित या असंभव नहीं है।

स्वार्थ के निश्चय का स्व से वेदन करने में बाह्य पदार्थ का निश्चय होना विद्यमान नहीं है, अतः प्रमाण के स्वार्थ विनिश्चय इस लक्षण की अव्याप्ति है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ ज्ञान का स्वरूप ही अर्थ हो जात्ता है। ''अर्य्यते गम्यत इत्यर्थः'' इस निरुक्ति से जो 'जाना जाता है' अपने पर्यायों का अनुगत

चार्थत्वेऽर्थव्यवसाय इत्यस्तु , नार्थः स्वग्रहणेन । सत्यं । केवलं स्वस्मै योग्योर्थः स्वात्मा परात्मा तदुभयं वा स्वार्थ इत्यपि व्याख्याने तद्ग्रहणस्य सार्थकत्वान्न दोषः । स्वरूपलक्षणेर्थे व्यवसायस्याप्रमाणेपि भावादतिव्याप्तिरितिचेत् न, तत्र सर्ववेदनस्य प्रमाणत्वोपगमात्। न च प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्र विरोधः, संवादासंवाददर्शनात्तथा व्यवस्थानात् । सर्वत्र प्रमाणेतरत्वयोस्तावन्मात्रायत्तत्वादिति वक्ष्यते । चक्षुर्दर्शनादौ

करता है वह अर्थ है, अतः वह ज्ञान का स्वरूप ही गम्यमान होने के कारण अर्थ है। अन्यथा बाह्य घटादि पदार्थों के भी अनर्थ का प्रसंग आयेगा।

भावार्थ : अर्थ शब्द की निरुक्ति से जैसे घट, पट, आदि बाह्य पदार्थ अर्थ हैं और ज्ञान के विषय हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थ है और ज्ञान का विषय है यदि ज्ञान को अर्थ नहीं मानेंगे तो बाह्य पदार्थ भी अर्थ नहीं हो सकते।

शंका : यदि अंतरंग ज्ञान के स्वरूप को और बहिरंग घट, स्वलक्षण, आदि पदार्थों को अर्थपना इष्ट है, तो प्रमाण का लक्षण 'अर्थ का व्यवसाय करना' इतना ही कहना चाहिए, स्वपद के ग्रहण से कोई प्रयोजन नहीं है।

समाधान : तुम्हारा कहना सत्य है परन्तु 'स्व' शब्द का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जो प्रमाण का विषय अर्थ है, वह स्व के लिए योग्य होना चाहिए अर्थात् स्व (ज्ञान) के लिए योग्य अर्थस्वरूप है और अन्य पर रूप है अथवा दोनों का स्वरूप स्वार्थ है, इस प्रकार निरुक्ति अर्थ करने पर स्व का ग्रहण करना ही प्रयोजनीभूत है। अथवा स्वात्मा, परात्मा और उभय अर्थ को स्वार्थ कहते हैं अर्थात् स्वपद के बिना ''स्वयं ज्ञान के योग्य स्व, पर और उभय अर्थ का ज्ञान द्वारा निर्णय होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता अतः स्व, पर और उभय का अर्थ स्वार्थ करने पर 'स्व' का ग्रहण करना सार्थक होने से 'स्व' का ग्रहण दोष नहीं है।

''स्वरूप लक्षण को अर्थ मानने पर संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अप्रमाण ज्ञानों में भी व्यवसाय का सद्भाव होने से अतिव्याप्ति दोष आता है अर्थात् जैसे प्रमाण ज्ञान में वस्तु का निश्चय है उसी प्रकार अप्रमाण में भी वस्तु का निश्चय पाया जाता है अतः स्वार्थ निश्चयात्मक प्रमाण का लक्षण लक्ष्य (प्रमाण) और अलक्ष्य (अप्रमाण) में जाने से अतिव्याप्ति दोष से दूषित है ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि स्वकीय स्वरूप को जानने में प्रमाण, अप्रमाण रूप सभी ज्ञानों को इष्ट किया है। तथा प्रमाण और अप्रमाण के एकत्र स्थान में रहने का विरोध भी नहीं है। स्वज्ञान अंश को जानने में मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान दोनों प्रमाणभूत हैं क्योंकि एक ही ज्ञान संवाद-असंवाद रूप देखा जाता है तथा मिथ्याज्ञान में भी स्व को जानने की अपेक्षा संवादकत्व और पर पदार्थों को जानने की अपेक्षा असंवादकत्व है अतः एक मिथ्याज्ञान में प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था है क्योंकि सभी ज्ञानों में प्रमाणपना और अप्रमाणपना केवल संवादकत्व[१] और असंवादकत्व के आधीन है ? इसका वर्णन आगे करेंगे।

१. स्वविषय की निश्चिति को संवादकत्व और अनिश्चिति को विसंवाद कहते हैं।

किंचिदिति स्वार्थविनिश्चयस्य भावादतिव्याप्तिरित्यपि न शंकनीयं , आकारग्रहणात् । न हि तत्र स्वार्थाकारस्य विनिश्चयोस्ति निराकारस्य सन्मात्रस्य तेनालोचनात् । विपर्ययज्ञाने कस्यचित्कदाचित् क्वचित्स्वार्थाकारनिश्चयस्य भावादपि नातिव्याप्तिर्विग्रहणात् । विशेषेण देशकालनरांतरापेक्षबाधकाभावरूपेण निश्चयो हि विनिश्चय:, स च विपर्ययज्ञाने नास्तीति निरवद्य: स्वार्थाकारविनिश्चयोधिगम: कात्स्न्र्यत: प्रमाणस्य देशतो नयानामभिन्नफलत्वेन कथंचित्प्रत्येय: प्रमाणनयतत्फलविद्भि: । एवं च प्रमाणनयैरधिगम इत्यत्र सूत्रे प्रमाणनयानां यत्करणत्वेन वचनं सूत्रकारस्य तद्घटनां यात्येव, तेभ्योधिगमस्य फलस्य कथंचिद्भेदसिद्धे: ॥

सारूप्यस्य प्रमाणस्य स्वभावोधिगम: फलम् । तद्भेद: कल्पनामात्रादिति केचित्प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

संवेदनस्यार्थेन सारूप्यं प्रमाणं तत्र ग्राहकतया व्याप्रियमाणत्वात् पुत्रस्य पित्रा सारूप्यवत् । पितृस्वरूपो हि पुत्र: पितृरूपं गृह्णातीति लोकोभिमन्यते न च तत्त्वतस्तस्य ग्राहको नीरुपत्वप्रसंगात् । तद्वदर्थसरूपसंवेदनमर्थं

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि में 'कुछ है' ऐसा महासत्ता के आलोचनरूप स्व और अर्थ का निश्चय हो जाने से प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि स्व आकार के अर्थ के निश्चय करने वाले प्रमाण में वस्तु के आकार का ग्रहण होता है परन्तु निर्विकल्प दर्शन में स्वार्थ का विनिश्चय नहीं है। दर्शन में केवल सामान्य सत्ता मात्र का अवलोकन होता है अत: विशेष रूप से स्वार्थाकार का निर्णय कराने वाले प्रमाण, नय ज्ञान नहीं हैं।

किसी व्यक्ति को किसी काल में किसी स्थल पर विपर्यय ज्ञान में अपने अर्थ के आकार का सद्भाव होंन से 'स्वार्थ निश्चयात्मक' प्रमाण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है क्योंकि विनिश्चय में वि पद का ग्रहण है, विशेष रूप से देशकाल और मनुष्यों की अपेक्षा बाधा के अभाव रूप से निश्चय को विनिश्चय कहते हैं। वह विनिश्चय विपर्यय ज्ञान में नहीं है, इस प्रकार निर्दोष स्वार्थाकार के विनिश्चय का सम्पूर्ण रूप से अधिगम करने वाले प्रमाण का और एकदेश पदार्थों का विनिश्चय करने वाले नयों का अभिन्न फलस्वरूप से कथंचित् मिर्णय होता है अर्थात् एकदेश रूप से पदार्थ का निश्चय करने वाले नयों के और सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले प्रमाण को जानने वाले विद्वानों को उन नय और प्रमाणों के स्वार्थ के निश्चयात्मक फल को नय और प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, ऐसा समझना चाहिए।

''प्रमाणनयैरधिगम:'' इस सूत्र में प्रमाण और नयों का जो तृतीयान्त करण (विभक्ति) से कथन किया है इसमें सूत्रकार का वचन घटित हो ही जाता है, अत: नय और प्रमाण से अधिगम रूप फल कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सिद्ध होता है।

सारूप्य प्रमाण का स्वभाव ही अधिगम है और वही फल है अत: कल्पना मात्र से प्रमाण और उसके अधिगम रूप फल को भेद रूप मान लिया जाता है, वास्तव में कोई भेद नहीं है, ऐसा कोई (बौद्ध) कहते हैं ॥३०॥

संवेदन का (ज्ञान का) अर्थ के साथ तदाकार हो जाना ही प्रमाण है। क्योंकि उस आकार को देने वाले विषय में ग्राहकपने से प्रमाण व्यापार करता है। जैसे कि पुत्र को पिता के साथ घटना कराने वाला

गृह्णातीति व्यवहरतीति तत् तस्य ग्राहकत्वात् प्रमाणमर्थाधिगतिः फलं तस्य तदर्थत्वात् । न च संवेदनादर्थसारूप्यमन्यदेव स्वसंवेद्यत्वादधिगतिवत् । न ह्यधिगतिः संवेदनादन्या तस्यानधिगमप्रसंगात् । ततस्तदेव प्रमाणं फलं न पुनः प्रमाणात्तत्फलं भिन्नमन्यत्र कल्पनामात्रादिति केचित् ॥

तन्न युक्तं निरंशायाः संवित्तेर्द्वयरूपतां । प्रतिकल्पयतां हेतुविशेषासंभवित्वतः ॥ ३१ ॥

न हि निरंशां संवित्तिं स्वयमुपेत्य प्रमाणफलद्वयरूपतां तत्त्वप्रविभागेन कल्पयंतो युक्तिवादिनस्तथा कल्पने हेतुविशेषस्यासंभवित्वात् ॥

विना हेतुविशेषेण नान्यव्यावृत्तिमात्रतः । कल्पितोर्थोर्थसंसिद्ध्यै सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ३२ ॥

न हि निमित्तविशेषाद्विना कल्पितं सारूप्यमन्यद्वा किंचिदर्थं साधयति, मनोराज्यादेरपि तथानुषंगात्।

पिता का सदृश आकार है क्योंकि "पितास्वरूप पुत्र पिता के रूप को ग्रहण करता है" यह लोक मानते हैं किन्तु वस्तुतः विचार करने पर पुत्र उस पिता के आकार को ग्रहण नहीं करता है। यदि एकान्त से ऐसा मान लिया जाय तो पिता के निःस्वरूपत्व का प्रसंग आता है अर्थात् स्वकीय आकार को पुत्र को दे देने पर पिता के आकार का अभाव हो जायेगा उसी प्रकार अर्थ के आकार वाला ज्ञान स्वरूप संवेदन अर्थ को ग्रहण करता है, यह केवल लोक व्यवहार है कि ज्ञेय का ग्राहक होने से ज्ञान प्रमाण है और अर्थ का अधिगम होना प्रमाण का फल है, क्योंकि उस प्रमाण की उत्पत्ति अर्थाधिगम के लिए होती है। अर्थाकारता संवेदन (ज्ञान से) अन्य नहीं है। जैसे स्वसंवेद्य होने से अधिगम प्रमाण से भिन्न नहीं है क्योंकि अधिगति संवेदना से अन्य नहीं है। अन्यथा (यदि अधिगति को प्रमाण से भिन्न माना जायेगा तो) संवेदन के भी अनधिगमत्व का प्रसंग आयेगा अतः वही प्रमाण है और वही फल है। प्रमाण से भिन्न कोई दूसरा प्रमाण का फल नहीं है केवल प्रमाण और प्रमाण से भिन्न फल की कल्पना करना मात्र है। ऐसा कोई बौद्ध कहते हैं। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं:

उपरिकथित बौद्धों का कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि निरंश (निःस्वभाव) संवित्ति के प्रमाण और प्रमाण के फलस्वरूप दो रूपता की कल्पना करने वालों के यहाँ हेतु विशेष की असंभवता है॥३१॥

स्वभाव, अतिशय, धर्म आदि अंशों से सर्वथा रहित माने गये संवेदन को स्वीकार कर तत्त्वों के प्रकृष्ट विभाग करके प्रमाण और फल इन दो की कल्पना करने वाले बौद्ध युक्तिपूर्वक कहने वाले नहीं हैं क्योंकि निःस्वभाव पदार्थ में किसी विशेष हेतु का होना संभव नहीं है।

हेतु विशेष के बिना अन्य व्यावृत्ति मात्र से कल्पित अर्थ प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं है अन्यथा सर्वथा अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् केवल अप्रमाण व्यावृत्ति से प्रमाणपना और अफल व्यावृत्ति से फलपना ज्ञान में व्यवस्थित नहीं हो सकता ॥३२॥

वहाँ निमित्त विशेष के बिना कल्पित सारूप्य अथवा अन्य मनोराज्य (मनोमोदक, मानसिक कल्पना विरचित कामिनी आदि) किसी भी अर्थ को सिद्ध नहीं करते हैं। कल्पित वस्तु यदि कार्य सिद्ध करेगी तो मनोराज्यादि के भी कार्य सिद्धि कराने का प्रसंग आयेगा।

नाप्यसारूप्यव्यावृत्तित: सारूप्यं अनधिगतिव्यावृत्तितोधिगति: संवेदनेनंशेपि वस्तुतो व्यवह्रियत इति युक्तं, दरिद्रेप्यराज्यव्यावृत्त्या राज्यं अनिंद्रत्वव्यावृत्त्या इंद्रत्वमित्यादिव्यवहारानुषंगात् । यदि पुनस्तत्र राज्यादेरभावात्तद्व्यावृत्तिरसिद्धा तदा संवेदनस्य सारूप्यादिशून्यत्वात् कथमसारूप्यादि-व्यावृत्ति: ? यतस्तन्निबंधनं सारूप्यकल्पनं तस्यात्र स्यात् । ततो न साकारो बोध: प्रमाणम्॥

प्रतिकर्मव्यवस्थानस्यान्यथानुपपत्तित:। साकारस्य च बोधस्य प्रमाणत्वापवर्णनम्॥ ३३ ॥

क्षणक्षयादिरूपस्य व्यवस्थापकता न किम् । तेन तस्य स्वरूपत्वाद्विशेषांतरहानित: ॥ ३४ ॥

यथैव हि नीलवेदनं नीलस्याकारं बिभर्ति तथा क्षणक्षयादेरपि तदभिन्नत्वाद्विशेषांतरस्य चाभावात् । ततो नीलाकारत्वान्नीलवेदनस्य नीलव्यवस्थापकत्वे क्षणक्षयादिव्यवस्थापकतापत्तिरन्यथा तदाकारेण

बौद्ध : असारूप्य व्यावृत्ति से सारूप्य और अनधिगति की व्यावृत्ति से अधिगति होती है, अत: वस्तुत: निरंश संवेदन में भी इस प्रकार का व्यवहार होता है। इस प्रकार भी बौद्धों का कथन करना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि यदि निरंश संवेदन में अनधिगत की व्यावृत्ति से अधिगत रूप फल का और असारूप्य व्यावृत्ति से सारूप्य का ज्ञान हो जाता है, तब तो दरिद्र पुरुष में अराज्य की व्यावृत्ति से राज्य और अनिंद्रत्व की व्यावृत्ति से इन्द्रत्व इत्यादि के व्यवहार का प्रसंग आयेगा।

यदि कहो कि उस दरिद्र में राज्य आदि का अभाव होने से अराज्य व्यावृत्ति आदि की सिद्धि नहीं है तब तो आचार्य कहते हैं कि जब निरंश संवेदन सारूप्य, अधिगम आदि स्वभावों से शून्य है, तब उस निरंश संवेदन से असारूप्य व्यावृत्ति कैसे हो सकती है? जिससे कि उन व्यावृत्तियों को कारण मानकर उस संवेदन को प्रमाण रूप सारूप्य (तदाकार) की और अधिगम रूप फल की कल्पना करना हो सके अत: बौद्धों के द्वारा स्वीकृत साकार बौद्ध (ज्ञान) प्रमाण नहीं है।

भावार्थ : आकार का अर्थ, स्व और अर्थ का विकल्प करना है, ऐसा ज्ञान तो प्रामाणिक है यह जैन सिद्धान्त है परन्तु आकार का अर्थ प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना है ऐसा साकार ज्ञान प्रमाण नहीं है।

बौद्ध का कथन- ज्ञान को साकार माने बिना प्रतिनियत विषय को जानने की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए प्रतिबिम्ब को धारण करने वाले, साकार ज्ञान को प्रमाण कहा है ॥३३॥ अर्थात् घट ज्ञान को घटाकार स्वीकार किये बिना घट ज्ञान, घट को ही जानता है, यह व्यवस्था नहीं हो सकती।

जैनाचार्य प्रत्युत्तर में कहते हैं-यदि ज्ञान तदाकार है तो ज्ञान क्षणिकत्व स्वर्ग, मन शक्तित्व आदि स्वरूप की व्यवस्था को क्यों नहीं करा देता है, उन क्षणक्षयादिक का उन नीलादिक के साथ अभेद होने के कारण ज्ञान में तदाकारता है, स्वस्वरूपता है। अन्य कोई विशेषता नहीं है॥३४॥

अर्थात् आत्मा की स्वर्ग प्रापण शक्ति को जानने के लिए भी आत्मज्ञान से भिन्न ज्ञान उपयोगी होते हैं। जिस प्रकार नील स्वलक्षण को जानने वाला निर्विकल्पक ज्ञान नील के आकार को धारण करता है, वैसे ही नील के स्वभाव स्वरूप क्षणिकत्व, अणुत्व आदि क्षणक्षयादिक के आकारों को भी धारण करता है, क्योंकि क्षणक्षयादि आकार ज्ञान से अभिन्न हैं, तथा नील के आकार क्षणिकत्व आदि के आकारों के धारण में भेदसूचक अन्य कोई विशेषता नहीं है अर्थात् विशेषान्तर का अभाव है अत: नीलाकारत्व होने

व्यभिचारात् न तदाकारत्वात्तद्व्यवस्थापकत्वं साध्यते । किं तर्हि तद्व्यवस्थापकत्वात्तदाकारत्वमिति चेन्न, स्वरूपव्यवस्थापकत्वेनानेकांतात् ॥

प्रमाणं योग्यतामात्रात्स्वरूपमधिगच्छति । यथा तथार्थमित्यस्तु प्रतीत्यनतिलंघनात् ॥ ३५ ॥

स्वरूपेपि च सारूप्यान्नाधिगत्युपवर्णनम् । युक्तं तस्य द्विनिष्ठत्वात् कल्पितस्याप्यसंभवात् ॥ ३६ ॥

से (नील का आकार धारण करने से) नील संवेदन(ज्ञान) को नील विषय का व्यवस्थापक मान लेने पर क्षण क्षयादिक की व्यवस्थापना की आपत्ति आएगी, अर्थात् प्रतिक्षण नष्ट होने वाले पदार्थों के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने का विकल्प-संवेदन में हीन मानना पड़ेगा अन्यथा (यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो) तदाकार के द्वारा विषय व्यवस्था करने में अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा अर्थात् पदार्थों के आकार को तो ज्ञान जानता है-उसी प्रकार क्षणक्षयादि के आकार का विकल्प भी ज्ञान में होता है, क्योंकि क्षणक्षयादि भी आकारवान है, परन्तु बौद्ध मत में क्षणक्षयादिक के आकार को ग्रहण करने वाला नहीं माना है।

बौद्ध कहता है कि पदार्थ के आकार को ग्रहण करने रूप पदार्थ ज्ञान पदार्थ विषय की व्यवस्था करा देता है, इस प्रकार ज्ञान में तदाकारत्व से 'तत्'(उस) की व्यवस्था करा देने को सिद्ध नहीं किया गया है।

प्रश्न : किसकी व्यवस्था सिद्ध की जाती है ?

उत्तर : तत् (वह है उसकी) की व्यवस्था करा देने से ही ज्ञान तत् (पदार्थ) के आकार को धारण करने वाला है, इसलिए व्यभिचार नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि यह बौद्ध का कथन समीचीन नहीं है-क्योंकि ज्ञान के द्वारा स्वकीय स्वरूप की व्यवस्था करा देने रूप से अनैकान्तिक दोष आता ही है, अर्थात् ज्ञान जिस पदार्थ की व्यवस्था करता है, उसका आकार अवश्य लेता है, यह व्याप्ति ठीक नहीं है क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अपने ज्ञानस्वरूप का व्यवस्थापक तो है-परन्तु ज्ञान में ज्ञान का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। जिस प्रकार प्रमाण (ज्ञान) अपनी योग्यता मात्र से ही स्वकीय स्वरूप को जान लेता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वकीय योग्यता से पदार्थों को भी जान लेता है, ऐसी प्रतीति होती है और प्रतीति के अनुसार ही वस्तु की व्यवस्था होती है, इससे प्रतीति का उल्लंघन भी नहीं होता है अर्थात् ज्ञान में विषयों का आकार मानने से प्रतीति अतिक्रम होता है, क्योंकि स्मृति ज्ञान के द्वारा मृत मनुष्य को जानने पर या भूतकालीन पदार्थ का स्मरण करने पर अथवा ज्योतिष शास्त्र के द्वारा सूर्य-चन्द्र के ग्रहण जानने में पदार्थ का आकार प्रतिबिम्बित नहीं होता है अत: ज्ञान को पदार्थ के प्रतिबिम्ब रहित मानने पर प्रतीति का उल्लंघन नहीं होता है॥३५॥

ज्ञान के स्वरूप में पदार्थों का तदाकार होने पर ही ज्ञान का अधिगम होता है-यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है-क्योंकि तदाकारता द्विनिष्ठ (प्रतिबिम्ब्य और प्रतिबिम्बक दोनों में रहने वाला धर्म) है अत: कल्पित तदाकारता अकेले ज्ञान में असंभव है। यदि अकेले ज्ञान में तदाकार की कल्पना करते हैं तो अनवस्था दोष आता है अर्थात् जैसे प्रतिबिम्बक दर्पण में प्रतिबिम्ब्य दर्पण का आकार पड़ना माना जाएगा तो प्रतिबिम्ब्य दर्पण भी तो प्रतिबिम्बक हो जाएगा उसी प्रकार प्रतिबिम्बक ज्ञान में प्रतिबिम्ब्य ज्ञान का आकार पड़ना मानना पड़ेगा फिर उसको जानने के लिए दूसरा ज्ञान मानना पड़ेगा अत: अनवस्था दोष होने

कल्पने वानवस्थानात् कुतः संवित्तिसंभवः । स्वार्थेन घटयत्येनां प्रमाणे स्वावृतिक्षयात् ॥ ३७ ॥

नायं दोषस्ततो नैव सारूप्यस्य प्रमाणता । नाभिन्नोधिगमस्तस्मादेकांतेनेति निश्चयः ॥ ३८ ॥

स्वरूपे प्रतिनियमव्यवस्थापकत्वं संवेदनस्य सारूप्यापायेपि ब्रुवाणः कथमर्थे सारूप्यं ततः साधयेत्। निराकारस्य बोधस्य केनचिदर्थेन प्रत्यासत्तिविकर्षाभावात् सर्वैकवेदनापत्तिरित्ययुक्तं, स्वरूपसंवेदनस्यापि तथा प्रसंगात् । ननु च संवेदनमसंवेदनाद्भिन्नं स्वकारणात्तदुत्पन्नं स्वरूपप्रकाशकं युक्तमेव अन्यथा तस्यासंवेदनत्वप्रसक्तेरिति चेत् ,तर्ह्यर्थसंवेदनमप्यनर्थसंवेदनाद्भिन्नं स्वहेतोरुपजातमर्थप्रकाशकमस्तु तस्यान्यथानर्थसंवेदनत्वापत्तिरिति समानं । सर्वस्यार्थस्य प्रकाशकं कस्मान्नेति चेत् , स्वसंवेदनमपि पररूपस्य

से पदार्थों की संवित्ति होना कैसे संभव हो सकेगी ? (अर्थात् तदाकारता ज्ञान कराती है-यह घटित नहीं होता है।)अपितु स्वावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से ज्ञान को अपने विषय के साथ सम्बन्ध करा देने वाले प्रमाण के मानने पर कोई दोष नहीं आता है, अर्थात् पट का ज्ञान पट को जानता है, इसका कारण पट ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है, अतः बौद्धों के द्वारा स्वीकृत तदाकारता को प्रमाणता नहीं है। और न प्रमाण से सर्वथा एकान्त रूप से भिन्न अधिगम प्रमाण का फल है अतः स्वावरण क्षयोपशम लक्षण योग्यता ही प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था करती है॥३६-३७-३८॥

संवेदन (ज्ञान) के अपने स्वरूप में तदाकारता न होते हुए भी प्रतिनियत विषय की व्यवस्थापकता को कहने वाला उस प्रतिनियत विषय की व्यवस्थापकता से अर्थ में भी तदाकारता को कैसे सिद्ध करा सकेगा? अर्थात् नहीं करा सकता।

निराकार ज्ञान का किसी अर्थ के साथ निकटता या दूरता का अभाव होने से सर्व पदार्थों का एक ज्ञान के द्वारा वेदन होने का प्रसंग आएगा, ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को निराकार माना है अतः उस संवेदन प्रत्यक्ष के भी सम्पूर्ण पदार्थों के एक साथ ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा।

प्रश्न : अस्वसंवेदन से भिन्न स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वकीय कारणों से उत्पन्न स्वरूप प्रकाशक है, यह युक्त ही है। अन्यथा (यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को स्वप्रकाशक नहीं माना जाता है तो) उसके असंवेदन का प्रसंग आता है।

उत्तर : जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो अनर्थ संवेदन से भिन्न स्वकीय क्षयोपशम आदि कारणों से उत्पन्न अर्थ संवेदन भी अर्थ का प्रकाशक हो जाता है अन्यथा (यदि अर्थसंवेदन में भी तज्जन्यता, तदाकारता आदि विशेषण लगाये जायेंगे तो) उसके अनर्थसंवेदन का प्रसंग आएगा। इस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त का स्वसंवेदन और स्याद्वाद सिद्धान्त का अर्थ संवेदन दोनों समान ही हैं, दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

जब ज्ञान में विषयों का आकार ही नहीं है तो वह ज्ञान सभी पदार्थों का प्रकाशक क्यों नहीं होता है ? ऐसा सौगत के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों के द्वारा स्वीकृत निराकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान भी अन्य सभी पर पदार्थों का प्रकाशक क्यों नहीं होता है? यदि बौद्ध कहे कि स्वसंवेदन में स्वस्वरूप

कस्मान्न प्रकाशकं ? स्वरूपप्रकाशने योग्यतासद्भावात् । पररूपप्रकाशने तु तदभावादिति चेत् , प्रतिनियतार्थप्रकाशने सर्वार्थप्रकाशनाभावात् समः परिहारः । प्रतीत्यनतिलंघनस्याप्यविशेषात् संवृत्त्या सारूप्येपि संवेदनस्य सारूप्यादधिगतिरित्ययुक्तं , तस्य द्विष्ठत्वादेकत्रासंभवात् । ग्राह्यस्य स्वरूपस्य ग्राहकात् स्वरूपाद्भेदकल्पनया तस्य तेन सारूप्यकल्पनाददोष इति चेत् । तदपि ग्राह्यं ग्राहकं च स्वरूपं । यदि स्वसंविदितं तदान्यग्राह्यग्राहकस्वरूपकल्पने प्रत्येकमनवस्था । तदस्वसंविदितं चेत् कथं संवेदनस्वरूपमिति यत्किंचिदेतत् । न चायं दोषः समानः संवित्तिं स्वार्थेन घटयति सति प्रमाणे स्वावरणक्षयात् क्षयोपशमाद्वा तथास्वभावत्वात् प्रमाणस्य । तन्न सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमेकांततोनर्थान्तरं तत इति निश्चितम्॥

प्रकाशन की ही योग्यता है, पर पदार्थ के प्रकाशन की योग्यता का अभाव है, इसलिए वह परप्रकाशक नहीं है-तो स्याद्वादी कहते हैं कि-पट ज्ञान में स्वनियत पट को प्रकाशन करने की योग्यता का सद्भाव है-सर्व पदार्थों के प्रकाशन करने की योग्यता का अभाव है, अतः हमारा और तुम्हारा कथन समान ही है और दोषों का परिहार भी समान है और स्वावरण कर्म क्षयोपशम रूप योग्यता को मान लेने पर तो प्रतीतियों की उल्लंघना नहीं कराना हमारे और तुम्हारे समान ही हैं।

संवृत्ति (व्यवहार) से कल्पित संवेदन की तदाकारता में भी तदाकारता से ही स्व का अधिगम होना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि तदाकारता (सदृशत्व) द्विष्ठत्व (दो में रहती) है। संयोग, सदृश आदि दो पदार्थों का एक पदार्थ में रहना असंभव है।

यदि बौद्ध कहे कि ग्राह्य और ग्राहक के भेद से स्वसंवेदन के दो अंश हैं, अतः ग्राह्य (आकार को अर्पण करने वाला) स्वरूप की ग्राहक (आकार को ग्रहण करने वाला) स्वभाव से भेद कल्पना करने से उसकी उसके साथ तदाकारता की कल्पना कर लेने पर कोई दोष नहीं आता है, तो जैनाचार्य कहते हैं कि स्वसंवेदन के दोनों ग्राह्य और ग्राहक स्वरूप यदि स्व का संवेदन करने वाले हैं, तब तो फिर इनमें दूसरे ग्राह्य ग्राहकत्व स्वरूप की कल्पना करनी पड़ेगी।

इस प्रकार ग्राह्य और ग्राहकत्व प्रत्येक की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है। यदि अनवस्था के भय से उन स्वसंवेदन के ग्राह्य-ग्राहक स्वरूपों को स्वसंविदित नहीं मानेंगे तो स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकेगा? अतः सौगत का निरूपण वस्तु के स्वरूप का वास्तविक कथन नहीं है। इसमें कुछ भी सार नहीं है, यद्वा तद्वा कथन है।

तथा उक्त दोष बौद्धों के समान स्याद्वाद सिद्धान्त में लागू नहीं है, क्योंकि प्रमाणज्ञान संवित्ति को अपने विषय के साथ स्वावरणों के क्षय अथवा क्षयोपशम से संयोजन करा रहा है। ऐसा होने देने पर विषय और विषयी का स्वावरण क्षयोपशम स्वरूप योग्यता ही सम्बन्ध करा देती है-क्योंकि प्रमाण का ऐसा ही स्वभाव है इसलिए विषय की तदाकारता ही प्रमाण है और एकान्त रूप से प्रमाण से सर्वथा अभिन्न उस का फल है, ऐसा सिद्ध नहीं होता है यह निश्चित है।

भिन्न एवेति चायुक्तं स्वयमज्ञानतामितः । प्रमाणस्य घटस्यैव परत्वात् स्वार्थनिश्चयात् ॥ ३९ ॥

यत्स्वार्थाधिगमादत्यंतं भिन्नं तदज्ञानमेव यथा घटादि । तथा च कस्यचित्प्रमाणं न वाज्ञानस्य प्रमाणता युक्ता ॥

चक्षुरादि प्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते । न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचितः सदा ॥ ४० ॥

चितस्तु भावनेत्रादेः प्रमाणत्वं न वार्यते । तत्साधकतमत्वस्य कथंचिदुपपत्तितः ॥ ४१ ॥

साधकतमत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तं तदर्थपरिच्छित्तौ चक्षुरादेरुपलभ्यमानं प्रमाणत्वं साधयतीति यदीष्यते तदा तद्द्रव्यचक्षुरादि भावचक्षुरादि वा ? न तावद्द्रव्यनेत्रादि तस्य साधकतमत्वासिद्धेः । न हि तत्साधकतमं स्वार्थपरिच्छित्तावचेतनत्वाद्विषयवत् । यत्तु साधकतमं तच्चेतनं दृष्टं यथा विशेषणज्ञानं विशेष्यपरिच्छित्तौ ।

तथा स्व और अर्थ के अधिगम रूप फल से प्रमाण को सर्वथा भिन्न ही कहना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण अधिगम रूप फल सर्वथा भिन्न मानने पर प्रमाण को घट के समान जड़पने की प्राप्ति होती है अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप निश्चय से सभी प्रकार भिन्न है, वह जड़ है ॥३९॥

इसको अनुमान से सिद्ध करते हैं-जो अपने और पर पदार्थों के अधिगम से पूर्ण रूप से अत्यन्त भिन्न है (हेतु), वह अज्ञान स्वरूप है (साध्य) जैसे घटादि तथा (उसी प्रकार) ज्ञान भी प्रमाण से सर्वथा भिन्न होने से किसी के भी प्रमाणता नहीं आ सकती क्योंकि अज्ञान के प्रमाणता युक्त नहीं है अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति रूप प्रमिति चेतन ज्ञान के द्वारा ही साध्य है।

''चक्षु के द्वारा जाना जाता है, धूम से अग्नि का ज्ञान होता है, शब्द से श्रुतज्ञान होता है इस प्रकार अचेतन नेत्र आदि भी प्रमाण माने गए हैं'' ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि उन अचेतन नेत्र आदिकों के प्रमिति का सर्वदा साधकतमत्व का अभाव है। चेतन स्वरूप नेत्र आदि भावेन्द्रियों[१] को प्रमाणपना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि उस प्रमिति क्रिया में प्रकृष्ट उपकारक करणत्व की सिद्धि भावेन्द्रियों में किसी-न-किसी अपेक्षा से हो जाती है, अर्थात् लब्धि और उपयोगात्मक भावेन्द्रियाँ चेतन स्वरूप हैं और चेतन को प्रमाणत्व अभीष्ट है ॥४०-४१ ॥

''प्रमिति के साधकतमपने की प्रमाण के साथ व्याप्ति है वह अर्थ की ज्ञप्ति में (ज्ञान में) साधकतमपना *चक्षु आदि जड़ इन्द्रियों द्वारा उपलभ्यमान होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, अतः* वह चक्षु आदि का प्रमाणपना सिद्ध करता है। यदि ऐसा कहते हो तब तो हम पूछते हैं कि वह अर्थ परिच्छित्ति (ज्ञान) का करणपना द्रव्य चक्षु आदि इन्द्रियों को मानते हो कि भाव चक्षु आदि को मानते हो? द्रव्य चक्षु, रसना आदि इन्द्रियाँ तो प्रमिति की साधकतम नहीं हैं, क्योंकि उनके अर्थज्ञान के प्रति साधकतमपने की असिद्धि है। नेत्र आदि द्रव्येन्द्रियाँ स्वार्थ परिच्छित्ति में साधकतम नहीं हैं क्योंकि द्रव्येन्द्रियाँ अचेतन हैं, जो अचेतन है, वे अर्थ परिच्छित्ति के साधकतम नहीं हैं- जैसे इन्द्रियों के विषय घट-पट आदि अचेतन पदार्थ प्रमिति के साधकतम नहीं हैं, जो अर्थ ज्ञान में साधकतम होता है, वह चेतन देखा गया है (वह चेतन होता है) जैसे चेतन विशिष्ट विशेषण ही, विशेष्य की परिच्छित्ति में साधकतम होता है। पौद्गलिक द्रव्य नेत्रादिक इन्द्रियाँ चेतन नहीं हैं अतः प्रमिति की साधकतम नहीं हैं जिससे कि वे प्रमाण सिद्धि कर सकती हों, अर्थात् द्रव्येन्द्रियाँ प्रमाण की सिद्धि नहीं कर सकती हैं।

---

१. नाम कर्म के निमित्त से होने वाली बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों की रचना द्रव्येन्द्रिय है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न अर्थ ग्रहण करने की शक्तिरूप लब्धि और तज्जन्य व्यापार रूप उपयोग भावेन्द्रिय है।

न च चेतनं पौद्गलिकं द्रव्यनयनादीति न साधकतमं, यत: प्रमाणं सिद्ध्येत् । छिदौ परश्वादिना साधकतमेन व्यभिचार इति चेन्न, स्वार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावस्य साध्यत्वात् । न हि सर्वत्र साधकतमत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तं परश्वादेरपि प्रमाणत्वप्रसंगात् । भावनेत्रादिचेतनं प्रमाणमिति तु नानिष्टं तस्य कथंचित्साधकतमत्वोपपत्तेः, आत्मोपयोगस्य स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात्तस्य भावेंद्रियत्वोपगमात्॥

हानादिवेदनं भिन्नं फलमिष्टं प्रमाणत: । तदभिन्नं पुन: स्वार्थाज्ञानव्यावर्तनं समम् ॥ ४२ ॥

स्याद्वादाश्रयणे युक्तमेतदप्यन्यथा न तु । हानादिवेदनस्यापि प्रमाणादिभिदेक्षणात् ॥ ४३ ॥

हानोपादानानपेक्ष्यं ज्ञानं व्यवहितं फलं प्रमाणस्याज्ञानव्यावृत्तिरव्यवहितमित्यपि स्याद्वादाश्रयणे युक्तमन्यथा तदयोगात् , हानादिज्ञानस्यापि प्रमाणात् कथंचिदव्यवधानोपलब्धे: सर्वथा व्यवहितत्वासिद्धेः। तथाहि—

''परशु (कुठार) आदि अचेतन पदार्थ छेदन क्रिया में साधकतम होते हैं, अत: चेतन पदार्थ ही अर्थक्रिया में साधकतम हैं-यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है- चेतन और अचेतन दोनों ही साधकतम हैं'' ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा स्वार्थ परिच्छित्ति में साधकतमत्व के अभाव को साध्य किया है, अर्थात् कुठार आदि ज्ञप्ति क्रिया के साधकतम नहीं हैं-अपितु छेदन क्रिया के साधकतम हैं। सभी क्रियाओं का साधकतमपना प्रमाण के साथ व्याप्ति नहीं रखता है। अन्यथा कुठार आदि के भी प्रमाणत्व का प्रसंग आयेगा। चेतन स्वरूप भाव इन्द्रिय नेत्र आदि को प्रमाण के प्रति साधकतम मानना अनिष्ट नहीं है, क्योंकि भावेन्द्रियों में कथञ्चित् अर्थ प्रमिति के प्रति साधकतमपना है। आत्मा के उपयोग को स्वार्थ परिच्छित्ति में साधकतमपना है और जैन सिद्धान्त में उपयोग ही भावेन्द्रिय है।

हेय पदार्थों के त्याग का ज्ञान कराना, आदि शब्द से उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों को उपादान समझना और उपेक्षणीय पदार्थों में उपेक्षा (राग द्वेष निवृत्ति) का ज्ञान होने रूप प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है और एक साथ होने वाला स्वार्थ अज्ञान की निवृत्ति रूप फल प्रमाण से अभिन्न है, इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय लेने पर यह भेद-अभेद की व्यवस्था करना युक्त भी है। अन्यथा (सौगत मतानुसार सर्वथा प्रमाण से फल को अभिन्न और वैशेषिक मतानुसार सर्वथा भिन्न मानना) समुचित नहीं है, अर्थात् हानोपादान और उपेक्षा रूप प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है। सर्वथा भिन्न या अभिन्न नहीं है, क्योंकि हानादि ज्ञान के भी प्रमाण से कथंचित् अभेदपना दृष्टिगोचर होता है॥४२-४३॥

भावार्थ : हान, उपादान और उपेक्षा रूप फलज्ञान कभी ज्ञान के समय ही उत्पन्न होता है- कभी कुछ क्षण के बाद उत्पन्न होता है-परन्तु अज्ञान निवृत्तिरूप फल प्रमाण के समय ही उत्पन्न होता है।

हेय को छोड़ना, उपादेय को ग्रहण करना और उपेक्षणीय पदार्थों की उपेक्षा करना, उनमें रागद्वेष नहीं करना प्रमाण का व्यवहित फल है, अर्थात् ये ज्ञान होने के बाद होने वाले हैं और उस विषय के अज्ञान की निवृत्ति हो जाना ज्ञान का अव्यवहित (साक्षात्) फल है, अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की उत्पत्ति एक समय में ही (एक साथ ही) होती है इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त

येनैवार्थो मया ज्ञातस्तेनैव त्यज्यतेधुना। गृह्येतोपेक्षते चेति तदैक्यं केन नेष्यते ॥ ४४ ॥

भेदैकांते पुनर्न स्यात् प्रमाणफलता गतिः। संतानांतरवत्स्वेष्टेप्येकत्रात्मनि संविदोः ॥ ४५ ॥

न ह्येकेन प्रमितेर्थे परस्य हानादिवेदनं तत्प्रमाणफलं युक्तमतिप्रसंगात् । यस्य यत्र प्रमाणं ज्ञानं तस्यैव तत्र फलज्ञानमित्युपगमे सिद्धं प्रमाणफलयोरेकप्रमात्रात्मकयोरेकत्वं । न चैवं तयोर्भेदप्रतिभासो विरुध्यते विशेषापेक्षया तस्य व्यवस्थानात् ॥

पर्यायार्थार्पणाद्भेदो द्रव्यार्थादभिदास्तु नः । प्रमाणफलयोः साक्षादसाक्षादपि तत्त्वतः ॥ ४६ ॥

का आश्रय लेने पर ही कथञ्चित् भेदाभेदात्मक का कथन युक्तिसंगत होता है अन्यथा (स्याद्वाद के आश्रय बिना) प्रमाण और प्रमाण फल का अयोग है अर्थात् स्याद्वाद के बिना प्रमाण और प्रमाण के फल की सिद्धि नहीं हो सकती है। अथवा क्वचित् हेय, उपादेय और उपेक्षा रूप फल ज्ञान भी कथंचित् प्रमाण ज्ञान से अव्यवधान (व्यवधान रहित) उपलब्ध होता है-अर्थात् ज्ञान और ज्ञान का फल दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं, इसलिए हेयादि ज्ञान फल के सर्वथा प्रमाण से व्यवहितपना सिद्ध नहीं है। तथाहि-जिस मैंने यह अर्थ जाना है, उसी मेरे द्वारा इस समय हेय पदार्थ छोड़ दिया जाता है, उपादेय का ग्रहण किया जाता है और उपेक्षणीय पदार्थ की उपेक्षा की जाती है, अर्थात् जो अप्रयोजनीय है उसकी उपेक्षा करने वाला भी मैं ही हूँ , मैने ही जाना था, इस प्रकार फल और प्रमाण का एकपना किस के द्वारा इष्ट नहीं किया गया है, अर्थात् प्रमाण के हानबुद्धि आदि फल भी प्रमाण के सम-समयवर्ती होकर अव्यवहित फल प्रतीत होता है। सर्वथा भेद एकान्त में प्रमाण और प्रमाण के फल की गति नहीं हो सकती अर्थात् सर्वथा भेद एकान्त में प्रमाण और प्रमाण के फल का निर्णय नहीं हो सकता। जैसे सन्तानान्तर का ज्ञान दूसरे के *ज्ञान का कारण नहीं है, उसी प्रकार अपने अभीष्ट विवक्षित एक आत्मा में उत्पन्न सर्वथा भिन्न दो ज्ञानों में* प्रमाणपने और फलपने का निर्णय नहीं हो सकता है॥४४-४५॥

''एक पुरुष के द्वारा अर्थ की प्रमिति हो जाने पर दूसरे पुरुष के त्याग आदि का ज्ञान उस पूर्व पुरुष के प्रमाण का फ़ल है। यह कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इसमें अतिप्रसंग दोष आता है, जहाँ जिस पुरुष को प्रमाण ज्ञान होता है, वहाँ उसी पुरुष के अज्ञान की निवृत्ति रूप फलज्ञान की सिद्धि होती है, इस प्रकार का नियम होने पर प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति और प्रमाण के फल में अभेद सिद्ध होता है। अन्यथा किसी को ज्ञान होगा और दूसरे के अज्ञान की निवृत्ति होगी तो किसी के भी अज्ञान की निवृत्ति हो जाएगी पठन-पाठन *आदि सर्व व्यर्थ होंगे।*

इस प्रकार प्रमाण, प्रमाता और प्रमाण के फल स्वरूप प्रमिति में कथंचित् अभेद होने से (एक प्रमाता होने से) प्रमाण और प्रमाण के फल में कथंचित् एकत्व है तथा कथञ्चित् भेदाभेदात्मक स्वीकार करने पर प्रमाण और प्रमाण के फल में भेद का प्रतिभास विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि विशेष की अपेक्षा प्रमाण और प्रमाण के फल क़ी व्यवस्था होती है अर्थात्-कथंचित् प्रमाण से प्रमाण फल (अज्ञाननिवृत्ति) भिन्न है और कथञ्चित् प्रमाण एवं प्रमाण का फल अभिन्न है, ज्ञान स्वरूप ही है।

स्याद्वाद सिद्धान्त में पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा प्रमाण और प्रमाण के फल में भेद है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा करणज्ञानरूप प्रमाण में और अज्ञान निवृत्ति रूप प्रमाण फल में अभेद है। वास्तव में प्रमाण और प्रमाण के फल में साक्षात् और असाक्षात् समयभेद नहीं है॥४६॥

साक्षात्प्रमाणफलयोरभेद एवेत्ययुक्तं पर्यायशक्तिभेदमंतरेण करणसाधनस्य भावसाधनस्य च फलस्यानुपपत्तेः । सर्वथैक्ये तयोरेकसाधनत्वापत्तेः करणाद्यनेककारकस्यैकत्रापि कल्पनामात्रादुपपत्तिरिति चेन्न, तत्त्वतः संवेदनस्याकारकत्वानुषक्तेः । न चाकारकं वस्तु कूटस्थवत् तयोरसाक्षाद्भेद एवेत्यप्यसंगतं, तदेकोपादानत्वाभावप्रसंगात् । न च तयोर्भिन्नोपादानता युक्ता संतानांतरवदनुसंधानविरोधात् । यदा पुनरव्यवहितं व्यवहितं च फलं प्रमाणाद्द्रव्यार्थादभिन्नं पर्यायार्थाद्भिन्नमिष्यते तदा न कश्चिद्विरोधस्तथाप्रतीतेः।

भावार्थ : प्रमाण के बाद अज्ञान की निवृत्ति होती है अतः पर्याय शक्ति से प्रमाण के फल में भेद है और प्रमाण और प्रमाण फल का एक आत्मा ही उपादान है-अतः इन दोनों में अभेद है। यद्यपि प्रमाण और प्रमाण के फल में कारण-कार्य भेद है, प्रमाण कारण है और फल कार्य है-परन्तु दोनों का उपादान एक होने से भेद नहीं है।

प्रमाण और प्रमाण के फल में साक्षात् (समय का व्यवधान नहीं होने से) अभेद ही है, ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है क्योंकि पर्याय रूप भेद शक्ति के बिना करणसाधन और भावसाधन से सिद्ध फल की निष्पत्ति नहीं हो सकती सर्वथा प्रमाण और प्रमाणफल में एकता मानने पर प्रमाण शब्द की करण साधन या भाव साधन में से किसी एक निरुक्ति से शब्द की सिद्धि हो जाने का प्रसंग आता है अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है-वह प्रमाण है-यह करण साधन है-साधकतम करण है और जानना मात्र प्रमाण है-यह भाव साधन से निष्पन्न प्रमाण शब्द प्रमाण का फल है, अज्ञान की निवृत्ति है।

"करण साधन, कर्तृसाधन, भाव साधन आदि अनेक कारकों की एक पदार्थ में केवल कल्पना से ही सिद्धि होती है।" ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर संवेदन को भी वास्तविक रूप से अकारकत्व (कारक के अभाव) का प्रसंग आयेगा, परन्तु बौद्ध सिद्धान्त में कर्त्ताकारक, करण कारक आदि का व्यवहार किया गया है, अतः कूटस्थ नित्य के समान वस्तु अकारक नहीं है अर्थात् जैसे कूटस्थ नित्य में अर्थक्रिया न होने से वह कूटस्थ नित्य वस्तुभूत नहीं है, उसी प्रकार कारकों के बिना भी पदार्थ वस्तुभूत नहीं रहते हैं।

"प्रमाण और प्रमाण के फल में असाक्षात् (समय का व्यवधान, अन्तराल होने से) भेद ही है," ऐसा कहना भी असंगत (पूर्वापर विरोध युक्त) है क्योंकि प्रमाण और प्रमाण के फल में सर्वथा भेद मानने पर दोनों में एक उपादान के अभाव का प्रसंग आता है। उन दोनों में भिन्न उपादानता मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि इन दोनों में भिन्न उपादानता मानने पर सन्तानान्तर के समान अनुसंधान (प्रत्यभिज्ञान) का विरोध आता है, अर्थात् जैसे धनदत्त के द्वारा जाने गये विषय का महीदत्त के द्वारा हानोपादान नहीं होता है उसी प्रकार प्रमाण और फलज्ञान का भिन्न उपादान होने पर "मैंने जो हान उपादान को जाना है उसको छोड़ रहा हूँ" इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता परन्तु जब अज्ञान निवृत्ति रूप साक्षात् फल तथा हान (त्याग) आदि बुद्धि रूप व्यवहित फल ये दोनों द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा प्रमाण से अभिन्न और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भिन्न स्वीकार किये जाते हैं तब अनेकान्त सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति होती है।

तत्प्रमाणान्नयाच्च स्यात्तत्त्वस्याधिगमोपरः । स स्वार्थश्च परार्थश्च ज्ञानशब्दात्मकात्ततः ॥ ४७ ॥

ज्ञानं मत्यादिभेदेन वक्ष्यमाणं प्रपंचतः । शब्दस्तु सप्तधा वृत्तो ज्ञेयो विधिनिषेधगः ॥ ४८ ॥

मत्यादिज्ञानं वक्ष्यमाणं तदात्मकं प्रमाणं स्वार्थं शब्दात्मकं परार्थं, श्रुतविषयैकदेशज्ञानं नयो वक्ष्यमाणः स स्वार्थः शब्दात्मकः परार्थः कात्स्‍र्न्यतो देशतश्च तत्त्वार्थाधिगमः फलात्मा स च प्रमाणान्नयाच्च कथंचिद्भिन्न इति सूक्तं प्रमाणनयपूर्वकः । शब्दो विधिप्रधान एवेत्ययुक्तं, प्रतिषेधस्य शब्दादप्रतिपत्तिप्रसंगात् । तस्य गुणभावेनैव ततः प्रतिपत्तिरित्यप्यसारं, सर्वत्र सर्वदा सर्वथा प्रधानभावेनाप्रतिपन्नस्य गुणभावानुपपत्तेः । स्वरूपेण

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रमाण और नय के द्वारा तत्त्वों का अधिगम होता है, वह अधिगम कथञ्चित् प्रमाण और नय से भिन्न है, वह अधिगम स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानात्मक अधिगम स्वार्थ है और शब्दात्मक अधिगम परार्थ है; अर्थात् स्वार्थ अधिगम स्वयं अपने लिए उपयोगी है और जो वचनात्मक है उससे दूसरे को समझाया जाता है। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान का कथन विस्तारपूर्वक आगे करेंगे तथा विधि और निषेध के अवलम्ब से शब्द सात प्रकार के जानने चाहिए।।४७-४८।।

आगे कहे जाने वाले मतिज्ञानादि तदात्मक प्रमाण स्वार्थ हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप होने से स्वकीय आत्मा के लिए है तथा शब्दात्मक ज्ञान परार्थ है; वह शब्द स्वरूप है, दूसरे श्रोताओं के लिए है।

श्रुतज्ञान के द्वारा जाने गये विषय को एकदेश जानने वाला नय है। उन का कथन आगे प्रथम अध्याय के अन्तिम सूत्र में करेंगे।

ज्ञानात्मक नय और शब्दात्मक नय के भेद से नय दो प्रकार का है उसमें ज्ञानात्मक नय स्व स्वरूप को जानने का साधन है और शब्दात्मक नय दूसरों को समझाने के लिए होता है।

सम्पूर्ण रूप से तत्त्वार्थाधिगम होना प्रमाण का फल है और एकदेश तत्त्वार्थाधिगम होना नय का फल है और वह फल प्रमाण और नय से कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है इसलिए प्रमाण नय पूर्वक पदार्थों का अधिगम होता है-यह कथन समीचीन है।

विधि रूप, निषेध रूप, अवक्तव्य, विधि निषेध रूप, विधि अवक्तव्य, निषेध अवक्तव्य और विधि निषेधअवक्तव्य के भेद से शब्द सात प्रकार का है।

शब्द विधि आत्मक ही है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द के द्वारा विधि होना ही माना जायेगा तो शब्द से प्रतिषेध की अप्रतिपत्ति (प्रतिषेध के ज्ञान नहीं होने) का प्रसंग आयेगा अर्थात् शब्द का उच्चारण करने पर विधि का ही ज्ञान होगा, निषेध का नहीं, परन्तु शब्द सुनते ही विधि और निषेध दोनों का ज्ञान होता है, ''घट को लाओ'' कहने पर घट की विधि और भैंस आदि का निषेध होता है।

मुख्यत: प्रतिपन्नस्य क्वचिद्विशेषणत्वादिदर्शनात् प्रतिषेधप्रधान एव शब्द इत्यप्यनेनापास्तं । क्रमादुभयप्रधान एव शब्द इत्यपि न साधीय:, तस्यैकैकप्रधानत्वप्रतीतेरप्यबाधितत्वात् । सकृद्विधिनिषेधात्मनोर्थस्यावाचक एवेति च मिथ्या, तस्यावाच्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसक्ते: । विध्यात्मनोर्थस्य वाचक एवोभयात्मनो युगपदवाचक एवेत्येकांतोपि न युक्त:, प्रतिषेधात्मन: उभयात्मनश्च सहार्थस्य वाचकत्वावाचकत्वाभ्यां शब्दस्य प्रतीते: । इत्थमेवेत्यप्यसंगतमन्यथापि संप्रत्ययात् । क्रमाक्रमाभ्यामुभयात्मनोर्थस्य वाचकश्चावाचकश्च नान्यथेत्यपि प्रतीतिविरुद्धं, विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेरिति सप्तधा प्रवृत्तोर्थे शब्द: प्रतिपत्तव्यो विधिप्रतिषेधविकल्पात्॥

निषेध की गौणता होने से उसकी प्रतिपत्ति होने से वास्तव निषेध की प्रतिपत्ति नहीं है, इस प्रकार कहना भी असारभूत है, क्योंकि सभी स्थलों में सभी काल में और सभी प्रकार से प्रधान भाव से अप्रतिपन्न निषेध की गौण रूप से असिद्धि है अर्थात् जो प्रधान रूप से नहीं है वह गौण रूप से नहीं हो सकता, क्योंकि अपने स्वरूप से मुख्य रूप से प्रतिपन्न (युक्त) की ही किसी स्थल पर किसी विशेषण की अपेक्षा गौणता देखी जाती है अर्थात् मुख्य रूप से प्रसिद्ध सिंह का बालक में अध्यारोप किया जाता है।

"शब्द प्रधान रूप से निषेध करने वाले ही हैं, अर्थात् शब्द निषेध के ही वाचक हैं" ऐसे एकान्तवाद का भी इस कथन से निराकरण कर दिया है, अत: सर्वथा शब्द को निषेधवाचक कहना भी युक्त नहीं है। "क्रम से विधि और निषेध दोनों का प्रधान रूप से शब्द कथन करता है" ऐसा एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि विधि और निषेध में से एक-एक की भी प्रधान रूप से बाधा रहित प्रतीति हो रही है। (जैसे "शराब नहीं पीना चाहिए" इस वाक्य में शराब के पीने का निषेध मुख्य रूप से प्रतीत हो रहा हैं और दूध आदि के पीने की विधि की गौण रूप से प्रतीति होती है।)

एक साथ विधि और निषेध का कथन करने वाला शब्द नहीं है अत: शब्द अवाचक (अवक्तव्य) ही है, ऐसा कहना भी मिथ्या है क्योंकि यदि सभी शब्द अवाच्य हैं तो अवाच्य शब्द के भी अवाचक का प्रसंग आयेगा, अर्थात् शब्द अवाच्य है, ऐसा भी कहना शक्य नहीं है, क्योंकि अवाचक किसी के द्वारा वाचक नहीं हो सकता।

शब्द विधि आत्मक अर्थ का वाचक ही है और विधि, निषेध, द्वय स्वरूप अर्थ का एक समय में एक साथ वाचक नहीं है-ऐसा एकान्त मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिषेध स्वरूप अर्थ का वाचकत्व और विधि निषेधात्मक उभय स्वरूप अर्थ के एक साथ अवाचकत्व से शब्द की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार प्रतिषेध रूप अर्थ का वाचकत्व और विधि निषेध रूप अर्थ की एक साथ अवाचकत्व रूप से ही प्रतीति हो रही है, ऐसा एकान्त भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकार विधि, निषेध, विधि निषेधात्मक आदि रूप से भी शब्द की प्रतीति होती है।

"शब्द क्रम से विधि निषेधात्मक अर्थ का वाचक है और अक्रम से विधि निषेध उभय रूप अर्थ का अवाचक है, यही शब्द का अर्थ है, अन्य प्रकार से नहीं है।" ऐसा एकान्त मानना भी प्रतीति विरुद्ध है, क्योंकि विधि, प्रतिषेध आदि रूप से भी प्रधानतया शब्द की प्रसिद्धि है, इसलिए सात प्रकार से शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार जानना चाहिए अत: विधि निषेध के विकल्प से भेद करने पर वाच्य धर्म सात प्रकार के हैं और उसके वाचक शब्दों के विकल्प भी सात प्रकार के हैं।

तत्र प्रश्नवशात्कश्चिद्विधौ शब्दः प्रवर्तते। स्यादस्त्येवाखिलं यद्वत्स्वरूपादिचतुष्टयात्॥ ४९ ॥

स्यान्नास्त्येव विपर्यासादिति कश्चिन्निषेधने । स्याद्द्वैतमेव तद्द्वैतादित्यस्तित्वनिषेधयोः ॥ ५० ॥

क्रमेण यौगपद्याद्वा स्यादवक्तव्यमेव तत्। स्यादस्त्यवाच्यमेवेति यथोचितनयार्पणात् ॥ ५१ ॥

स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति तत एव निगद्यते । स्याद्द्वयावाच्यमेवेति सप्तभंग्यविरोधतः॥ ५२ ॥

न ह्येकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद्विधिनिषेधयोर्व्यस्तयोः समस्तयोश्च कल्पनयोः सप्तधा वचनमार्गो विरुध्यते, तत्र तथाविधयोस्तयोः प्रतीतिसिद्धत्वादेकान्तमन्तरेण वस्तुत्वानुपपत्तेरसम्भवात्। स्वलक्षणे तयोर प्रतीतेर्विकल्पाकारतया संवेदनान्न प्रतीतिसिद्धमिति चेत् , किं पुनर्व्यस्तसमस्ताभ्यां विधिप्रतिषेधाभ्यां शून्यं

उन सात प्रकार के वाचक शब्दों में किसी शब्द से तो प्रश्न के वश से विधि आत्मक (अस्ति आत्मक) द्रव्य में प्रवृत्ति होती है जैसे स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्ति है।

तथा कभी विपर्यय (परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय) की अपेक्षा वस्तु नास्ति रूप है अत: शब्द निषेध का वाचक है। विधि और निषेध दोनों का अस्तित्व एक साथ रहने से अत: क्रम से उन दोनों का वाचक होने से शब्द विधि निषेधात्मक है तथा विधि और निषेध की एक साथ कथन की विवक्षा होने पर शब्द कथञ्चित् अवक्तव्य है।

तथा यथायोग्य उचित नय की विवक्षा करने पर स्वरूप चतुष्टय वा भाव विभाव दोनों को एक साथ कहने की विवक्षा करने पर वस्तु कथञ्चित् अस्त्यवक्तव्य है।

पर द्रव्य क्षेत्र की, यथायोग्य युगपत् कथन की विवक्षा से वस्तु कथञ्चित् नास्ति अवक्तव्य कही जाती है।

तथा स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की तथा युगपत् कथन करने की विवक्षा से वस्तु कथञ्चित् अस्ति नास्ति अवक्तव्य स्वरूप है, ऐसा कहा जाता है, इस प्रकार धर्मों के अविरोध से शब्दों की प्रवृत्ति द्वारा सात भंग की योजना करनी चाहिए॥४९-५०-५१-५२॥

प्रश्न के वश एक ही वस्तु में पृथक्-पृथक् या एक साथ विधिनिषेध की सत्य कल्पना हो जाने पर सात प्रकार के वचन मार्ग की प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है क्योंकि, एक ही वस्तु में उस प्रकार के विधि निषेध की कल्पना प्रतीति सिद्ध है। सप्त भंग में वा विधि निषेध में एक ही धर्म के बिना वस्तु की सिद्धि होना असंभव है अर्थात् विधि और निषेध में से एक भी वस्तु का लोप कर देने पर वस्तुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

स्वलक्षण तत्त्व में विधि निषेध की प्रतीति नहीं होने से तथा विकल्पाकार ज्ञान का संवेदन होने से विधि, निषेध प्रतीति सिद्ध नहीं है, ऐसा सौगतानुयायी बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं-कि विधि रहित, निषेध रहित और विधि निषेध रहित स्वलक्षण कभी दृष्टिगोचर हुआ है क्या? अर्थात् जो वस्तु स्व की विधि और पर के निषेध से अलंकृत नहीं है, वह दृष्टिगोचर भी कैसे हो सकती है।

स्वलक्षणमुपलक्ष्यते कदाचित् ? संहृतसकलविकल्पावस्थायामुपलक्ष्यत एव तदनंतरं व्युच्छित्तचित्तदशायामिदमित्थमस्त्यन्यथा नास्तीत्यादिविधिप्रतिषेधधर्मविशेषप्रतीतेः पूर्वं तथाविधवासनोपजनितविकल्पबुद्धौ प्रवृत्तेः । केवलं तान् धर्मविशेषांस्तत्र प्रतिभासमानानपि कुतश्चिद्विभ्रमहेतोः स्वलक्षणेप्यारोपयंस्तदपि तद्धर्मात्मकं व्यवहारी मन्यते । वस्तुतस्तद्धर्माणामसंभवात् । संभवे वा प्रत्यक्षे प्रतिभासप्रसंगादेकत्रापि नानाबुद्धीनां निवारयितुमशक्तेरिति केचित् । तेपि पर्यनुयोज्याः । कुतः ? सकलधर्मविकलं स्वलक्षणमभिमतदशायां प्रतिभासमानं विनिश्चितमिति । प्रत्यक्षत एवेति चेन्न, तस्यानिश्चायकत्वात् । निश्चयजनकत्वान्निश्चायकमेव तदिति चेत् , तर्ह्यस्तित्वादिधर्मनिश्चयजननात्तन्निश्चयोपि प्रत्यक्षोस्तु तस्य

बौद्ध मत का कथन- जिस समय सम्पूर्ण नित्य, अनित्य आदि विकल्पों का संहार (निरोध) कर दिया जाता है, उस निर्विकल्प अवस्था में विधि निषेधों से रहित स्वलक्षण तत्त्व दृष्टिगोचर होता है उसके बाद रागद्वेष की अवस्था में चित्तवृत्ति के नाना विकल्पों से युक्त हो जाने पर "यह इस प्रकार है" "अन्य प्रकार नहीं है" इत्यादि विधि निषेध धर्म की विशेष प्रतीति होने लग जाती है, क्योंकि पूर्वकालीन इस प्रकार की वासनाओं से उपजनित विकल्प बुद्धि में प्राणियों की प्रवृत्ति होती है केवल विकल्प बुद्धि में प्रतिभासित विधि निषेध आदि विशेष धर्मों को भी किसी विभ्रम (भ्रान्ति) के कारण से स्वलक्षण में आरोपित कर लिया जाता है, उस विकल्प को व्यवहारी जन आत्मा का या वस्तु का स्वरूप मान लेते हैं। निरंश स्वलक्षण में विधि, निषेध आदि विकल्प नहीं हैं क्योंकि वस्तुतः विकल्प वस्तु का धर्म नहीं है। विकल्प होना असंभव है, यदि वस्तु में विधि आदि का विकल्प वास्तविक होता तो उन विकल्पों का निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी प्रतिभास होने का प्रसंग आता तथा ऐसा होने पर एक पदार्थ में भी अनेक धर्मों का ज्ञान हो जाने का निवारण करने के लिए समर्थ नहीं हो सकते। इस प्रकार कोई (बौद्ध) कहते हैं? इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं-वे बौद्ध इस प्रकार पूछने योग्य हैं, उन बौद्धों को हम पूछते हैं कि अभिमत दशा में सकल धर्म से रहित स्वलक्षण के प्रतिभास का निश्चय किस ज्ञान से होता है? प्रत्यक्ष प्रमाण से इसका निश्चय होता है, ऐसा कहना तो उचित नहीं है क्योंकि सौगत सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण को निश्चयात्मक स्वीकार नहीं किया है। यदि बौद्ध कहे कि प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं निश्चयात्मक नहीं है परन्तु निश्चय का जनक (उत्पादक) होने से निश्चयात्मक है। जैनाचार्य कहते हैं तब तो अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का विकल्पज्ञान रूप निश्चय का उत्पादक होने से उन विकल्पों का निश्चयज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण हो जाएंगे, क्योंकि सौगत ने प्रत्यक्ष प्रमाण को निश्चय का जनक माना है, अन्यथा प्रत्यक्ष के स्वलक्षण के निश्चय करने का विरोध आएगा अर्थात् यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्पज्ञान निश्चय का उत्पादक नहीं होगा तो स्वलक्षण का निश्चय कैसे कराएगा?

यदि बौद्ध कहे कि "अस्तित्वादि धर्मों की हृदय में स्थित मिथ्या वासना के कारण अस्तित्व आदि धर्मों का निश्चय होता है अतः उस निश्चय का जनक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।" तो जैनाचार्य कहते हैं कि "यह सर्वविकल्प रहित शुद्ध स्व लक्षण प्रतिभास है," इस प्रकार के निश्चय की उत्पत्ति भी स्वलक्षण की वासना के बल से वा वासना के उदय से होगी। उस स्वलक्षण के निश्चय का जनक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा अर्थात् अस्तित्व आदि धर्म और स्वलक्षण आदि की निश्चायक वासना ही है, यह सिद्ध होता है। स्वलक्षण

तन्निश्चायकत्वोपपत्तेः अन्यथा स्वलक्षणनिश्चायकत्वस्य विरोधात् । यदि पुनरस्तित्वादिधर्मवासनावशात्तद्धर्मनिश्चयस्योत्पत्तेर्न प्रत्यक्षं तन्निश्चयस्य जनकमिति मतं तदा स्वलक्षणं शुद्धं प्रतिभातमिति निश्चयस्यापि स्वलक्षणवासनाबलादुदयान्न तत्तस्य जनकं स्यात् । स्वलक्षणेनुभवनाभावे निश्चयायोगो न पुनरस्तित्वादिधर्मेष्विति स्वरुचिप्रकाशमात्रं । श्रुतिमात्रात्तद्धर्मनिश्चयस्योत्पत्तौ स्वलक्षणनिर्णयस्यापि तत एवोत्पत्तिरस्तु । तथा च न वस्तुतः स्वलक्षणस्य सिद्धिस्तद्धर्मवत् स्वलक्षणस्य। तन्निश्चयजननासमर्थादपि प्रत्यक्षात्सिद्धौ तद्धर्माणामपि तथाविधादेवाध्यक्षात् सिद्धिः स्यात्। प्रत्यक्षे स्वलक्षणमेव प्रतिभाति न तु कियंतो धर्मा इत्ययुक्तं, सत्त्वादिधर्माक्रांतस्यैव वस्तुनः प्रतिभासनात्। प्रत्यक्षादुत्तरकालमनिश्चिताः कथं प्रतिभासंते नाम तद्धर्मा इति चेत्, स्वलक्षणं कथं ? स्वलक्षणत्वेन सामान्येन रूपेण निश्चितमेव तत्

में प्रत्यक्ष रूप अनुभव के अभाव में निश्चय का अयाग है परन्तु अस्ति आदि धर्मों में प्रत्यक्ष रूप अनुभव किये बिना निश्चय नहीं होता है ऐसा नहीं मानना स्वरुचि मात्र का कथन है, अर्थात् स्वलक्षण में अनुभव नहीं होने पर निश्चय नहीं होता है, परन्तु अस्तित्व आदि धर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अनुभव नहीं होने पर भी निश्चय हो जाता है-ऐसा कहना व्यर्थ का प्रलाप मात्र है।

केवल शब्द के सुनने मात्र से ही अस्तित्व आदि धर्मों की उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा स्वीकार करने पर तो स्वलक्षण के निर्णय की उत्पत्ति भी शब्द का सुनना ही कारण होना चाहिए, अर्थात् स्वलक्षण का निर्णय भी शब्द सुनने मात्र से हो जाना चाहिए, ऐसा होने पर अस्तित्व आदि धर्मों के समान स्वलक्षण की भी सिद्धि वास्तविक नहीं हो सकती।

उस स्वलक्षण के निश्चय को उत्पन्न करने में असमर्थ प्रत्यक्ष से स्वलक्षण की सिद्धि हो जाने पर तो अस्तित्व आदि धर्मों के निश्चय के उत्पादन में असमर्थ प्रत्यक्ष के द्वारा अस्तित्व आदि धर्मों की सिद्धि हो जाएगी। (अतः स्वलक्षण अस्तित्व आदि सात धर्मों से रहित कैसे सिद्ध हो सकता है।)

''प्रत्यक्ष प्रमाण में स्वलक्षण ही प्रतिभासित होता है, कितने ही अस्तित्व आदि धर्म प्रतिभासित नहीं होते हैं'' ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण में अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मों से आक्रान्त (व्याप्त) वस्तु का ही प्रतिभास होता है।

यदि बौद्ध कहे कि प्रत्यक्ष ज्ञान के अनन्तर उत्तर काल में जिनका निश्चय नहीं किया गया है-ऐसे अस्तित्व आदि धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रतिभासित कैसे हो सकते हैं, वा ये धर्म वस्तु का स्वलक्षण है यह निर्णय कैसे हो सकता है? इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि-प्रत्यक्ष ज्ञान के अनन्तर जिसका निश्चय नहीं किया गया है उस स्वलक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रतिभास कैसे हो सकता है? ''यदि कहो कि-प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले निश्चय के द्वारा स्वलक्षण सामान्य रूप से निश्चित ही है।

प्रत्यक्षपृष्टभाविना निश्चयेनेति चेत् , तद्धर्माः कथं सामान्येनानिश्चिताः समानाकारस्यावस्तुत्वात् । तेन निश्चिता न ते वास्तवाः स्युरितिचेत् स्वलक्षणं कथं तेन निश्चीयमानं वस्तु सत्। तथा तदवस्त्वेवेतिचेत् यथा न निश्चीयते तथा वस्तु तदित्यायातं । तच्चानुपपन्नं पुरुषाद्यद्वैतवत्। स्वलक्षणमेव वस्तु सत् स्वार्थक्रियानिमित्तत्वान्नात्माद्यद्वैतमित्यपि न सत्यं, सत्त्वादिधर्माणामभावे तस्य तन्निमित्तत्वासिद्धेः खरशृंगादिवत् सर्वत्र सर्वथैकांतेप्यक्रियानिमित्तत्वस्य निराकृतत्वाच्च । बहिरंतर्वानेकांतात्मन्येव तस्य समर्थनात् क्षणिकस्वलक्षणस्य तन्निमित्तत्वमंगीकृत्याशक्यनिश्चयस्यापि धर्माणां तत्प्रतिक्षेपे तान्यप्यंगीकृत्य स्वलक्षणे तत्प्रतिक्षेपस्य कर्तुं सुशकत्वात् । तथाहि—सत्त्वादयो धर्मा एवार्थक्रियाकारिणः संहृतसकलविकल्पावस्थायामुपलक्ष्यंते न स्वलक्षणं तस्य स्ववासनाप्रबोधाद्विकल्पबुद्धौ प्रतिभासनात् । केवलं

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस कथन से स्वलक्षण के अस्तित्वादि धर्म सामान्य के द्वारा अनिश्चित कैसे हो सकते हैं? यदि कहो कि अवस्तु होने से सामान्य आकार का वास्तव निश्चय नहीं है जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो प्रत्यक्ष ज्ञान के अनन्तर निश्चित स्वलक्षण वस्तु वास्तविक सद्भूत कैसे हो सकती है ? यदि कहो कि अवास्तविक सामान्य से निश्चित स्वलक्षण भी अवस्तु है, तब तो जिस प्रकार अवास्तविक सामान्य से निश्चय किया गया स्वलक्षण अवस्तु है, उसी प्रकार सत् आदि भी अवस्तु होंगे तथा निश्चय नहीं किया गया स्वलक्षण जैसे वस्तुभूत है, उसी प्रकार अनिश्चित सत् आदि धर्म भी वस्तुभूत हैं ऐसा सिद्ध होता है। जिस प्रकार पुरुषाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि की सिद्धि नहीं होती है-उसी प्रकार एकान्त वाद में स्वलक्षण की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

"स्वलक्षण तत्त्व ही वस्तुभूत सत् पदार्थ है-क्योंकि वह स्वलक्षण स्वकीय अर्थक्रियाओं का निमित्त कारण है। ब्रह्माद्वैत, पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि अर्थक्रियाओं का कारण नहीं है अतः वास्तविक नहीं है-इस प्रकार बौद्ध का कहना उचित (सत्य) नहीं है-क्योंकि सत्त्व आदि धर्मों का अभाव मानने पर उस स्वलक्षण के अर्थक्रियापना सिद्ध नहीं होता है जैसे सत्तारूप नहीं होने से गधे के सींग, आकाश के फूल आदि में अर्थक्रियात्व की सिद्धि नहीं होती है। सर्वत्र सर्वथा एकान्त में अर्थक्रियात्व के निमित्त का निराकरण कर दिया गया है तथा घट, पट आदि बहिरंग और आत्मा, ज्ञान आदि अंतरंग पदार्थों के अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मात्मक होने पर ही अर्थक्रिया का निमित्तत्व सिद्ध होता है, इसका समर्थन किया है।

एक क्षण ठहरकर द्वितीय क्षण में समूल नष्ट हो जाने वाले स्वलक्षण को उस अर्थक्रिया का निमित्तपना स्वीकार करके जिसका निश्चय नहीं किया जा सके, ऐसे स्वलक्षण के अस्तित्व आदि धर्मों का अर्थक्रिया के निमित्तपने निषेध किया जाएगा। ऐसा होने पर तो उन धर्मों को भी अर्थक्रिया का निमित्तपन अंगीकार करके स्वलक्षण में उस अर्थक्रिया के निमित्तपने का निषेध आसानी से किया जा सकता है।

उसी को स्पष्ट करते हैं-सम्पूर्ण विकल्पों से शून्य निर्विकल्प दशामें अस्तित्व आदि वस्तु के धर्म ही अर्थक्रिया करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु स्वलक्षण अर्थक्रिया को करता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता है। स्वकीय वासना के जागृत होने से उस विकल्प बुद्धि में ही स्वलक्षण प्रतिभासित होता है। केवल विकल्प

तत्रावभासमानमपि तद्धर्मेध्यारोपयन् कुतश्चिद्विभ्रमादर्थक्रियानिमित्तमिव जनोनुमन्यते परमार्थतस्तस्यासंभवात्। संभवेवाध्यक्षेऽवभासानुषंगात् चित्रसंविदां सकृदपनेतुमशक्तेः । स्वलक्षणस्य वस्तुतोसत्त्वे कस्यायत्ताः सत्त्वादयो धर्मा इति चेत् तेषां परमार्थतोसत्त्वे कस्य स्वलक्षणमाश्रय इति समः पर्यनुयोगः । स्वरूपस्यैवेति चेत् तर्हि धर्माः स्वरूपायत्ता एव संतु स्वलक्षणमनिर्देश्यं स्वस्य परस्य वाश्रयत्वेनान्यथा वा निर्देष्टुमशक्यत्वादिति चेत् तत एव धर्मास्तथा भवंतु विरोधाभावात् । स्याद्वादिनां शुद्धद्रव्यस्येवार्थपर्यायाणामनिर्दिश्यत्वोपगमात् । यथा च व्यंजनपर्यायाणां सदृशपरिणामलक्षणानां निर्देश्यत्वं तैरिष्टं तथा द्रव्यस्याप्यशुद्धस्येति नैकांततः किंचिदनिर्देश्यं

बुद्धि में प्रतिभासमान स्वलक्षण को निष्ठत्व सम्बन्ध से उसके सत्त्वादि धर्मों में अध्यारोप करता हुआ व्यवहारी जन (संसारी प्राणी) किसी भ्रान्ति से अर्थक्रिया के निमित्त सदृश स्वलक्षण को मान रहा है। परमार्थ से विचार किया जाता है-तब तो स्वलक्षण के अर्थक्रिया के निमित्तत्व की असंभवता ही है, अर्थात् वास्तविक धर्मों में असद्रूप स्वलक्षण का आरोप करना असंभव है, यदि स्वलक्षण के अर्थक्रिया की संभवता मानी जायेगी तो प्रत्यक्ष ज्ञान में ही प्रतिभासित होने का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर धर्म और स्वलक्षण के चित्रसंविद् (अनेक आकार वाले ज्ञानों) का एक बार भी दूरीकरण अशक्य हो जाएगा अर्थात् अस्तित्व आदि धर्मों का खण्डन करने पर या उनको स्वीकार नहीं करने पर स्वलक्षण ज्ञान की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

बौद्ध कहता है कि परमार्थ से स्वलक्षण का असत्त्व मानेंगे-(स्वलक्षण का अस्तित्व स्वीकार नहीं करेंगे) तो सत्त्व आदि धर्म किसके आश्रय रहेंगे ? जैनाचार्य इसके उत्तर में कहते हैं कि-अस्ति (सत्त्व) नित्य आदि को परमार्थ से असत्त्व मान लेने पर स्वलक्षण किसके आश्रित रहेगा ? अर्थात् जैसे अग्नि के बिना उष्णता नहीं रहती है, उसी प्रकार उष्णता के बिना अग्नि कैसे रह सकती है-उसी प्रकार स्वलक्षण के बिना सत्त्व आदि धर्म नहीं रहते हैं तो सत्त्वादि धर्म के बिना स्वलक्षण भी कैसे रह सकता है ? इस प्रकार दोनों में प्रश्न सामान्य है।

यदि कहो कि अस्तित्व आदि धर्म के बिना भी स्वलक्षण अपने स्वरूप से रहता है-तो स्वलक्षण के बिना भी सत्त्व आदि धर्म अपने स्वरूप के आधीन रहते हैं, उनको भी स्वलक्षण का आश्रय नहीं चाहिए।

''यदि बौद्ध कहे कि स्वलक्षण तत्त्व अवाच्य है, निर्विकल्प रूप है अतः स्वाश्रय वा दूसरे के आश्रय से स्वलक्षण तत्त्व का कथन करना अनुपयुक्त है, कथन करना शक्य नहीं है'' तो जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो सत्त्वादि धर्मों का भी शब्द के द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। इसमें विरोध का अभाव है इस प्रकार सर्व पदार्थ अवक्तव्य हो जाएंगे।

स्याद्वाद सिद्धान्त में शुद्ध द्रव्य के समान सूक्ष्म अर्थ पर्यायों को अनिर्देश्यत्व स्वीकार किया है। सूक्ष्म अर्थ पर्याय को भी शब्द के द्वारा अव्यक्त माना है। जिस प्रकार सदृश परिणति लक्षण वाली व्यञ्जन पर्याय को शब्द के द्वारा वाच्य (कथन करने योग्य) स्वीकार किया है, उसी प्रकार पर द्रव्य के साथ बन्ध को प्राप्त अशुद्ध द्रव्य को भी शब्द के द्वारा वाच्य माना है, अतः **एकान्त से द्रव्य वाच्य या अवाच्य नहीं है अपितु स्याद्वाद नय की अपेक्षा कथञ्चित् निर्देश्य (वाच्य) और कथञ्चित् अनिर्देश्य (अवाच्य) है।**

निर्देश्यं वा कुतः। समानेतरपरिणामा धर्मा इति चेत् स्वलक्षणानि कुतः ? तथा स्वकारणादुत्पत्तेरिति चेत् तुल्यमितरत्र। स्वलक्षणान्येककार्यकरणाकरणाभ्यां समानेतररूपाणीत्ययुक्तं, केषांचिदेककार्यकारिणामपि विसदृशत्वेक्षणात् कथमन्यथेंद्रियविषयमनस्काराणां गडूच्यादीनां च ज्ञानादेर्ज्वरोपशमनादेश्चैककार्यस्य करणं भेदे स्वभावत एवोदाहरणार्हं। चित्रकाष्ठकर्माद्यनेककार्यकारिणामपि मनुष्याणां समानत्वदर्शनात् समान इति प्रतीतेरन्यथानुपपत्तेः। समानासमानकार्यकरणाद्भावानां तथाभाव इति चेत् कुतस्तत्कार्याणां तथा भावः ?

भावार्थ : प्रत्येक पदार्थ के सदृश परिणाम रूप व्यंञ्जन पर्याय के अंश शब्द के द्वारा कहे जाते हैं परन्तु उसके सूक्ष्म अंश अर्थ पर्याय अविभागी प्रतिच्छेद शब्द के द्वारा नहीं कहे जा सकते हैं। अत: द्रव्य व्यक्त और अव्यक्त रूप है।

[1]ऊर्ध्वता और तिर्यक् सामान्य रूप समान परिणाम अस्तित्व आदि वस्तु के धर्म कैसे (किस प्रमाण से) सिद्ध होते हैं ? बौद्ध के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों के सिद्धान्त में स्वलक्षण तत्त्व किस प्रमाण से सिद्ध होता है? यदि कहो कि स्वलक्षण अपने कारणों से उत्पन्न होता है अत: सिद्ध है तब तो अन्यत्र (अस्तित्व आदि धर्म भी) स्वकीय कारणों से उत्पन्न होते हैं अत: स्वत: सिद्ध हैं अर्थात् समान परिणाम और विशेष परिणाम भी अपने-अपने विशेष कारणों से उत्पन्न होने से वस्तु धर्म हैं।

"बौद्ध के द्वारा स्वीकृत स्वलक्षण भी एक कार्य करने और न करने की अपेक्षा समान और विसमान स्वरूप हो जाते हैं। समान धर्म और विसदृश धर्म पृथक्-पृथक् नहीं है"-ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि एक कार्य को करने वाले किन्हीं-किन्हीं पदार्थों में विसमानता (विसदृशता) देखी जाती है, अन्यथा (यदि एक कार्य को करने वाले पदार्थ में विसमानता नहीं होती तो) इन्द्रिय विषय और मन को ज्ञान, सुख आदि में से किसी एक कार्य का करना कैसे संभव होगा अर्थात् इन्द्रियाँ पुद्गल मय अचेतन हैं, उनके द्वारा जानने योग्य विषय बहिस्थित है और मन अंतरंग इन्द्रिय है, किन्तु इन्द्रिय, विषय और मन इन तीनों का संयोग पाकर विजातीय ज्ञान कार्य की उत्पत्ति होती है तथा गिलोय, कुटकी, चिरायता आदि पदार्थ के भी ज्वर का उपशमन, खाँसी दूर करना आदि किसी भी एक कार्य का करना देखा जाता है, अन्यथा वे कई औषधियाँ एक रोग को दूर कैसे कर सकती हैं,-अत: स्वभाव से भेद होने पर भी यह उदाहरण देने योग्य है अथवा चित्र लिखना, काष्ठ को काटना आदि अनेक कार्यों को करने वाले भी मानवों के समानपना देखा जाता है। समानत्व दृष्टिगोचर होने से समानपना प्रतीत होता है, अन्यथा ये चितेरा, बढ़ई, राज आदि समान हैं, इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती थी अत: अनैकान्तिक हेत्वाभास होने से एक कार्य को करने और न करने की अपेक्षा से समानपने और विसमानपने की व्यवस्था करना उचित नहीं है।

जो समान कार्य को करते हैं वे समान पदार्थ हैं और जो विसदृश कार्यों को करते हैं वे विसदृश भाव हैं। इस प्रकार सदृश और विसदृश कार्यों के करने से पदार्थों के सदृशपना और विसदृशपना व्यवस्थित है। ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उन सदृश, विसदृश कार्यों का समानपना और असमानपना कैसे होता है ?

१. एक पर्याय में होने वाली समानता को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे मानव पर्याय में होने वाली बालक वृद्धत्व आदि में मनुष्य जाति समानता। एक जाति विशेष में होने वाली समानता को तिर्यक् समानता कहते हैं जैसे मानव मानव जाति की अपेक्षा समान है।

समानेतरस्वकार्यकरणादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोनवस्था च । तथोत्पत्तिरिति चेत् सर्वभावानां तत एव तथाभावोस्तु । समानेतरकारणत्वात्तेषां तथाभाव इत्यप्यनेनापास्तं, समानेतरपरिणामयोगादर्थास्तथेत्यप्यसारं, तत्परिणामानामपरथापरिणामयोगात् तथाभावेनवस्थिते: । स्वतस्तु तथात्वेर्थानामपि व्यर्थस्तथापरिणामयोग:, समानेतराकारौ विकल्पनिर्भासिनावेव स्वलक्षणेष्वध्यारोप्येते न तु वास्तवावित्यप्ययुक्तं तयोस्तत्र स्पष्टमवभासनात् तद्विकल्पानां तेषां जातुचिदप्रतिपत्तेरिति । तथापरिणतानामेव स्वलक्षणानां तथात्वसिद्धिरप्रतिबंधा तद्वद्धर्माणामस्तित्वादीनामपीति परमार्थत एव समानाकारा: पर्याया: शब्दैर्निर्देश्या:

यदि कहो कि उन कार्यों ने भी सदृश और विसदृश अपने उत्तरवर्त्ती कार्यों को किया है अत: वे सदृश विसदृश माने गये हैं, तब तो पुन: उन कार्यों के कार्यों पर भी हमारा प्रश्न उपस्थित रहेगा और बौद्ध वही उत्तर देगा अत: अनवस्था दोष आता है।

यदि बौद्ध कहे कि इस प्रकार समान और असमानपने से पदार्थों की उत्पत्ति हो जाती है ? जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से तो सम्पूर्ण पदार्थों की उसी प्रकार समान और असमान रूप से व्यवस्था हो जानी चाहिए।

''सदृश और विसदृश कारणों से उत्पन्न होने से उन पदार्थों के समानता और असमानता है'', इस प्रकार के बौद्धों के कथन का भी उपर्युक्त हेतु से निराकरण कर दिया गया है। समान परिणाम और विसमान परिणाम के योग से पदार्थ सदृश और विसदृश होते हैं ऐसा कहना भी निस्सार हैं क्योंकि उन परिणामों के सदृश विसदृश के नियम के सिवाय अन्य रूप से परिणमन रूप योग से इस प्रकार का परिणमन होता है ऐसी व्यवस्था होने पर प्रश्नमाला की समाप्ति नहीं हो सकती, अत: अनवस्था दोष आता है।

यदि स्वत: ही अपनी योग्यता के अनुसार पदार्थों के सदृश, विसदृश परिणमन होता है, ऐसा मानते हैं तब तो उस प्रकार के परिणाम का सम्बन्ध मानना व्यर्थ है।

भावार्थ : सम्पूर्ण पदार्थ अपनी योग्यता के कारण ही सदृश और विसदृश परिणमन करते हैं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का सदृश विसदृश परिणमन होना तदात्मक धर्म है।

बौद्ध का कथन- विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित होने वाले पदार्थों का सदृश, विसदृश आकार स्वलक्षण में आरोपित किया जाता है परन्तु वे सदृश, विसदृश आकार वस्तुभूत नहीं हैं। **जैनाचार्य** कहते हैं कि इस कथन में व्याघात दोष आता है। क्योंकि एक की सिद्धि हो जाने पर दूसरे को सामर्थ्य से सिद्ध कहना और कि इस प्रकार का बौद्धों का कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण में सदृश विसदृश आकार स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित हो रहा है आकारों से रहित उन स्वलक्षणों की कभी भी प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होती है इसलिए सदृश और विसदृश रूप आकारों से परिणत स्वलक्षणों की सदृश विसदृश की सिद्धि होती है, इसमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है। उसी प्रकार पर्यायी के समान अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों की परमार्थ से सिद्धि हो जाने से समान आकार वाली पर्यायें शब्द के द्वारा निर्देश करने योग्य हैं।

पर्यायिवत् । सूक्ष्मास्त्वर्थपर्यायाः केचिदत्यंतासमानाकारा न तैर्निर्देश्याः इति निरवद्यं दर्शनं न पुनर्विकल्पप्रतिभासिनोर्विकल्पात्मन एव समानाकाराः शब्दैरभिधेयाः । बाह्यार्थः सर्वथानभिधेय इत्येकांतः प्रतीतिविरोधात् । प्रतिपादयित्रा य एवोद्धृत्य कुतश्चिज्जात्यंतरादर्थात्स्वयमधिगत्य धर्मी धर्मो वा शब्देन निर्दिष्टः स एव मया प्रतिपन्न इति व्यवहारस्याविसंवादिनः सुप्रसिद्धत्वाच्च। तद्भ्रान्तत्वव्यवस्थापनोपायापायात् । नन्वेकत्र वस्तुन्यनंतानां धर्माणामभिलापयोग्यानामुपगमादनंता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिनां भवेयुः न पुनः सप्तैव वाच्येयत्तात्वात् वाचकेयत्तायाः । ततो विरुद्धैव सप्तभंगीति चेत् न, विधीयमाननिषिध्यमानधर्मविकल्पापेक्षया तदविरोधात् ''प्रतिपर्यायं सप्तभंगी वस्तुनि'' इति वचनात् तथानंताः सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टं, पूर्वाचार्यैरस्तित्वनास्तित्वविकल्पात्सप्तभंगीमुदाहृत्य

कोई अर्थपर्याय अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे असमान आकार शब्द के द्वारा निर्देश करने योग्य नहीं हैं अर्थात् अत्यन्त व्यक्त मानव, घट, पट आदि और पर्यायी शब्दों के द्वारा वाच्य है कोई ज्ञानांश, कषायांश आदि सूक्ष्म अर्थपर्यायें शब्द के द्वारा वाच्य नहीं हैं इसलिए स्याद्वाद सिद्धान्त में यह निर्दोष सिद्ध है कि कथञ्चित् द्रव्य वाच्य है और कथञ्चित् द्रव्य अवाच्य है।

बौद्ध मत के अनुसार असत्य विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित विकल्प्यस्वरूप सदृश आकार ही शब्दों के द्वारा कहे जाने योग्य है परन्तु वास्तविक बहिरंग घट पटादि पदार्थ वा अंतरंग अर्थ सर्वथा अवाच्य है इस प्रकार बौद्ध का एकान्त अभिमत प्रतीति से विरुद्ध है।

अथवा, शब्द के अवलम्बन से वस्तु का कथन करने वाले वक्ता के द्वारा कोई सजातीय एवं विजातीय अन्य पदार्थ से उद्धृत करके स्वयं धर्म और धर्मी को जानकर शब्द के द्वारा कथन किया गया है वही अर्थ मैंने जाना है, इस प्रकार की अविसंवादी प्रत्यभिज्ञा प्रमाणस्वरूप व्यवहार की प्रसिद्धि है, उस प्रमाणभूत व्यवहार को भ्रान्तत्व की व्यवस्था कराने का कोई उपाय नहीं है, अर्थात् बौद्ध अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष के समान प्रत्यभिज्ञान और आगम ज्ञान भी अभ्रान्त और अविसंवादी है, अतः प्रमाण है। ऐसा नहीं मानता है, उसका खण्डन किया है।

प्रश्न : स्याद्वादियों ने एक ही वस्तु में अनन्त धर्मों को शब्द के द्वारा कथन करने योग्य स्वीकार किया है अतः अनन्त धर्मों के कथन करने वाले वचन मार्ग भी अनन्त होने चाहिए। जितने वाच्य हैं उतनी संख्या वाले वाचक शब्द होने चाहिए अतः शब्द सात ही नहीं हैं, इसलिए स्याद्वादियों के सात भंगों का समाहार रूप सप्तभंगी विरुद्ध ही है।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि **विधान करने योग्य (विधि) और निषेध करने योग्य धर्मों के भेदों की अपेक्षा उन सप्त वचन मार्गों का होना विरुद्ध नहीं है। प्रत्येक पर्याय का अवलम्बन लेकर वस्तु में सप्त भंग होते हैं, ऐसा सिद्धान्त वचन है तथा कथन करने योग्य अनन्त धर्मों की विधि,निषेध द्वारा अनन्त सप्त भंगी का हो जाना भी अनिष्ट नहीं है। पूर्व (समन्तभद्रादि)**

''एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारद'' इत्यतिदेशवचनात् तदनंतत्वस्याप्रतिषेधात् । ननु च प्रतिपर्यायमेक एव भंगः स्याद्वचनस्य न तु सप्तभंगी तस्य सप्तधा वक्तुमशक्तेः। पर्यायशब्दैस्तु तस्याभिधाने कथं तन्नियमः सहस्रभंग्या अपि तथा निषेद्धुमशक्तेरिति चेत् नैतत्सारं, प्रश्नवशादिति वचनात् । तस्य सप्तधा प्रवृत्तौ तत्प्रतिवचनस्य सप्तविधत्वोपपत्तेः प्रश्नस्य तु सप्तधा प्रवृत्तिः वस्तुन्येकस्य पर्यायस्याभिधाने पर्यायांतराणामाक्षेपसिद्धेः । कुतस्तदाक्षेप इति चेत् तस्य तन्नांतरीयकत्वात्। यथैव हि क्वचिदस्तित्वस्य जिज्ञासायां प्रश्नः प्रवर्तते तथा तन्नांतरीयके नास्तित्वेपि क्रमार्पितोभयरूपत्वादौ चेति जिज्ञासायाः

आचार्यों ने भी अस्तित्व, नास्तित्व आदि विकल्प से सप्तभंगी के उदाहरण देकर कहा है कि इस प्रकार अस्तित्व, नास्तित्व धर्मों के समान एक, अनेक, नित्य, अनित्य, तत् ,अतत् आदि उत्तरोत्तर धर्मों में भी इस सप्त भंग के आधीन होने वाली प्रक्रिया को नयवाद में प्रवीण स्याद्वादी विद्वानों को युक्तिपूर्वक लगा लेना चाहिए। इस प्रकार आचार्यों के वाक्य से उस सप्तभंगी के अनन्तपने का निषेध नहीं है किन्तु विधान है, अर्थात् अनन्त धर्मों की अपेक्षा अनन्त सप्त भंगियाँ हो सकती हैं।

शंका : प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा वचन का भंग एक ही होना चाहिए , सात भंग नहीं हो सकते। क्योंकि एक ही अर्थ को सात प्रकार से कहना शक्य नहीं है। यदि इन्द्र, पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्दों के द्वारा उस सप्तभंगी का निरूपण करेंगे तो सात का ही नियम कैसे हो सकता है ? पर्यायवाची शब्दों के द्वारा तो हजारों भंगों का भी निषेध करना शक्य नहीं है अर्थात् पर्यायवाची शब्दों के द्वारा हजारों भंग हो सकते हैं।

समाधान : ऐसा कहना भी सारभूत नहीं है, क्योंकि सप्तभंगी प्रश्न के अनुसार ही कही गई है, क्योंकि प्रश्नों की सात प्रकार से प्रवृत्ति होने पर उनके प्रत्युत्तर रूप वचन भी सात प्रकार के होते हैं तथा प्रश्नों की सात प्रकार की प्रवृत्ति वस्तु में एक पर्याय के अभिधान में अन्य पर्यायों के प्रतिषेध, अवक्तव्य आदि का आक्षेप करने पर सप्तभंगी सिद्ध होती है, अर्थात् एक पर्याय का अभिधान (कथन) करने पर उसके साथ गम्यमान छह प्रकार के छह धर्मों का अर्थापत्ति से ग्रहण हो जाता है, उनको प्रश्न में डालकर सात भंग हो जाते हैं।

प्रश्न : उन सात भंगों के कथन से क्या लाभ है ? **उत्तर :** विधि रूप एक धर्म का कथन नास्तित्व आदि छह धर्मों के बिना नहीं हो सकता है, उसका उनके साथ अविनाभाव है। जिस प्रकार किसी में अस्तित्व को जानने की इच्छा होने पर नियम से अस्तित्व का प्रश्न प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार उसके अस्तित्व के अविनाभावी नास्तित्व में भी और क्रम से विवक्षित अस्तित्व नास्तित्व के उभय रूप या अस्त्यवक्तव्य आदि में जिज्ञासा सात प्रकार की होती है अतः जिज्ञासु के प्रश्न भी सात प्रकार के हो जाते हैं और उन प्रश्नों के उत्तर में दिये गए वक्ता के वचन भी सात प्रकार के होते हैं।

सप्तविधत्वात् प्रश्नसप्तविधत्वं ततो वचनसप्तविधत्वं । क्वचिदस्तित्वस्य नास्तित्वादिधर्मषट्कनांतरीयकत्वासिद्धेस्तज्जिज्ञासाया: सप्तविधत्वमयुक्तमिति चेन्न, तस्य युक्तिसिद्धत्वात् । तथाहि—धर्मिण्येकत्रास्तित्वं प्रतिषेध्यधर्मैरविनाभावि धर्मत्वात् साधनास्तित्ववत्। न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमंतरेणोपपन्नं तस्य साधनाभासत्वप्रसंगात् इति सिद्धमुदाहरणं। हेतुमनभ्युपगच्छतां तु स्वेष्टतत्त्वास्तित्वमनिष्टरूपनास्तित्वेनाविनाभावि सिद्धं, अन्यथा तदव्यवस्थितेरिति तदेव निदर्शनं। ननु च साध्याभावे साधनस्य नास्तित्वं नियतं साध्यसद्भावेस्तित्वमेव तत्कथं तत्प्रतिषेध्यत्वानुपपत्ते:।

प्रश्न : ''क्वचित् अस्तित्व वा नास्तित्व आदि छह धर्मों के साथ अविनाभाव की असिद्धि होने से उनकी जिज्ञासा (जानने की इच्छाओं) के सप्तविधत्व का कथन करना अयुक्त है अर्थात् कहीं पर एक अस्तित्व आदि धर्म भी रह सकते हैं, जैसे- हिंसा करना पाप है, मिथ्यात्व जीव का शत्रु है, आदि कथन में केवल अस्तित्व का ही कथन है, इनमें सप्त भंग नहीं हैं।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उस एक धर्म का छह धर्मों के साथ अविनाभाव युक्ति से सिद्ध है, उसी को अनुमान द्वारा स्पष्ट करते हैं। अनेक धर्म वाले एक धर्मी में अस्तित्व धर्म स्वकीय निषेध करने योग्य नास्तित्व आदि धर्मों के साथ अविनाभावी है क्योंकि वह धर्म है, जैसे बौद्धों के स्वीकृत हेतु का अस्तित्व धर्म।

इस अनुमान में दिया गया साधनास्तित्व उदाहरण साध्य और साधनों से सहित है। कहीं पर अनित्यत्व आदि साध्य में सत्त्व आदि साधन का अस्तित्व पक्ष में रहना विपक्ष में नास्तित्व के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा उस हेतु के हेत्वाभास का प्रसंग आता है, अर्थात् जिस हेतु में पक्षवृत्तित्व धर्म है उसमें विपक्ष की अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी है, तभी वह समीचीन धर्म होता है, इस प्रकार साधनास्तित्व उदाहरण सिद्ध है।

तथा हेतु को स्वीकार नहीं करने वाले अद्वैतवादियों के भी अपने अभीष्ट तत्त्व का अस्तित्व अनिष्ट तत्त्व के (नास्तित्व के) साथ अविनाभावी है, अर्थात् इष्ट तत्त्व की सिद्धि प्रतिपक्षी धर्म के अभाव के बिना हो नहीं सकती। हिंसा पाप है। यह पुण्य के अभाव के बिना सिद्ध नहीं हो सकती, अन्यथा अपने अभिप्रेत (इष्ट) तत्त्वों के साधन की व्यवस्था नहीं हो सकती, अत: अपने अभिप्रेत तत्त्वों को दृष्टान्त समझ लेना चाहिए।

प्रश्न : साध्य के अभाव में साधन का नास्तित्व नियत है (निश्चित है) और साध्य के सद्भाव में साधन का अस्तित्व नियत ही है। इसलिए नास्तित्व को अस्तित्व का निषेध करने योग्य (अनुपपन्न) कैसे कहते हैं (क्योंकि घट स्वरूप का घट रूप से निषेध करना असिद्ध है।)

स्वरूपनास्तित्वं तु यत्तत्प्रतिषेध्यं तेनाविनाभावित्वेन स्वरूपास्तित्वस्य व्याघातस्तेनैव रूपेणास्ति नास्ति चेति प्रतीत्यभावात् । तथा स्वेष्टतत्त्वेस्तित्वमेवानिष्टतत्त्वे नास्तित्वमिति न तत्प्रतिषेध्यं येन तस्य तदविनाभावित्वं सिद्ध्येत् । तेनैव तु रूपेण नास्तित्वं विप्रतिषिद्धमिति कथं निदर्शनं नाम प्रकृतसाध्ये स्यादिति चेन्न, हेतोस्त्रिरूपत्वादिविरोधात् । स्वेष्टतत्त्वविधौ चावधारणवैयर्थ्यात् । पक्षसपक्षयोरस्तित्वमन्यत्साधनस्य विपक्षे नास्तित्वं ब्रुवाण: स्वेष्टतत्त्वस्य च कथमेकस्य विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधान्निदर्शनाभावं विभावयेत् । क्वचिदस्तित्वसिद्धिसामर्थ्यात्तस्यान्यत्र नास्तित्वस्य सिद्धेर्न रूपांतरत्वमिति चेत् व्याहतमेतत् सिद्धौ सामर्थ्यसिद्धं च न रूपांतरं चेति कथमवधेयं कस्यचित् क्वचिन्नास्तित्वसामर्थ्याच्चास्तित्वस्य सिद्धेस्ततो रूपांतरत्वाभावप्रसंगात् । सोयं भावाभावयोरेकत्वमाचक्षाण: सर्वथा न क्वचित्प्रवर्तेत नापि कुतश्चिन्निवर्तेत

यदि स्वरूप से नास्तित्व को उसका प्रतिषेध्य माना जाएगा तो स्वरूप के नास्तित्व के साथ स्वरूप अस्तित्व का अविनाभावी रूप से कथन करने पर व्याघात दोष आता है अर्थात् अपने स्वरूप से ही अस्तित्व और अपने स्वरूप से नास्तित्व मानने पर परस्पर व्याघात दोष आता है।

तथा अपने स्वरूप से अस्तित्व और अपने स्वरूप से ही नास्तित्व रूप प्रतीति का अभाव है, तथा स्व इष्ट तत्त्व का अस्तित्व ही अनिष्ट तत्त्व का नास्तित्व है। इस प्रकार भी वस्तु का प्रतिषेध (अभाव) नहीं हो सकता जिससे अस्तित्व धर्म के साथ नास्तित्व धर्म का अविनाभाव सिद्ध हो सकता हो। जिस रूप से अस्ति है उसी रूप से नास्ति है। इसमें तुल्य विरोध वा व्याघात दोष आता है, इसलिए प्राप्त सात धर्मों के अविनाभावी साध्य को सिद्ध करने के लिए अनुमान में दिया गया दृष्टान्त कैसे ठीक हो सकता है?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर हेतु के त्रिधारूपत्व का विरोध आता है (बौद्ध मत में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये हेतु के तीन स्वरूप माने गये हैं। उनकी सिद्धि नहीं होती) अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्मों को माने बिना चार्वाक के इष्ट तत्त्व के विधान करने में एवकार के द्वारा अवधारणा करना व्यर्थ है अर्थात् चार्वाक के सिद्धान्त में पृथ्वी आदि चार तत्त्व हैं अन्य आत्मा, पुण्यपाप, परलोक आदि नहीं हैं ऐसा विधान नहीं हो सकता।

पक्ष और सपक्ष में हेतु का अस्तित्व भिन्न है और विपक्ष में हेतु का नास्तित्व भिन्न है, ऐसा कहने वाला अपने अभिप्रेत एक इष्टतत्त्व की विधि और निषेध का प्रतिषेध हो जाने से दृष्टान्त के अभाव का विचार कैसे करेगा ? अर्थात् इष्ट, अनिष्ट तत्त्वों के विधि-निषेध का अविनाभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इष्ट तत्त्व की विधि अनिष्ट तत्त्व के निषेध बिना नहीं हो सकती, और अनिष्ट तत्त्व का निषेध विधि के बिना नहीं हो सकता।

यदि बौद्ध कहे कि अस्तित्व की सिद्धि के सामर्थ्य से उसका दूसरे स्थानों में नास्तित्व स्वयमेव सिद्ध हो जाता है अत: अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, तो जैनाचार्य कहते हैं कि इस कथन में व्याघात दोष आता है। क्योंकि एक की सिद्धि हो जाने पर दूसरे को सामर्थ्य से सिद्ध कहना और

तन्निवृत्तिविषयस्य भावस्याभावपरिहारेणासंभवादभावस्य च भावपरिहारेणेति । वस्तुतोस्तित्वनास्तित्वयो: क्वचिद्रूपांतरत्वमेष्टव्यं । तथा चास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावे धर्मरूपं च यत्र हेतौ स्वेष्टतत्त्वे वा सिद्धं तदेव निदर्शनमिति न तदभावाशंका। प्रतिषेध्यं पुनर्यथास्तित्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावत: क्रमार्पितोभयात्मकत्वादिधर्मपंचकमपि तस्य तद्वत्प्रधानभावार्पितास्तित्वादन्यत्वोपपत्ते: । एतेन नास्तित्वं क्रमार्पितं द्वैतं सहार्पितं चावक्तव्योत्तरशेषभंगत्रयं वस्तुतोन्येन धर्मषट्केन प्रतिषेध्येनाविनाभावि साधितं प्रतिपत्तव्यं । क्रमार्पितोभयादीनां विरुद्धत्वेन संभवान्न तदविनाभावित्वं शक्यसाधनं धर्मिण: साधनस्य वासिद्धेरिति चेत् न, स्वरूपादिचतुष्टयेन कस्यचिदस्तित्वस्य पररूपादिचतुष्टयेन च नास्तित्वस्य सिद्धौ क्रमतस्तद्द्वयादस्तित्वनास्तित्वद्वयस्य सहावक्तव्यस्य सहार्पितस्वपररूपादिचतुष्टयाभ्यां

उसको भिन्न न मानना यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् जिसके कान होते हैं उसके आँख अवश्य होती है, ऐसा सिद्ध होने पर भी आँख और कान एक नहीं हो सकते।

किसी पदार्थ के किसी स्थान पर नास्तित्व के सामर्थ्य से अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है तब तो रूपान्तर (भिन्नस्वरूप) के अभाव का प्रसंग आता है, तथा भाव और अभाव को सर्वथा एक कहने वाला (बौद्ध) किसी भी प्रकार से किसी भी पदार्थ में प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी निवृत्ति का विषय भाव पदार्थ अभाव को छोड़कर कुछ नहीं है और अभाव का भाव को छोड़कर कुछ नहीं है। भाव को छोड़कर अभाव संभव नहीं है और अभाव को छोड़कर भाव संभव नहीं है, इसलिए पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व को कथञ्चित् रूपान्तर (भिन्न) स्वीकार करना चाहिए।

अस्तित्व धर्म (पक्ष) अपने प्रतिषेध करने योग्य नास्तित्व धर्म के साथ अविनाभावी (साध्य) और धर्म स्वरूप (हेतु) होकर जिस हेतु में या अपने अभीष्ट तत्त्व (दृष्टान्त) में सिद्ध हो रहा है, वही हमारे अनुमान का दृष्टान्त बन जाता है, अत: दृष्टान्त के अभाव की आशंका भी नहीं करनी चाहिए।

जिस प्रकार अस्तित्व का निषेध करने योग्य नास्तित्व है उसी प्रकार प्रधानता से विवक्षित क्रम से अर्जित उभयात्मक अस्ति-नास्ति और शब्द के अवक्तव्य अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्तिनास्त्यवक्तव्य ये पाँचों धर्म भी अस्तित्व के प्रतिषेध्य हैं, क्योंकि उस नास्तित्व के समान उन पाँचों को भी प्रधान भाव से विवक्षित होने से अस्तित्व से अन्य (भिन्न) की उपपत्ति (सिद्धि) होती है अर्थात् इस प्रकरण में प्रतिषेध्य का अर्थ सर्वथा तुच्छाभाव नहीं है अपितु प्रकृत धर्म से विपरीत कथंचित् प्रतियोगी होकर सहयोगिता रूप में एक साथ रहना है।

इस कथन से नास्तित्व, क्रम से विवक्षित अस्ति नास्तित्व, एक साथ विवक्षित अवक्तव्य तथा अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्ति नास्ति अवक्तव्य इन अस्तित्व के प्रतिषेधक छह धर्मों के साथ अविनाभाव रखने वाले सिद्ध किए गए हैं, ऐसा समझना चाहिए।

कोई कहता है कि क्रम से विवक्षित उभय आदि षट् धर्मों की विरुद्धरूप से संभावना होने से उनका परस्पर अविनाभावीपना शक्य साधन नहीं है, अर्थात् सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो उभय है

स्वरूपचतुष्टयाच्चास्त्यवक्तव्यत्वस्य ताभ्यां पररूपादिचतुष्टयाच्च नास्त्यवक्तव्यत्वस्य क्रमाक्रमार्पिताभ्यां ताभ्यामुभयावक्तव्यत्वस्य च प्रसिद्धेर्विरोधाभावाच्च धर्मिण: साधनस्य च प्रसिद्धे: । न हि स्वरूपेस्ति वस्तु न पररूपेस्तीति विरुध्यते, स्वपररूपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुत्वस्य, स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपरविभागाभावप्रसंगात् । स चायुक्त:, पुरुषाद्वैतादेरपि पररूपादपोढस्य तथाभावोपपत्तेरन्यथा द्वैतरूपतयापि तद्भावसिद्धेरेकानेकात्मवस्तुनो निषेद्धुमशक्ते: पररूपापोहनवत्स्वरूपापोहने तु निरूपाख्यत्वस्य प्रसंगात् । तच्चानुपपन्नं । ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यस्यापि संविन्मात्रत्वस्य स्वरूपोपादानादेव तथा व्यवस्थापनादन्यथा प्रतिषेधात् । तथा सर्वं वस्तु स्वद्रव्येस्ति न परद्रव्ये तस्य स्वपरद्रव्यस्वीकारतिरस्कारव्यवस्थितिसाध्यत्वात् । स्वद्रव्यवत् परद्रव्यस्य स्वीकारे द्रव्याद्वैतप्रसक्ते: स्वपरद्रव्यविभागाभावात् । तच्च विरुद्धं । जीवपुद्गलादिद्रव्याणां भिन्नलक्षणानां प्रसिद्धे: । कथमेकं

वह अवक्तव्य है और जो अवक्तव्य है वह अस्ति नास्ति रूप नहीं है। इस प्रकार अस्ति नास्ति आदि परस्पर विरोधी हैं, अविनाभावी नहीं हैं इसलिए एक वस्तु में अवक्तव्य आदि धर्मी की और विशेषण रूप साधन की सिद्धि नहीं है, असिद्धि है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व की और पररूप द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्तित्व की सिद्धि हो जाने पर क्रम से उनके उभय रूप नास्तित्व और अस्तित्व का और सह अवक्तव्य का कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार स्वरूप चतुष्टय से अस्तित्व के साथ (अस्त्यवक्तव्य), पर रूपादि चतुष्टय के साथ नास्ति अवक्तव्य का (नास्त्यवक्तव्य), स्व-पर चतुष्टय के साथ अस्ति नास्ति अवक्तव्य के विरोध का अभाव प्रसिद्ध ही है। ये सातों धर्म परस्पर विरोध रहित हैं अत: पक्ष और हेतु की प्रसिद्धि है।

स्वस्वरूप से वस्तु अस्ति स्वरूप है और पर रूप से वस्तु नास्ति स्वरूप है, इस कथन में कोई विरोध नहीं है क्योंकि अपने स्वरूप का ग्रहण करना और पर स्वरूप का त्याग करना, इस व्यवस्था से वस्तु का वस्तुपना सिद्ध है। स्वस्वरूप के ग्रहण के समान यदि वस्तु पर स्वरूप का भी ग्रहण करेगी तो सर्वथा स्वपर के विभाग के अभाव का प्रसंग आयेगा। (जिससे संकरता दोष आयेगा) अत: स्व पर के विभाग के अभाव का प्रसंग अयुक्त है। जो ब्रह्माद्वैतवादी आदि वस्तु को सर्वथा एक स्वरूप मानते हैं उनके यहाँ भी पर रूप से रहित करने पर ही आत्मा, ज्ञान आदि का अद्वैतपना बन सकता है, अन्यथा द्वैत घट, पट आदि पर रूप से भी अद्वैत की सिद्धि हो जाती है। अद्वैतवाद भी एक, अनेक स्वरूप वस्तु का निषेध नहीं कर सकते तथा पर स्वरूप के त्याग के समान यदि वस्तु अपने स्वरूप का भी पृथग्भाव करती रहेगी तब तो वस्तु स्व के भावों से शून्य होकर निरुपाख्य हो जाएगी, परन्तु वस्तु को निरुपाख्य कहना अनुपपन्न (अयुक्त) है क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक भाव, वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित भी केवल अद्वैत संवेदन मात्र का ग्रहण करने पर उस प्रकार की व्यवस्था हो सकती है अन्यथा उस अद्वैत का निषेध हो जाता है। अर्थात् ग्राह्य ग्राहक भाव आदि के कथन बिना वस्तु की सिद्धि नहीं होती और ग्राह्य ग्राहक भाव द्वैत में होते हैं अद्वैत में नहीं।

तथा सर्व वस्तु अपने द्रव्य में है, पर द्रव्य में नहीं है क्योंकि वस्तु की व्यवस्था स्वद्रव्य के स्वीकार और पर द्रव्य के तिरस्कार से ही सिद्ध होती है। स्व द्रव्य के समान परद्रव्य को भी स्वीकार करने पर द्रव्याद्वैत का प्रसंग आएगा। स्वद्रव्य और परद्रव्य के विभाग के अभाव का प्रसंग आएगा। परन्तु चेतन, अचेतन आदि के विभाग का अभाव प्रतीति विरुद्ध है, क्योंकि भिन्न-भिन्न लक्षण वाले जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की प्रसिद्धि है, अर्थात् जीव पुद्गल आदि द्रव्य पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं।

द्रव्यमनंतपर्यायमविरुद्धमुक्तमिति चेत् , जीवादीनामनंतद्रव्याणामनिराकरणादिति ब्रूम: । सन्मात्रं हि शुद्धं द्रव्यं तेषामनंतभेदानां व्यापकमेकं तदभावे कथमात्मानं लभते । कथमिदानीं तदेव स्वद्रव्येस्ति परद्रव्ये नास्तीति सिद्ध्येत् । न हि तस्य स्वद्रव्यमस्ति पर्यायत्वप्रसंगाद्यतस्तत्रास्तित्वं । नापि द्रव्यांतरं यत्र नास्तित्वमिति चेन्न, कथंचित् , न हि सन्मात्रं स्वद्रव्येस्ति परद्रव्ये नास्तीति निगद्यते । किं तर्हि, वस्तु । न च तत्संग्रहनयपरिच्छेद्यं वस्तु वस्त्वेकदेशत्वात् पर्यायवत् । ततो यथा जीववस्तु पुद्गलादिवस्तु वा स्वद्रव्ये जीवत्वेन्वयिनि पुद्गलादित्वे वा पर्याये च स्वभावे ज्ञानादौ रूपादौ वास्ति न परद्रव्ये परस्वरूपे वा तथा परमं वस्तु सत्त्वमात्रे स्वद्रव्ये स्वपर्याये च जीवादिभेदप्रभेदेस्ति न परिकल्पिते सर्वथैकांते कथंचिदिति निरवद्यं तथा स्वक्षेत्रेस्ति परक्षेत्रे

''एक द्रव्य अनन्त पर्याय युक्त है, यह अविरुद्ध कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर जैनाचार्य कहते हैं कि जीवादि अनन्त द्रव्यों का जैन सिद्धान्त में निराकरण नहीं है, अर्थात् एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें हो सकती हैं, परन्तु एक द्रव्य की पर्याय अनन्त द्रव्य नहीं हो सकती। इसलिए जीवादि द्रव्यों के अभाव में अनन्त भेदों में व्यापक शुद्ध सत्तामात्र एक द्रव्य आत्मलाभ कैसे कर सकता है ? अर्थात् अद्वैतवादियों के द्वारा स्वीकृत विधिस्वरूप सत्तामात्र ब्रह्म तत्त्व अवान्तर सत्ता वाले अनेक द्रव्यों को नहीं मानने पर व्यापक सिद्ध कैसे हो सकता है?

अद्वैतवादी -''प्रत्येक द्रव्य स्वकीय स्वरूप में अस्तित्वरूप है और पर द्रव्य में नास्ति स्वरूप है, यह समय (सिद्धान्त) कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि पर्यायत्व का प्रसंग होने से द्रव्य के स्वकीय द्रव्य नहीं हैं जिससे स्वकीय द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हो सके ? उस द्रव्य से भिन्न कोई द्रव्यान्तर ही नहीं है अत: पर द्रव्य में नास्तित्व कैसे हो सकता है ?'' जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादी का कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में सन्मात्र द्रव्य को कथंचित् स्वद्रव्य में अस्तिस्वरूप और परद्रव्य में नास्ति स्वरूप कहा जाता है। केवल शुद्ध सन्मात्रद्रव्य ''स्वद्रव्य में अस्ति और परद्रव्य में नास्ति'', नहीं मानते हैं ? **शंका :** तो आप वस्तु का स्वरूप कैसा मानते हैं ?

समाधान : पर्यायों के समान वस्तु के एकदेश को जानने वाले संग्रह नय से सम्पूर्ण वस्तु परिच्छेद्य नहीं है, परन्तु अन्य पर्यायों के समान वस्तु के एकदेश को जानता है इसलिए जिस प्रकार जीववस्तु और पुद्गल, धर्मादि वस्तुएँ अन्वय से रहने वाले जीवत्व या पुद्गलत्व आदि स्वकीय द्रव्य में विद्यमान हैं, अथवा अपने स्वभाव भूत ज्ञानादि और रूपादि में भी तथा नर-नारकादि जीव की पर्यायों में जीवत्व और घटादि पर्यायों में पुद्गलत्व विद्यमान है परन्तु प्रत्येक द्रव्य परस्वरूप और परपर्यायों में विद्यमान नहीं है अर्थात् जीवत्व पुद्गल के रूप रस आदि में नहीं है, और रूप रस आदि जीवत्व में नहीं हैं, उसी प्रकार कालादि धर्मादि में नहीं और धर्मादि में कालादि नहीं हैं, तथा परम व्यापक वस्तु स्वकीय सत्ता मात्र द्रव्य में और जीव पुद्गल देव घट आदि भेद प्रभेद रूप अपने अंश स्वरूप पर्यायों में विद्यमान है परन्तु परकल्पित सर्वथा एकान्त रूप आत्मा, स्वलक्षण आदि द्रव्य और क्षणिक नील आदि पर्यायों में किसी भी प्रकार से विद्यमान नहीं है। इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार गुण पर्यायात्मक अस्ति नास्ति रूप वस्तु का स्वभाव निर्दोष सिद्ध है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

नास्तीत्यपि न विरुध्यते स्वपरक्षेत्रप्राप्तिपरिहाराभ्यां वस्तुनो वस्तुत्वसिद्धेरन्यथा क्षेत्रसंकरप्रसंगात् । सर्वस्याक्षेत्रत्वापत्तेश्च । न चैतत्साधीय: प्रतीतिविरोधात् । तत्र परमस्य वस्तुन: स्वात्मैव क्षेत्रं तस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वात् तद्व्यतिरिक्तस्य क्षेत्रस्याभावात् तदपरस्य वस्तुनो गगनस्यानेन स्वात्मैव क्षेत्रमित्युक्तं तस्यानंत्यात् क्षेत्रांतराघटनात् । जीवपुद्गलधर्माधर्मकालवस्तूनां तु निश्चयनयात् स्वात्मा व्यवहारनयादाकाशं क्षेत्रं ततोऽप्यपरस्य वस्तुनो जीवादिभेदरूपस्य यथायोगं पृथिव्यादि क्षेत्रं प्रत्येयं । नचैवं स्वरूपात्स्वद्रव्याद्वा क्षेत्रस्यान्यता न स्यात् तद्व्यपदेशहेतो: परिणामविशेषस्य ततोन्यत्वेन प्रतीतेरविरोधात् । तथा स्वकालेस्ति परकाले नास्तीत्यपि न विरुद्धं स्वपरकालग्रहणपरित्यागाभ्यां वस्तुनस्तत्त्वप्रसिद्धेरन्यथा कालसांकर्यप्रसंगात् ।

स्वद्रव्य में अस्ति और पर द्रव्य में नास्तित्व के समान स्वक्षेत्र में अस्तित्व और परक्षेत्र में नास्तित्व भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि स्वक्षेत्र की प्राप्ति और पर क्षेत्र के परिहार के द्वारा ही वस्तु के वस्तुत्व की सिद्धि होती है। अन्यथा (स्वक्षेत्र की अपेक्षा अस्तित्व और पर क्षेत्र की अपेक्षा नास्तित्व नहीं मानने पर) क्षेत्रसंकर का प्रसंग आता है, अथवा सर्व पदार्थों के अक्षेत्रत्व का प्रसंग आएगा, अर्थात् पर का क्षेत्र जब स्वक्षेत्र में ही प्रविष्ट हो जाएगा ? तब पर क्षेत्र का अभाव होगा तो स्वक्षेत्र का भी अभाव हो जाएगा और स्व पर क्षेत्र दोनों का अभाव हो जाने से अक्षेत्र का प्रसंग आएगा, परन्तु यह क्षेत्ररहितपना प्रशस्त नहीं है, क्योंकि क्षेत्ररहितपना प्रतीति से विरुद्ध है।

इस क्षेत्र प्रकरण में परम महा सत्तारूप वस्तु का स्वकीय आत्मा ही अपना क्षेत्र है क्योंकि वह परम वस्तु सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों में व्यापक रहता है, उस स्वात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई क्षेत्र नहीं है, दूसरे क्षेत्र का अभाव है। वास्तव में, स्वकीय आत्मा ही अपना क्षेत्र हो सकता है। घर, ग्राम, देश, आकाश आदि तो व्यवहार से कल्पित क्षेत्र है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आकाशरूप वस्तु का क्षेत्र भी स्वात्मा (आकाश) ही कहा है क्योंकि आकाश अनन्त है, वह सर्वत्र व्याप्त है अत: आकाश का क्षेत्र आकाश को छोड़कर दूसरा घटित नहीं होता है और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल रूप वस्तु का निश्चय नय से स्वात्मा (अपना स्वरूप) ही क्षेत्र है और व्यवहार नय से लोकाकाश क्षेत्र है, उससे भिन्न जीवादिक के व्याप्य भेद, प्रभेद रूप तिर्यञ्च, मानव, घर, घट, जल आदि पदार्थों का क्षेत्र यथायोग्य पृथ्वी आदि जानना चाहिए। इस प्रकार स्वस्वरूप, स्वद्रव्य से क्षेत्र की भिन्नता नहीं है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिए क्योंकि वस्तु में उन-उन भाव स्वरूप स्वद्रव्य और स्व क्षेत्रों के व्यपदेश में कारणभूत परिणाम विशेष की परस्पर पृथक् रूप से प्रतीति होती है, अत: इसमें कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ : जैसे साढ़े तीन हाथ प्रमाण मानव अपने पूर्ण देश, देशांश, गुण-गुणांश में तादात्म्य सम्बन्ध से व्यापक है, वही उसका स्वरूप है, अनन्त गुणों का पिण्ड रूप देश उसका स्वद्रव्य है। साढ़े तीन हाथ के विष्कंभ वाला देशांश स्वरूप (प्रदेश के रहने का स्थान) स्व क्षेत्र है, तथा ऊर्ध्वांश कल्पना रूप गुणांश पर्यायों का पिण्ड ही स्वकाल है एवं वर्तमान के परिणाम अविभागी प्रतिच्छेद आदि स्व के भाव हैं।

उसी प्रकार वस्तु स्वकीय काल में अस्ति रूप है और परकाल में नास्ति स्वरूप है, यह भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि स्वकाल के ग्रहण और परकाल के त्याग (हान) से ही वस्तु का वस्तुत्व सिद्ध होता है।

सर्वदा सर्वस्याभावप्रसंगाच्च । तत्र परमस्य वस्तुनोनाद्यनंतः कालोपरस्य च जीवादिवस्तुनः सर्वदा विच्छेदाभावात् तत्र तदस्ति न परकालेन्यथा कल्पिते क्षणमात्रादौ जीवविशेषरूपं तु मानुषादिवस्तु स्वायुः प्रमाणस्वकालेस्ति न परायुःप्रमाणे पुद्गलविशेषरूपं च पृथिव्यादि तथा परिणामस्थितिनिमित्ते स्वकालेस्ति न तद्विपरीते तदा तस्यान्यवस्तुविशेषत्वेनभावात्।

नन्वेवं युगपदेकत्र वस्तुनि सत्त्वासत्त्वद्वयस्य प्रसिद्धेस्तदेव प्रतिषेध्येनाविनाभावि साध्यं न तु केवलमस्तित्वं नास्तित्वादि वा तस्य तथाभूतस्यासंभवादिति चेन्न, नयोपनीतस्य केवलास्तित्वादेरपि भावात् सिद्धे वस्तुन्येकत्रास्तित्वादौ नानाधर्मे वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धो धर्मस्तदप्रसिद्धेन धर्मेणाविनाभावी साध्यत

अन्यथा काल के संकर होने का तथा सदा सर्व वस्तु के अभाव का प्रसंग आएगा, अर्थात् जब किसी का स्वकाल नहीं है और परकाल से व्यावृत्ति नहीं है, अतः नियत काल का अभाव होने से सभी वस्तुओं का अभाव हो जायेगा। वा वृद्ध, बालक, पुद्गलादि का एक काल होने से सर्व एक रूप हो जायेंगे।

उस काल के प्रकरण में परमसत् वस्तु के सर्वदा विच्छेद का अभाव होने से स्वकाल अनादि अनन्त है और उस परम सत् में व्याप्य अपर (अवान्तर सत्ता रूप) जीवादि वस्तु का भी सर्वदा विच्छेद का अभाव होने से स्वकाल अनादि अनन्त है अर्थात् वस्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप त्रिकालवर्ती अनन्त परिणाम स्वरूप स्वकीय गुणांश में ही रहती है। परगुणांशरूप पर काल में नहीं रहती है अन्यथा कल्पित क्षण मात्र आदि काल में यदि द्रव्य रूप से वस्तु की स्थिति मानी जायेगी तो सत् का विनाश और असत् का उत्पाद रूप महान् दोष उत्पन्न होगा।

जीव द्रव्य की विशेष (पर्याय) रूप मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंचादि रूप वस्तुओं का स्वकाल स्वकीय आयु प्रमाण है, अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च पर्याय का उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्यप्रमाण है। देव और नारकियों का दस हजार वर्ष से तैंतीस सागर पर्यन्त है। देवों के समान नारकियों और मनुष्यों के समान तिर्यञ्चों का काल जानना चाहिए। दूसरों की आयु प्रमाण तिर्यञ्च आदि जीव की पर्यायों का काल नहीं है। अथवा पुद्गल स्कन्ध की पृथ्वी आदि स्वकीय पर्याय की स्थिति में निमित्त कारण अपने व्यवहार काल में ही हैं, उससे विपरीत न्यूनाधिक काल में नहीं है, क्योंकि उस समय उसका अन्य वस्तुओं के विशेष (पर्याय) रूप से परिणमन हो रहा है, अर्थात् स्वकाल में वस्तु का रहना और परकाल में नहीं रहना, यही वस्तु का वस्तुत्व है।

शंका : एक वस्तु में एक समय में एक साथ सत्त्व और असत्त्व इन दोनों के अस्तित्व की प्रसिद्धि है, तब तो वह उभय ही अपने प्रतिषेध्य अवक्तव्य आदि के साथ अविनाभावी साध्य करना चाहिए। केवल अस्तित्व या केवल नास्तित्व वा अवक्तव्य को साध्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि अकेले अस्तित्व आदि का उस प्रकार के प्रतिषेध्यों के साथ रहना संभव नहीं है अर्थात् दो धर्म एक साथ रहेंगे। अकेले का मिलना असंभव है। जैनाचार्य कहते हैं-ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि नयों के द्वारा ज्ञात (जाने गये) अकेले अस्तित्व और नास्तित्व का भी सद्भाव पाया जाता है। एक वस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्मों के सिद्ध हो जाने पर वादी और प्रतिवादी के प्रसिद्ध एक धर्म दूसरे अप्रसिद्ध धर्म के साथ अविनाभाव को

इति युक्तिसिद्धमस्तित्वादिधर्मसप्तकं कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विप्रतिपत्तिसप्तकं जनयेत् । जिज्ञासायाः सप्तविधत्वं तच्च प्रश्नसप्तविधत्वं तदपि वचनसप्तविधत्तवमिति सूक्ता प्रश्नवशादेकत्र सप्तभंगी, भङ्गान्तरनिमित्तस्य प्रश्नांतरस्यासंभवात् । तदभावश्च जिज्ञासांतरासंभवात् तदसंभवोपि विप्रतिपत्त्यंतरायोगात् तदयोगोपि विधिप्रतिषेधविकल्पनया धर्मांतरस्य वस्तुन्यविरुद्धस्यानुपपत्तेः, तदनुपपत्तावपि प्रश्नांतरस्याप्रवर्तमानस्यासंबंध-प्रलापमात्रतया प्रतिवचनानर्हत्वात् । तद्धि प्रश्नांतरं व्यस्तास्तित्वनास्तित्वविषयं समस्ततद्विषयं वा ? प्रथमपक्षे प्रधानभावेन प्रथमद्वितीयप्रश्नावेव गुणभावेन तु सत्त्वस्य द्वितीयप्रश्नः स्यादसत्त्वस्य प्रथमः । समस्तास्तित्वनास्तित्वविषये तु प्रश्नांतरं क्रमतस्तृतीयः सह चतुर्थः प्रथमचतुर्थसमुदायविषयः पंचमः द्वितीयचतुर्थसमुदायविषयः षष्ठस्तृतीयचतुर्थसमुदायविषयः सप्तम इति सप्तस्वेवांतर्भवति । प्रथमतृतीययोः

सिद्ध करता है। इसलिए अस्तित्व आदि सातों ही भंग एक वस्तु में युक्तिसिद्ध हैं। युक्तियों से सिद्ध वे धर्म ज्ञाता पुरुष के किसी कारणवश सात प्रकार के विवादों को उत्पन्न करा देते हैं तथा वे सात प्रकार के विवाद जानने के इच्छुक मानव के हृदय में सात प्रकार की जिज्ञासाओं को प्रकट करते हैं। तथा सात प्रकार की जिज्ञासा सात प्रकार के प्रतिवचनों की उत्पादक होती है अतः एक वस्तुधर्म में प्रश्न के कारण सप्तभंगी का होना समीचीन कहा है। सप्तभंग के अतिरिक्त भंगान्तर के निमित्तभूत प्रश्न की असंभवता है और प्रश्न के असंभव होने से जिज्ञासा (जानने की इच्छाओं) के अतिरिक्त की असंभवता है अर्थात् वस्तु के जानने की जिज्ञासा सात प्रकार की है, अधिक नहीं। जिज्ञासा के अभाव में विवादान्तर का अयोग और विवाद का अयोग भी एक वस्तु में विधि और निषेध की विविध कल्पनाओं से अविरुद्ध धर्मान्तरों की अनुपपत्ति है। सात धर्मों से अधिक धर्मों की अनुपपत्ति होने पर सात प्रश्नों से अतिरिक्त अन्य प्रश्नों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और प्रश्न के सम्बन्ध बिना बोलना प्रलाप मात्र होने से प्रत्युत्तर देने योग्य नहीं है।

इस विषय में जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि वे सप्त भंगी से भिन्न प्रश्न पृथक्-पृथक् अस्तित्व और नास्तित्व का विषय करने वाले हैं ? अथवा संमिश्रित, अस्तित्व, नास्तित्व का विषय करते हैं ? प्रथम पक्ष में प्रधान रूप से अस्तित्व, नास्तित्व के विषय में प्रश्न करने पर तो प्रथम और द्वितीय प्रश्न हो जाएंगे अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति ही सिद्ध होती है यदि अस्तित्व को गौण करके नास्तित्व का प्रधानता से कथन किया जाये तो द्वितीय परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व का कथन होता है तथा असत्व (नास्ति) को गौण करके कथन किया जाता है तब प्रथम पक्ष (अस्तित्व) का कथन होता है।

द्वितीय पक्ष के अनुसार सम्मिश्रित अस्ति नास्ति का विषय करने वाला कहेंगे तो क्रम से दोनों को विषय करने वाला प्रश्नान्तर तीसरा प्रश्न (अस्ति नास्तित्व) हुआ। यदि अस्ति और नास्तित्व को एक साथ विषय करना कहेंगे तो चतुर्थ अवक्तव्य भंग होगा। प्रथम चतुर्थ के साथ कहेंगे तो पाँचवाँ भंग (अस्ति अवक्तव्य) होगा। यदि द्वितीय और चतुर्थ के समुदाय का विषय करने वाला कहेंगे तो छठा (नास्त्यवक्तव्य) भंग होता है। चतुर्थ और तृतीय समुदाय का विषय करना कहेंगे तो सप्तम (अस्तिनास्त्यवक्तव्य) भंग होगा। इस प्रकार सारे भंग सात भंगों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं (पृथक् भंग नहीं हैं)।

समुदाये तु प्रश्न: पुनरुक्त:, प्रथमस्य तृतीयावयवत्वेन पृष्टत्वात् । तथा प्रथमस्य चतुर्थादिभिर्द्वितीयस्य तृतीयादिभिस्तृतीयस्य चतुर्थादिभिश्चतुर्थस्य पंचमादिभि: पंचमस्य षष्ठादिना षष्ठस्य सप्तमेन सहभावे प्रश्न: पुनरुक्त: प्रत्येयस्ततो न त्रिचतु:पंचषट्सप्तप्रयोगकल्पनया प्रतिवचनांतरं संभवति। नापि तत्संयोगानवस्थानं यत: सप्तभंगीप्रसादेन सप्तशतभंग्यपि जायत इति चोद्यं भवेत् । नन्वेवं तृतीयादीनामपि प्रश्नानां पुनरुक्तत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, तृतीये द्वयो: क्रमश: प्रधानभावेन पृष्टे: प्रथमे द्वितीये वा तथा तयोरपृष्टे:। सत्त्वस्यैवासत्त्वस्यैव च प्रधानतया पृष्टत्वात् । चतुर्थे तु द्वयो: सह प्रधानत्वे पृष्टेर्न पुनरुक्तता । पंचमे तु सत्त्वावक्तव्यतयो: प्रधानतया पृष्टे: पूर्वं तयोरपृष्टेरपुनरुक्तता । षष्ठेपि नास्तित्वावक्तव्यतयोस्तथा पृष्टेरेव । सप्तमे क्रमाक्रमार्पितयो: सत्त्वासत्त्वयो: प्रधानतया पृष्टे: कुत: पौनरुक्त्यं । नन्वेवं तृतीयस्य प्रथमेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोरेकस्य नास्तित्वस्य प्राधान्याद्

प्रथम(अस्तित्व) और तृतीय अस्ति नास्तित्व के समुदाय में प्रश्न किया जायेगा तो वह प्रश्न पुनरुक्त होगा। क्योंकि प्रथम अस्तित्व तृतीय (अस्ति नास्तित्व) का अवयव होने के कारण पूछा जा चुका है।

उसी प्रकार यदि प्रथम को चतुर्थादि के साथ समुदित करके वा द्वितीय भेद को तृतीय भेद के साथ किया जायेगा, तीसरे को चतुर्थ आदि के साथ, चतुर्थ को पंचम आदि के साथ, पंचम को छठे आदि के साथ, और छठे भंग को सप्तम के साथ भी प्रश्न में पुनरुक्त दोष आता है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार इन सप्त भंगों के पुन: तीन, चार, पाँच, छह और सात भंगों की कल्पना कर उत्तर में दिये गये अन्य आठवें आदि प्रतिवचन संभव नहीं हैं।

उन सात या सात के सम्बन्ध से उत्पन्न अन्य भंगों के संयोग से पुन: प्रश्नों के होने पर अनवस्था दोष भी नहीं है जिससे सप्त भंग के प्रसाद से सात सौ[1] भंग भी उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार की शंका हो सकती है अर्थात् सप्तभंगी के अनेक भंग उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु अपुनरुक्त भंग सात ही हैं।

प्रश्न : इस प्रकार तो तीसरे चौथे आदि भंगों के कथन में भी पुनरुक्त दोष का प्रसंग आता है केवल प्रथम (अस्ति) दूसरा (नास्ति) भंग ही अपुनरुक्त हैं।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि तीसरे भंग में पूर्व के दो भंगों को क्रम से प्रधान रूप से पूछा गया है (कथन किया गया है)। प्रथम और दूसरे भंग में क्रमश: कथन नहीं किया गया है। उनमें क्रम से पृच्छा नहीं की गई है अपितु अकेले सत्त्व की प्रधानता से प्रथम भंग है और केवल असत्त्व की प्रधानता से द्वितीय भंग का कथन है। चतुर्थ भंग में अस्ति और नास्ति इन दोनों को एक साथ प्रधानता से पूछा गया है अत: इनमें पुनरुक्त दोष नहीं है। पंचम भंग में अस्ति और अवक्तव्य की प्रधानता से पूछा गया है। प्रथम प्रश्न में इन दोनों को नहीं पूछा गया है अत: अपुनरुक्त है। छठे भंग में नास्तित्व और अवक्तव्य की प्रधानता से पृच्छा की गई है। अन्य भंगों में इस प्रकार की पृच्छा (प्रश्न) नहीं है। सप्तम प्रश्न में क्रम से अर्पित सत्त्व और असत्त्व तथा अक्रम से विवक्षित सत्त्व असत्त्व के अवक्तव्य की प्रधानता से प्रश्न किया गया है, इनमें पुनरुक्तता कैसे संभव हो सकती है अर्थात् ये सातों प्रश्न अपुनरुक्त हैं और इनके उत्तर में स्याद्वादी वक्ता की ओर से दिये गये सात उत्तर उपयुक्त हैं।

१. सात सौ भंग कैसे होते हैं - यह समझ में नहीं आया।

द्वितीयेन संयोगे द्वयोर्नास्तित्वयोरेकस्यास्तित्वस्य क्रमशः पृष्टेनापुनरुक्ततास्तु पूर्वं तथा पृष्टेरभावात् । तथा चतुर्थस्य पंचमेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य षष्ठेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोरेकस्य नास्तित्वस्य सप्तमेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्य च क्रमेण प्रधानतया पृष्टेर्न पुनरुक्तता । तथा पंचमस्य षष्ठेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोरेकस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्य पृष्टेः पंचमस्य सप्तमेन संयोगे द्वयोरव्यक्तयोर्नास्तित्वयोश्चैकस्यास्तित्वस्य सप्तमस्य प्रथमेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोरेकस्य नास्तित्वस्यावक्तव्यस्य च द्वितीयेन संयोगे द्वयोर्नास्तित्वयोरेकस्यावक्तव्यस्य च तृतीयेन संयोगे द्वयोरस्तित्वयोर्नास्तित्वयोश्चैकस्यावक्तव्यस्य क्रमशः प्रधानभावेन पृष्टेर्न पुनरुक्तत्वमिति

शंका : तीसरे (अस्तिनास्ति) का प्रथम अस्तित्व के साथ संयोग करने पर दो अस्तित्व और एक नास्तित्व की प्रधानता से यह एक भंग होता है ॥१॥

तृतीय भंग का द्वितीय भंग (नास्तित्व) के साथ संयोग करने पर दो नास्तित्व और एक अस्तित्व क्रम से पृच्छा होने पर यह एक भंग होता है। इस प्रकार उभय अस्ति और उभय नास्ति ये दो भंग भी अपुनरुक्त हैं॥२॥ क्योंकि पूर्व में इस प्रकार का प्रश्न नहीं किया गया है। इसी प्रकार चतुर्थ भंग का पाँचवें के साथ संयोग होने पर दो अवक्तव्य और एक अस्तित्व का नया प्रश्न है॥३॥

चतुर्थ भंग का छठे भंग के साथ संयोग करने पर दो अवक्तव्य और एक नास्तित्व भंग भी नवीन होता है॥४॥

चतुर्थ भंग का सातवें भंग के साथ संयोग करने पर दो अवक्तव्य और क्रम से एक अस्तित्व एक नास्तित्व की प्रधानता से एक प्रश्न हो सकता है। क्रमशः प्रधानता से प्रश्न होने से यह प्रश्न पुनरुक्त नहीं है॥५॥

तथा पंचम भंग का छठे भंग के साथ संयोग करने पर दो अवक्तव्य, एक अस्तित्व और एक नास्तित्व यह एक नवीन प्रश्न होता है॥६॥

पंचम भंग का सप्तम भंग के साथ संयोग करने पर दो अवक्तव्य, दो अस्तित्व और एक नास्तित्व का सातवाँ नवीन प्रश्न उत्पन्न हो जाता है॥७॥

छठे नास्ति अवक्तव्य का सातवें अस्ति नास्त्यवक्तव्य के साथ संयोग होने पर दो अवक्तव्य, दो नास्तित्व और अस्तित्व एक का आठवाँ भंग उत्पन्न होता है ॥८॥

सप्तम भंग और प्रथम भंग का संयोग होने पर दो अस्तित्व एक नास्तित्व और एक अवक्तव्य नामक नवम प्रश्न उत्पन्न होता है॥९॥

सप्तम भंग का द्वितीय भंग के साथ संयोग होने पर दो अस्तित्व, दो नास्तित्व और एक अवक्तव्य का दसवाँ भंग है॥१०॥

सप्तम भंग के साथ तीसरे भंग का संयोग करने पर दो अस्तित्व और दो नास्तित्व और एक अवक्तव्य की प्रधानता से क्रम से पूछने पर ग्यारहवाँ प्रश्न उत्पन्न होता है॥११॥ इस प्रकार सात भंगों में

तत्प्रतिवचनानामप्येकादशानामपुनरुक्तत्वसिद्धेरष्टादशभंगास्तथा संयोगे च भंगांतराणि सिद्ध्येयुस्तथा तत्संयोगेपि ततो भंगांतराणीति कथं शतभंगी निषिध्यते ? द्विभंगीप्रसंगादिति केचित्, तदयुक्तं । अस्तित्वस्य नास्तित्वस्य तदवक्तव्यस्य चानेकस्यैकत्र वस्तुन्यभावात् नाना वस्तुषु सप्तभंग्याः स्वयमनिष्टेः । यत्पुनर्जीववस्तुनि जीवत्वेनास्तित्वमेवाजीवत्वेन च नास्तित्वं मुक्तत्वेनापरममुक्तत्वेन चेत्याद्यनंतस्वपरपर्यायापेक्षयानेकं तत्संभवति वस्तुनोऽनंतपर्यायात्मकत्वादिति वचनं तदपि न सप्तभंगीविघातकृत्, जीवत्वाजीवत्वापेक्षाभ्यामिवास्तिनास्तित्वाभ्यां मुक्तत्वामुक्तत्वाद्यपेक्षाभ्यामपि पृथक् सप्तभंगीकल्पनात् विवक्षितवक्तव्यत्वावक्तव्यत्वाभ्यामपि सप्तभंगी प्रकल्पमानान्यैवानेन प्रतिपादिता । प्रकृताभ्यामेव धर्माभ्यां सहार्पिताभ्यामवक्तव्यत्वस्यानेकस्यासंभवादेकत्र तत्प्रकल्पनया भंगांतरानुपपत्तेः । यत्तु ताभ्यामेवासहार्पिताभ्यां

से दो भंगों का संयोग करके बनाये गये ग्यारह प्रश्न पुनरुक्त नहीं हैं, इनमें अपुनरुक्तपना सिद्ध है। क्योंकि ये पूर्व के सात भंगों में पूछे नहीं गये हैं अत: इन प्रत्युत्तर में दिये गये ग्यारह भंगों के अपुनरुक्तता सिद्ध है।

इस प्रकार सात और ग्यारह को मिलाने पर अठारह भंग हो जाते हैं तथा इन अठारह के भी संयोग करने पर अनेक भंग सिद्ध हो सकते हैं तथा उनका भी संयोग करने पर भंगों की सन्तान बढ़ती जायेगी अत: शत (सैकड़ों) भंगी का निषेध कैसे हो सकता है। यदि शतभंगी का निषेध करेंगे तो पूर्व में कथित प्रथम दो (अस्ति, नास्ति) भंग का ही प्रसंग आयेगा। अर्थात् दो ही भंग रहेंगे सात नहीं। ऐसा कोई कह रहा है?

जैनाचार्य कहते हैं- सप्तभंगी को छोड़कर अधिक भंग का कथन करना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व तथा उन दोनों का यौगपद्य होने पर अवक्तव्य ये तीन धर्म एक वस्तु में एक-एक ही रहते हैं। एक वस्तु में अनेक अस्तित्व आदि का अभाव पाया जाता है अर्थात् अनेक वस्तुओं में यद्यपि अनेक अस्तित्व, अनेक नास्तित्व रह सकते हैं, प्रश्न के अनुसार अविरोध रूप से विधि और निषेध की सद्भूत कल्पना सप्तभंगी है। अनेक वस्तुओं में सप्तभंगी होना हम स्वयं इष्ट नहीं करते हैं।

जीव वस्तु में जीवत्व रूप से अस्तित्व, अजीव रूप से नास्तित्व है। मुक्त स्वरूप से अस्तित्व और अमुक्तत्व रूप से अपर नास्तित्व है। इस प्रकार अनन्त स्वपर पर्याय अपेक्षा से अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्म एक वस्तु में संभव है क्योंकि "वस्तु अनेक धर्मात्मक है" "अनन्तपर्यायात्मक है" यह ग्रन्थकार का वचन है अत: सप्तभंगी आत्मक वचन व्यवस्था के विघातक नहीं हैं। जिस प्रकार एक जीव वस्तु में जीवत्व, अजीवत्व की अपेक्षा अस्तित्व, नास्तित्व के द्वारा सप्तभंग सिद्ध होते हैं।

अर्थात् जीवत्व की अपेक्षा अस्तित्व और अजीवत्व की अपेक्षा नास्तित्व है। उसी प्रकार मुक्तत्व, संसारीत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि की अपेक्षा सप्तभंग की कल्पना की जाती है। इस उक्त कथन से "विवक्षित वक्तव्य, अवक्तव्य, उभय आदि की भी सप्त भंगी कर लेना चाहिए" ऐसा प्रतिपादन किया है।

इस प्रकरण में प्राप्त वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मों के साथ कथन करने की विवक्षा होने से एक ही चतुर्थ अवक्तव्य धर्म बनेगा। उसमें अनेक अवक्तव्य धर्मों की असंभवता है। इसलिए एक पर्याय में अनेक अवक्तव्य धर्मों की कल्पना करके दूसरे भंगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो क्रम से विवक्षित

वक्तव्यत्वं तदपि न शेषभंगेभ्यो भिद्यते, तेषामेव वक्तव्यत्वात् । ततो नातिव्यापिनी सप्तभंगी नाप्यव्यापिन्यसंभविनी वा यत: प्रेक्षावद्भिर्नाश्रीयते । ननु च सप्तसु वचनविकल्पेष्वन्यतमेनानंतधर्मात्मकस्य वस्तुन: प्रधानगुणभावेन प्रतिपादनाच्छेषवचनविकल्पानामानर्थक्यादनाश्रयणीयत्वमेवेति चेत् न, तेष्वपरापरधर्मप्राधान्येन शेषधर्मगुणभावेन च वस्तुन: प्रतिपत्ते: साफल्यात्।

तत्रास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्येऽवधारणं किमर्थमित्याह;—

वाक्येवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये । कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥ ५३ ॥

किये गये वक्तव्य और अवक्तव्य का वक्तव्यपना है, वह वक्तव्यपना भी शेष भंगों से भिन्न नहीं है क्योंकि छह भंग वक्तव्य (शब्द के द्वारा कथनीय) हैं और चतुर्थ भंग (अवक्तव्य) भी शब्द के द्वारा ही कहा गया है अर्थात् अस्ति कहो वा अस्ति शब्द के द्वारा कहने योग्य कहो, एक ही अर्थ है। इसलिए इस सप्तभंगी में अतिव्याप्ति दोष नहीं है क्योंकि भंग सात ही हैं अधिक नहीं हो सकते। इसमें अव्याप्ति दोष भी नहीं है, क्योंकि दो तीन भंगों से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसमें असंभव दोष भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में सात भंग पाये जाते हैं। सदोष होने से बुद्धिमानों के द्वारा आदरणीय न हों ऐसा भी नहीं है अर्थात् सप्तभंगी निर्दोष है और बुद्धिमानों के द्वारा आदरणीय है। उनको सप्तभंगी का सहारा लेना चाहिए (सप्तभंग को स्वीकार करना चाहिए)।

शंका : सात प्रकार के वचन विकल्पों में किसी एक विकल्प के द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रधानता या गौणता से प्रतिपादन हो जाता है। इसलिए शेष छह भेदों का कथन करना व्यर्थ होने से सप्तभंगी अनाश्रयणीय है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उन सप्तभंगों में अन्य धर्मों की प्रधानता से और शेष धर्मों की गौणता से प्रतीति होती है अत: सर्व धर्मों का कथन करना सफल है। अथवा अस्ति आदि एक धर्म के कथन से शेष छह धर्म अविनाभाव सम्बन्ध से गर्भित हो जाते हैं। जब एक धर्म से छहों का ज्ञान हो जाता है तब सात धर्म अवश्य सिद्ध हो जाते हैं।

उन सप्तभंगों में ''अस्त्येव सर्वं'' ''नास्त्येव सर्वं'' सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से हैं ही अर्थात् अस्ति स्वरूप ही हैं तथा किसी अपेक्षा से सर्व वस्तुएँ नहीं हैं 'नास्ति स्वरूप' ही हैं। इत्यादि वाक्यों में एवकार का ग्रहण किस नियम के लिए है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं:-

अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए वाक्य में 'एव' लगाकर अवधारणा करनी चाहिए। अन्यथा (अवधारणा नहीं करने पर) कहीं-कहीं वाक्य नहीं कहे हुए के समान हो जाता है अर्थात् यह मानव पानी ही पीता है-ऐसा कहने पर अन्य वस्तु के खाने का निषेध हो जाता है। एव की अवधारणा के बिना अन्य वस्तुओं की निवृत्ति नहीं हो सकती॥५३॥ अत: वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा अस्ति ही है और पररूप की अपेक्षा नास्ति ही है। ऐसी अवधारणा करनी चाहिए।

ननु गौरेवेत्यादिषु सत्यप्यवधारणेनिष्टार्थनिवृत्तेरभावादसत्यपि चैवकारे भावान्नावधारणसाध्यान्यनिवृत्तिस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात् । न ह्येवकारोनिष्टार्थनिवृत्तिं कुर्वन्नेवकारांतरमपेक्षते अनवस्थाप्रसंगात् । तत्प्रयोगे प्रकरणादिभ्योऽनिष्टार्थनिवृत्तिरयुक्ता सर्वशब्दप्रयोगे तत एव तत्प्रसक्तेस्ततो न तदर्थमवधारणं कर्तव्यमित्येके, तेपि न शब्दाम्नायं विंदंति । तत्र हि ये शब्दाः स्वार्थमात्रेनवधारिते संकेतितास्ते तदवधारणविवक्षायामेवकारमपेक्षंते तत्समुच्चयादिविवक्षायां तु चकारादिशब्दं। न चैवमेवकारादीनामवधारणाद्यर्थं ब्रुवाणानां तदन्यनिवृत्तावेवकारांतराद्यपेक्षा संभवति यतोनवस्था तेषां स्वयं

शंका : गाय ही है, इत्यादि वाक्यों में एवकार द्वारा अवधारणा करने पर भी, अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति नहीं होती है। कहीं पर एवकार के नहीं होने पर भी अन्य अनिष्ट अर्थ से निवृत्ति हो जाती है अर्थात् गाय ही है या गाय है इन दोनों वाक्यों में कोई अर्थ भेद नहीं है- ''गाय ही है'' इस वाक्य का जो वाच्यार्थ है, वही अर्थ ''गाय है'' इसी का है। ''मोहन व्याकरण पढ़ता है'' इसमें एवकार नहीं लगाने पर भी मोहन व्याकरण ही पढ़ता है, अन्य विषय को नहीं पढ़ता है, यह सिद्ध हो ही जाता है इसलिए अन्य पदार्थों से निवृत्त होना एवकार के अवधारण से ही साधने योग्य कार्य नहीं है क्योंकि अन्य निवृत्ति का 'एव' के साथ अन्वय, व्यतिरेक का अभाव है। अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति को करने वाला एवकार दूसरे एवकार की अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। एक धर्म को सिद्ध करने के लिए एवकार की आवश्यकता हो और एवकार को सिद्ध करने के लिए दूसरे एवकार की, इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए भी 'एव' कार का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है क्योंकि अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति तो प्रकरण, अवसर आदि से हो ही जाती है। यदि अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए एव का प्रयोग करेंगे तो प्रकरण आदि से अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति होना अयुक्त होगा। तथा सम्पूर्ण शब्दों के प्रयोग में उस 'एव' कार से ही उस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति का प्रसंग आयेगा। इसलिए उस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए अवधारण (एवकार का प्रयोग) नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कोई कहता है। जैनाचार्य उस **शंका** का **समाधान** करते हुए कहते हैं कि ''इस प्रकार कहने वाले वादी शब्द की आम्नाय को नहीं जानते हैं। क्योंकि जो शब्द शब्दों में नियमित नहीं किये गये हैं, स्वकीय सामान्य अर्थ के प्रतिपादन करने में संकेत ग्रहण किये हुए हैं वे शब्द तो उस अर्थ को नियमित करने की विवक्षा में एवकार की अपेक्षा करते ही हैं। अर्थात् दूध शब्द का सामान्य अर्थ 'दूध है', और हमें दूध ही अभीष्ट है तो ''दूध ही है'' ऐसा कहना पड़ेगा।

तथा जब कभी दूध, जल आदि समुच्चय या समाहार आदि की विवक्षा होती है तब 'चकार' शब्द लगाना चाहिए। (जैसे दुग्धं जलं च) तथा विकल्प अर्थ की विवक्षा होने पर वा शब्द जोड़ना चाहिए अर्थात् अवधारण, समुच्चय, विकल्प आदि अर्थों में एवकार, चकार, वाकार आदि शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है कि अवधारणा, समुच्चय, विकल्प आदि अर्थों को कहने वाले के एवकार, चकार, वाकार आदि को भी अन्य निवृत्ति, समुच्चय आदि करने में दूसरे एवकार, चकार आदिकों की अपेक्षा होना संभव हो सकता है क्योंकि जिससे अनवस्था दोष आता है वे एवकार आदि निपात अन्य अर्थ के द्योतक हैं और स्वयं अपने-अपने अर्थ के भी द्योतक हैं। जिस प्रकार दीपक आदि स्वपर प्रकाशक

द्योतकत्वात् द्योतकांतरानपेक्षत्वात् प्रदीपादिवत् । नन्वेवमेवेत्यादिशब्दप्रयोगे द्योतकस्याप्येवंशब्दस्यान्यनिवृत्तौ द्योतकांतरस्यैवकारादेरपेक्षणीयस्य भावात् सर्वो द्योतको द्योत्येर्थे द्योतकांतरापेक्षः स्यात् तथा चानवस्थानान्न क्वचिदवधारणाद्यर्थप्रतिपत्तिरिति चेत् न, एवशब्दादेः स्वार्थे वाचकत्वादन्यनिवृत्तौ द्योतकांतरापेक्षोपपत्तेः । न हि द्योतका एव निपाताः क्वचिद्वाचकानामपि तेषामिष्टत्वात् । द्योतकाश्च भवंति निपाता इत्यत्र चशब्दाद्वाचकाश्चेति व्याख्यानात् । न चैवं सर्वे शब्दा निपातवत्स्वार्थस्य द्योतकत्वेनाम्नाता येन तन्नियमे द्योतकं नापेक्षेरन् । ततो वाचकशब्दप्रयोगे तदनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थः श्रेयानेवकारप्रयोगः सर्वशब्दानामन्यव्यावृत्तिवाचकत्वात् । तत एव

हैं उनको प्रकाशित करने के लिए दूसरों की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार 'एवकार' आदि अर्थ के द्योतक शब्दों को दूसरों की अपेक्षा नहीं होती है।

भावार्थ : एव कार जैसे घटादि से निवृत्ति कराता है वैसे ही अपने को भी अन्य पदार्थों से निवृत्ति करा लेता है।

शंका : इस प्रकार नियम करने पर (द्योतक शब्द को दूसरे द्योतक शब्द की अपेक्षा नहीं है) ''इसी प्रकार ही है'', और ''ऐसा होने पर'' ''न चैवं'' ऐसा नहीं है इत्यादि शब्द के प्रयोग में द्योतक शब्द के भी अन्य निवृत्ति के लिए दूसरे द्योतक एवकार आदि की अपेक्षा रखना संभव है। इसलिए सभी द्योतक शब्द स्वकीय प्रकाशन करने योग्य अर्थ में दूसरे द्योतकों की अपेक्षा रखने वाले होंगे और दूसरों की अपेक्षा रखने वाले होने पर अनवस्था दोष आएगा अतः कहीं पर भी नियम करना आदि अर्थों की प्रतीति नहीं हो सकेगी।

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि 'एव', 'च' आदि शब्द के स्वार्थ में वाचकता होने से अन्य निवृत्ति में द्योतकान्तर (दूसरे) एव आदि द्योतकों की अपेक्षा होती है। निपात द्योतक ही है-ऐसा एकान्त नियम नहीं है क्योंकि कभी कहीं उन 'एव' 'च' आदि निपातों को वाचक भी माना है अर्थात् नियम, समुच्चय आदि अर्थों को स्वतंत्रता से एवकार चकार आदि शब्द कहते हैं और निपात के द्योतक भी होते हैं। इस प्रकार शब्द सिद्धान्त के अनुसार 'एव' आदि शब्द वाचक भी हैं अतः शब्द द्योतक और निपातक भी हैं, ऐसा व्याख्यान किया है अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, विकरण आदि शब्द स्वयं अर्थ को संकेत के द्वारा प्रतिपादन करते हैं और घट आदि पदार्थों के अस्तित्व आदि धर्मों के वाचक भी हैं। जो गुण आदि को कहते हैं वे वाचक हैं और जो उन वाचक शब्दों से ही अर्थ को निकालने में सहायक होते हैं वे द्योतक कहलाते हैं।

इस प्रकार सभी शब्द निपात के समान स्वकीय अर्थ के द्योतक होते हुए अनादि काल से चले आ रहे हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए, जिससे कि स्वार्थ के नियम करने में द्योतक होकर दूसरे द्योतक शब्दों की अपेक्षा नहीं करते हों अर्थात् निपात द्योतक ही है किन्तु सभी निपात द्योतक ही नहीं हैं अपितु वाचक भी हैं इसलिए वाचक शब्द के प्रयोग में अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति करने के लिए 'एव' कार का प्रयोग श्रेष्ठ है। कोई वादी कहता है कि सभी शब्द अन्य की व्यावृत्ति के वाचक हैं अतः एव कार के प्रयोग के बिना भी शब्द के द्वारा अन्य व्यावृत्ति की प्रतिपत्ति (दूसरे के निषेध का ज्ञान) हो जाती है इसलिए अनिष्ट की निवृत्ति के लिए अवधारणा करना (एवकार का प्रयोग करना) युक्तिसंगत नहीं है।

तत्प्रतिपत्तेस्तदर्थमवधारणमयुक्तमित्यन्ये, तेषां विधिरूपतयार्थप्रतिपत्तिः शब्दात् प्रसिद्धा विरुध्यते कथं चान्यव्यावृत्तिस्वरूपं विधिरूपतयान्यव्यावृत्तिशब्दः प्रतिपादयेन्न पुनः सर्वे शब्दाः स्वार्थमिति बुध्यामहे। तस्यापि तदन्यथा वृत्तिप्रतिपादनेनवस्थानं स्वार्थविधिप्रतिपादिता सिद्धिर्वेत्युक्तप्रायं। विधिरूप एव शब्दार्थो नान्यनिवृत्तिरूपो यतस्तत्प्रतिपत्तयेवधारणमित्यपरे, तेषामपि स्ववचनविरोधः। सुरा न पातव्येत्यादिनञ्सहितशब्दप्रयोगात्प्रतिषेधप्रतिपत्तेः स्वयमिष्टेः। केषांचित्प्रतिषेध एव द्वैराश्येन स्थितत्वाद्बोधवत् इति तु येषां मतं घटमानयेत्यादिविधायकशब्दप्रयोगे घटमेव नाघटमानयैव मा

जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह कथन (शब्द) निषेधात्मक ही है। इस कथन से शब्द से विधि रूप से होने वाली प्रसिद्ध प्रतिपत्ति विरुद्ध होती है अर्थात् शब्द को सुनकर निवृत्ति तो हो जाएगी परन्तु प्रवृत्ति न हो सकेगी। तथा वह अन्य व्यावृत्तिस्वरूप शब्द विधिरूप से अन्यव्यावृत्तिस्वरूप का प्रतिपादन कैसे करेंगे। अर्थात् अन्यव्यावृत्ति भी विधिरूप ही है उसका कथन कैसे होगा।

तथा सभी शब्द स्वकीय अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं, इस अयुक्तनियम को बनाने में हम कोई सार नहीं समझते हैं। यदि उस उन व्यावृत्ति शब्द को भी उस अन्य व्यावृत्ति से भिन्न निवृत्ति रूप अर्थ का प्रतिपादन करता है, ऐसा मानोगे तो अनवस्था दोष आएगा क्योंकि सर्व ही शब्द स्वार्थ (स्वकीय) विधि के प्रतिपादक सिद्ध हैं। ऐसा पूर्व में बहुत बार सिद्ध कर चुके हैं।

शब्द का अर्थ विधि रूप ही है अन्य निवृत्ति रूप नहीं है इसलिए उस अनिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए वा अवधारणा के लिए एव कार का प्रयोग किया जावे ऐसा कोइ कहता है। अर्थात् शब्द विधायक कहता है कि शब्द के उच्चारण से विधि का ही ज्ञान होता है, निषेध का नहीं अतः अवधारणा के लिए शब्द में एवकार का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है। **जैनाचार्य** कहते हैं कि उसका यह कथन स्ववचन बाधित है अर्थात् शब्द विधि को ही कहते हैं निषेध को नहीं, यह कथन स्वकीय वचनों से विरुद्ध है क्योंकि शब्द विधि और निषेध दोनों के प्रतिपादक हैं जैसे "सुरा नहीं पीना चाहिए" इत्यादि नञ् अव्यय से सहित शब्दों के प्रयोग से मद्य नहीं पीना चाहिए ऐसे प्रतिषेध का ज्ञान होना स्वयं शब्दविधि विधायकों ने इष्ट किया है, स्वीकार किया है। इसलिए शब्द विधि रूप ही है, ऐसा एकान्त सिद्ध नहीं हो सकता।

किन्हीं के कितने ही शब्द निषेधवाचक ही हैं और कितने शब्दों का अर्थ भावों की विधि करना ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द दो राशियों में विभक्त होकर प्रतिष्ठित हैं। जैसे सम्पूर्ण ज्ञान विधि और निषेधक इन दो भेदों में विभक्त है। इस प्रकार जिनका मत है-उनके मत में "घट को लाओ" इस प्रकार विधान करने वाले शब्दों के प्रयोग में "घट को ही लाओ? घट से भिन्न पदार्थ को मत लाओ" ऐसी अन्य व्यावृत्तियों की प्रतीति नहीं होगी। इसलिए "घट को लाओ" इस शब्द का उच्चारण करना भी व्यर्थ होगा क्योंकि वह नहीं उच्चारण के समान है।

नैषीरित्यन्यव्यावृत्तेरप्रतिपत्तेस्तद्वैयर्थ्यप्रसंगोनुक्तसमत्वात् । सुरा न पातव्येत्यादिप्रतिषेधकशब्दप्रयोगे च सुरातोन्यस्योदकादेः पानविधेरप्रतीतेः सुराशब्दप्रयोगस्यानर्थकत्वापत्तिः, सुरापानस्यैव ततः प्रतिषेधात् पयःपानादेरप्रतिषेधादविधानाच्च न दोष इति । किमिदानीं शब्दस्य क्वचित्प्रतिषेधनं तदन्यत्रौदासीन्यं च विषयः स्यात् तथा क्वचिद्विधानं तदन्यत्र विधानं न प्रतिषेधनं चेति नैवं व्याघातादिति चेत् , तत एवान्याप्रतिषेधे स्वार्थस्य विधानं तदविधाने चान्यप्रतिषेधो माभूत् । सर्वस्य शब्दस्य विधिप्रतिषेधद्वयं विषयोस्तु तथा चावधारणमनर्थकं तदभावेपि स्वार्थविधानेऽन्यनिवृत्तिसिद्धेरित्यपरः, तस्यापि सकृद्विधिप्रतिषेधौ स्वार्थेतरयोः शब्दः प्रतिपादयंस्तदनुभयव्यवच्छेदं यदि कुर्वीत तदा युक्तमवधारणं तदर्थत्वात् । नो चेत् अनुक्तसमः तदनुभयस्य व्याघातादेवासंभवाद् । व्यवच्छेदकरणमनर्थकमिति चेत् न, असंभविनोपि केनचिदाशंकितस्य

अथवा-निषेध वाचक शब्दों का अर्थ यदि सर्वथा निषेध कहा जायेगा तो ''मद्य नहीं पीना चाहिए'' इत्यादि निषेध करने वाले शब्दों का प्रयोग होने पर मद्य से भिन्न जल, दुग्ध आदि के पीने का विधान नहीं हो सकता अतः सुरा शब्द का प्रयोग करना भी व्यर्थ होगा क्योंकि शब्द तो निषेधात्मक ही हैं अतः दूध आदि के निषेध के समान मद्य का भी निषेध हो जाता है।

यदि कहो कि ''सुरापान नहीं करना चाहिए'' इसमें सुरापान का ही निषेध किया गया है, दूध आदि के पीने का निषेध भी नहीं है और विधान भी नहीं किया गया है, इसलिए कोई दोष नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस समय क्या आपने शब्द के द्वारा कहीं निषेध होना और दूसरे अर्थ में उदासीन रहना ये शब्द के विषयभूत अर्थ माने हैं, ऐसा होने पर शब्द कहीं विधानात्मक भी होते हैं अतः शब्द निषेधात्मक ही होते हैं, यह एकान्त सिद्ध नहीं होता।

उस वाच्यार्थ से अतिरिक्त अन्य स्थल में विधान माना जाए और निषेध नहीं माना जाए, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है तथा शब्द को निषेधात्मक या विधिस्वरूप मानने पर अन्य का निषेध करने पर स्वार्थ का विधान और स्वार्थ का विधान करने पर अन्य का निषेध भी नहीं हो सकता। (इसलिए एक ही शब्द गौण और प्रधान से विधि और निषेध का द्योतक है। ऐसा सिद्ध होता है) यहाँ कोई कहता है कि सर्व शब्दों के वाच्य विधि और निषेध दोनों विषय हो सकते हैं तथापि अवधारणा के लिए एवकार का प्रयोग करना तो व्यर्थ ही होता है क्योंकि एवकार के अभाव में भी स्वार्थ का विधान करने पर अन्य की निवृत्ति की सिद्धि हो ही जाती है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि उसके यहाँ भी शब्द एक ही साथ स्वार्थ की विधि और दूसरे के निषेध को कहता है तो उन दोनों से भिन्न अनुभय का विच्छेद करेगा। तब नियम (अवधारण) करना युक्त होगा क्योंकि अवधारणा के लिए ही तो 'एवकार' का प्रयोग है। यदि अनुभय की व्यावृत्ति करना इष्ट नहीं है तो कथित शब्द, नहीं कथित के समान होगा। अर्थात् उभय को कहने वाला शब्द यदि अनुभय का निषेध नहीं करता है तो ऐसे शब्द के कहने से क्या लाभ है ?

''उस उभय से अतिरिक्त अनुभय अर्थका प्राप्त होना तो व्याघात हो जाने से ही असंभव है अर्थात् जो शब्द उभय को कहता है-वह अनुभय को नहीं कह सकता और जो अनुभय को कहता है-वह उभय को नहीं कह सकता? इसलिए अनुभय का विच्छेद करना व्यर्थ है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि असंभव वाला भी अर्थ यदि किसी के द्वारा आशंका को प्राप्त हो जाये तो उसका व्यवच्छेद करना योग्य है।

व्यवच्छेद्यतोपपत्तेः स्वयमनिष्टतत्त्ववत् । यदेव मूढमतेराशंकास्थानं तस्यैव निवर्त्यत्वात् क्वचित्किंचिदनाशंकमानस्य प्रतिपाद्यत्वासंभवात् तं प्रयुंजानस्य यत्किंचनभाषितत्वादुपेक्षार्हत्वात् । तत एव सर्वः शब्दः स्वार्थस्य विधायकः प्राधान्यात् सामर्थ्यादन्यस्य निवर्तकः सकृत्स्वार्थविधानस्यान्यनिवर्तनस्य चाऽयोगात् । न हि शब्दस्य द्वौ व्यापारौ स्वार्थप्रतिपादनमन्यनिवर्तनं चेति, तदन्यनिवृत्तेरेवासंभवात् तस्याः स्वलक्षणादभिन्नायाः स्वसमानस्वलक्षणेष्वनुगमनायोगादेकस्वलक्षणवत् । ततो भिन्नायास्तदन्यव्यावृत्तिरूपत्वाघटनात् स्वलक्षणांतरवत् स्वान्यव्यावृत्तेरपि च तस्या व्यावृत्तौ सजातीयेतरस्वलक्षणयोरैक्यप्रसंगादवस्तुरूपायाः स्वत्वान्यत्वाभ्यामेवावाच्यायां निरूपत्वात् इदमस्माद्व्यावृत्तमिति प्रत्ययोपजननासमर्थत्वान्न शब्दार्थत्वं नापि तद्विशिष्टार्थस्य

जैसे जो स्वयं को अनिष्ट है-उस तत्त्व का व्यवच्छेद किया जाता है। जो मूढ़मति के शंका का स्थान है वही निवृत्ति करने योग्य है। कहीं भी कुछ भी शंका को नहीं करने वाला मूढ़मति शिष्य प्रतिपादन करने योग्य नहीं है। उसको प्रतिपादन करना असंभव है। शिष्य के प्रति समझाने का प्रयोग करने पर कुछ भी शंका नहीं करने वाला शिष्य समझाने योग्य नहीं है, अपितु उपेक्षा करने योग्य है। वास्तव में तर्क करने वाली और नवीन उन्मेष उठाने वाली बुद्धियुक्त शिष्य ही प्रतिपादन करने योग्य है।

इसलिए सर्व शब्द प्रधानता से स्वार्थ (वाच्यार्थ) के विधायक हैं और गौण रूप से अर्थापत्ति के सामर्थ्य से अन्य के निवर्त्तक भी हैं। एक ही साथ में स्वार्थ का विधान और अन्य का निषेध होने का योग नहीं है कोई कहता है-एक ही शब्द के स्वार्थ का प्रतिपादन और अन्य का निषेध करना ये दो कार्य हो नहीं सकते, वस्तुतः विचारा जाए तो उस स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य की निवृत्ति होना ही असंभव है क्योंकि वह अन्य निवृत्ति यदि स्वलक्षण से अभिन्न मानी जाती है, तब तो जैसे एक व्यक्तिरूप स्वलक्षण का स्वकीय समान स्व लक्षणों में अनुगम नहीं होता है उसी प्रकार अन्य निवृत्ति का सदृश स्वलक्षणों में अन्वयपना नहीं है अर्थात् जाति और द्रव्य तो अन्वित होकर रह सकते हैं किन्तु विशेष व्यक्ति अन्य व्यक्तियों में अनुगम नहीं करते हैं। उस स्वलक्षण से उसकी अन्य निवृत्ति को यदि भिन्न माना जायेगा तो वह अन्य व्यावृत्ति रूप से घटित नहीं हो सकता।

जैसे एक गौरूप स्वलक्षण से महिषीरूप दूसरा स्वलक्षण अन्य व्यावृत्त रूप नहीं है किन्तु वह तो अन्य ही है। अतः वह नास्तिरूप है।

यदि स्वलक्षण की अन्य व्यावृत्ति को भी उस न्यारी व्यावृत्ति से पृथक् मानोगे तब तो सजातीय और विजातीय स्वलक्षणों के एक हो जाने का प्रसंग आयेगा। अन्य व्यावृत्ति तो तुच्छ पदार्थ है-वस्तुभूत नहीं है, अवस्तु है अतः उसका स्वलक्षण के स्वकीयपने से या भिन्नपने से कथन ही नहीं किया जासकता है। ऐसी दशा में स्वभाव रहित निरुपाख्य है इसलिए यह इससे व्यावृत है। इस प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करने में वह समर्थ नहीं है अतः शब्द का वाच्यार्थ अन्य व्यावृत्ति नहीं है।

तस्याविशेषणत्वायोगात्तद्विशेषणत्वे वा विशेष्यस्य निरूपत्वप्रसंगादन्यथा नीलोपहितस्योत्पलादेर्नीलत्वविरोधात् तदन्यव्यावृत्तवस्तुदर्शनभाविना तु प्रतिषेधविकल्पेन प्रदर्शितायास्तस्याः प्रतीतेर्विधिविकल्पोपदर्शित-शब्दार्थविधिसामर्थ्याद्गतिरभिधीयत इति केषांचिदभिनिवेशः सोपि पापीयान्, स्वार्थविधि-सामर्थ्यादन्यव्यावृत्तिगतिवत् क्वचिदन्यव्यावृत्तिसामर्थ्यादपि स्वार्थविधिगतिप्रसिद्धेः शब्दानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्व्यतिरेकगतिसामर्थ्यादन्वयगतेरभ्युपगमात् तदभिधानेन्यथा पुनरुक्तत्वाघटनात् शब्देन विधीयमानस्य निषिध्यमानस्य च धर्मस्य वस्तुस्वभावतया साधितत्वात् । सर्वथा धर्मनैरात्म्यस्य साधयितुमशक्तेश्च, बौद्धेपि च शब्दस्यार्थे अवधारणस्यासिद्धेरलं विवादेन । केचिदाहुः—नैकं वाक्यं स्वार्थस्य विधायकं सामर्थ्यादन्यनिवृत्तिं गमयति । किं तर्हि ? प्रतिषेधवाक्यं, तत्सामर्थ्यगतौ तु ततोन्यप्रतिषेधगतिरिति तेपि

तथा उस तुच्छ व्यावृत्ति से विशिष्ट अर्थ भी शब्द का वाच्य अर्थ नहीं है क्योंकि वह निःस्वभाव अन्य व्यावृत्ति तो अर्थ का विशेषण नहीं हो सकती है। यदि निःस्वभाव व्यावृत्ति को वस्तुभूत अर्थ का विशेषण[1] मान लिया जायेगा तो उसका विशेष्य अर्थ भी निःस्वभाव हो जायेगा। स्वभावरहित व्यावृत्ति यदि विशेषण हो जाएगी तो विशेष्य को भी स्वभावरहित अवस्तु बना देगी। अन्यथा नील विशेषण से युक्त इन्दीवर (कमल) आदि के नीलत्व का विरोध आयेगा। वस्तुभूत स्वलक्षण तो उससे अन्य सजातीय और विजातीय पदार्थों से स्वयं व्यावृत्त है। ऐसे वस्तुभूत स्वलक्षण के प्रत्यक्ष दर्शन के पीछे होने वाले निषेधक विकल्प ज्ञान से दिखाई गई उस अन्य व्यावृत्ति की प्रतीति हो जाती है। इसलिए विधि और उसके विशेष भेद-प्रभेदों के विकल्प ज्ञान के द्वारा दर्शित शब्द के वाच्यार्थ की विधि के सामर्थ्य से वह अन्य व्यावृत्ति कह दी जाती है। इस प्रकार किसी (बौद्ध) का सिद्धान्त है।

उसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं-यह एकान्त आग्रह भी पापबहुल है क्योंकि स्वार्थ की विधि के सामर्थ्य से अर्थापत्तिद्वारा जैसे अन्य व्यावृत्ति का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही क्वचित् अन्य व्यावृत्ति के सामर्थ्य से स्वार्थ की विधि का ज्ञान होना प्रसिद्ध हो रहा है। जैसे शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करते हुए सत्त्व कृतकत्व आदि हेतुओं के व्यतिरेक का पूर्व में ज्ञान करके तत्पश्चात् उसके सामर्थ्य से अन्वय का ज्ञान होना स्वीकार किया है अर्थात् नित्य वा कालान्तर स्थायी पदार्थ में सत्त्व नहीं रहता है इस व्यतिरेक से जो-जो सत्त्व हैं वे कालान्तर स्थायी नित्य नहीं हैं। वैसा कथन करने पर ही वस्तु का अन्वय व्यतिरेक पना सिद्ध होता है अन्यथा पुनरुक्त पना नहीं घटता है अर्थात् विपक्ष व्यावृत्ति रूप व्यतिरेक से सपक्षवृत्तिरूप अन्वय का ज्ञान मानने पर ही पुनरुक्त दोष नहीं आता है, अन्यथा पुनरुक्त दोष का प्रसंग आता है।

शब्द के द्वारा विधान करने योग्य या निषेध करने योग्य धर्म की वस्तु के स्वभाव स्वरूप से सिद्धि की गई है। सर्वथा धर्म वा स्वभाव से रहित निःस्वरूप वस्तु की सिद्धि करना शक्य नहीं है। शब्द के द्वारा जानने योग्य अर्थ में या सुगत प्रतिपादित अर्थ में भी अवधारणा नहीं करना सिद्ध नहीं है। अधिक विवाद से क्या प्रयोजन है।

कोई (मीमांसक) कहता है कि एक ही वाक्य अपने अर्थ का विधायक (कथन करने वाला) और सामर्थ्य (अर्थापत्ति) से अन्य की व्यावृत्ति का गमक नहीं है तो शब्द का स्वरूप कैसा है? ऐसा पूछने पर

---

१. अपने स्वभाव से विशेष्य को जो अपने अनुरूप रंग देता है उसको विशेषण कहते हैं और विशेषण के अनुरूप जो रंग जाता है वह विशेष्य कहलाता है।

नावधारणं निराकर्तुमीशास्तदभावे विधायकवाक्यादन्यप्रतिषेधवाक्यगतेरयोगात् । यदि चैकं वाक्यमेकमेवार्थं ब्रूयादनेकार्थस्य तेन वचने भिद्येत तदितिमतं तदा पदमपि नानेकार्थमाचक्षीतानेकत्वप्रसंगात् । तथा च य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिका इति व्याहन्येत। पदमेकमनेकमर्थं प्रतिपादयति न पुनस्तत्क्रमात्मकं वाक्यमिति तमोविजृंभितमात्रं, पदेभ्यो हि यावतां पदार्थानां प्रतिपत्तिस्तावंतस्तदवबोधास्तद्धेतुकाश्च वाक्यार्थावबोधा इति चतुःसंधानादिवाक्यसिद्धिर्न विरुध्यते । केवलं पदमनर्थकमेव ज्ञेयादिपदवद्व्यवच्छेद्याभावाद् वाक्यस्थस्यैव तस्य व्यवच्छेद्यसद्भावादिति येप्याहुस्तेपि शब्दन्यायबहिष्कृता एव, वाक्यस्थानामिव केवलानामपि पदार्थानामर्थवत्त्वप्रतीतेः । समुदायार्थेन तेषामनर्थवत्त्वे वाक्यगतानामपि तदस्तु विशेषाभावात्।

कहते हैं कि प्रतिषेध करने वाला दूसरा वाक्य अन्य निवृत्ति का बोधक है उस विधायक वाक्य के सामर्थ्य से दूसरा प्रतिषेध वाक्य जान लिया जाता है और उस प्रतिषेध वाक्य से अन्य के प्रतिषेध का ज्ञान हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले भी अवधारण को निराकरण करने के लिए समर्थ नहीं हैं क्योंकि उस अवधारण के बिना विधायक वाक्य से अन्य निषेधक वाक्य की अर्थापत्ति होने का अयोग है।

मीमांसक मतानुसार एक वाक्य एक ही (विधि या निषेध) अर्थ को कहता है, यदि अनेक अर्थ का उस वाक्य के द्वारा कथन माना जाएगा तो वह वाक्य उतने प्रकार का भिन्न-भिन्न हो जाएगा अर्थात् दो वाक्य विधि और निषेध दो अर्थों को कहते हैं, एक नहीं। ऐसा मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं- तब तो एक पद भी अनेक अर्थों को नहीं कह सकेगा, यदि एक पद अनेक अर्थ को कहेगा तो एक पद के भी अनेकत्व का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर ''जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक शब्द हैं'' कथन में व्याघात[1] दोष आएगा।

एक पद तो अनेक अर्थों का प्रतिपादन करे और उन पदों का क्रमात्मक वाक्य[2] अनेक अर्थों का प्रतिपादन नहीं करे ऐसा कहना अज्ञान अन्धकार की चेष्टा मात्र है क्योंकि पदों (शब्दों) से जितने पदार्थों का ज्ञान होता है उतने उनके ज्ञान और उन पद ज्ञानों के हेतु मानकर उत्पन्न होने वाले वाक्यार्थ उतने ही मानने पड़ेंगे।

इस प्रकार एक पद या श्लोक के चार, सात आदि अर्थों को कहने वाले चतुःसंधान, सप्तसंधान आदि वाक्यों की सिद्धि होने में कोई विरोध नहीं है अर्थात् एक पद वा वाक्य के अनेक अर्थ हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

''ज्ञेयादि पदों के समान व्यवच्छेद का अभाव होने से केवल पद का प्रयोग करना व्यर्थ है अर्थात् जैसे ज्ञेय पद का कोई व्यावर्त्य (व्यवच्छेदक) नहीं है क्योंकि वस्तुभूत पदार्थ ज्ञेय से बाह्य नहीं है, ज्ञेय स्वरूप ही है उसी प्रकार अकेले पद का भी कोई व्यवच्छेद नहीं है क्योंकि वाक्य में स्थित उस पद का व्यवच्छेद्य विद्यमान है। ''इस प्रकार कहने वाले भी शब्द न्याय से बहिष्कृत हैं अर्थात् वे न्याय शास्त्र की नीति के ज्ञायक नहीं हैं, क्योंकि वाक्य में स्थित पदों के समान अकेले पदों का भी अर्थ सहितपना प्रतीत होता है।

---

१. किसी स्थान पर अर्थभेद में शब्दभेद मानना और किसी स्थान पर अर्थभेद में शब्दभेद नहीं मानना **व्याघात** दोष है।

२. पदों के समूह को **वाक्य** कहते हैं।

पदांतरापेक्षत्वात्तेषां विशेषस्तन्निरपेक्षेभ्यः केवलेभ्य इति चेत् , न। तस्य सतोऽपि तथा प्रविभागकरणासामर्थ्यात्। न हि स्वयमसमर्थानां वाक्यार्थप्रतिपादने सर्वथा पदांतरापेक्षायामपि सामर्थ्यमुपपन्नमतिप्रसंगात्, तदा तत्समर्थत्वेन तेषामुत्पत्तेः । केवलावस्थातो विशेष इति चेत्तर्हि वाक्यमेव वाक्यार्थप्रकाशने समर्थं तथा परिणतानां पदानां पदव्यपदेशाभावात् । यदि पुनरवयवार्थेनानर्थवत्त्वं केवलानां तदा पदार्थाभाव एव सर्वत्र स्यात् ततोन्येषां पदानामभावात् । वाक्येभ्योपोद्धृत्य कल्पितानामर्थवत्त्वं न पुनरकल्पितानां केवलानामिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः? व्यवच्छेद्याभावश्चासिद्धः केवलज्ञेयपदस्याज्ञेयव्यवच्छेदेन स्वार्थनिश्चयनहेतुत्वात् । सर्वं हि वस्तु ज्ञानं ज्ञेयं चेति द्वैराश्येन यदा व्याप्तमवतिष्ठते तदा ज्ञेयादन्यतामादधानं ज्ञानमज्ञेयं प्रसिद्धमेव ततो ज्ञेयपदस्य तद्व्यवच्छेद्यं

समुदाय रूप अर्थ की अपेक्षा से उन अकेले पदों को निरर्थक मानने पर वाक्य में स्थित पदों के भी निरर्थकत्व का प्रसंग आयेगा क्योंकि वाक्यगत पद में और अकेले पद में विशेषता का अभाव है।

''वाक्यगत पद अन्य पदों की अपेक्षा रखते हैं जैसे 'वस्त्रमानय' इसमें 'वस्त्र' पद लाओ पद की अपेक्षा रखता है और लाओ पद वस्त्र की अपेक्षा रखता है किन्तु केवल अकेला पद निरपेक्ष होता है अतः निरपेक्ष और सापेक्ष की अपेक्षा केवलपद और वाक्य गत पद में विशेषता है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि सापेक्ष और निरपेक्ष की अपेक्षा दोनों पदों में अन्तर होते हुए भी उनमें स्पष्ट विभाग करना शक्य नहीं है। जो पद वाक्य के अर्थ का निरूपण करने में स्वयं सर्वथा असमर्थ है उसके अन्यपदों की अपेक्षा होने पर भी सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हो सकता अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् स्वयं शक्ति रहित होते हुए भी दूसरों की अपेक्षा से कार्य करेगा तो कोई भी पदार्थ किसी के भी सहयोग से कार्य करने में समर्थ हो जायेगा।

यदि कहो कि उस समय वाक्य की अवस्था में उस वाक्यार्थ के प्रतिपादन करने के सामर्थ्य से युक्त पदों की नवीन उत्पत्ति होती है इसलिए अकेले पद की अपेक्षा वाक्यगत पद में विशेषता है तब तो वाक्य ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ है। अतः वाक्यार्थ परिणत पदों के समुदाय में वाक्य का व्यवहार होता है पद के व्यवहार का अभाव है।

यदि पुनः अवयवरूप अर्थ से केवल पदों को अर्थ रहित माना जाएगा तो सर्वत्र पदार्थों के अभाव का प्रसंग आयेगा क्योंकि खण्ड रूप अवयव अर्थों को कहने वाले पदों से अतिरिक्त अन्य पदों का अभाव है अर्थात् अवयवों की शक्तियों से ही अवयवी की शक्ति बनती है जैसे तन्तुओं के समूह से ही वस्त्र बनता है। वाक्यों से पृथक् करके कल्पित किये गये पदों को तो अर्थवान माना जाये परन्तु वाक्य से रहित अकल्पित पदों को अर्थवान नहीं माना जाये अर्थात् वाक्यगत पद तो अनेक अर्थों को कहने वाले हैं, अकेले पद अर्थ को कहने वाले नहीं है,ऐसा कहने वाला (मीमांसक) विचारशील (बुद्धिमान) कैसे हो सकता है?

पूर्व में कथित ज्ञेय आदि पद के समान केवल पद का व्यवच्छेद्य नहीं होने से केवल पद का बोलना निरर्थक है। यह व्यवच्छेद्य का अभाव कहना असिद्ध है क्योंकि केवल ज्ञेय पद को अज्ञेय के व्यवच्छेद करके अपने अर्थ के निश्चय करने वाले का हेतुपना प्राप्त है। जब सम्पूर्ण वस्तुएँ ज्ञान और ज्ञेय इन दो राशियों में व्याप्त होकर व्यवस्थित हैं तब ज्ञेय से कथञ्चित् भिन्नता को धारण करने वाला ज्ञान अज्ञेय रूप से प्रसिद्ध ही है। इसलिए ज्ञेय पद का वह (ज्ञान) व्यवच्छेद्य है इसका निराकरण कैसे हो सकता है?

कथं प्रतिक्षिप्यते। यदि पुनर्ज्ञानस्यापि स्वतो ज्ञायमानत्वान्नाज्ञेयत्वमिति मतं, तदा सर्वथा ज्ञानाभावात् कुतो ज्ञेयव्यवस्था ? स्वतो ज्ञेयं ज्ञानमिति चेत् न, ज्ञायकस्य रूपस्य कर्तृसाधनेन ज्ञानशब्देन वाच्यस्य करणसाधनेन वा साधकतमस्य भावसाधनेन च क्रियामात्रस्य कर्मसाधनेन प्रतीयमानाद्रूपाद्भेदेन प्रसिद्धेरज्ञेयत्वोपपत्तेः। कथमज्ञेयस्य ज्ञायकत्वादेर्ज्ञानरूपस्य सिद्धिः ? ज्ञायमानस्य कुतः ? स्वत एवेति चेत्, परत्र समानं। यथैव हि ज्ञानं ज्ञेयत्वेन स्वयं प्रकाशते तथा ज्ञायकत्वादिनापि विशेषाभावात्। ज्ञेयांतराद्यनपेक्षस्य कथं ज्ञायकत्वादिरूपं तस्येति चेत् ज्ञायकाद्यनपेक्षस्य ज्ञेयत्वं कथं ? स्वतो न ज्ञेयरूपं नापि ज्ञायकादिरूपं ज्ञानं सर्वथा व्याघातात्

यदि पुनः ज्ञान के स्वतः ज्ञायमान होने से अज्ञेय नहीं है अपितु ज्ञेय स्वरूप ही है, इसलिए सर्वथा ज्ञान पदार्थ का अभाव होने से ज्ञेय व्यवस्था कैसे होगी। वह ज्ञान स्वतः ज्ञेय हो जाएगा, ऐसा भी नहीं कह सकते? क्योंकि ऐसा मानने पर तो ज्ञेय से ज्ञान भिन्न सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ : 'ज्ञा' धातु से कर्त्ता, करण, भाव और कर्म में 'युट्' प्रत्यय लगाकर ज्ञान शब्द की निष्पत्ति की जाती है।

कर्तृ साधन में ज्ञान शब्द से ज्ञायक आत्मा का स्वरूप वाच्य होता है।

करण साधन से सिद्ध ज्ञान शब्द से ज्ञप्ति क्रिया का स्वरूप वाच्यार्थ होता है। वा करण साधन के द्वारा साधकतम का ज्ञान होता है।

भाव साधन के द्वारा निष्पन्न शब्द ज्ञप्ति मात्र क्रिया का वाचक होता है।

कर्म साधन के द्वारा निष्पन्न शब्द से ज्ञेय अर्थ वाच्य होता है।

इस प्रकरण में कर्मत्व से सिद्ध ज्ञेय रूप से कर्त्ता, कर्म, करण और भाव रूप से प्रतीयमान ज्ञान शब्द भेद रूप से प्रसिद्ध है अतः ज्ञान के अज्ञेयपना सिद्ध होता है। अर्थात् वह ज्ञान केवल ज्ञेय पद का व्यवच्छेदक है।

''अज्ञेय के ज्ञायकत्वादि के ज्ञान स्वरूप की सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् कर्त्ता, करण और भाव साधन से निष्पन्न ज्ञायकत्व, ज्ञानत्व और ज्ञप्तिपन इन अज्ञेयों को युट् प्रत्यय वाले ज्ञान स्वरूप की सिद्धि कैसे हो सकती है।'' ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है कि जानने योग्य ज्ञेय को कर्म में युट् प्रत्यय करने पर ज्ञानपना कैसे सिद्ध होता है ? यदि कहो कि जानने योग्य ज्ञान को तो स्वतः ज्ञानरूपता सिद्ध है, तब तो दूसरों (ज्ञायक करण, ज्ञान और ज्ञप्ति) में भी समान रूप से स्वयमेव ज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है। जैसे ज्ञान ज्ञेयत्वस्वरूप से स्वयं प्रकाशित है उसी प्रकार वह ज्ञान ज्ञायकत्वादि रूप से भी स्वयं प्रकाशित है- क्योंकि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

''यदि कहो कि ज्ञेयान्तरों की अपेक्षा नहीं रखने वाले ज्ञान के ज्ञेयत्व, ज्ञानत्व आदि स्वरूप उस ज्ञान के कैसे कहे जा सकते हैं? तो प्रश्न उठता है कि ज्ञायक, ज्ञप्ति और ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखने वाले के ज्ञेयपना कैसे माना जा सकता है? यदि कोई ज्ञानाद्वैतवादी कहे कि ज्ञान न तो स्वयं ज्ञेय स्वरूप है और न ज्ञायक एवं ज्ञप्ति स्वरूप है क्योंकि सभी प्रकारों से व्याघात है अर्थात् ज्ञान के शुद्ध पूर्ण शरीर में ज्ञायकपन और ज्ञेयपन धर्म के लिए स्थान नहीं है यदि ज्ञायकपन, ज्ञेयपन होगा तो ज्ञानत्व नहीं रह सकता किन्तु वह

किंतु ज्ञानस्वरूपमेवेति चेन्न, तदभावे तस्याप्यभावानुषंगात् । तद्भावेपि च सिद्धं ज्ञेयपदस्य व्यवच्छेद्यमिति सार्थकत्वमेव। ज्ञानं हि स्याद्ज्ञेयं स्याद्ज्ञानं। अज्ञानं तु ज्ञेयमेवेति स्याद्वादिमते प्रसिद्धं सिद्धमेव । कथंचित्तद्व्यवच्छेद्यं न च ज्ञानं स्वत: परतो वा, येन रूपेण ज्ञेयं तेन ज्ञेयमेव येन तु ज्ञानं तेन ज्ञानमेवेत्यवधारणे स्याद्वादिविरोध:, सम्यगेकांतस्य तथोपगमात्। नाप्यनवस्था परापरज्ञानज्ञेयरूपपरिकल्पनाभावात् तावदैव कस्यचिदाकांक्षानिवृत्ते: । साकांक्षस्य तु तत्र तत् रूपांतरकल्पनायामपि दोषाभावात् सर्वार्थज्ञानोत्पत्तौ सकलापेक्षापर्यवसानात् । पराशंकितस्य वा सर्वस्याज्ञेयस्य व्यवच्छेद्यत्ववचनान्न ज्ञेयपदस्यानर्थकत्वं। सर्वपदं द्व्यादिसंख्यापदं वानेन सार्थकमुक्तमसर्वस्याद्व्यादेश्च व्यवच्छेद्यस्य सद्भावात् । न ह्यसर्वशब्दाभिधेयानां

ज्ञान सर्वांग रूप से ज्ञान स्वरूप ही है। जैनाचार्य कहते हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ज्ञायक और ज्ञेय के अभाव में ज्ञान के अभाव का भी प्रसंग आता है तथा ज्ञान का सद्भाव होने पर ज्ञान ज्ञेय पद का व्यवच्छेद्य सिद्ध हो जाता है अत: व्यवच्छेद्य के सद्भाव होने पर ज्ञेय पदके सार्थकपना है।

''स्याद्वाद सिद्धान्त में, ज्ञान ज्ञेय स्वरूप भी है और ज्ञान स्वरूप भी है परन्तु अज्ञान (जड़स्वरूप धर्मादि द्रव्य वा पुद्गल) ज्ञेय ही है। यह प्रसिद्ध ही है। इसलिए ज्ञान ज्ञेय का कथंचित् व्यवच्छेदक सिद्ध ही है।''

ज्ञान, स्व वा पर की अपेक्षा से ज्ञायक होकर जिस स्वभाव से ज्ञेय है, उस स्वरूप से ज्ञेय ही है और जिस स्वरूप से ज्ञान है उस स्वरूप से ज्ञान स्वरूप ही है, इस कथन में स्याद्वाद सिद्धान्त में विरोध नहीं है क्योंकि सम्यग् एकान्त में (परस्पर सापेक्ष नय में) इस प्रकार स्वीकार किया है अत: इसमें अनवस्था दोष भी नहीं है क्योंकि इसमें परापर उत्तरोत्तर ज्ञान और ज्ञेयरूप परिकल्पना का अभाव है अर्थात् ज्ञान के अंश में ज्ञेयत्व और ज्ञानत्व माना जाता है और उस ज्ञान में दूसरे कारणों से ज्ञेयत्व एवं ज्ञानत्व माना जाता है, उसमें फिर तीसरे से माना जाता है तब अनवस्था दोष आता है परन्तु जब ज्ञान के ज्ञानत्व और ज्ञेयत्व स्वभाव को कथंचित् सम्यग् एकान्त (नय विवक्षा) से पृथक् मान लेने पर अनवस्था दोष नहीं आता है क्योंकि उत्तरोत्तर दूसरे ज्ञान ज्ञेय स्वरूपों की धारावाहिनी कल्पना न होने के कारण उतने से ही ज्ञाता की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है परन्तु आकांक्षा सहित पुरुष के रूपान्तर की कल्पना करने में दोषों का अभाव है अर्थात् कुछ प्रश्नों के बाद उसकी आकांक्षा स्वयमेव समाप्त हो जाती है।

तथा परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर सम्पूर्ण अपेक्षाओं का अन्त हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर ज्ञान और ज्ञेय स्वरूपों को जानने की आकांक्षा ही नहीं रहती है। सम्पूर्ण ज्ञान ज्ञेयों के युगपत् प्रत्यक्ष हो जाने पर सभी इच्छाओं का अवसान हो जाता है।

दूसरों के द्वारा शंका किये गये सम्पूर्ण अज्ञेयों के व्यवछेद्यत्व का कथन करने से ज्ञेयपद की अनर्थकता नहीं है।

इसी प्रकार सर्व पद अथवा दो तीन आदि संख्यावाची पद भी सार्थक हैं। इसका भी उक्त कथन से निरूपण कर दिया है। क्योंकि सर्वपद का व्यवच्छेद्य असर्व और दो संख्या का व्यवच्छेदक दो रहित आदि संख्या का सद्भाव पाया जाता है।

समुदायिनां व्यवच्छेदे तदात्मनः समुदायस्य सर्वशब्दवाच्यस्य प्रतिषेधादिष्टापवादः संभवति, समुदायिभ्यः कथंचित्भेदात्समुदायस्य। नाप्यद्व्यादीनां प्रतिषेधे द्व्यादिविधानविरोधः परमसंख्यातोऽल्पसंख्यायाः कथंचिदन्यत्वात्। तदेवं विवादापन्नं केवलं पदं सव्यवच्छेद्यं पदत्वाद्घटादिपदवत् सव्यच्छेद्यत्वाच्च सार्थकं तद्वदिति प्रतियोगिव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादने वाक्यप्रयोगवत्पदप्रयोगेपि युक्तमवधारणमन्यथानुक्तसमत्वात् तत्प्रयोगस्यानर्थक्यात्। अन्ये त्वाहुः सर्वं वस्त्विति शब्दो द्रव्यवचनो जीव इत्यादिशब्दवत् तदभिधेयस्य विशेष्यत्वेन द्रव्यत्वात्, अस्तीति गुणवचनस्तदर्थस्य विशेषणत्वेन गुणत्वात्। तयोः सामान्यात्मनोर्विशेषाद्व्यवच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंभवत्वावद्योतनार्थ एवकारः। शुक्ल एव पट इत्यादिवत् स्वार्थसामान्याभिधायकत्वाद्विशेषणविशेष्यशब्दयोस्तत्संबंधसामान्यद्योतकत्वोपपत्तेः एवकारस्येति। तेपि यदि विशिष्टपदप्रयोगेनैवकारः प्रयोक्तव्य इत्यभिमन्यंते स्मृते तदा न स्याद्वादिनस्तेषां

असर्व पद के द्वारा कथनीय समुदायियों को व्यवच्छेद (पृथक्) कर देने पर उन समुदायियों से अभिन्न तदात्मक सर्वशब्द के द्वारा वाच्य, समुदाय का निषेध हो जाने पर इष्ट पदार्थ का अपवाद संभव नहीं है क्योंकि समुदाय और समुदायी में कथञ्चित् भेद पाया जाता है तथा अद्वि-अत्रि आदि का निषेध होने पर भी अद्वि-अत्रि आदि संख्या के विधान का विरोध नहीं है क्योंकि बड़ी संख्या से अल्प संख्या में कथञ्चित् भेद स्वीकार किया गया है। (कथञ्चित् दोनों को पृथक्-पृथक् माना है।) इस प्रकार विवादापन्न अन्य पदों से रहित केवल पद (पक्ष) व्यवच्छेद्य सहित है,(साध्य) घट पट आदि के समान पदत्व होने से। इस अनुमान से व्यवच्छेद्यत्व सिद्ध हो जाने पर दूसरे अनुमान के द्वारा व्यवच्छेद्य सहित हेतु केवल पद को सार्थकपना भी उन घट पट, आदिकों के समान सिद्ध कर लिया जाता है। इस प्रकार अपने से भिन्न प्रतियोगियों की व्यावृत्ति करके स्वार्थ के प्रतिपादन करने में जैसे वाक्य का प्रयोग सार्थक है, उसी के समान पद के प्रयोग में भी एवकार के द्वारा अवधारणा करना उपयुक्त है। अन्यथा नहीं कहे हुए के समान हो जाने से उस पद का प्रयोग करना व्यर्थ होगा।

अन्य मतावलम्बी कहते हैं कि जीव इत्यादि शब्दों के समान सर्व, वस्तु ये शब्द भी द्रव्य के कथक होने से द्रव्यवाची शब्द हैं, क्योंकि इनके द्वारा कहा गया पदार्थ विशेष्य होने के कारण द्रव्य है। 'अस्ति' यह शब्द विशेषणत्व से गुण होने से पदार्थ के गुण का कथन करता है-अतः गुणवाची शब्द है। सामान्य आत्मक गुण और द्रव्य उन दोनों का विशेष रूप से व्यवच्छेद (पृथक् भाव) करके विशेषण-विशेष्य भाव को प्रगट करने के लिये एवकार शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जैसे कि 'शुक्ल एव पट' 'द्रौण एव ब्रीहिः' शुक्ल ही पट है, द्रौण ही चावल, इत्यादि स्थलों पर विशेषण विशेष्यों का कर्मधारय समास करने पर एवकार लगाया जाता है। विशेषण और विशेष्य शब्द दोनों ही अपने-अपने अर्थ के सामान्य रूप से अभिधायक होने से उनके सामान्य रूप से सम्बन्ध को द्योतन करने के लिए एवकार का प्रयोग आवश्यक है। तभी एवकार का द्योतकपना सिद्ध हो सकता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाले भी विशिष्ट पद का उच्चारण करने पर या सामान्य के द्वारा विशेष का स्मरण कर लेने पर एवकार का

नियतपदार्थावद्योतकत्वेनाप्येवकारस्येष्टत्वात् । अथास्त्येव सर्वमित्यादिवाक्ये विशेष्यविशेषण-संबंधसामान्यावद्योतनार्थ एवकारोन्यत्र पदप्रयोगे नियतपदार्थावद्योतनार्थोपीति निजगुस्तदा न दोषः। केन पुनः शब्देनोपात्तोर्थ एवकारेण द्योत्यत इति चेत्, येन सह प्रयुज्यते असाविति प्रत्येयं। पदेन हि सह प्रयुक्तोसौ नियतं तदर्थमवद्योतयति वाक्येन वाक्यार्थमिति सिद्धं । ननु च सदेव सर्वमित्युक्ते सर्वस्य सर्वथा सत्त्वप्रसक्तिः सत्त्वसामान्यस्य विशेषणत्वाद्वस्तुसामान्यस्य च विशेष्यत्वात् तत्संबंधस्य च सामान्यादेवकारेण द्योतनात् ।

प्रयोग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार अभिमान पूर्वक मान रहे हैं अर्थात्-सामान्य रूप पदों के साथ एव लगाना चाहिए, विशेष पद के साथ नहीं, यह भी स्याद्वाद के ज्ञाता नहीं हैं, क्योंकि **स्याद्वाद सिद्धान्त में नियत विशिष्ट पदार्थों का द्योतन करने के लिए एवकार का प्रयोग इष्ट किया है।**

भावार्थ : मीमांसकों के अनुसार सामान्य विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध प्रगट करने के लिए एवकार का प्रयोग करना चाहिए, विशेष सम्बन्ध के लिए एवकार लगाने की आवश्यकता नहीं है परन्तु उनका यह कथन अभिमान मात्र है या मिथ्याज्ञान है क्योंकि सभी व्यावृत्तियों के लिए वाक्यों में एवकार का प्रयोग करना अत्यावश्यक है।

अथवा- ''सर्व पदार्थ कथञ्चित् अस्तिस्वरूप ही हैं'' इत्यादि वाक्यों में सामान्य रूप से विशेषण विशेष्य सम्बन्ध को अवद्योतन (प्रगट) करने के लिए 'एवकार' का प्रयोग करना चाहिए। तथा अन्यत्र (दूसरे स्थल पर) पद का प्रयोग करने पर नियमित पदार्थों को प्रगट करने के लिए भी 'एवकार' का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार कहने में कोई दोष नहीं है अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्त में इस प्रकार कथंचित् वा स्याद्वाद का प्रयोग करके ही वाक्यों का उच्चारण किया गया है।

शंका : किस शब्द के द्वारा ग्रहण किया गया अवधारणारूप अर्थ एवकार से प्रगट किया जाता है?

उत्तर : जिस वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग किया जाता है उसी पद वा वाक्य से कथित अर्थ 'एव' निपात से अभिव्यक्त कर दिया जाता है। जब पद के साथ निश्चय से वह 'एव' शब्द प्रयुक्त होता है (एव का वाक्य में प्रयोग किया जाता है) तब वह नियत पद के अर्थ को प्रकट कर देता है और जब वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग किया जाता है, तब वह वाक्य के नियमित अर्थ को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए पद और वाक्य में एवकार का प्रयोग करके अवधारणा करनी चाहिए यह युक्तियों से सिद्ध किया जा चुका है।

शंका : 'सदेव सर्वं' 'सम्पूर्ण वस्तु सत् स्वरूप ही है' इस प्रकार कहने पर सर्वथा सभी को सत्त्व रहने का ही प्रसंग आयेगा क्योंकि सामान्य रूप से सत्त्व सर्व वस्तुओं का विशेषण है और सामान्य रूप से सर्व वस्तुएँ विशेष्य हैं तथा उन विशेषण विशेष्य का सम्बन्ध सामान्य रूप से एवकार के द्वारा प्रगट होता है अर्थात् सामान्य की अपेक्षा सर्व पदार्थ सत्त्व रूप ही हैं।

तथा च जीवोप्यजीवसत्त्वे नास्तीति व्याप्तं स्वप्रतियोगिनो नास्तित्वस्यैवास्तीति पदेन व्यवच्छेदात् जीव एवास्तीत्यवधारणे तु भवेदजीवनास्तिता। नैव सेष्टा प्रतीतिविरोधात्। ततः कथमस्त्येव जीव इत्यादिवत्सदेव सर्वमिति वचनं घटत इत्यारेकायामाह;—

सर्वथा तत्प्रयोगेपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे। स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकांतद्योतकत्वतः॥ ५४॥

स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र स्यात्कारः संप्रयोगमर्हति तदप्रयोगे जीवस्य पुद्गलाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेर्विच्छेदाघटनात् तत्र तथाशब्देनाप्राप्तित्वात्। प्रकरणादेर्जीवे पुद्गलाद्यस्तित्वव्यवच्छेदे तु तस्याशब्दार्थत्वं तत्प्रकरणादेरशब्दत्वात्। न चाशब्दादर्थप्रतिपत्तिर्भवंती शाब्दी युक्तातिप्रसंगात्।

तथा जीव भी अजीव के सत् सामान्य से व्याप्त है अर्थात् सत्त्व सामान्य की अपेक्षा जीव और अजीव समान हैं।

परपक्ष : जीव अस्ति ही है इस प्रकार एवकार पद से स्वकीय अस्तित्व के प्रतियोगी नास्तित्व की व्यावृत्ति हो जाती है परन्तु जीव में अजीव के सत्त्व की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। यदि जीव ही है ऐसी अवधारणा करोगे तो अजीव पद की नास्ति हो जाएगी परन्तु अजीव पद की सर्वथा नास्ति इष्ट नहीं है क्योंकि अजीव पदार्थ का अभाव प्रतीति के विरुद्ध है अर्थात् घट-पट शरीर आदि पदार्थ ज्ञानगोचर हो रहे हैं अतः जीव ही है, अजीव ही है, इत्यादि वचनों के समान सर्व वस्तु 'सत्' स्वरूप ही है, ऐसा प्रयोग करना कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात् जैसे 'जीव ही है' यह घटित नहीं हो सकता वैसे ही सर्व वस्तु सत्स्वरूप ही है ऐसा घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार की **शंका** होने पर जैनाचार्य **उत्तर** देते हैं:-

उस एवकार का प्रयोग करने पर भी सर्वथा (एकान्त रूप से) सत्त्वादि की प्राप्ति का विच्छेद करने के लिए वाक्य में स्यात्कार शब्द का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि 'स्यात्' शब्द ही अनेकान्त का द्योतक है॥५४॥

"स्यादस्ति एव जीवः" कथञ्चित् जीव पदार्थ अस्ति स्वरूप है। इस वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना योग्य है। यदि इस पद में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं किया जायेगा तो जीव के पुद्गल, आकाश आदि के अस्तित्व के द्वारा भी सभी प्रकार से अस्ति होने का प्रसंग आएगा अर्थात् स्यात् पद के प्रयोग के बिना जैसे जीव अपने स्वरूप से अस्ति है, वैसे ही अन्य पुद्गलादि स्वरूप से भी जीव अस्तित्व को प्राप्त होगा और ऐसा होने पर जीव को पुद्गल आदि से पृथक् करना भी घटित नहीं हो सकेगा परन्तु उस प्रकार शब्द के द्वारा सत्त्व आदि की प्राप्ति नहीं होती है।

अर्थात् जीव का अस्तित्व, पुद्गल के अस्तित्व से नहीं है। यदि प्रकरण, अवसर, योग्यता आदि से जीव में पुद्गल आदि के अस्तित्व की व्यावृत्ति करोगे तो वह शब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकता क्योंकि उन प्रकरण आदि के द्वारा प्राप्त अर्थ शब्द का वाच्य नहीं हो सकता और वाचक शब्द के बिना होने वाली अर्थ की प्रतिपत्ति 'शब्द से हुई है' ऐसा कहना युक्तिसंगत कैसे हो सकता है क्योंकि उसमें अतिप्रसंग दोष आता है।

नन्वस्तित्वसामान्येन जीवस्य व्याप्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वविशेषैरव्याप्तेर्न तत्प्रसक्तिः कृतकस्यानित्यत्वसामान्येन व्याप्तस्यानित्यत्वविशेषाप्रसक्तिवत्। ततोनर्थकस्तन्निवृत्तये स्यात्प्रयोग इति चेन्न, अवधारणवैयर्थ्यप्रसंगात्। स्वगतेनास्तित्वविशेषेण जीवस्यास्तित्वावधारणात् प्रतीयते कृतकस्य स्वगतानित्यत्वविशेषेणानित्यत्ववदिति चेन्न, स्वगतेनेति विशेषणात् परगतेन नैवेति संप्रत्ययादवधारणानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात्। न चानवधारणकं वाक्यं युक्तं, जीवस्यास्तित्ववन्नास्तित्वस्याप्यनुषंगात् कृतकस्य नित्यत्वानुषंगवत्। तत्रास्तित्वस्यानवधृतत्वात् कृतकेनानित्यत्वानवधारणे नित्यत्ववत्। सर्वेण हि प्रकारेण जीवादेरस्तित्वाभ्युपगमे तन्नास्तित्वनिरासे वावधारणं फलवत्स्यात्। यथा कृतकस्य सर्वेणानित्यत्वेन शब्दघटादिगतेनानित्यत्वाभ्युपगमे तन्नित्यत्वनिरासे च नान्यथा, तथावधारणसाफल्योपगमे च जीवादिरस्तित्वसामान्येनास्ति, न पुनरस्तित्वविशेषेण पुद्गलादिगतेनेति प्रतिपत्तये युक्तः स्यात्कारप्रयोगस्तस्य तादृगर्थद्योतकत्वात्। ननु च योस्ति स स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकालभावैरेव

शंका : सामान्य अस्तित्व से जीव की व्याप्ति है और पुद्गलादि अस्तित्व विशेष के द्वारा जीव के साथ व्याप्ति नहीं है इसलिए जीव के पुद्गलादि के साथ अस्तित्व होने का प्रसंग नहीं आता है। जैसे सामान्य अनित्यत्व के साथ व्याप्त कृतकत्व का विशेष अनित्यत्व के साथ व्याप्त होने का प्रसंग नहीं आता है। इसलिए अनिष्ट (सर्वसत्त्व) की निवृत्ति के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है। **उत्तर :** ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो अवधारणा के लिए एवकार के प्रयोग करने में भी व्यर्थ का प्रसंग आएगा अर्थात् जब अजीवादि का अस्तित्व ही नहीं है तब 'जीव ही है' ऐसा कहने से क्या प्रयोजन है?

''स्वगत अस्तित्व विशेषण से जीव के अस्तित्व की अवधारणा होने से प्रतीत हो रहा है। जैसे स्वगत अनित्यत्व विशेषण से कृतकत्व का अनित्यत्व प्रतीत होता है।'' ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि स्वगत अस्तित्व विशेषण से परगत अस्तित्व के निषेध रूप से जब प्रतीति (ज्ञान) हो जाती है तब अवधारणा करने का व्यर्थपना जैसे का तैसा ही रह जाता है। इसलिए अवधारणा रहित वाक्य बोलना युक्त नहीं है। अन्यथा (यदि ऐसा नहीं है तो) जैसे जीव के अस्तित्व का विधान है वैसे ही नास्तित्व के विधान का भी प्रसंग आयेगा जैसे कि घट पट आदि कृतकत्व नियम न करने पर नित्यत्व का प्रसंग आता है। जिस प्रकार कृतकत्व के साथ अनित्यत्व की अवधारणा नहीं करने पर उनके नित्यत्व का प्रसंग आता है, उसी प्रकार अस्तित्व की अनवधारणा करने पर जीव के अन्य पदार्थों की अपेक्षा से भी अस्तित्व का प्रसंग आयेगा। सभी प्रकार से जीव आदि के अस्तित्व को स्वीकार करने पर और अजीव आदि नास्तित्व का निराकरण करने पर अवधारणा करना सफल हो जाता है। जिस प्रकार कृतकत्व का शब्द, घट, पट आदिगत सभी प्रकार के अनित्य के साथ अनित्यत्व को स्वीकार करने पर और नित्यत्व का निरास करने पर एवकार का प्रयोग करना सार्थक होता है। अन्यथा (अस्तित्व के विधान और नास्तित्व के निराकरण के बिना एवकार का प्रयोग करना) सार्थक नहीं है।

तथा अवधारणा की सफलता को स्वीकार करने पर सामान्य अस्तित्व की अपेक्षा जीवादि अस्ति रूप हैं और पुद्गलादिगत विशेष अस्तित्व की अपेक्षा नास्ति स्वरूप हैं। इस स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति और पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति का परिज्ञान कराने के लिए स्यात् पद का प्रयोग करना युक्त (सार्थक)

नेतरैस्तेषामप्रस्तुतत्वादिति केचित् , सत्यं । स तु तादृशोर्थः शब्दात्प्रतीयमानः । कीदृशात्प्रतीयते इति शाब्दव्यवहारचिंतायां स्यात्कारो द्योतको निपातः प्रयुज्यते लिङंतप्रतिरूपकः । केन पुनः शब्देनोक्तोनेकांतः? स्यात्कारेण द्योत्यत इति चेत् , सदेव सर्वमित्यादिवाक्येनाभेदवृत्त्याभेदोपचारेण चेति ब्रूमः । सकलादेशो हि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयत्यभेदोपचारेण वा तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा तस्य नयायत्तत्वात् । कः पुनः क्रमः किं वा यौगपद्यं?

है क्योंकि, स्यात् पद के ही उपरिकथित अर्थ का द्योतकपना है अर्थात् 'स्याद्' पद के प्रयोग से ही अस्ति नास्ति दो विरुद्ध धर्म एक वस्तु में सिद्ध हो सकते हैं।

शंका : जो वस्तु है, वह स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा ही है तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नहीं है क्योंकि, परद्रव्य का प्रस्तुत प्रकरण नहीं है (अतः स्यात् पद का प्रयोग करना व्यर्थ है) ऐसा कोई कहते हैं ?

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वैसा अर्थ शब्द से प्रतीत हो रहा है।

शब्द से प्रतीत होने वाला अर्थ किस प्रकार के शब्द से प्रतीत होता है ? इस प्रकार शब्दजन्य व्यवहार का विचार करने पर 'स्यात्' इस अर्थ के द्योतक निपात का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् **स्यात् पद के प्रयोग से ही स्वक्षेत्र, काल, द्रव्य और भाव की अपेक्षा अस्तित्व और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नास्तित्व सिद्ध होता है।** अदादि गण की 'अस् भुवि' धातु से लिङ् लकार में प्रथम पुरुष का एकवचन स्यात् बनता है। यह स्यात् निपात उसके सादृश्य को रखने वाला लिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है।

प्रश्न : किस शब्द के द्वारा कथित अनेकान्त स्यात् शब्द के द्वारा प्रकाशित किया जाता है?

उत्तर : स्यात्कार के द्वारा ही अनेकान्त प्रकाशित होता है? क्योंकि ''सम्पूर्ण पदार्थ सत् स्वरूप ही हैं'' इत्यादि वाक्य की अभेद वृत्ति (सम्बन्ध) से वा अभेद उपचार (व्यवहार) से अनेकान्त कहा जाता है ऐसा हम कहते हैं। यानी अभेद वृत्ति होने के कारण एक धर्म के प्रतिपादक शब्द से अनेक धर्म कह दिए जाते हैं।

सम्पूर्ण वस्तु का कथन करने वाला सकलादेश वाक्य तो वस्तु के काल, आत्मस्वरूप आदि के द्वारा अभेद वृत्ति या अभेद उपचार से स्वकीय सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ कथन करता है क्योंकि वह सकलादेश वाक्य प्रमाण के अधीन हो रहा बोला जाता है और वस्तु के एक अंश को कहने वाला विकलादेश तो भेद के उपचार से या भेद की प्रधानता से क्रमशः अशेष धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करता है क्योंकि उस विकलादेश वाक्य की प्रवृत्ति नयों के अधीन है।

प्रश्न : क्रम क्या है ? और युगपत् क्या है ?

यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसंभवाद्यौगपद्यं। के पुनः कालादयः ? कालः आत्मरूपं अर्थः संबंधः उपकारो गुणिदेशः संसर्गः शब्द इति । तत्र स्याज्जीवादि वस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानंतधर्मा वस्तुन्येकत्रेति, तेषां कालेनाभेदवृत्तिः । यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानंतगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । य एव चाधारोर्थो द्रव्याख्योस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । य एवाविष्वग्भावः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः संबंधोस्तित्वस्य स एवाशेषविशेषाणामिति संबंधेनाभेदवृत्तिः । य एव चोपकारोस्तित्वेन स्वानुरक्तकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः । य एव च गुणिदेशोस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । य एव

उत्तर : जिस समय अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों की कालादि के द्वारा विवक्षा है तब एक शब्द की अनेक अर्थों को समझाने में (ज्ञान कराने में) शक्ति का अभाव होने से क्रम से कथन किया जाता है।

जब उन्हीं धर्मों का काल आदि के द्वारा अभेद सम्बन्ध से आत्मस्वरूप का कथन किया जाता है तब एक शब्द के द्वारा धर्म को समझाने की मुख्यता से एक धर्म के साथ तदात्मकता को प्राप्त अनेक अशेष धर्मों के स्वरूप का प्रतिपादन करना संभव होने से युगपत् कहा जाता है अर्थात् भेद विवक्षा में वस्तु के एक-एक धर्म का क्रम किया जाता है और अभेद विवक्षा में एक शब्द द्वारा अनेक धर्मात्मक वस्तु का एक ही समय में युगपत् निरूपण होता है, इसी से नय और प्रमाण का भेद सिद्ध होता है।

कालादिक के द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायों में भेद और अभेद का कथन

प्रश्न : कालादि पुनः क्या हैं ?

उत्तर : काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द इस प्रकार आठ हैं, उन आठों में जीवादिक वस्तु कथंचित् अस्ति स्वरूप ही है उसमें जीवकाल रूप से अस्ति है। जीवस्वरूप एक वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सम्पूर्ण अनन्त धर्मों का भी वही काल है क्योंकि काल स्वरूप से उन धर्मों की अभेद रूप से वृत्ति (सम्बन्ध) है अर्थात् सर्व अस्तित्व आदि गुण का आत्मरूप निजस्वरूप है वही अभेद वृत्ति से अन्य अनन्त गुणों का भी आत्मस्वरूप है, अर्थात् आत्मस्वरूप से अनन्त धर्मों की परस्पर में अभेद वृत्ति है। जो अस्तित्व गुण का आधारभूत द्रव्य नामक पदार्थ है वही अर्थ (द्रव्य) अभेद विवक्षा से अन्य पर्यायों का आश्रय है, अर्थात् एक ही द्रव्य के आधार में अनन्त गुण आधेय रूप से रहते हैं, जो ही अपृथक् भूत कथंचित् तादात्म्यलक्षण अस्तित्व गुण का सम्बन्ध है, वही अपृथक्भूत सम्बन्ध अभेदवृत्ति से सम्पूर्ण विशेष अंशों (पर्यायों) का भी है। अर्थात् सम्बन्ध के कारण ही सम्पूर्ण धर्मों का वस्तु के साथ अभेद है।

जो ही स्वकीय अस्तित्व से वस्तु को अपने अनुरूप कर देने रूप स्वभाव वाला उपकार है अर्थात् जो वस्तु के अस्तित्व स्वरूप को अक्षुण्ण रखने वाला उपकार है, वही उपकार अशेष सम्पूर्ण गुणों को भी स्वकीय-स्वकीय अनुरूप करने वाला उपकार है, अर्थात् एक ही उपकार जैसे अस्तित्व धर्म को वस्तु के

चैकवस्त्वात्मनास्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । य एव वास्तीतिशब्दोस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानंतधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः । पर्यायार्थे गुणभावे द्रव्यार्थिकत्वप्राधान्यादुपपद्यते, द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानां कालादिभिरभेदवृत्तिः अष्टधा संभवति । प्रतिक्षणमन्यतोपपत्तेर्भिन्नकालत्वात् । सकृदेकत्र नानागुणानामसंभवात्। संभवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसंगात् । तेषामात्मरूपस्य च भिन्नत्वात् तदभेदे तद्भेदविरोधात् । स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् संबंधस्य च संबंधिभेदेन भेददर्शनात् नानासंबंधिभिरेकत्रैकसंबंधाघटनात् तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् गुणिदेशस्य च

अनुरूप कर देता है वही एक उपकार सम्पूर्ण अशेष गुणों एवं पर्यायों को वस्तु के अनुरूप करने वाला है क्योंकि, सम्पूर्ण धर्मों में परस्पर भेद नहीं है।

जो अस्तित्व का गुणी देश है उस गुणी देश के साथ अभेद वृत्ति होने से वही अशेष अन्य गुणों का गुणी देश है।

जो वस्तु के अस्तित्व गुण का संसर्ग है, वही अशेष धर्मों का संसर्ग है क्योंकि संसर्ग की अपेक्षा भी परस्पर गुणों में अभेद वृत्ति है।

जो अस्ति शब्द अस्ति धर्मात्मक वस्तु का वाचक है वही अस्ति शब्द शेष बचे वस्तु के अनेक धर्मों के अस्तित्व का भी वाचक है, इस प्रकार शब्द के द्वारा भी सम्पूर्ण धर्मों की एक वस्तु में अभेद वृत्ति है।

अर्थात् इस प्रकार काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग, शब्द इनके द्वारा अनन्त गुणों में अभेद वृत्ति है क्योंकि, द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से, और पर्यायार्थिक नय की गौणता से अनन्त गुणों का परस्पर काल आदि की अपेक्षा अभेद है सभी गुण, पर्यायों का द्रव्य क्षेत्र काल भाव एक ही है।

तथा द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से कथन करने पर परस्पर में अनन्त गुणों के कालादिक के साथ आठ प्रकार की अभेदवृत्ति संभव नहीं है क्योंकि, प्रत्येक क्षण में गुण भिन्न-भिन्न रूप से परिणत होते हैं अतः भिन्न-भिन्न धर्मों का काल भिन्न-भिन्न है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा एक समय में एक वस्तु में अनेक गुणों (स्वभावों) का रहना संभव नहीं है यदि एक समय में एक वस्तु में अनेक गुणों का रहना संभव होगा तो उन गुणों की आश्रयभूत वस्तु का उतने प्रकार से भेद हो जाने का प्रसंग आएगा अर्थात् जितने गुण हैं, उतने गुणों की आश्रयभूत वस्तु भी उतनी संख्या वाली हो जाएगी इसलिए पर्यायार्थिक नय से अनेक गुणों के साथ काल की अपेक्षा अभेद वृत्ति नहीं है अर्थात् भेद वृत्ति है तथा उनका कार्य भी भिन्न-भिन्न है जैसे ज्ञान गुण का कार्य जानना है और दर्शन का देखना।

पर्याय दृष्टि से उन गुणों का आत्मस्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। यदि अनेक गुणों का आत्मस्वरूप सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो गुणों में भेद होने का विरोध होगा अर्थात् एक वस्तु में एक स्वभाव वाले अनेक गुण नहीं रह सकते अतः आत्मस्वरूप की अपेक्षा भी गुणों में सर्वथा अभेदवृत्ति सिद्ध नहीं होती।

प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसंगात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दांतरवैफल्यात् । तत्त्वतोस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । तदेवाभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यामेकेन शब्देनैकस्य जीवादिवस्तुनोऽनंतधर्मात्मकस्योपात्तस्य स्यात्कारो द्योतकः समवतिष्ठते ॥

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा नाना धर्मों का आश्रयभूत द्रव्य नामक अर्थ भी भिन्न-भिन्न है। अन्यथा (भिन्न-भिन्न आधार के अभाव में) एक द्रव्य के नाना गुणों को आश्रय देने का विरोध है अर्थात् अर्थ के भिन्न-भिन्न होने से उन धर्मों में अर्थ की अपेक्षा भी अभेद वृत्ति नहीं है अर्थात् भेदवृत्ति है।

नाना गुण रूप सम्बन्धियों के भेद से सम्बन्ध का भी पर्यायार्थिक नय से भेद देखा जाता है क्योंकि अनेक सम्बन्धियों के द्वारा एक वस्तु में एक सम्बन्ध घटित नहीं होता है। (जैसे सोमदत्त के पिता का सम्बन्ध भाई के साथ घटित नहीं होता है) अतः पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनेक धर्मों में सम्बन्ध का अभेद भी नहीं है।

उन धर्मों के द्वारा किया गया उपकार भी पृथक्-पृथक् प्रत्येक वस्तु में नियत होकर अनेक स्वरूप है। जैसे ज्ञान का उपकार वस्तु को साकार जानना है और दर्शन का उपकार वस्तु का निराकार अवलोकन है इसलिए एक उपकार की अपेक्षा से होने वाली अनेक गुणों में अभेद वृत्ति घटित नहीं हो सकती।

प्रत्येक गुण की अपेक्षा गुणी का देश भी भिन्न-भिन्न है यदि गुणों के भेद से गुण वाले देश का भेद नहीं माना जायेगा तो सर्वथा भिन्न दूसरे पदार्थों के गुणों का भी गुणी देश अभिन्न हो जायेगा और संसर्ग का तो प्रति संसर्ग के भेद से (भेद होने पर भी) उन संसर्ग का अभेद माना जायेगा तो संसर्गियों के भेद होने का विरोध है अतः संसर्ग से भी अभेद वृत्ति नहीं हो सकती।

प्रत्येक विषय की अपेक्षा वाचक शब्द के भी नानापना है। यदि सर्व गुणों को एक शब्द द्वारा ही वाच्य माना जायेगा तब तो सम्पूर्ण अर्थों को भी एक शब्द द्वारा निरूपण करने का प्रसंग आयेगा अतः ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों का बोलना व्यर्थ होगा।

अतः शब्द के द्वारा अभेद वृत्ति नहीं है वस्तुतः अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का एक वस्तु में अभेद वृत्ति का होना असंभव है परन्तु काल, आत्मरूपता आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप धर्मों का अभेद रूप से उपचार किया जाता है अर्थात् पर्यायार्थिक नय से नाना पर्यायों में भेद है क्योंकि एक पर्याय दूसरी पर्याय स्वरूप नहीं है, फिर भी एक वस्तु या द्रव्य की अनन्त पर्यायों में अभेद का व्यवहार कर लिया जाता है अतः इन अभेद वृत्ति या अभेद उपचार से एक शब्द के द्वारा ग्रहण किये गये अनन्त धर्मात्मक एक जीव आदि वस्तु का कथन किया गया है। **उन अनेक धर्मों का द्योतक स्यात्कार निपात व्यवस्थित है अर्थात् विकलादेश के द्वारा क्रम से अनेक धर्मों का कथन करने पर या सकलादेश के द्वारा अनन्त धर्मों का युगपत् कथन करने पर अनेकान्त का द्योतक स्यात् पद का प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा।**

स्याच्छब्दादप्यनेकांतसामान्यस्यावबोधने । शब्दांतरप्रयोगोत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥ ५५ ॥

स्यादिति निपातोऽयमनेकांतविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु वर्तते, तत्रैकार्थविवक्षा च स्यादनेकांतार्थस्य वाचको गृह्यते इत्येके । तेषां शब्दांतरप्रयोगोऽनर्थकः स्याच्छब्देनैवानेकांतात्मनो वस्तुनः प्रतिपादितत्वादित्यपरे, तेपि यद्यनेकांतविशेषस्य वाचके स्याच्छब्दे प्रयुक्ते शब्दांतरप्रयोगमनर्थकमाचक्षते तदा न निवार्यंते, शब्दांतरत्वस्य स्याच्छब्देन कृतत्वात् । अनेकांतसामान्यस्य तु वाचके तस्मिन् प्रयुक्ते जीवादिशब्दांतरप्रयोगो नानर्थकस्तस्य तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वात् कस्यचित्सामान्येनोपादानेपि विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यो वृक्षशब्दाद्वृक्षत्वसामान्यस्योपादानेपि धवादितद्विशेषार्थितया धवादिशब्दविशेषवदिति वचनात् । भवतु नाम द्योतको वाचकश्च स्याच्छब्दोऽनेकांतस्य तु प्रतिपदं प्रतिवाक्यं वा श्रूयमाणः समये लोके च कुतस्तथा प्रतीयत इत्याह;—

स्याद् शब्द के द्वारा अनेकान्त सामान्य का ज्ञान हो जाने पर भी यहाँ विशेष रूप से धर्मों की प्रतिपत्ति (ज्ञान) करने के लिए अस्ति, नास्ति आदि शब्दान्तरों का प्रयोग करना आवश्यक है ॥५५॥

'स्यात्' यह तिङन्त प्रतिरूपक निपात अनेकान्त, विधि (प्रेरणा करना) विचार आदि बहुत से अर्थों में रहता है। उन अनेक अर्थों में से एक समय एक अर्थ की विवक्षा होती है अतः स्यात् शब्द अनेक अर्थों का वाचक ग्रहण किया गया है। इस प्रकार एक वादी कहता है। कोई दूसरा वादी कहता है कि यदि एक 'स्यात्' शब्द के द्वारा अनेक धर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है तो उनके सिद्धान्त में शब्दान्तरों का प्रयोग करना व्यर्थ है ?

इन दोनों वादियों का समाधान करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि यदि वे भी (वादी) विशेषरूप से अनेकान्त को कहने वाले स्यात् शब्द का प्रयोग करने पर शब्दान्तर के प्रयोग को व्यर्थ कहते हैं तब तो उनका निवारण (निरोध) नहीं हो सकता। उनको कहते हुए रोक नहीं सकते क्योंकि शब्दान्तरों से होने योग्य प्रयोजन को स्यात् शब्द ने कर दिया है (अर्थात् स्यात् शब्द के द्वारा शब्दान्तरों का कार्य हो जाने से शब्दान्तरों का कथन करना व्यर्थ है) परन्तु सामान्य रूप से अनेकान्त वाचक स्यात् शब्द का प्रयोग करने पर शब्दान्तर (अस्ति नास्ति आदि) का प्रयोग करना व्यर्थ नहीं है क्योंकि उन शब्दान्तरों का प्रयोग स्यात् शब्द की विशेषता को जानने के लिए है। किसी भी वस्तु का सामान्य रूप से कथन करने पर उसके विशेष को जानने के इच्छुक पुरुष के द्वारा उस वस्तु के विशेष का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है, अर्थात् विशेषार्थी को विशेष का प्रयोग करना ही चाहिए। जैसे वृक्ष शब्द से वृक्षत्व सामान्य का ग्रहण हो जाने पर भी उस वृक्ष के विशेष धव, खदिर आदि के अभिलाषी पुरुष के द्वारा धव आदि विशेष शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। उसी प्रकार प्रकरण में स्यात् पद के साथ विशेष पदों का उच्चारण करना आवश्यक होता है। जैसे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति इत्यादि।

यह 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक एवं वाचक हो सकता है (इसमें कोई आपत्ति नहीं है) परन्तु प्रत्येक पद और वाक्य स्यात्पद से युक्त लोक में और शास्त्र में सुनाई नहीं दे रहा है? अतः स्यात् शब्द की प्रतीति कैसे हो सकती है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं:-

सोप्रयुक्तोपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते। यथैवकारो योगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ ५६ ॥

यथा चैत्रो धनुर्धरः पार्थो धनुर्धरः नीलं सरोजं भवतीत्यत्रायोगस्यान्ययोगस्यात्यंतयोगस्य च व्यवच्छेदायाप्रयुक्तोप्येवकारः प्रकरणविशेषसामर्थ्यात्तद्विद्भिरवगम्यते, तस्यान्यत्र विशेषणेन क्रियया च सह प्रयुक्तस्य तत्फलत्वेन प्रतिपन्नत्वात् । तथा सर्वत्र स्यात्कारोपि सर्वस्यानेकांतात्मकत्व-व्यवस्थापनसामर्थ्यादेकांतव्यवच्छेदाय किं न प्रतीयते । न हि कश्चित्पदार्थो वाक्यार्थो वा सर्वथैकांतात्मकोस्ति प्रतीतिविरोधात् । कथंचिदेकांतात्मकस्तु सुनयापेक्षोनेकांतात्मक एव ततो युक्तः प्रमाणवाक्ये नयवाक्ये च सप्तविकल्पे स्यात्कारस्तदर्थं शब्दांतरं वा श्रूयमाणं गम्यमानं वावधारणवत् । किं पुनः प्रमाणवाक्यं किं वा

लौकिक व्यवहार में या शास्त्र में प्रत्येक पद वा वाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं होने पर भी शास्त्रों को जानने वाले पुरुषों के द्वारा सर्वत्र अर्थ से स्यात् पद की प्रतीति कर ली जाती है।

उसी प्रकार अयोग, अन्य योग और अत्यन्त योग का व्यवच्छेद करना जिसका प्रयोजन है ऐसे एवकार का प्रयोग बिना किये ही समझ लिया जाता है।।५६।।

जैसे 'चैत्र धनुर्धर है' इस वाक्य में चैत्र धनुष को ही धारण करता है, धनुषधारी ही है। इस प्रकार धनुष के अयोग का व्यवच्छेद करने वाला एवकार विशेष प्रकरण के सामर्थ्य से जान लिया जाता है।

तथा 'पार्थो धनुर्धरः' अर्जुन धनुष का धारी है, इस वाक्य में एव नहीं लगाया है फिर भी अन्य योग (अन्य व्यक्तियों में धनुष धारी पने) का व्यवच्छेद करने वाला एवकार प्रकरण के अनुसार ग्रहण कर लिया जाता है कि अनेक योद्धाओं के मध्य में अर्जुन ही धनुषधारी है। इस प्रकार विशेष्य या उद्देश्य के साथ लगे हुए एवकार से अन्ययोग की व्यावृत्ति हो जाती है।

''नील सरोज होता है'' इस वाक्य में नीलकमल होता ही है। इस प्रकार कमल में नीलत्व के अत्यन्त अयोग को व्यवच्छेद करने वाला एवकार प्रकरण से जान लिया जाता है। ''नीलं सरोजं भवत्येव'' इस वाक्य में क्रिया के साथ 'एव' लगाने से नीलकमल के सर्वथा न होने की व्यावृत्ति की गयी है। इस प्रकार अयोग, अन्ययोग और अत्यन्तायोग के व्यवच्छेद के लिए अप्रयुक्त भी एवकार प्रकरण विशेष के सामर्थ्य से विद्वानों के द्वारा जान लिया जाता है क्योंकि अन्य स्थलों पर विशेषण, विशेष्य तथा क्रिया के साथ प्रयुक्त किये गए उस एवकार का उन अयोग व्यवच्छेद, अन्ययोग व्यवच्छेद और अत्यन्तायोग व्यवच्छेद रूप फलत्व के द्वारा प्रतिपन्न (व्याप्त) होने से ज्ञात है (जाना जा चुका है)।

इसी प्रकार सभी वाक्यों में अप्रयुक्त भी स्यात्कार शब्द सभी पदार्थों की अनेकान्तात्मक व्यवस्था के सामर्थ्य से एकान्त का व्यवच्छेद करने के लिए क्यों नहीं प्रतीत होता है अर्थात् एवकार के समान स्यात्कार पद भी बिना उच्चारण किये भी प्रतीत होता है क्योंकि किसी पदार्थ का या वाक्य का अर्थ सर्वथा एकान्त स्वरूप नहीं है क्योंकि सर्वथा एकान्त मानना प्रतीति विरुद्ध है। सुनयों की अपेक्षा से अर्पित किया गया कथञ्चित् एकान्त स्वरूप पदार्थ वा वाक्यार्थ अनेकान्त स्वरूप ही है अर्थात् सुनय अन्य धर्मों की अपेक्षा रखते हैं इसलिए अस्ति, नास्ति आदि सात भेद वाले प्रमाण बोध वाक्य और नय वाक्य में 'स्यात्' इस शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त है इसलिए अवधारणा करने वाले एवकार के समान स्यात्पद को भी

नयवाक्यं ? सकलादेशः प्रमाणवाक्यं विकलादेशो नयवाक्यमित्युक्तं। कः पुनः सकलादेशः को वा विकलादेशः ? अनेकात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादनं सकलादेशः, एकधर्मात्मकवस्तुकथनं विकलादेश इत्येके, तेषां सप्तविधप्रमाणनयवाक्यविरोधः । सत्त्वासत्त्वावक्तव्यवचनानां सैकैकधर्मात्मजीवादिवस्तुप्रतिपादनप्रमाणानां सर्वदा विकलादेशत्वेन यथावाक्यतानुषंगात् क्रमार्पितोभयसदवक्तव्यासदवक्तव्योभयावक्तव्यवचनानां वानेकधर्मात्मकवस्तुप्रकाशिनां सदा सकलादेशत्वेन प्रमाणवाक्यतापत्तेः। न च त्रीण्येव नयवाक्यानि चत्वार्येव प्रमाणवाक्यानीति युक्तं सिद्धान्तविरोधात् । धर्मिमात्रवचनं सकलादेशः धर्ममात्रकथनं तु विकलादेश इत्यप्यसारं, सत्त्वाद्यन्यतमेनापि धर्मेणाविशेषितस्य धर्मिणो वचनासंभवात्। धर्ममात्रस्य क्वचिद्धर्मिण्यवर्तमानस्य वक्तुमशक्तेः

प्रत्येक पद और वाक्य के साथ जोड़ लेना चाहिए। अथवा वस्तु की सिद्धि के लिए अर्थापत्ति के द्वारा गम्यमान और शास्त्रों के द्वारा श्रूयमाण शब्दान्तर (स्यात् पद का) प्रयोग नहीं भी किया हो तो भी प्रत्येक पद में लगाना चाहिए।

शंका : प्रमाण वाक्य क्या है? और नय वाक्य क्या है ?

समाधान : सकलादेश तो प्रमाण वाक्य है और विकलादेश नय वाक्य है।

शंका : सकलादेश क्या है ? और विकलादेश क्या है ?

समाधान : अनेक धर्मों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध वाली वस्तु का कथन करना, प्रतिपादन करना सकलादेश है और अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का (एक धर्मात्मक वस्तु का) कथन करना विकलादेश हैं। ऐसा कोई कहते हैं।

इस सम्बन्ध में जैनाचार्य कहते हैं कि उनके यहाँ सात प्रकार के प्रमाण वाक्य और सात प्रकार के नय वाक्य बोलने का विरोध आयेगा क्योंकि एक-एक धर्म स्वरूप जीवादि वस्तु के प्रतिपादन करने में तत्पर सत्त्व, असत्त्व, अवक्तव्य वचनों के सर्वदा विकलादेशी होने के कारण नय के वाक्यपने का प्रसंग आयेगा तथा क्रमार्पित उभय, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्ति नास्त्यवक्तव्य ये चार वाक्य सदा अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रकाशक हैं अतः सकलादेश होने के कारण इनके प्रमाण वाक्यता का प्रसंग आयेगा परन्तु अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन नय वाक्य हैं और अस्ति नास्ति, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य, अस्ति नास्त्यवक्तव्य ये चार प्रमाण वाक्य हैं, यह नियम करना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर सिद्धान्त से विरोध आता है अर्थात्-**जैन सिद्धान्तानुसार सातों ही नय वाक्य हैं और सातों ही प्रमाण वाक्य हैं अतः सकलादेश और विकलादेश का पूर्वोक्त लक्षण लक्षणाभास है।**

केवल धर्मी का कथन करने वाला वाक्य सकलादेश है और केवल धर्म का कथन करना विकलादेश है। इस प्रकार कहना भी असार (सार रहित) है क्योंकि सत्त्व, असत्त्व आदि अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म के विशेषण के बिना धर्मी का कथन करना संभव नहीं है। सम्पूर्ण धर्मों से रहित शुद्ध धर्मी का कथन करना शक्य नहीं है। किसी न किसी धर्म से युक्त ही धर्मी का कथन होता है। इसी प्रकार किसी भी धर्म से रहित (सर्व धर्मों से रहित) किसी भी धर्मी में नही रहने वाले धर्म मात्र का कथन करना भी शक्य नहीं है।

। स्याज्जीव एव स्यादस्त्येवेति धर्मिमात्रस्य च धर्ममात्रस्य वचनं संभवत्येवेति चेत् न, जीवशब्देन जीवत्वधर्मात्मकस्य जीववस्तुनः कथनादस्तिशब्देन चास्तित्वस्य कचिद्विशेष्ये विशेषणतया प्रतीयमानस्याभिधानात् । द्रव्यशब्दस्य भावशब्दस्य चैवं विभागाभाव इति चेन्न, तद्विभागस्य नामादिसूत्रे प्ररूपितत्वात् । येपि हि पाचकोऽयं पाचकत्वमस्येति द्रव्यभावविधायिनोः शब्दयोर्विभागमाहुस्तेषामपि न पाचकत्वधर्मादिविशेषः पाचकशब्दाभिधेयोर्थः संभवति, नापि पाचकानाश्रितः पाचकत्वधर्म इत्यलं विवादेन। सदादिवाक्यं सप्तविधमपि प्रत्येकं विकलादेशः समुदितं सकलादेश इत्यन्ये, तेपि न युक्त्यागमकुशलास्तथा युक्त्यागमयोरभावात् । सकलाप्रतिपादकत्वात् प्रत्येकं सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसंगात् । न हि सदादिवाक्यसप्तकं समुदितं सकलार्थप्रतिपादकं

"कथञ्चित् जीव ही है, इस प्रकार केवल जीव द्रव्यरूप धर्मी को कहने वाला वचन विद्यमान है। कथञ्चित् अस्ति ही है, इस प्रकार केवल अस्तित्व धर्म मात्र का कहने वाला वाक्य भी संभव है अतः केवल धर्मी के प्रतिपादक वाक्य और केवल धर्म प्रतिपादक वाक्य का निषेध कैसे कर सकते हैं," ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि धर्मी वाचक जीव शब्द से जीवत्व धर्मात्मक (प्राणधारक जीवत्व धर्म से युक्त) जीव वस्तु का कथन किया जाता है। केवल धर्म रहित धर्मी का कथन नहीं हो सकता।

धर्म वाचक अस्ति शब्द के द्वारा किसी विशेष्य में विशेषण रूप से प्रतीयमान (प्रतीति में आने वाले) अस्तित्व का निरूपण किया जाता है। केवल अस्तित्व धर्म का निरूपण नहीं हो सकता।

"इस प्रकार कहने पर द्रव्य वाचक शब्द और भाव वाचक शब्दों का विभाग नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्य और भाव दोनों तदात्मक हैं।" ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि द्रव्य और भाव शब्द के विभाग का "नाम स्थापना द्रव्यभावतस्तन्न्यासः" इस सूत्र के कथन में निरूपण कर चुके हैं।

जो भी कोई विद्वान् द्रव्यवाचक शब्द और भाव वाचक शब्दों के विभाग को इस प्रकार कहते हैं कि यह पाचक है। वहाँ पाचक (रसोइया) शब्द विशेष जीव द्रव्य वाचक है और पाचकत्व शब्द भाव वाचक है। उनके भी पाचक धर्मत्व से अविशिष्ट केवल पाचक अर्थ पाचक शब्द का वाच्य हो ही नहीं सकता और पाचक रूप आधार से रहित अकेला पाचकत्व धर्म भी कोई पदार्थ नहीं है अतः अधिक विवाद करने से कोई प्रयोजन नहीं है।

"अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों को कहने वाले सातों भी वाक्य यदि प्रत्येक पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं तब तो विकलादेश है और जब सातों समुदित होकर कहे जाते हैं तब सकलादेश कहे जाते हैं।" ऐसा कोई अन्य विद्वान् कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले भी युक्ति और आगम में कुशल नहीं हैं क्योंकि इस प्रकार की युक्ति और आगम का अभाव है। सकल पदार्थ का प्रतिपादक न होने के कारण पृथक्-पृथक् अस्तित्व आदि को कहने वाला वाक्य विकलादेश है, यह युक्ति समीचीन नहीं है क्योंकि इस प्रकार कहने पर तो सातों वाक्यों के समुदाय को भी विकलादेशत्व का प्रसंग आता है, क्योंकि अस्तित्व आदि सातों वाक्य समुदित होकर भी सम्पूर्ण वस्तुभूत अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं। सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्रों को ही वस्तु के सम्पूर्ण अंशों को उस प्रकार प्रतिपादित करना प्रसिद्ध है।

सकलश्रुतस्यैव तथाभावप्रसिद्धेः । एतेन सकलार्थप्रतिपादकत्वात् सप्तभंगीवाक्यं सकलादेश इति युक्तिरसमीचीनोक्ता, हेतोरसिद्धत्वात् । सदादिवाक्यसप्तकमेव सकलश्रुतं नान्यत्तद्व्यतिरिक्तस्याभावात् अतो न हेतोरसिद्धिरिति चेन्न, एकानेकादिसप्तभंगात्मनो वाक्यस्याश्रुतत्वप्रसंगात् । सकलश्रुतार्थस्य सदादिसप्तविकल्पात्मकवाक्येनैव प्रकाशनात् तस्य प्रकाशितप्रकाशनतयानर्थकत्वात् । तेन सत्त्वादिधर्मसप्तकस्यैव प्रतिपादनादेकत्वादिधर्मसप्तकस्य चैकानेकादिसप्तविशेषात्मकवाक्येन कथनात् तस्यानर्थक्यादश्रुतत्वप्रसंग इति चेन्न, तस्य सकलादेशत्वाभावापत्तेरनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽप्रतिपादनात् । यदि पुनरस्तित्वादिधर्मसप्तकमुखेनाशेषानंतसप्तभंगीविषयानंतधर्मसप्तकस्वभावस्य वस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्त्याभेदोपचारेण प्रकाशनात्सदादिसप्तविकल्पात्मकवाक्यस्य सकलादेशत्वसिद्धिस्तदा स्यादस्त्येव जीवादिवस्त्वित्यस्य

इस कथन से सातों भंगों के समुदाय रूप वाक्य सकलादेश है, सम्पूर्ण अर्थों की प्रतिपादक होने से यह युक्ति भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इसमें हेतु की असिद्धि है अर्थात् केवल सप्तभंगी वाक्य में ही सम्पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता है।

''अस्तित्व, नास्तित्व आदि सात से भिन्न कोई वस्तु अंश शेष नहीं है, अस्तित्व आदि सात वाक्य ही सकल श्रुत हैं, इस सप्त भंगी से भिन्न कोई पृथक् शास्त्र नहीं है सप्त भंगी से भिन्न शास्त्र का अभाव है, इसलिए हेतु असिद्ध नहीं है'' ऐसा भी कहना उचित नहीं है।

क्योंकि ऐसा मानने पर तो एक, अनेक, नित्य, अनित्य, आदि धर्मों के सप्त भंगात्मक वाक्यों के अश्रुतपने का प्रसंग आयेगा क्योंकि नैयायिकों ने सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ को अस्तित्व आदि सात प्रकार के वाक्यों के द्वारा ही प्रकाशित किया है। उस अस्तित्व आदि सात भंगों के द्वारा प्रकाशित हुए सकल श्रुत का पुनः नित्य, अनित्य आदि वाक्यों के द्वारा प्रकाशित करना व्यर्थ है।

''उस अस्तित्व आदि सप्त भंगी के प्रतिपादक वाक्य ने तो अस्तित्व आदि सात धर्मों का ही निरूपण किया है और एकत्व, अनेकत्व आदि सात धर्मों का एक, अनेक, आदि विशेष रूप सात वाक्यों के द्वारा निरूपण किया गया है अतः अनर्थक होने से उस एकत्व आदि के अश्रुत का प्रसंग नहीं है'' ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार कहने पर तो सत् आदि सप्त भंग वाक्य के सकलादेशत्व के अभाव की आपत्ति हो जायेगी, क्योंकि अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अस्तित्व आदि के द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता है, अर्थात् केवल अस्तित्व, नास्तित्व आदि का ही कथन होता है शेष अनन्त धर्मों का एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व आदि सप्तभंगी के द्वारा कथन किया जाता है।

यदि पुनः अस्तित्व आदि सात धर्मों की मुख्यता से अशेष अनन्त सप्त भंगियों के विषयभूत अनन्त संख्या वाले सप्त धर्म स्वभावक वस्तु का काल, आत्म स्वभाव, अर्थ, सम्बन्ध, आदि द्वारा अभेद वृत्ति वा अभेद उपचार से प्ररूपण होता है, अतः अस्तित्व, नास्तित्व आदि सप्त विकल्पात्मक वाक्य के सकलपना सिद्ध है। ऐसा कहोग तब तो ''स्याद् अस्ति एव जीवादि वस्तु'' किसी अपेक्षा जीवादि वस्तु

सकलादेशत्वमस्तु । विवक्षितास्तित्वमुखेन शेषानंतधर्मात्मनो वस्तुनस्तथावृत्त्या कथनात् । स्यान्नास्त्येवेत्यस्य च नास्तित्वमुखेन, स्यादवक्तव्यमेवेत्यस्यावक्तव्यत्वमुखेन, स्यादुभयमेवेत्यस्य च क्र मार्पितोभयात्मकत्वमुखेन, स्यादस्त्यवक्तव्यमेवेत्यस्य चास्त्यवक्तव्यत्वमुखेन, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेवेत्यस्य च नास्त्यवक्तव्यत्वमुखेन स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यस्य चोभयावक्तव्यत्वमुखेनेति प्रत्येकं सप्तानामपि वाक्यानां कुतो विकलादेशत्वं ? प्रथमेनैव वाक्येन सकलस्य वस्तुनः कथनात् द्वितीयादीनामफलत्वमिति चेत् , तदाप्येकसप्तभंग्या सकलस्य वस्तुनः प्रतिपादनात् परासां सप्तभंगीनामफलत्वं किं न भवेत् ? प्रधानभावेन स्वविषयधर्मसप्तकस्वभावस्यैवार्थस्यैकया सप्तभंग्या प्रकथनात् , स्वगोचरधर्मसप्तकांतराणामपराभिः सप्तभंगीभिः कथनान्न तासामफलत्वमिति चेत्, तर्हि प्रथमेन वाक्येन स्वविषयैकधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रधानभावेन कथनात्

है ही, ''इस एक भंग को भी सकलादेशपना सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि विवक्षित अस्तित्व धर्मकी प्रधानता से शेष बचे हुए अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अभेद वृत्ति या अभेदोपचार से कथन हो जायेगा, तथा 'स्यान्नास्ति' इस एक वाक्य के द्वारा नास्तित्व की प्रधानता से सम्पूर्ण वस्तु का कथन हो जाता है अत: 'कथंचित् नास्ति' यह पद भी सकलादेशी है।

'स्यादवक्तव्यं' कथञ्चित् वस्तु अवक्तव्य है-इस अकेले पद को सकलादेशीपना है-क्योंकि अवक्तव्य की मुख्यता से सम्पूर्ण अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अभेद वृत्ति या अभेद उपचार से कथन हो जाता है। इसी प्रकार कथञ्चित् अस्ति नास्ति रूप क्रम से अर्पित (विवक्षित) उभयात्मक वस्तु की मुख्यता से शेष अनन्त धर्मात्मक वस्तु का कथन हो जाता है। 'कथञ्चित् अस्ति अवक्तव्य है' इस कथन के भी सकलादेशपना है-क्योंकि अस्ति अवक्तव्य की मुख्यता से सर्व अनन्त धर्मात्मक वस्तु का कथन हो जाता है।

कथञ्चित् 'नास्ति अवक्तव्य' इस अकेले वाक्य के भी सकलादेशीपना सिद्ध हो जाता है-क्योंकि नास्ति अवक्तव्य की मुख्यता से सकल अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है।

'कथञ्चित् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' इस वाक्य के भी सकलादेशीपना है क्योंकि अस्ति नास्ति अवक्तव्य की मुख्यता से शेष अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है। इस प्रकार सातों ही वाक्यों के पृथक्-पृथक् विकलादेशपना क्यों नहीं है? अर्थात् विकलादेशीपना भी है।

प्रथम कथित 'स्याद् अस्ति' वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का कथन हो जाने से 'नास्ति' आदि वाक्यों का कथन करना निष्फल हो जाता है।''ऐसा कहने पर तो एक सप्तभंगी के द्वारा सकल वस्तु का प्रतिपादन हो जाने से शेष सप्तभंगियों का कथन करना भी निष्फल क्यों नहीं होगा ?। यदि कहो कि स्वकीय विषयभूत सातों धर्म स्वरूप अर्थ का प्रधान रूप से एक सप्तभंगी के द्वारा कथन किया जाता है तथा स्वकीय विषयभूत अस्ति आदि सप्त धर्मों से पृथक्भूत अन्य एकत्व आदि धर्मों का दूसरी एकत्वादि सप्तभंगी के द्वारा कथन किया जाता है अत: उन अनेक सप्तभंगियों का कथन निष्फल नहीं है अर्थात् एकत्वादि सप्तभंगियाँ स्वकीय नियत धर्मों का मुख्यता से कथन करती हैं तब तो प्रथम वाक्य (स्याद् अस्ति) के द्वारा स्वकीय विषयभूत एक धर्म स्वरूप वस्तु का प्रधान रूप से निरूपण किया गया है और दूसरे (नास्ति) आदि वाक्यों

द्वितीयादिभि: स्वगोचरैकैकधर्मात्मकस्य प्रकाशनात् कुतस्तेषामफलता ? कथं पुनरर्थस्यैकधर्मात्मकत्वं प्रधानं तथा शब्देनोपात्तत्वात् शेषानंतधर्मात्मकत्वमप्येवं प्रधानमस्त्विति चेन्न, तस्यैकतो वाक्यादश्रूयमाणत्वात् । कथं ततस्तस्य प्रतिपत्ति: अभेदवृत्त्याभेदोपचारेण वा गम्यमानत्वात् । तर्हि श्रूयमाणस्येव गम्यमानस्यापि वाक्यार्थत्वात् प्रधानत्वमन्यथा श्रूयमाणस्याप्यप्रधानत्वमिति चेन्न, अग्निर्माणवक इत्यादि वाक्यैक्यार्थेनानैकांतात् । माणवकेग्नित्वाध्यारोपो हि तद्वाक्यार्थो भवति न च प्रधानमारोपितस्याग्नेरप्रधानत्वात्। तत्र तदारोपोपि प्रधानभूत एव तथा शब्देन विवक्षितत्वादिति चेत् , कस्तर्हि गौण: शब्दार्थोस्तु न कश्चिदिति

के द्वारा मुख्यता से निज-निज विषय के एक-एक धर्म स्वरूप वस्तु का कथन किया गया है अत: नास्ति अवक्तव्य आदि छह वाक्यों के भी निष्फलता कैसे हो सकती है? अर्थात् नास्ति आदि छह भंग भी एक-एक विषय को प्रधान रूप से कहते ही हैं।

''अनन्त धर्मस्वरूप अर्थ की एक धर्मात्मकता प्रधान क्यों है ? क्योंकि उस प्रकार शब्द के द्वारा गृहीत शेष बचे हुए अनन्त धर्म भी प्रधान हो सकते हैं।'' जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु का पूर्ण रूप से एक वाक्य के द्वारा कहकर सुनाया जाना नहीं हो सकता अर्थात् द्रव्य कहने पर केवल द्रव्यत्व का निरूपण होता है। वस्तुत्व कहने से वस्तु का, तत्त्व कहने से सत् (अस्तित्व) गुण का, प्रमेय कहने से प्रमेयत्व गुण का श्रोताओं के द्वारा ज्ञान किया जाता है।

प्रश्न : एक धर्म के प्रतिपादक शब्द के द्वारा सर्वांग वस्तु की प्रतिपत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : अभेद वृत्ति या अभेद उपचार से एक शब्द के द्वारा भी पूर्ण वस्तु जान ली जाती है अर्थात् शब्द के द्वारा तो वस्तु का एक अंग ही सुना जाता है क्योंकि एक साथ वस्तु के सम्पूर्ण अंशों के कथन करने की शक्ति शब्दों में नहीं है परन्तु एक शब्द से श्रोता स्वकीय क्षयोपशम के अनुसार अनेक धर्मों को समझ लेता है।

कोई कहता है कि इस प्रकार तो शब्द के द्वारा सुने गये अर्थ के समान व्युत्पत्ति के द्वारा गम्यमान अर्थ के भी वाक्यार्थपना होने से प्रधानत्व प्राप्त हो जायेगा, अन्यथा सुने गये अर्थ के भी प्रधानपना नहीं होगा। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ''अग्निर्माणवक:'' यह बालक अग्नि है, इत्यादि वाक्यों के एक-एक अर्थ के द्वारा व्यभिचार दोष आता है। चंचल बालक में तेजस्विता होने के कारण अग्नित्व का अध्यारोप करना ही उस वाक्य का अर्थ होता है परन्तु वह अर्थ प्रधान नहीं है, क्योंकि आरोपित अग्नि को प्रधानपना प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् शब्द के द्वारा सुना गया अर्थ प्रधान होता है और शेष जान लिया गया अर्थ गौण होता है। ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि बालक में अग्नि शब्द का कथन सुना गया होने पर चंचलता, उष्णता आदि के कारण आरोपित किया गया है अत: अग्नि शब्द आरोपित होने से सुना हुआ होकर भी गौण है।

उस बालक में आरोपित अग्नि शब्द प्रधानभूत है क्योंकि शब्द के द्वारा विवक्षित (कथित) है, तो शब्द का गौण अर्थ क्या है ? शब्द का गौण (अप्रधान) अर्थ कुछ भी नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ''गौण और मुख्य के विषय में विवाद होने पर मुख्य का ही ज्ञान होता है''

चेन्न, गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययवचनात् । घृतमायुरन्नं वै प्राणा इति कारणे कार्योपचारं, मंचाः क्रोशंतीति तात्स्थात्ताच्छब्दोपचारः । साहचर्याद्यष्टिः पुरुष इति, सामीप्याद्वृक्षा ग्राम इति च गौणं शब्दार्थं व्यवहरन् स्वयमगौणः शब्दार्थः सर्वोपीति कथमातिष्ठेत ? न चेदुन्मत्तः । गौण एव च शब्दार्थ इत्यप्ययुक्तं, मुख्याभावे तदनुपपत्तेः । कल्पनारोपितमपि हि सकलं शब्दार्थमाचक्षाणैरगोव्यावृत्तोर्थादर्थो बुद्धिनिर्भासी गोशब्दस्य मुख्योर्थस्ततोन्यो वाहीकादिर्गौण इत्यभ्युपगंतव्यं । तथा च गौणमुख्ययोर्वाक्यार्थयोः सर्वैः शब्दव्यवहारवादिभिरिष्टत्वान्न कस्यचित्तदपह्नवो युक्तोऽन्यत्र वचनानधिकृतेभ्यः । ननु यत्र शब्दादस्खलत्प्रत्ययः

ऐसा कहा गया है अर्थात् गौण और मुख्य दोनों ही अर्थ शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। जैसे "घृत ही आयु है"। "अन्न ही प्राण है।" इन वाक्यों में कारण में कार्य का उपचार किया गया है अर्थात् घृत का सेवन करना दीर्घ आयु का कारण है अतः कारण में आयु रूप कार्य का उपचार किया गया है। अन्न का सेवन प्राणों के स्थिर रहने का कारण है अतः अन्न रूप कारण में प्राणरूप कार्य का उपचार किया गया है।

मंचा (मचान) चिल्लाते हैं। इस वाक्य में तात्स्थ मचान पर बैठे हुए मानव का मचान में आरोपण करके कह दिया जाता है कि मचान चिल्लाते हैं अर्थात्-तात्स्थ तत्रस्थ होने के कारण तत्पना यह आधार का आधेय में आरोप है। जैसे घी का घड़ा, घृत के संयोग से घड़ा घी का कहा जाता है।

किसी वस्तु का साहचर्य से भी आरोपण कर लिया जाता है, जैसे लाठी के साहचर्य से पुरुष को यष्टि (लाठी) कह दिया जाता है। कहीं समीप अर्थ में वस्तु का आरोप कर लिया जाता है, जैसे वृक्ष ही ग्राम है" अर्थात् यहाँ ग्राम के अति समीप होने के कारण वृक्षों में ग्रामपने का उपचार कर लिया जाता है। इस प्रकार शब्द के गौण अर्थ का स्वयं व्यवहार करने वाला वादी 'शब्द के अर्थ सभी प्रधान ही होते हैं,' इस प्रकार की व्यवस्था कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, तथा शब्द का अर्थ मुख्य और गौण दोनों प्रकार का है फिर भी उसको मुख्य ही मानना, गौण स्वीकार नहीं करना, यह पागलपन की चेष्टा है।

"शब्द का अर्थ गौण ही है" यह बौद्ध का कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि मुख्य के अभाव में गौणपना बन नहीं सकता अर्थात् मुख्य अग्नि के होने पर बालक में गौण रूप से अग्नि का आरोपण किया जाता है।

सम्पूर्ण शब्दार्थों को कल्पना आरोपित ही कहने वाले बौद्धों के द्वारा 'अगोव्यावृत्त' (गाय से भिन्न भैंस आदि से व्यावृत्त) गो स्वलक्षण रूपी जो परमार्थ से बुद्धि में प्रतिभासित हो रहा है उसे अवश्य मान लेना चाहिए। क्योंकि गौ शब्द का मुख्य अर्थ तो गाय है। और उससे भिन्न बोझा लादना, सीधापन आदि गौण अर्थ हैं तथा गौण और मुख्य वाक्यार्थ में लोक व्यवहार और शास्त्रीय अर्थ होने के कारण सभी वादियों को वाक्य के गौण तथा मुख्य दो अर्थ इष्ट हो जाते हैं अर्थात् शब्द के मुख्य और गौण दोनों अर्थ होते हैं, अतः गौण और मुख्य अर्थ मे किसी भी अर्थ का अपह्लव (लोप) करना उचित नहीं है। जो वचन बोलने के अधिकारी नहीं हैं (गूंगे, पागल, बालक आदि) उनको छोड़कर सभी वादी, प्रतिवादी को शब्द के मुख्य और गौण दो अर्थ मानना चाहिए।

स मुख्य: शब्दार्थ: श्रूयमाण इव गम्यमानेऽपि यत्र त्वस्खलत् प्रत्यय: स गौणोस्तु ततो न श्रूयमाणत्वं मुख्यत्वेन व्याप्तं गौणत्वेन वा गम्यमानत्वं येन शब्दोपात्त एव धर्मो मुख्य: स्यादपरस्तु गौण इति चेन्न, अस्खलत्प्रत्ययत्वस्यापि मुख्यत्वेन व्याप्त्यभावात् प्रकरणादिसिद्धस्यास्खलत्प्रत्ययस्यापि गौणत्वसिद्धे: प्रतिपत्रा बुभुत्सितं वस्तु यदा मुख्योर्थस्तदा तं प्रति प्रयुज्यमानेन शब्देनोपात्तो धर्म: प्रधानभावमनुभवतीति विशेषानंतधर्मेषु गुणभावसिद्धे: । नन्वस्तु प्रथमद्वितीयवाक्याभ्यामेकैकधर्ममुख्येन शेषानंतधर्मात्मकस्य वस्तुन: प्रतिपत्ति: कथंचिदभिहितप्रकाराश्रयणात्तृतीयादिवाक्यैस्तु कथं सत्त्वस्यैव वानंशशब्दस्य तेभ्योऽप्रतिपत्तेरिति चेन्न, तृतीयाद्वाक्याद् द्वाभ्यामात्मकाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां सहार्पिताभ्यां निष्पन्नस्यैकस्यावक्तव्यत्वस्यानंशशब्दस्य

शंका : जिस अर्थ में शब्द से अस्खलत् (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित) प्रत्यय (ज्ञान) होता है वह अर्थ शब्द का मुख्य वाच्यार्थ (शब्दार्थ) है, तथा शब्द के द्वारा सुने गये अर्थ के समान शब्द के द्वारा जाने गये (गम्यमान) अर्थ में भी यदि अस्खलत् (समीचीन) प्रत्यय (ज्ञान) होता है तो वह भी मुख्य अर्थ माना जाता है, परन्तु शब्द को सुनकर जिस अर्थ में स्खलत् (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय सहित) प्रत्यय (ज्ञान) होता है वह शब्द का अर्थ गौण माना जाता है, अत: शब्द से सुना गयापन मुख्यत्व के साथ व्याप्ति नहीं रखता है, उसी प्रकार अभेदोपचार से वा प्रकरणवश अर्थापत्ति से गम्यमान अर्थ भी गौण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं रखता है, जिससे कि शब्द का गृहीत धर्म मुख्य कहा जावे और शेष दूसरे अर्थ गौण कहे जायें ?

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अस्खलित प्रत्यय की भी मुख्यत्व के साथ व्याप्ति का अभाव है, क्योंकि प्रकरण, योग्यता, आदि से सिद्ध अस्खलत् प्रत्यय के भी गौणत्व की सिद्धि है। समझने वाले शिष्य के द्वारा जिज्ञासा को प्राप्त वस्तु जिस समय मुख्य अर्थ है उस समय वक्ता के द्वारा शिष्य के प्रति प्रयुक्त शब्द के द्वारा कथित धर्म प्रधान का अनुभव करता है (प्रधान कहलाता है) इस प्रकार शेष बचे अनन्त धर्मों में गौण अर्थ सिद्ध है अर्थात् शब्दबोध की प्रक्रिया में लक्षण, उपचार, तात्पर्य, संकेत ग्रहण आदि का लक्ष्य रखना आवश्यक है।

शंका : प्रथम (अस्ति)द्वितीय (नास्ति) वाक्य के द्वारा एक-एक धर्म की मुख्यता से शेष बचे अनन्त धर्मात्मक वस्तु की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है तो होवो (उसमें कोई विवाद नहीं है) परन्तु कथञ्चित् शब्द के द्वारा अभिहित (कथित) प्रकार के आश्रय से होने वाले तृतीय (अवक्तव्य) आदि वाक्यों से निरंश शब्द के द्वारा वाच्य केवल सत्त्व की अप्रतिपत्ति होने से उनकी प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि तीसरे अवक्तव्य से सहार्पित सत्त्व, असत्त्व धर्म से निष्पन्न एक अवक्तव्य की अंशरहित शब्द के द्वारा प्रतीति होती है, अर्थात् प्रथम द्वितीय भंग के समान तृतीय अवक्तव्य धर्म भी अकेला निरंश है, अत: तृतीय अंशरहित अवक्तव्य भी शब्द का वाच्य हो जाता है।

प्रतीतेः। चतुर्थात्ताभ्यामेव क्रमार्पिताभ्यामुभयात्मकत्वस्य द्व्यंशस्य प्रत्ययात्। पंचमात्त्रिभिरात्मभिद्र्व्यंशस्यास्त्यवक्तव्यत्वस्य निर्ज्ञानात्। षष्ठाच्च त्रिभिरात्मभिद्र्व्यंशस्य नास्त्यवक्तव्यत्वस्यावगमात्। सप्तमाच्चतुर्भिरात्मभिस्त्र्यंशस्यास्तिनास्त्यवक्तव्यत्वस्यावबोधात्। न च धर्मस्य सांशत्वेनैकस्वभावत्वे वा धर्मित्वप्रसंगः द्वित्वादिसंख्यायास्तथाभावेपि धर्मत्वदर्शनात्। निरंशैकस्वभावा द्वित्वादिसंख्येति चेन्न, द्वे द्रव्ये इति सांशानेकस्वभावता प्रतीतिविरोधात्। संख्येययोर्द्रव्ययोरनेकत्वात्तत्र तथा प्रतीतिरिति चेत्, कथमन्यत्रानेकत्वे तत्र तथाभावप्रत्ययोतिप्रसंगात्। समवायादिति चेत्, स कोन्योन्यत्र

चतुर्थ वाक्य स क्रम से अर्पित अस्ति नास्ति के द्वारा उभयात्मक (अस्ति नास्ति रूप दो धर्म वाली) दो अंश वाली वस्तु का ज्ञान होता है।

पाँचवें सप्तभंगी वाक्य से तीन धर्मात्मक के द्वारा दो अंश वाले एक अस्ति अवक्तव्य का ज्ञान होता है।

छठे भंग के द्वारा तीन धर्मस्वरूप से नास्ति अवक्तव्य इन अंशों का ज्ञान होता है।

सप्तम वाक्य से चार धर्मों के द्वारा तीन अंश वाले अस्ति नास्ति अवक्तव्य का ज्ञान होता है अर्थात् निरंश शब्द से निरंश का और सांश शब्द से वस्तु के सांश का ज्ञान होता है सप्त भंगों में प्रथम तीन धर्म तो निरंश हैं और अंत के चार भंग सांश होते हैं।

''सांशत्व और अनेक स्वभावत्व स्वीकार करने पर धर्म (चतुर्थ आदि भंग) के धर्मित्व का प्रसंग आयेगा'' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दो, तीन आदि संख्या को उस प्रकार अंश सहित और अनेक स्वभाव वाली होते हुए भी धर्मत्व देखा जाता है।

''दो तीन आदि संख्या निरंश एक स्वभाव वाली हैं। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि दो द्रव्य हैं। इस प्रकार द्वित्व संख्या में अंश सहितपना और अनेक स्वभाव सहितपना की प्रतीति होती है, इसमें विरोध है।

यदि कहो कि संख्या करने योग्य दो द्रव्यों को अनेकपना होने के कारण उन संख्याओं में भी उस संख्या में उस प्रकार के अनेकपन की उपचार से प्रतीति होती है, तो जैनाचार्य कहते हैं कि अन्य द्रव्यों में अनेकत्व होने पर भी उनमें अतिप्रसंग होने से तथाभाव प्रत्यय (इस प्रकार अनेकत्व का ज्ञान) कैसे हो सकेगा ?

यदि समवाय सम्बन्ध से अनेकत्व की प्रतीति मानी जायेगी, तो वह समवाय कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है? तथा जब संख्या और संख्येय में तादात्म्य सम्बन्ध है तब

कथंचित्तादात्म्यादिति । संख्येयवत्कथंचित्तदभिन्नाया: संख्याया: सांशत्वादनेकस्वभावत्वसिद्धे: । एवं स्वभावस्यानेकत्वेपि तद्वतोद्रव्यस्य कथंचित्तदभिन्नस्यैकत्वानेकांशत्वमवक्तव्यत्वस्य सिद्धमंशस्य चानेकत्वेप्येकधर्मत्वमस्त्यवक्तव्यत्वादेरविरुद्धं, तथा श्रुतज्ञानेवभासमानत्वात् तद्बाधकाभावाच्च । त एतेस्तित्वादयो धर्मा जीवादिवस्तुनि सर्वसामान्येन तदभावेन च, विशिष्टसामान्येन तदभावेन, विशिष्टसामान्येन तदभावसामान्येन च, विशिष्टसामान्येन च द्रव्यसामान्येन गुणसामान्येन च धर्मसमुदायेन तद्व्यतिरेकेण च धर्मसामान्यसंबंधेन तदभावेन च धर्मविशेषसंबंधेन तदभावेन च निरूप्यंते । तत्रार्थप्रकरण-संभवलिंगौचित्यदेशकालाभिप्रायगम्य: शब्दस्यार्थ इत्यर्थाद्यनाश्रयणेभिप्रायमात्रवशवर्तिना सर्वसामान्येन च वस्तुत्वेन जीवादिरस्त्येव तदभावेन चावस्तुत्वेन नास्त्येवेति निरूप्यते । तथा श्रुत्युपात्तेन विशिष्टसामान्येन

संख्येय (संख्यावाले) के समान कथञ्चित् संख्येय से अभिन्न संख्या के सांशत्व और अनेक स्वभावत्व की सिद्धि हो जाती है, इस प्रकार स्वभाव के अनेकपना होते हुए भी उस स्वभाव वाले और कथंचित् उस स्वभाव से अभिन्न द्रव्य को एकत्व होने के कारण अवक्तव्य धर्म के एक अंशपना सिद्ध है, और अंश के अनेकपना होने से अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य आदि धर्मों के एक धर्मपना सिद्ध है। इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार द्वादशांग श्रुतज्ञान में प्रतिभासित होते हैं और इस सप्तभंगी की सिद्धि में बाधक प्रमाण का अभाव है।

ये जो अस्तित्व आदि धर्म हैं वे जीवादि वस्तु में सबके सामान्य रूप से और सामान्य के अभाव रूप से कहे जाते हैं। विशिष्ट सामान्य से और उसके अभाव से कहे जाते हैं- अर्थात् सामान्य अस्तित्व छहों द्रव्यों में है परन्तु जीवद्रव्य में अपना अस्तित्व है, पर अजीवादि रूपसे उस सामान्य का अभाव है- जीव में अवस्थित है।

विशिष्ट सामान्य और विशिष्ट सामान्य का अभाव सामान्य से कहा जाता है।

तथा विशिष्ट सामान्य और विशेषण के द्वारा दो भंग बनाये जाते हैं।

सामान्य का सामान्य और विशिष्ट सामान्य के द्वारा दो भंग हो जाते हैं।

द्रव्य सामान्य और गुण सामान्य के साथ दो भंग होते हैं। धर्म का समुदाय और उससे भिन्न कथन करने से दो भंग होते हैं।

धर्म सामान्य का सम्बन्ध और उसके अभाव के द्वारा दो भंग होते हैं।

धर्म का विशेष सम्बन्ध और उसका अभाव रूप कथन करने से दो भंग होते हैं।

इस प्रकार दो-दो भंगों के साथ अनेक प्रकार के सप्त भंग कहे जा सकते हैं।

उपरि कथित नव युगलों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, संभव, लिंग, (हेतु) औचित्य, देश, काल और अभिप्रायों के द्वारा गम्य (जानने योग्य) शब्द का वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार अर्थ (प्रयोजन) आदि के आश्रय के बिना भी अभिप्राय मात्र के वश होकर सर्व सामान्य (सर्व वस्तु में पाया जाने वाला) वस्तु की अपेक्षा जीवादि अस्ति स्वरूप ही हैं, तथा उस सर्व साधारण के अभावरूप तुच्छ अवस्तु की अपेक्षा जीवादिक पदार्थ नहीं है, ऐसा निरूपण किया जाता है, अर्थात् वस्तु सत्ता, आदि व्यापक सामान्य है और उसके विशेष होकर व्याप्य सामान्य जीवत्व पुद्गलत्व आदि है।

अनेक मानव-तिर्यंचों में साधारण रूप से जीवत्व रहता है अत: जीवत्व विशेष रूप होता हुआ भी सामान्य है।

जीवादित्वेनास्ति तत्प्रतियोगिना तदभावेनाजीवादित्वेन नास्तीति च भंगद्वयं। तेनैव विशिष्टसामान्येनास्ति तदभावसामान्येन वस्त्वंतरात्मना सर्वेण सामान्येन नास्तीति च भंगद्वयं, तेनैव विशिष्टसामान्येनास्ति तद्विशेषणमुख्यत्वेन नास्तीति च भंगद्वयं, सामान्येनाविशेषितेन द्रव्यत्वेनास्ति विशिष्टसामान्येन प्रतियोगिनैवाजीवादित्वेन नास्तीति च भंगद्वयं, द्रव्यसामान्येनाविशेषितेनैवास्ति गुणसामान्येन गुणत्वेन स एव नास्तीति च भंगद्वयं, धर्मसमुदायेन त्रिकालगोचरानंतशक्तिज्ञानादिसमितिरूपेणास्ति तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानेन

तथा शब्द के द्वारा कथित और श्रुति (कान) के द्वारा गृहीत विशिष्ट सामान्य जीव आदि की अपेक्षा जीवादिक पदार्थ अस्ति स्वरूप हैं, और उस जीव के प्रतियोगी विशिष्ट सामान्य के अभाव स्वरूप अजीव आदिक अपेक्षा से जीव नास्ति स्वरूप है, अर्थात् विशेष प्रतिष्ठित मानव के होने पर सामान्य जीव का निषेध कर दिया जाता है, इस प्रकार दो भंग होते हैं।

तथा उसी विशिष्ट सामान्य की अपेक्षा जीव है और उस विशिष्ट सामान्य का अभाव रूप है जो दूसरी सर्व वस्तुओं में पाया जाता है, ऐसे अन्य सर्व पदार्थों में रहने वाले सामान्य अस्तित्व की अपेक्षा जीव नास्ति है। इस प्रकार दो भंग होते हैं।

विशिष्ट सामान्य कीं अपेक्षा जीव अस्ति स्वरूप है, और उसके विशेषणों में मुख्य रूप से रहने वाले सामान्य की अपेक्षा जीव नास्ति स्वरूप है, अर्थात् जीवत्व सामान्य की अपेक्षा जीव है क्योंकि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा जीव विशिष्ट है और जीवों की अपेक्षा सामान्य है क्योंकि सभी जीव-जीव हैं तथा तिर्यञ्च, देव आदि विशेषण की अपेक्षा सामान्य विशिष्ट विशेषण की मुख्यता से जीव नास्ति है, ये दो भंग होते हैं।

तथा विशेषों से रहित द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा जीव है और विशेषों से सहित प्रतियोगी स्वरूप अजीव आदि की अपेक्षा जीव नहीं है, ये दो भंग नहीं हैं। (नास्ति की अपेक्षा हैं) अर्थात् जिस समय व्यापक द्रव्यत्व की विवक्षा से जीव अस्ति है और व्याप्य सामान्य अजीवत्व आस्रवत्व आदि की अपेक्षा जीव नास्ति है।

स्वकीय विशेष अंशों से रहित द्रव्य सामान्य की अपेक्षा जीव अस्ति स्वरूप है, और वही जीव गुण के सामान्य गुणत्व की अपेक्षा नास्ति है, ये दो भंग हैं, अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद विवक्षा करने पर द्रव्य, गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं, अत: द्रव्य सामान्य की अपेक्षा जीव अस्ति है, गुण विशेष की अपेक्षा नास्ति है।

त्रिकालवर्त्ती अनन्त ज्ञानादि शक्ति के समूह रूप धर्म समुदाय की अपेक्षा जीव अस्ति स्वरूप है उससे व्यतिरेक (वर्तमानकालीन एक दो गुण वा पर्याय) रूप से उपलंभमान रूप से जीव नास्ति है, ये दो भंग उत्पन्न होते हैं अर्थात् कोई जीव में ज्ञान गुण नहीं मानते हैं कोई अनन्त शक्ति नहीं, उनकी अपेक्षा कथन किया गया है कि जीव अनन्त गुणों का पिण्ड स्वरूप से अस्ति स्वरूप है। एक आदि गुण या आत्मा से भिन्न गुण की अपेक्षा जीव नास्ति स्वरूप है।

रूपेण नास्तीति च भंगद्वयं, धर्मसामान्यसंबंधेन यस्य कस्यचिद्धर्मस्याश्रयत्वेनास्ति तदभावेन कस्यचिदपि धर्मस्यानाश्रयत्वेन नास्तीति च भंगद्वयं, धर्मविशेषसंबंधेन नित्यत्वचेतनत्वाद्यन्यतमधर्मसंबंधित्वेनास्ति तदभावेन तदसंबंधित्वेन नास्तीति च भंगद्वयमित्यनेकधा विधिप्रतिषेधकल्पनया सर्वत्र मूलभंगद्वयं निरूपणीयं। अथास्ति जीव इत्यस्तिशब्दवाच्यादर्थाद्भिन्नस्वभावो जीवशब्दवाच्योर्थः स्यादभिन्नस्वभावो वा ? यद्यभिन्नस्वभावस्तदा तयोः सामानाधिकरण्यविशेषत्वाभावो घटकुटशब्दवत् तदन्यतराप्रयोगश्च, तद्वदेव विपर्ययप्रसंगो वा । सर्वद्रव्यपर्यायविषयास्तिशब्दवाच्यादभिन्नस्य च जीवस्य सर्वद्रव्यपर्यायात्मकत्वप्रसंगः

धर्मों के सामान्य सम्बन्ध से जिस किसी भी धर्म के आश्रय से जीव अस्ति स्वरूप है तथा धर्म सामान्य के अभाव की अपेक्षा और जिस किसी धर्म के आश्रय से रहित की अपेक्षा जीव नास्ति स्वरूप है, इस प्रकार ये दो भंग होते हैं अर्थात् सामान्यतः सम्पूर्ण धर्मों के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध है अतः कथञ्चित् अनन्त धर्मों का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने से जीव अनन्त धर्मों के आश्रय स्वरूप है (अस्ति) किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से रहित धर्म (गुण) का आश्रय जीव नहीं है।

किसी धर्म विशेष सम्बन्ध के द्वारा नित्यत्व, चेतनत्व, अमूर्त्तत्व, कर्तृत्व, आदि धर्मों में से किसी एक धर्म के सम्बन्ध से जीव अस्तिस्वरूप है और धर्म सम्बन्ध के अभाव में नित्यत्व आदि का सम्बन्ध न होने से जीव नास्ति स्वरूप है अर्थात् नित्यत्वादि धर्म की अपेक्षा जीव अस्ति रूप है और अनित्यत्व आदि धर्म की अपेक्षा जीव नास्ति स्वरूप है, ये दो भंग होते हैं।

इस प्रकार अनेक प्रकार से विधि और निषेधों की कल्पना करके सम्पूर्ण पदार्थों से सात भंगों के मूलभूत दो भंगों का कथन कर लेना चाहिए।

"जीव अस्ति है" इस प्रथम वाक्य में अस्तित्व का अर्थ सत्ता है। इस अस्ति शब्द वाच्य अर्थ से जीव शब्द वाच्य अर्थ अभिन्न स्वभाव है कि भिन्न स्वभाव है ? यदि अस्ति शब्द वाच्य अर्थ जीव से अभिन्न स्वभाव है तो उन जीव और अस्ति में विशेषता के साथ होने वाले समान अधिकरण विशेषत्व का अभाव हो जायेगा। जैसे घट और कुट शब्द में सर्वथा अभेद होने के कारण समानाधिकरणता नहीं है, कथञ्चित् भिन्न पदार्थों में समानाधिकरणता होती है।

यदि जीव और अस्ति दोनों अभिन्न हैं तो दो पदों में से एक ही का प्रयोग नहीं करना चहिए अर्थात् जैसे पर्यायवाची घट या कलश शब्दों में एक का प्रयोग नहीं किया जाता है। अथवा उसी के समान विपर्यय हो जाने का प्रसंग आता है, अर्थात् जैसे घट के बदले में कुट शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और कुट के बदले में घट का, उसी प्रकार 'जीव' को कहने के लिए अस्ति का और 'अस्ति' को कहने के लिए जीव का प्रयोग करने का प्रसंग आयेगा। जीव को कहने के लिये संभाव्य सत्तावाचक अस्ति शब्द कह दिया जायेगा। और सत्ता को कहने के लिये जीव शब्द का प्रयोग किया जायेगा।

यदि सम्पूर्ण पर्याय और द्रव्यों का विषय करने वाले अस्ति शब्द के वाच्य सत्ता से जीव को अभिन्न स्वीकार किया जायेगा तो जीव का सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों के साथ तदात्मक होने का प्रसंग आयेगा। (यह

सर्वद्रव्यपर्यायाणां वा जीवत्वमिति संकरव्यतिकरौ स्यातां। यदि पुनरस्तिवाच्यादर्थाद्भिन्न एव जीवशब्दवाच्योर्थः कल्प्यते तदा जीवस्यासद्रूपत्वप्रसंगोस्तिशब्दवाच्यादर्थाद्भिन्नत्वात् खरशृंगवत् विपर्ययप्रसंगात्। जीववत्सकलार्थेभ्योभिन्नस्यास्तित्वस्याभावप्रसक्तिरनाश्रयत्वात्। तस्य जीवादिषु समवायाददोषोऽयमितिचेन्न, समवायस्य सत्त्वादिभन्नस्यासद्रूपत्वात् स तद्वतोः सम्बन्धत्वविरोधात्। न च समवाये सत्त्वस्य समवायान्तरमुपपन्नं अनवस्थानुषंगात् स्वयं तथानिष्टेश्च। तत्र तस्य विशेषणाभावाददोष इति चेत् सोपि विशेषणाभावः संबंधो यदि सत्त्वाद्भिन्नस्तदा न सद्रूप इति खरविषाणवत्कथं संबंधः ?

संकर दोष है)। इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जीवपना प्राप्त होगा। वह व्यतिकर दोष है। अर्थात् इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों के युगपत् तदात्मक प्राप्ति स्वरूप संकर दोष और परस्पर में विषय के परिवर्तन रूप व्यतिकर दोष आयेगा।

यदि अस्ति के वाच्य अर्थ से जीव शब्द का वाच्य अर्थ भिन्न ही कल्पित किया जायेगा तो अस्ति शब्द के वाच्य अर्थ सद्रूप से भिन्न होने के कारण जीव को गधे के सींग के समान असत् स्वरूप हो जाने का प्रसंग आयेगा अर्थात् जो अस्ति शब्द का विषय नहीं है, अस्ति से सर्वथा भिन्न है, वह असत् स्वरूप है। तथा विपरीतता का प्रसंग आता है अर्थात् सत्ता वाले कितने ही चेतन पदार्थ जीव रूप नहीं हो सकेंगे।

जीव के समान सम्पूर्ण पदार्थों से अस्तित्व को यदि भिन्न माना जायेगा तो अस्तित्व के भी अभाव का प्रसंग आयेगा क्योंकि अस्तित्व गुण आश्रय के बिना रह नहीं सकता।

'अस्तित्व का जीव आदिकों में समवाय सम्बन्ध हो जाने से कोई दोष (अनाश्रय का दोष) नहीं आ सकता अर्थात् समवाय सम्बन्ध से अस्तित्व का पदार्थों में सम्बन्ध हो जाता है अतः पदार्थों से भिन्न भी अस्तित्व स्थित रहता है। 'अनाश्रय दोष नहीं आता है,' ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि सत्ता, जाति से सर्वथा भिन्न होने के कारण समवाय सम्बन्ध भी असद् रूप ही है अर्थात् सत् और असत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता तथा सत् और असत् के मध्य में रहने वाले को समवाय सम्बन्धपने का विरोध भी है। समवाय में अस्तित्व का सम्बन्ध दूसरे समवाय से मानना भी युक्त नहीं है क्योंकि उसमें अनवस्था दोष आता है तथा वैशेषिकों ने सत्ता का समवाय में समवायान्तर से सम्बन्ध मानना इष्ट भी नहीं किया है।

''उस समवाय में उस सत्ता का विशेषणता सम्बन्ध है। इसलिए अनवस्था दोष नहीं है'' इस प्रकार वैशेषिक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वह विशेषणता सम्बन्ध भी यदि सत्ता से भिन्न है तब तो सत्स्वरूप नहीं हो सकता। अतः गधे के सींग के समान असत् रूप विशेषणता का समवाय के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है। अर्थात् दो में रहने वाला सम्बन्ध भाव पदार्थ में ही हो सकता है ? अभाव रूप पदार्थ में नहीं।

परस्माद्विशेषणीभावात्सत्त्वस्य प्रथमविशेषणीभावे यद्यसद्रूपत्वाभावस्तदा सैवानवस्था तत्रापि सत्त्वस्यभिन्नस्यान्यविशेषणीभावकल्पनादिति न किंचित्सन्नाम। सत्त्वाद्भिन्नस्य सर्वस्य स्वभावस्यासद्रूपत्वप्रसिद्धेरिति । सर्वथैकान्तवादिनामुपालम्भो न स्याद्वादिनामस्ति शब्दवाच्यादर्थाज्जीवशब्दवाच्यस्यार्थस्य कथंचिद् भिन्नत्वोपगमात् । तथैव वाचित्यप्रतीतिसद्भावाच्च पर्यायार्थादेशाद्धि भवनजीवनयो: पर्याययोरस्तिजीवशब्दाभ्यां वाच्ययो: प्रतीतिविशिष्टतया प्रतीतेर्भेद: द्रव्यार्थादेशात्तु तयोरव्यतिरेकादेकतरस्य ग्रहणेनान्यतरस्य ग्रहणादभेद: प्रतिभासत इति न विरोध: संशयो वा तथा निश्चयात् । तत एव न संकरो व्यतिकरो वा, येन रूपेण जीवस्यास्तित्वं तेनैव नास्तित्वानिष्टे: येन च नास्तित्वं तेनैवास्तित्वानुपगमात् तदुभयस्याप्युभयात्मकत्वानास्थानाच्च । न चैवमेकांतोपगमे कश्चिद्दोष: सुनयार्पितस्यैकांतस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणार्पितस्यास्तित्वानेकांतस्य प्रसिद्धे: ।

दूसरे विशेषणी भाव सम्बन्ध से पूर्व वाले विशेषणी भाव सम्बन्ध में सत्ता का अस्तित्व मान कर असद्रूपता का अभाव हो जाता है, ऐसा वैशेषिक कहेंगे तब तो वही अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि दूसरे विशेषणीभाव को सत् बनाने के लिए तीसरे विशेषणी भाव से सत्ता रखनी पड़ेगी। इस प्रकार परम्परा का अभाव न होने से अनवस्था दोष आयेगा। इस प्रकार कोई भी पदार्थ सत् रूप नहीं हो सकता क्योंकि सत्ता से भिन्न सर्व स्वभावों को असद्रूपता की प्रसिद्धि है। इसलिए वैशेषिक के द्वारा कथित उपालंभ एकान्त वादियों के ही हो सकता है स्याद्वादियों के प्रति यह उलाहना नहीं आ सकता क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में तो अस्ति शब्द के द्वारा वाच्य सत्ता रूप अर्थ से जीव शब्द के द्वारा वाच्य प्राणी अर्थ का कथञ्चित् भेद स्वीकार करते हैं तथा इस प्रकार तर्क के अगोचर भेदाभेदात्मक गुण, गुणी की प्रतीति का सद्भाव पाया जाता है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अस्ति शब्द के द्वारा वाच्य भवन (सत्ता) और जीव शब्द के द्वारा कथित जीवन रूप पर्यायों की विशिष्टता (विलक्षणता) प्रतीति होने के कारण दोनों पर्यायों में प्रतीति भेद है अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अस्तित्व और जीवत्व में भेद है परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीवत्व और अस्तित्व में अव्यतिरेक (अभेद) होने के कारण दोनों में से किसी एक का ग्रहण करने पर दूसरे का ग्रहण हो ही जाता है अत: पर्याय पर्यायी में, गुण गुणी में, अस्तित्व और जीवत्व में अभेद प्रतिभास हो रहा है अत: स्याद्वाद में कोई विरोध नहीं है। तथा इनमें पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण गुणी में भेदाभेदात्मक प्रतीति का निश्चय होने से संशय भी नहीं है। तथा इस अनेकान्त सिद्धान्त में संकर, व्यतिकर दोष भी नहीं है क्योंकि जिस रूप से जीव का अस्तिपना सिद्ध है, उसी स्वभाव से नास्तिपना इष्ट नहीं है, और जिस स्वभाव से वस्तु का अस्तिपना है उस स्वभाव से नास्तिपना स्वीकार नहीं किया गया है इसलिए संकर दोष नहीं है।

तथा भेद और अभेद इन दोनों का उभयात्मकपना भी सर्वथा व्यवस्थित नहीं है। इसलिए परस्पर मे विषय का परिवर्तन न होने के कारण इनमें व्यतिकर दोष भी नहीं है। तथा अनवस्था दोष, वैयाधिकरण दोष, अप्रतिपत्ति दोष, अभावदोष तो स्याद्वाद सिद्धान्त में आ नहीं सकते क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में सर्वथा एकान्तवाद का परित्याग है।

येनात्मनानेकांतस्तेनात्मनानेकांत एवेत्येकांतानुषंगोपि नानिष्ट: प्रमाणसाधनस्यैवानेकांतत्वसिद्ध: नयसाधनस्यैकांतत्वव्यवस्थितेरनेकांतोप्यनेकांत इति प्रतिज्ञानात् ।। तदुक्तं । ''अनेकांतोप्यनेकांत: प्रमाणनयसाधन: । अनेकांत: प्रमाणात्ते तदेकांतार्पितान्नयात्'' इति । न चैवमनवस्थानेकांत-स्यैकांतापेक्षित्वेनैवानेकांतत्वव्यवस्थिते: एकांतस्याप्यनेकांतापेक्षितयैवैकांतव्यवस्थानात् । न चेत्थमन्योन्याश्रयणं, स्वरूपेणानेकांतस्य वस्तुन: प्रसिद्धत्वेनैकांतानपेक्षत्वादेकांतस्याप्यनेकांतानपेक्षत्वात्। तत एव तयोरविनाभावस्यान्योन्यापेक्षया प्रसिद्धे: कारकज्ञापकादिविशेषवत् । तदुक्तं । ''धर्मधर्म्यविनाभाव: सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया । न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्कारकज्ञापकांगवत् ॥'' इति । किं चार्थाभिधानप्रत्यायनात्

जिस रूप से अस्तित्व है उस स्वरूप से अस्तित्व ही है, जिस स्वरूप से नास्तित्व है उस स्वरूप से नास्तित्व ही है इस एकान्तवाद में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि सुनय से विवक्षित एकान्त की समीचीन रूप से स्थिति (सिद्धि) है और प्रमाण से विवक्षित अस्तित्व के अनेकान्त की प्रसिद्धि है क्योंकि जिस रूप से अनेकान्त है उस रूप से अनेकान्त ही है, इस प्रकार के एकान्त का प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है क्योंकि प्रमाण के द्वारा सिद्ध किये गये विषय में एकान्तपना विवक्षित या व्यवस्थित है। स्याद्वाद सिद्धान्त में अनेकान्त भी अनेकान्त (एकान्त नहीं) है। सो ही **समन्तभद्र आचार्य** ने कहा है कि जिनदेव ! अनेकान्त भी प्रमाण और नय के द्वारा सिद्ध किया गया तत्त्व अनेक धर्म स्वरूप है। सर्वथा अनेकान्त नहीं है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त व्यवस्थित है और विवक्षित नय की अपेक्षा से एकान्त व्यवस्थित है। इस अनेकान्त के कथन में अनवस्था दोष नहीं है क्योंकि अनेक धर्मों का समुदाय रूप अनेकान्त एकान्त की अपेक्षा रखता है, और एकान्त अनेकान्त की अपेक्षा से व्यवस्थित है। स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार इस कथन में अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं है क्योंकि **वस्तु में नय दृष्टि से एकान्त और प्रमाण दृष्टि से अनेकान्त अपने स्वभाव से सिद्ध है।**

निजस्वरूप से वस्तु की प्रसिद्धि हो जाने से अनेकान्त के स्वरूप-लाभ में एकान्त की अपेक्षा नहीं है-और न स्वकीय स्वरूप लाभ में एकान्त को अनेकान्त की अपेक्षा है परन्तु व्यवहार में वस्तु के स्वरूप की सिद्धि में एकान्त अनेकान्त के परस्पर में अविनाभाव की प्रसिद्धि है अर्थात् एकान्त (नय) के बिना अनेकान्त (प्रमाण) की सिद्धि नहीं होती और अनेकान्त के बिना एकान्त की सिद्धि नहीं होती क्योंकि इन दोनों में अविनाभाव सिद्ध है। जैसे कारक हेतु, ज्ञापक हेतु आदि विशेष पदार्थ अविनाभाव से युक्त हैं।

अर्थात् कारक हेतु के बिना ज्ञापक हेतु नहीं रह सकता। कारक हेतु अग्निके बिना ज्ञापक हेतु धूम नहीं रह सकता। सो ही **समन्तभद्राचाय** ने **देवागम स्तोत्र** में कहा है-धर्म और धर्मी का अविनाभाव परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है परन्तु उनका स्वरूप लाभ परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता है। यह स्वयं अपने कारणों से निष्पन्न होता है जैसे कारक हेतुओं के कर्ता, कर्म रूप अंग या ज्ञापक हेतुओं के बोध्य, बोधक अंग परस्पर की अपेक्षा रखने वाले नहीं हैं।

तुल्यनामत्वात्तदन्यतमस्यापह्नवे सकलव्यवहारविलोपात्तेषां भ्रांतत्वैकांते कस्यचिदभ्रांतस्य तत्त्वस्याप्रतिष्ठितेरवश्यं परमार्थसत्त्वमुरीकर्तव्यं। तथा चार्थाभिधानप्रत्ययात्मना स्यादस्त्येव जीवादिस्तद्विपरीतात्मना तु स एव नास्तीति भंगद्वयं सर्वप्रवादिनां सिद्धमन्यथा स्वेष्टतत्त्वाव्यवस्थिते: । तथा चोक्तं । "सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।" इति कथमवक्तव्यो जीवादि:? द्वाभ्यां यथोदितप्रकाराभ्यां प्रतियोगिभ्यां धर्माभ्यामवधारणात्मकाभ्यां युगपत्प्रधाननयार्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनो भवित्सायां तादृशस्य शब्दस्य प्रकरणादेश्चासंभवादिति केचित् । तत्र कोयं गुणानां युगपद्भावो नामेति

भावार्थ : एकान्त और अनेकान्त का अविनाभाव से रहना तो परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से है परन्तु उनकी निष्पत्ति स्वकारणों से होती है जैसे कर्त्तापन कर्मत्व की अपेक्षा से है, और कर्मत्व कर्त्ता की अपेक्षा से है अत: कर्त्तापन और कर्मत्व का व्यवहार परस्पर सापेक्ष है, कर्त्ता और कर्म का स्वस्वरूप परस्पर सापेक्ष नहीं है। ऐसे ही प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप तो स्वकीय-स्वकीय कारणों से स्वत: सिद्ध है परन्तु उनका ज्ञाप्य और ज्ञापक व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से है इसी प्रकार अस्ति आदि में भी समझना चाहिए।

अथवा अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीन समान नाम वाले हैं अत: उन तीनों में से यदि एक का भी लोप किया जाता है तो सम्पूर्ण लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारों का भी लोप हो जाता हैं। यदि इन तीनों को भ्रान्त एकान्त स्वीकार किया जाता है तो किसी भी अभ्रांत वस्तुभूत तत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अत: इन तीनों का वास्तविक रूप से सद्भाव स्वीकार करना चाहिए।

उसी प्रकार अर्थ, शब्द और ज्ञान रूप से जीव आदिक कथञ्चित् अस्ति स्वरूप हैं, उस अस्ति से विपरीत (नास्ति रूप) जीवादिक नहीं हैं अर्थात् अज्ञान स्वरूप जीवादि नहीं हैं। इस प्रकार दो भंग सर्व प्रवादियों के सिद्ध हैं। अन्यथा (स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति और पर.चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति के बिना) स्व इष्ट तत्त्व की व्यवस्थिति नहीं हो सकती। सो ही **समन्तभद्राचार्य** ने **देवागम स्तोत्र** में कहा है कि- **ऐसा कौन वादी और प्रतिवादी है जो सम्पूर्ण द्रव्यों को स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिस्वरूप और विपरीत (परचतुष्टय) की अपेक्षा नास्ति रूप स्वीकार नहीं करता है क्योंकि अस्ति और नास्ति के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।**

शंका : जीवादि पदार्थ अवक्तव्य (शब्द के द्वारा नहीं कहने योग्य) कैसे हैं? यदि कहो कि यथोदित प्रकार से पूर्व कथित अवधारणा स्वरूप परस्पर में एक दूसरे के प्रतियोगी तथा एक ही समय में एक साथ प्रधान नय की विवक्षा से कथन करने के लिए अर्पित (विवक्षित) अस्ति नास्ति दोनों धर्मों से युक्त वस्तु को जानने की इच्छा होने पर उस वस्तु के वाचक शब्द की तथा प्रकरण आदि की असम्भवता होने से 'अवक्तव्य' भंग कहा जाता है, ऐसा कोई कहते हैं तब तो वह गुणों का युगपद् भाव (एक साथ कथन करने की इच्छा) क्या है ? इसका स्याद्वादियों को विचार करना चाहिए।

चिंत्यं। कालाद्यभेदवृत्तिरिति चेत् न, परस्परविरुद्धानां गुणानामेकत्र वस्तुन्येकस्मिन् काले वृत्तेरदर्शनात् सुखदु:खादिवत् । नाप्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिस्तेषां युगपद्भावस्तदात्मरूपस्य परस्परविभक्तत्वात्तद्वत् । न चैकद्रव्याधारतया वृत्तिर्युगपद्भावस्तेषां भिन्नाधारतया प्रतीतेः शीतोष्णस्पर्शवत्। संबंधाभेदो युगपद्भाव इत्यप्ययुक्तं, तेषां संबंधस्य भिन्नत्वाद्देवदत्तस्य छत्रदंडादिसंबंधवत् समवायस्याप्येकत्वाघटनाद्भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुत्वात् संयोगवत् । न चोपकाराभेदस्तेषां युगपद्भावः प्रतिगुणमुपकारस्य भिन्नत्वान्नीलपीताद्यनुरंजनवत् पटादौ। न चैकदेशो गुणिनः सम्भवति निरंशत्वोपगमात्। यतो गुणिदेशाभेदो युगपद्भावो गुणानामुपपद्येत। न तेषामन्योन्यं संसर्गो युगपद्भावस्तस्यासंभवादासंसृष्टरूपत्वाद्गुणानां

''काल, आत्मस्वरूप आदि से अभेद वृत्ति हो जाना गुणों का युगपत् भाव है'' ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि परस्पर विरुद्ध अस्ति, नास्ति, आदि गुणों का एक वस्तु में एक समय रहना दृष्टिगोचर नहीं होता है-जैसे सुख दु:ख दोनों एक साथ नहीं रहते हैं।

आत्मस्वरूप से अभेद वृत्ति होना भी उन गुणों का युगपद् भाव नहीं है क्योंकि उन विरुद्ध गुणों का आत्मस्वरूप भी परस्पर में पृथक्-पृथक् है अर्थात् जैसे सुख का आत्मस्वरूप निराकुलता है-और दु:ख का आत्मस्वरूप व्याकुलता है।

एक द्रव्यरूप आधार के आधेय होकर रहना भी युगपद् भाव नहीं है-क्योंकि शीत और उष्ण स्पर्श के समान भिन्न-भिन्न आधार से उन धर्मों की प्रतीति होती है।

''सम्बन्ध का अभेद होना गुणों का युगपद् भाव है,'' यह कहना भी युक्ति रहित है। क्योंकि उन गुणों का स्वकीय सम्बन्ध भिन्न-भिन्न है। जैसे देवदत्त का छतरी, दण्ड, अंगूठी आदि के साथ सम्बन्ध पृथक्-पृथक् है।

समवाय सम्बन्ध भी एक होकर घटित नहीं होता है क्योंकि संयोग सम्बन्ध के समान समवाय सम्बन्ध भी भिन्न शब्द, भिन्न ज्ञान और भिन्न-भिन्न कार्यों का हेतु होने के कारण अनेक हैं अर्थात् जैसे संयोग सम्बन्ध अनेक हैं-वैसे समवाय सम्बन्ध भी अनेक हैं। जैसे चौकी, कपड़ा आदि का संयोग भिन्न-भिन्न है-वैसे आत्मा के ज्ञानादि गुणों का तथा पुद्गल के रूपादि गुणों का समवाय सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न ही है।

उपकार द्वारा अभेद होना भी उन गुणों का युगपद् भाव नहीं है-क्योंकि प्रत्येक गुण का उपकार भी भिन्न-भिन्न है। जैसे वस्त्र आदि में नील, पीत आदि रंग से अनुरंजित रंग का उपकार भिन्न-भिन्न है अर्थात् नीले रंग से नीलत्व और पीले रंग से पीतत्व आदि उपकार भिन्न-भिन्न होता है तथा गुणी निरंश है-अतः गुणी का एकदेश होना संभव नहीं है। इसलिए गुणी देश का अभेद होना भी गुणों का युगपद् भाव नहीं है।

गुणों का परस्पर में संसर्ग होना भी युगपत् भाव नहीं है। क्योंकि गुणों में संसर्ग की संभवता नहीं है। जैसे शुक्ल, कृष्ण आदि के समान गुण परस्पर में एक दूसरे से मिले हुए नहीं हैं। यदि उन गुणों का परस्पर में सम्बन्ध होता तो गुणों में भेद होने का विरोध होता है।

शुक्लकृष्णादिवत् तत्संसर्गे गुणभेदविरोधात्। न च शब्दाभेदो युगपद्भावो गुणानां भिन्नशब्दाभिधेयत्वान्नीलादिवत्। ततो युगपद्भावात् सदसत्त्वादिगुणानां न तद्विवक्षा युक्ता यस्यामवक्तव्यं वस्तु स्यात् इत्येकांतवादिनामुपद्रवः, स्याद्वादिनां कालादिभिरभेदवृत्तेः परस्परविरुद्धेष्वपि गुणेषु सत्त्वादिष्वेकत्र वस्तुनि प्रसिद्धेः प्रमाणे तथैव प्रतिभासनात् स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया विरोधाभावात्। केवलं युगपद्वाचकाभावात्सदसत्त्वयोरेकत्रावाच्यता सत्तामात्रनिबंधनत्वाभावाद्वाच्यतायाः। विद्यमानमपि हि सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यं तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात् तथैवासदित्यभिधानेन तद्वक्तुमशक्यं तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात्। सांकेतिकमेकपदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यं, तस्यापि

शब्दों का अभेद होना भी गुणों का युगपत् भाव नहीं है, क्योंकि नील, पीत आदि के समान अस्ति नास्ति आदि गुण भी भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा कहे जाते हैं। इसलिये सत्त्व असत्त्व आदि गुणों के युगपत् भाव से उनकी विवक्षा करना युक्तिसंगत नहीं है। जिस विवक्षा के होने पर वस्तु अवक्तव्य सिद्ध हो सकती हो। अर्थात् वस्तु अवक्तव्य सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि गुणों की युगपत् कहने की विवक्षा होना विरोध होने के कारण सिद्ध नहीं है।

इस प्रकार की **शंका के प्रत्युत्तर में** जैनाचार्य कहते हैं कि-इस प्रकार एकान्तवादियों के द्वारा दिया गया उपद्रव वा उलाहना स्याद्वादियों के प्रति लागू नहीं हो सकता क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध सत्त्व, असत्त्व आदि गुणों में काल आदि के द्वारा अभेद वृत्ति का होना प्रसिद्ध है क्योंकि प्रमाण ज्ञान में इस प्रकार का प्रतिभास हो रहा है तथा स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व का और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व का एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। (विरोध का अभाव है) केवल एक साथ (युगपत्) सत्त्व और असत्त्व इन दोनों गुणों के एक वस्तु में वाचकता (कथन करने) का अभाव होने से अवाच्य (अवक्तव्य) कह दिया जाता है। वा अवक्तव्य धर्म माना जाता है। वाच्यता केवल धर्मी की सत्ता के आधीन ही नहीं है अर्थात् जगत् के सारे पदार्थ वचन के द्वारा कथन करने योग्य ही हैं-ऐसा कोई नियम नहीं है।

कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो वचनों के द्वारा कहे नहीं जा सकते अतः वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों गुण एक साथ विद्यमान हैं- तथापि एक वस्तु में एक समय में युगपत् सत् शब्द के द्वारा दोनों धर्मों का कथन करना अशक्य है तथा असत्-नास्ति शब्द के द्वारा भी सत्त्व और असत्त्व ये दोनों धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते क्योंकि असत्त्व धर्मशब्द सत्त्व धर्म को समझाने में समर्थ नहीं है और सत्त्व धर्मशब्द असत्त्व का कथन करने में समर्थ नहीं है।

सांकेतिक (संकेत करने वाला) एक पद दोनों परस्पर विरोधी धर्मों को एक साथ कहने में समर्थ है-ऐसा भी कहना सत्य (उचित) नहीं है क्योंकि सांकेतिक पदके भी क्रम से ही दोनों अर्थों को समझाने का सामर्थ्य है अर्थात् शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य विषय में क्रम से ही प्रवृत्ति होती है। जैसे आकाश, वाणी, इन्द्रियाँ आदि अनेक अर्थों का वाचक 'गो' शब्द है- परन्तु वह एक साथ अनेक अर्थों का संकेत करके भी एक साथ सर्व अर्थों का कथन नहीं कर सकता, अपितु क्रम से ही ज्ञान करा सकता है।

क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः । तौ सदिति शतृशानयोः संकेतितसच्छब्दवत् द्वंद्ववृत्तिपदं तयोः सकृदभिधायकमित्यनेनापास्तं, सदसत्त्वे इत्यादिपदस्य क्रमेण धर्मद्वयप्रत्यायनसमर्थत्वात् । कर्मधारयादिवृत्तिपदमपि न तयोरभिधायकं, तत एव प्रधानभावेन धर्मद्वयप्रत्यायने तस्यासामर्थ्याच्च । वाक्यं तयोरभिधायकमनेनैवापास्तमिति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपत्सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रांतं व्यवतिष्ठते तच्च न सर्वथैवावक्तव्यमेव शब्देनास्य वक्तव्यत्वादित्येके । ते च पृष्टव्याः। किमभिधेयमवक्तव्यशब्दस्येति ? युगपत्प्रधानभूतसदसत्त्वादिधर्मद्वयाक्रान्तं वस्त्विति चेत् , कथं तस्य सकलवाचकरहितत्वं ? अवक्तव्यपदस्यैव तद्वाचकस्य सद्भावात् । यथा वक्तव्यमिति पदं सांकेतिकं

इस प्रकार 'तौ सत्' इस व्याकरण सूत्र के अनुसार 'शतृ और शानच्' इन दो प्रत्ययों में संकेत किये गये 'सत्' शब्द के समान द्वन्द्व समास वृत्ति से निष्पन्न पद 'सत्त्वासत्त्व' का एक शब्द के द्वारा एक साथ कथन कर देगा इसका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि द्वन्द्व समास के द्वारा निष्पन्न सत्त्वासत्त्व (अस्तिनास्ति) इत्यादि पद के भी क्रम से ही दो धर्मों को समझाने का, कथन करने का सामर्थ्य है। एक साथ दो धर्मों के कथन करने का सामर्थ्य नहीं है।

इसी प्रकार कर्मधारय, बहुब्रीहि आदि समास से निष्पन्न पद भी दो धर्मों का एक साथ कथन करने वाले नहीं हैं। क्योंकि प्रधान रूप से दो धर्मों का एक साथ कथन करने के सामर्थ्य का उस पद में अभाव है अर्थात् कोई भी एक पद युगपत् दोनों धर्मों का वाचक नहीं है अतः उन दो धर्मों का एक साथ वाचक कोई वाक्य संभव है, इसका भी इस कथन से खण्डन कर दिया है।

युगपत् (एक साथ) प्रधान रूप से अर्पित (विवक्षित) सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों से आक्रान्त (व्याप्त) अवक्तव्य वस्तु सम्पूर्ण वाचक शब्दों से रहित होने से सर्वथा अवक्तव्य ही व्यवस्थित है, ऐसा नहीं है क्योंकि अवक्तव्य शब्द के द्वारा अवक्तव्य वस्तु का कथन किया जा रहा है अर्थात् वस्तु 'अवक्तव्य' है यह कहा जाता है। ऐसा कोई प्रतिवादी कह रहा है। जैनाचार्य उससे पूछते हैं कि अवक्तव्य शब्द का अभिधेय (वाच्यार्थ) क्या है ? यदि कहो कि युगपत् प्रधानभूत सत्त्व, असत्त्व, नित्य, अनित्य आदि दो धर्मों से व्याप्त वस्तु अवक्तव्य शब्द का वाच्यार्थ है तब तो उस वस्तु के सकल वाचक शब्दों से रहितपना कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि उस वस्तु के वाचक अवक्तव्य शब्द का सद्भाव पाया जाता है। जिस प्रकार एक काल में दो विरुद्ध धर्मों से व्याप्त वस्तु का वाचक अवक्तव्य पद सांकेतिक है अर्थात् अवक्तव्य पद दो धर्मों का एक साथ संकेत कर रहा है ; उसी प्रकार अन्य शब्द भी उसके वाचक क्यों नहीं होंगे। यदि कहो कि अन्य पद युगपत् दो धर्मों से आक्रान्त वस्तु का क्रम से ज्ञान करा सकते हैं- युगपत् नहीं, तब तो अवक्तव्य पद भी वस्तु का वाचक नहीं हो सकता।

तस्य वाचकं तथान्यदपि किं न भवेत् ? तस्य क्रमेणैव तत्प्रत्यायकत्वादिति चेत् , तत एवावक्तव्यमितिपदस्य तद्वाचकत्वं माभूत् । ततोपि हि सकृत्प्रधानभूतसदसत्त्वादिधर्माक्रांतं वस्तु क्रमेणैव प्रतीयते सांकेतिकपदांतरादिव विशेषाभावात् वक्तव्यत्वाभावस्यैवैकस्य धर्मस्यावक्तव्यपदेन प्रत्यायनाच्च न तथाविधवस्तुप्रत्यायनं सुघटं येनावक्तव्यपदेन तद्व्यक्तमिति युज्यते । कथमिदानीं ''अवाच्यतैकांतेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते'' इत्युक्तं घटते ? सकृद्धर्मद्वयाक्रान्तत्वेनेव सत्त्वाद्येकैकधर्मसमाक्रांतत्वेनाप्यवाच्यत्वे वस्तुनो वाच्यत्वाभाव-धर्मेणाक्रांतस्यावाच्यपदेनाभिधानं न युज्यते इति व्याख्यानात् । येन रूपेणावाच्यं तेनैव वाच्यमवाच्यशब्देन वस्त्विति व्याचक्षाणो वस्तु येनात्मना सत् तेनैवासदिति विरोधान्नोभयैकात्म्यं वस्तुन इति कथं व्यवस्थापयेत्? सर्वत्र स्याद्वादन्यायविद्वेषितापत्तेः। ततो वस्तुनि मुख्यवृत्त्या समानबलयोः सदसत्त्वयोः परस्पराभिधानव्याघातेन

क्योंकि उस अवक्तव्य शब्द के द्वारा भी युगपत् (एक साथ) प्रधानभूत सत्त्व और असत्त्वादि धर्मों से व्याप्त वस्तु क्रम से ही प्रतीत होती है और क्रम से जानी जा सकती है जैसे दो धर्मों को कहने के लिए सांकेतिक अन्य पदों के द्वारा क्रम से ही वस्तु की प्रतीति होती है क्योंकि युगपत् दो धर्मों का कथन करने में असमर्थ सांकेतिक पदान्तरों में और अवक्तव्य पद में विशेषता का अभाव है।

अथवा अवक्तव्य पद से एक वक्तव्य के अभाव का ही ज्ञान होता है। युगपत् दो धर्मों से आक्रान्त वस्तु का अवक्तव्य पद से निरूपण नहीं हो सकता इसलिए अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अवक्तव्य पद के द्वारा कथन करना सुघट नहीं है अतः अवक्तव्य पद से वस्तु व्यक्त कैसे हो सकती है। (व्यक्त होती है ऐसा कहना कैसे हो सकता है ?)

शंका : यदि अवक्तव्य शब्द के द्वारा दो धर्मों से व्याप्त वस्तु का कथन नहीं होता है तो श्री समन्तभद्र द्वारा कथित ''अवाच्यता एकान्त से अवाच्य ही है यह कहना युक्तिसंगत नहीं है'', यह इस समय कैसे घटित होगा ? **उत्तर :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इस कारिका का यह अर्थ है कि एक समय में दो धर्मों से आक्रान्त वस्तु जैसे अवाच्य है उसी प्रकार सत्त्व, असत्त्व एक-एक धर्म से आरूढ़ वस्तु को यदि अवाच्य माना जायेगा तो वाच्यताभाव नामक एक धर्म से युक्त वस्तु का अवाच्य पद से कथन करना युक्त (ठीक) नहीं हो सकेगा।

अर्थात् परिपूर्ण वस्तु को अवक्तव्य भंग से अवाच्य नहीं कहा है किन्तु वस्तु के वाच्यत्वाभाव नाम के धर्म का कथन करने के लिए अवक्तव्य शब्द है। यदि सर्वथा वस्तु का अवाच्यपना स्वीकार किया जाता है तो उस एक वाच्यत्वाभाव धर्म का भी अवक्तव्य शब्द के द्वारा प्रतिपादन नहीं होगा।

''जिस स्वरूप से वस्तु अवाच्य है, उसी स्वरूप से अवाच्य शब्द के द्वारा वस्तु वाच्य है'' ऐसा कहने पर तो ''जिस स्वरूप से वस्तु सत् है उसी स्वरूप से असत् है'' ऐसा भी कहा जा सकता है। तो फिर विरोध होने से उभय एकान्त वस्तु नहीं है'' ऐसा व्यवस्थित कैसे हो सकता है ? अर्थात् सर्वथा वस्तु न सत् है और न असत् है यह व्यवस्था कैसे हो सकती है ? इत्यादि; अपनी इच्छानुसार कारिका की व्याख्या करना स्याद्वाद न्याय से द्वेष रखने का ही प्रसंग आता है। स्याद्वाद न्याय में कोई दोष नहीं है, क्योंकि

व्याघाते सतीष्टविपरीतंनिर्गुणत्वापत्तेः। विवक्षितोभयगुणेनाभिधानात् अवक्तव्योर्थ इत्ययमपि सकलादेशः परस्परावधारितविविक्तरूपैकात्मकाभ्यां गुणाभ्यां गुणिविशेषणत्वेन युगपदुपक्षिप्ताभ्यामविवक्षितांशभेदस्य वस्तुनः समस्तैकेन गुणरूपेणाभेदवृत्त्याभेदोपचारेण वाभिधातुं प्रक्रांतत्वात्। स चावक्तव्यशब्देनान्यैश्च षड्भिर्वचनैः पर्यायांतरविवक्षया च वक्तव्यत्वात्स्यादवक्तव्य इति निर्णीतमेतत्। एतेन सर्वथा वस्तु सत् स्वलक्षणमवक्तव्यमेवेतिमतमपास्तं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवचनव्यवहारस्य तत्राभावप्रसंगात्। यदि पुनरस्वलक्षणं शब्देनोच्यते निर्देश्यव्यावृत्त्या च निर्देश्यशब्देन विकल्पप्रतिभासिन एवाभिधानात् न तु वस्तु रूपं परामृश्यत इति मतं, तदा कथं वस्तु तथा प्रतिपन्नं स्यात्? तथा व्यवसायादिति चेत्, सोपि व्यवसायो

इस प्रकार तो मुख्यवृत्ति से आरोपित समान बल वाले सत्त्व और असत्त्व धर्मों का परस्पर कथन करने का व्याघात हो जाने के कारण जब दोनों का नाश हो जायेगा तो सिद्धान्त से विपरीत गुणरहितता की आपत्ति आयेगी और गुणों का अभाव किसी को भी इष्ट नहीं है।

विवक्षित अस्ति, नास्ति इन उभय गुणों के द्वारा कथन करने से वस्तुभूत अर्थ अवक्तव्य है। इस प्रकार यह भी कथन वस्तु के सकल अंशों को कहने वाला सकलादेश वाक्य है क्योंकि परस्पर अवधारित (निश्चित) भिन्न-भिन्न एकरूप वाले दो गुणों के द्वारा गुणीरूप से विशिष्ट वस्तु का एक समय युगपत् आरोपित दो गुणों के द्वारा अविवक्षित अंश भेद वाली वस्तु को सम्पूर्ण या एक गुण के द्वारा अभेदवृत्ति और अभेद उपचार से कथन करने के लिए प्रकरण प्राप्त है।

अर्थात् अभेद वृत्ति और अभेद उपचार से गुण गुणी को एक मान लिया जाता है। विवक्षा को प्राप्त या जिनकी विवक्षा नहीं, ऐसे सर्व गुणों का समुदाय ही वस्तु है। गुणों से भिन्न वस्तु नहीं है इसलिए अवक्तव्य शब्द के द्वारा पूर्ण वस्तु का कथन नहीं हो सकता। स्याद्वाद मतानुसार अभेद वृत्ति या अभेद उपचार से वस्तु के सकलादेश का कथन हो सकता है अतः अवक्तव्य शब्द के द्वारा तथा अन्य अस्ति आदि छह भंग रूप शब्दों के द्वारा पर्यायान्तर की विवक्षा से कथन किया जाता है अतः पदार्थ कथञ्चित् अवक्तव्य है। अर्थात् वस्तु अवक्तव्य होते हुए भी सात भंगों के वाचक शब्दों के द्वारा वक्तव्य है।

इस सप्त भंग कथन के द्वारा "परमार्थभूत स्वलक्षण वस्तुसत् सर्वथा अवक्तव्य है" इस प्रकार कहने वाले बौद्धों के कथन का भी खण्डन कर दिया है क्योंकि स्वलक्षणभूत वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य मानने पर "स्वलक्षण कथन करने योग्य नहीं है, स्वलक्षण क्षणिक है, विशेषरूप है, निरंश है" इत्यादि वचनों के व्यवहार के अभाव का प्रसंग आयेगा और वस्तु का स्वरूप समझना भी कठिन होगा।

यदि बौद्धों का मन्तव्य हो कि, "स्वलक्षण शब्द से वस्तुभूत स्वलक्षण नहीं कहा जाता है-अपितु अन्यापोह कहा जाता है जो अवस्तु होकर विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित है अतः स्वलक्षण शब्द से अस्वलक्षण की व्यावृत्ति और अनिर्देश्य शब्द से निर्देश्य की व्यावृत्ति होती है जो वास्तविक नहीं है अपितु विकल्प में प्रतिभासित है। वास्तविक स्वरूप के विशिष्ट ज्ञान का शब्द से परामर्श नहीं होता है।

यदि वस्तुसंस्पर्शी शब्दस्तं स्पृशतु करणवत् । न हि करणजनितं ज्ञानं वस्तु संस्पृशति न पुन: करणमिति युक्तं । करणमुपचारात्तत्स्पृशतीति चेत् तथा शब्दोपीति समानं । शब्दजनितो व्यवसायोपि न वस्तु संस्पृशतीति चेत् कथं ततो वस्तुरूपं प्रत्येयं ? भ्रांतिमात्रादिति चेत् , न हि परमार्थतस्तदनिर्देश्यमवधारणं वा सिद्ध्येत् दर्शनात्तथा तत्सिद्धिरिति चेत् न, तस्यापि तत्रासामर्थ्यात् । न हि प्रत्यक्षं भावस्यानिर्देश्यतां प्रत्येति निर्देशयोग्यस्य साधारणासाधारणरूपस्य वस्तुनस्तेन साक्षात्करणात् । स्वलक्षणव्यतिरिक्ता केयं निर्देश्यता साधारणता वा प्रतिभातीति चेत् तस्यासाधारणतानिर्देश्यता वा केति सम: पर्यनुयोग: । स्वलक्षणत्वमेव सेति चेत् सम:

इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि यदि वस्तु अवाच्य हैं तब अनिर्देश्य, क्षणिक, स्वलक्षण आदि स्वरूप वस्तु को कैसे जाना जा सकता है अर्थात् अवाच्य वस्तु का स्वलक्षण द्वारा कथन कैसे हो सकता है।

यदि क्षणिकत्व, अवक्तव्यत्व आदि के द्वारा वस्तु का निर्णय हो जाने से वस्तु की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाती है ऐसा कहते हो तो, यदि वह निर्णय वास्तविक अर्थ का स्पर्श कर रहा है (वास्तविक वस्तु का कथन कर रहा है) तब तो इन्द्रियों के समान शब्द भी वास्तविक अर्थ का स्पर्श करता है ऐसा मानना चाहिए अर्थात् जैसे इन्द्रियाँ यथार्थ वस्तु को जानती हैं, वैसे शब्दजन्य आगम ज्ञान भी वस्तु को जानता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान वस्तु का स्पर्श करता है (वस्तु को विषय करता है) इन्द्रियाँ वस्तु को विषय नहीं करती हैं अत: इन्द्रियों के समान जड़ शब्द पदार्थ का स्पर्श नहीं करता है। ऐसा कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा विषय होने पर ही इन्द्रियजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यदि बौद्ध कहे कि कार्य का कारण में उपचार करके इन्द्रियाँ वस्तु का स्पर्श करती हैं, ऐसा कहा जाता है ; तब तो शब्द भी उपचार से वस्तु को विषय करते हैं ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि 'इन्द्रिय और शब्द' दोनों में आक्षेप और समाधान तुल्य ही हैं।

यदि शब्दजनित निश्चयात्मक ज्ञान वस्तु का स्पर्श नहीं करता है तो वस्तु का स्वरूप कैसे समझा जा सकेगा ? यदि कहो कि केवल भ्रान्ति से वस्तु को समझा जाता है, वास्तव में नहीं तब तो परमार्थरूप स्वलक्षण अवक्तव्य है, अनिर्देश्य है, असाधारण है; इसकी सिद्धि नहीं हो सकती।

''निर्विकल्प दर्शन से अनिर्देश्य और असाधारण स्वलक्षण की सिद्धि होती है'' ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उस निर्विकल्प दर्शन में उस अनिर्देश्य, असाधारण के कथन करने का सामर्थ्य नहीं है। अर्थात् निर्विकल्प दर्शन (प्रत्यक्षज्ञान) यह विचार नहीं कर सकता है कि यह वस्तु अवाच्य है, विशेष रूप है, इत्यादि क्योंकि विचार करना श्रुतज्ञान का विषय है अत: प्रत्यक्षज्ञान पदार्थों की अनिर्देश्यता को नहीं जानता है परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा निर्देश करने योग्य, साधारण और असाधारण रूप वस्तु का साक्षात्कार होता है अर्थात् मतिज्ञान पदार्थों का साक्षात्कार करता है और श्रुतज्ञान शब्द के द्वारा कथन करता है।

समाधिः, साधारणतानिर्देश्यतयोरपि तत्स्वरूपत्वात्। तर्हि निर्देश्यं साधारणमिति स्वलक्षणमेव नामांतरेणोक्तं स्यादिति चेत् तवाप्यसाधारणमनिर्देश्यमिति किं न नामांतरेण तदेवाभिमतं। तथेष्टौ वस्तु न साधारणं नाप्यसाधारणं न निर्देश्यं नाप्यनिर्देश्यमन्यथा चेत्यायातं। ततोऽकिंचिद्रूपं जात्यंतरं भवन्न दूरीकर्तव्यं गत्यंतराभावात्। तदकिंचिद्रूपं चेत् कथं वस्तु व्याघातं सकृत्कल्पितरूपाभावादकिंचिद्रूपं नानुभूयमानरूपाभावादिति चेत् तवाप्यसाधारणं। तत्किमिदानीमनुभूयमानरूपं वस्तु स्थितं तथा वा ? स्थाने तैमिरिकानुभूयमानमपींदुद्वयं

स्वलक्षण से भिन्न होकर यह निर्देश्यता और साधारणता क्या प्रतिभास रही है ? ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि "वस्तु की अनिर्देश्यता और असाधारणता क्या है ?" दोनों प्रश्न समान हैं।

यदि बौद्ध कहे कि असाधारणता और अनिर्देश्यता तो स्वलक्षण का स्वरूप ही है तो इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि निर्देश्यता और साधारणता भी वस्तु के स्वलक्षण रूप ही है अतः समाधान प्रश्न के समान है। स्वभाव, स्वभाववान से पृथक् नहीं होते।

यदि बौद्ध कहे कि निर्देश्य और साधारण ये दोनों स्वलक्षण के नामान्तर ही कहे गये हैं-ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार कहने वाले बौद्ध के प्रति जैनाचार्य कहते हैं कि तो फिर अनिर्देश्य और असाधारण भी स्वलक्षण के पर्यायवाची शब्द हैं, इससे भिन्न कुछ नहीं है? ऐसा क्यों नहीं कहा जायेगा। उनको नामान्तर मानना चाहिए।

इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु साधारण भी नहीं है, असाधारण भी नहीं है, निर्देश्य भी नहीं है, और अनिर्देश्य भी नहीं है परन्तु वस्तु अन्य प्रकार ही है। इसलिए अकिंचित् से जात्यन्तर रूप को धारण करने वाली वस्तु को दूर नहीं कर सकते। (अर्थात् वस्तु निर्देश्य भी है अनिर्देश्य भी है, साधारण भी है असाधारण भी है ऐसा स्याद्वाद रूप स्वीकार करना चाहिए) वस्तु के स्वरूप का कथन करने के लिए दूसरा उपाय नहीं है अर्थात् **स्याद्वाद के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं होती है और स्याद्वाद के द्वारा वस्तु की सिद्धि करने के लिए शब्दों की आवश्यकता है। शब्दजन्य ज्ञान के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।**

वस्तु का स्वरूप कुछ भी नहीं है, ऐसा कहने पर वस्तु कैसे बनेगी ? अर्थात् कुछ भी स्वरूप नहीं है और वह वस्तु है, ऐसा एक बार कहने में व्याघात दोष है अर्थात् जो कुछ भी नहीं है, वह वस्तु नहीं हो सकती है और जो वस्तु है, वह "कुछ नहीं" ऐसा नहीं हो सकता है।

बौद्ध कहते हैं कि एक बार ही कल्पना कर लिये गये अनेक स्वरूप तो वस्तु में नहीं हैं अतः वस्तु अकिंचित् स्वरूप है अर्थात् व्यावहारिक शब्दों के द्वारा कथन नहीं हो सकता अतः वस्तु अकिंचित् है। परन्तु अनुभूयमान रूप का अभाव होने से वस्तु अकिंचित् रूप नहीं है अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष करने योग्य स्वरूप तो वास्तविक हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि तुम्हारे सिद्धान्त में वह वस्तु का साधारण स्वरूप क्या इस समय अनुभूयमान है (अनुभव में आ रहा है) अनुभव में स्थित है। यदि असाधारण रूप से वस्तु अनुभव में आ रही है ऐसा मानोगे तो तैमिरिक रोगी के द्वारा अनुभूतमान दो चन्द्रमा भी वस्तुभूत हो जायेंगे अर्थात् मन कल्पित असाधारण वस्तु का अनुभव करना यदि सत्य है तो पीलिया रोग से जर्जरित पुरुष के नेत्र रोग के कारण दो चन्द्रमा का अनुभव भी सत्य होना चाहिए।

वस्तु स्यात्।सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणं वस्तु नान्यदिति चेत् तर्हि यथा प्रत्यक्षतोनुभूयमानं तादृशं वस्तु तद्वल्लिंगशब्दादिविकल्पोपदर्शितमपि देशकालनरांतराबाधितरूपत्वे सति किं नाभ्युपेयते विशेषाभावात्। ततो जात्यंतरमेव सर्वथैकांतकल्पनातीतं वस्तुत्वमित्युक्तेः स्यादवक्तव्यमिति सूक्तं "क्रमार्पिताभ्यां तु सदसत्त्वाभ्यां विशेषितं"। जीवादि वस्तु स्यादस्ति च नास्ति चेति वक्तुं शक्यत्वाद्वक्तव्यं स्यादस्तीत्यादिवत्। कथमस्त्यवक्तव्यमिति चेत् प्रतिषेधशब्देन वक्तव्यमेवास्तीत्यादि विधिशब्देनावक्तव्यमित्येके तदयुक्तं, सर्वथाप्यस्तित्वेनावक्तव्यस्य नास्तित्वेन वक्तव्यतानुपपत्तेः विधिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य। सर्वथैकांतप्रतिषेधोपि हि विधिपूर्वक एवान्यथा मिथ्यादृष्टिगुणस्थानाभावप्रसंगात्। दुर्नयोपकल्पितं रूपं सुनयप्रमाणविषयभूतं न भवतीति प्रतिषेधे सर्वथैकांतस्य न कश्चिद्व्याघातः। अस्तित्वविशिष्टतया सहार्पिततदन्यधर्मद्वयविशिष्टतया च

"जिस पदार्थ के असंभव होने को बाधा देने वाला प्रमाण सुनिर्णीत है अथवा जिस पदार्थ के सद्भाव की सिद्धि में बाधक हो रहे प्रमाण की असंभवता है वह वास्तविक पदार्थ है। अन्य पदार्थ वस्तुभूत नहीं है।" तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अनुभूत वस्तु यथार्थ है उसी प्रकार अविनाभावी हेतु, संकेत से ग्रहण किया गया शब्द चेष्टा आदि से उत्पन्न विकल्पज्ञान के द्वारा प्रदर्शित किये गये पदार्थ भी दूसरे देश, अन्य काल, और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से अबाधित स्वरूप होने पर उनको वस्तुभूत क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है क्योंकि प्रत्यक्ष से ज्ञात और विकल्पज्ञान के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में कोई अन्तर (विशेषता) नहीं है अतः सभी प्रकार की एकान्तों की कल्पनाओं से अतीत वस्तु वास्तविक है। इसलिए कथञ्चित् जीव आदि वस्तु अवक्तव्य है। ऐसा कहना समीचीन है। इस प्रकार तीसरा अवक्तव्य भंग सिद्ध है।

"क्रम से विवक्षित सत्त्व और असत्त्व से विशिष्ट (व्याप्त) जीवादि वस्तु कथञ्चित् अस्ति और नास्ति स्वरूप है" ऐसा कथन करना शक्य होने से कथंचित् चतुर्थ (अस्ति नास्ति) भंग के द्वारा वस्तु वक्तव्य है। जैसे स्यादस्ति इत्यादि वाक्यों के द्वारा कहने योग्य होने के कारण स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य इन भंगों के द्वारा वस्तु कथन करने योग्य है।

शंका : 'अस्त्यवक्तव्य' यह पाँचवाँ भंग कैसे सिद्ध होता है ? कोई प्रतिवादी समाधान करते हैं कि निषेध वाचक नास्ति शब्द के द्वारा जीव आदि वक्तव्य ही हैं। किन्तु अस्ति इत्यादि विधि (सत्ता) वाचक शब्द के द्वारा जीवादि अवक्तव्य हैं अतः अस्ति होकर अवक्तव्य हो गया।

समाधान - जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है-क्योंकि सर्वथा भी अस्तित्व धर्म के द्वारा नहीं कहे जाने योग्य जीव आदि का अस्तित्व के द्वारा अवक्तव्य और नास्तित्व के द्वारा नय वक्तव्य की उत्पत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती। प्रतिषेध भी विधि पूर्वक हो जाता है।

सर्वथा एकान्त का निषेध करना विधिपूर्वक ही होता है। अन्यथा मिथ्यात्व गुणस्थान के अभाव का प्रसंग आता है अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान सम्यग्दर्शन के अभाव रूप ही है।

दुर्नयों के द्वारा कल्पित वस्तु स्वरूप, सुनय और प्रमाण का विषय नहीं होता है। इसलिए सर्वथा एकान्तों का निषेध करने में कोई व्याघात दोष नहीं है क्योंकि निषेध भी विधिपूर्वक होता है।

वस्तुनि प्रतिपित्सिते तदस्त्यवक्तव्यमित्यन्ये, तदप्यसारं । तत्रास्त्यवक्तव्यावक्तव्यादिभंगांतरप्रसंगात् । ततोपि सहार्पिततदन्यधर्मद्वयविशिष्टस्य ततोप्यपरसहार्पितधर्मद्वयविशिष्टस्य वस्तुनो विवक्षाया निराकर्तुमशक्तेः प्रतियोगिधर्मयुगलानामेकत्र वस्तुन्यनंतानां संभवात् तेषां च सहार्पितानां वक्तुमशक्यत्वात् अस्त्यनंतावक्तव्यं वस्तु स्यात् तच्चानिष्टं । येन रूपेण वस्त्विति तेन तत्प्रतियोगिना च सहाक्रांतं यदा प्रतिपत्तुमिष्टं तदास्त्यवक्तव्यमिति केचित्, तेपि यावद्भिः स्वभावैः यावंति वस्तुनोस्तित्वानि तत्प्रतियोगिभिस्तावद्भिरेव धर्मैः, यावंति च नास्तित्वानि तद्युगलैः सहार्पितैस्तावंत्यवक्तव्यानि च रूपाणि ततस्तावंत्यः सप्तभंग्य इत्याचक्षते चेत् प्रतिष्ठत्येव युक्त्यागमाविरोधात् । एतेन नास्त्यवक्तव्यं चिंतितं प्रत्येयं, स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यं च वस्त्विति प्रमाणसप्तभंगी सकलविरोधवैधुर्यात् सिद्धा । नयसप्तभंगी तु नयसूत्रे प्रपंचतो निरूपयिष्यते । ततः परार्थोधिगमः

अस्तित्वधर्म की विशिष्टता से और एक साथ विवक्षित अन्य दो धर्म विशिष्टता से वस्तु को जानने की विवक्षा होने पर "अस्त्यवक्तव्य" इस पंचम भंग की उत्पत्ति होती है, ऐसा कोई कहते हैं परन्तु उनका यह कथन निस्सार है (सार रहित है) क्योंकि अस्ति, नास्ति से भिन्न दो धर्मों की विवक्षा करने पर अस्त्यवक्तव्याव्यक्तव्य आदि भंगान्तर का प्रसंग आता है इसलिए अन्य दो धर्मों के साथ विवक्षित किये गये और उनसे भिन्न दो धर्मों से विशिष्ट वस्तु की तथा उससे भिन्न के साथ अर्पित दो धर्मों से विशिष्ट वस्तु की विवक्षा का निराकरण करने के लिए शक्त (समर्थ) नहीं है। क्योंकि एक वस्तु में नित्य, अनित्य, अस्ति नास्ति आदि अनेक प्रतियोगी (विरुद्ध) अनन्त धर्म युगलों का रहना संभव है परन्तु एक साथ विवक्षित उन धर्मों का कथन करना अशक्य होने के कारण अनन्त अवक्तव्य धर्म का कथन करना इष्ट नहीं है। इसलिए अन्य मतानुसार पाँचवाँ भंग ठीक नहीं है। स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार ही प्रशस्त है।

जिस स्वरूप से वस्तु है उस स्वरूप से तो अस्ति है किन्तु उस अस्तिस्वरूप के द्वारा और उसके प्रतियोगी धर्म से आक्रान्त वस्तु को समझाने के लिए जब प्रयत्न किया जाता है तब अस्त्यवक्तव्य रूप भंग कहा जाता है। ऐसा कोई कहते हैं। परन्तु इस प्रकार कहने वाले को भी जितने वस्तु के अस्तित्वरूप भाव धर्म हैं और उन धर्मों के प्रतियोगी जितने स्वभाव हैं वे नास्ति रूप हैं उन अस्ति-नास्ति रूप सर्व युगल धर्मों के साथ एक समय में विवक्षित किये गये उतनी संख्यावाले अनेक अवक्तव्य रूप हो जाते हैं और अवक्तव्य की संख्या वाली सप्त भंगियाँ बन जाती हैं। तब तो युक्ति और आगम से अविरोध होने के कारण उनका कथन प्रतिष्ठित हो ही जाता है, अन्यथा नहीं अर्थात् अस्ति और अवक्तव्य इन दोनों धर्म की एक साथ विवक्षा करने पर पाँचवाँ भंग हो जाता है।

इस उपर्युक्त कथन से नास्त्यवक्तव्य नाम के छठे भंग का विचार करना चाहिए अर्थात् नास्ति और अवक्तव्य धर्म के साथ भंग करने पर नास्त्यवक्तव्य धर्म से कहा जाता है। सातवाँ भंग 'अस्तिनास्त्यवक्तव्य' है। यह भंग भी वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य धर्मों की एक साथ योजना करने पर उत्पन्न होता है इस प्रकार जीव आदि वस्तु परस्पर की अपेक्षा प्रमाणों के द्वारा सप्तभंगी सम्पूर्ण विरोध रहित सिद्ध है। नय सप्तभंगी नयसूत्र में विस्तार पूर्वक निरूपण करेंगे।

प्रमाणनयैर्वचनात्मभि: कर्तव्य: स्वार्थ इव ज्ञानात्मभि:, अन्यथा कार्त्स्न्येनैकदेशेन च तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्ते:॥

तदेवं संक्षेपतोधिगमोपायं प्रतिपाद्य मध्यमप्रस्थानतस्तमुपदर्शयितुमना: सूत्रकार: प्राह;—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत: ॥ ७ ॥

निर्देशादीनामितरेतरयोगे द्वंद्व: करणनिर्देशश्च बहुवचनांत: प्रत्येयस्तथा तसि विधानात् । स्थितिशब्दस्य स्वतंत्रत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पूर्वनिपातोस्त्विति न चोद्यं, बहुष्वनियमात् । सर्वस्य निर्देशपूर्वकत्वात्स्वामित्वादिनिरूपणस्य पूर्वं निर्देशग्रहणमर्थान्न्यायान्न विरुध्यते स्वामित्वादीनां तु प्रश्नवशात् क्रम: । ननु च संक्षिप्तै: प्रमाणनयै: संक्षेपतोऽधिगमो वक्तव्यो मध्यमप्रस्थानतस्तैरेव मध्यमप्रपंचैर्न

इस प्रकार वचनात्मक प्रमाण और नयों के द्वारा परार्थ अधिगम होता है और ज्ञान स्वरूप प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का स्वयं अधिगम होता है। अन्यथा (सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति आदि उपायों से) एक देश और पूर्णदेश के द्वारा तत्त्वार्थों का अधिगम होना नहीं बन सकता।

इस प्रकार संक्षेप से अधिगम के उपायभूत प्रमाण और नयों का विवेचन करके मध्यम गति से शिष्यों को समझाने के लिए **निर्देश आदि अधिगम के उपायों का आचार्य कथन करते हैं-**

निर्देश (वस्तु के नाम मात्र का कथन), स्वामित्व, साधन (कारण), अधिकरण, स्थिति (कालकृत मर्यादा) और विधान (प्रकार) इनसे भी जीवादि पदार्थों का अधिगम (जानकारी) होता है ॥७॥

निर्देश आदि शब्दों में परस्पर इतरेतर योग द्वन्द्व समास है अत: समासान्त पद को बहुवचनान्त तृतीया विभक्ति से करण निर्देश समझना चाहिए। क्योंकि निर्देश आदि शब्दों के विग्रहों में 'तसि' नामक हृत् प्रत्यय का विधान किया गया है। इकारान्त और उकारान्त शब्दों की सुसंज्ञा है। स्थिति शब्द सुअन्त और अल्पचर है अत: स्थिति शब्द का पूर्व में निपात होना चाहिए, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिस सूत्र में बहुत से पदों का समास होता है उसमें सुअन्त और अल्पअक्षर वाले शब्दों का पूर्व निपात करने का नियम नहीं है अर्थात् दो पदों का समास करने पर अल्पचर और इकारान्त, उकारान्त, पूर्व निपात का विधान करने वाले सूत्र लागू होते हैं-परन्तु तीन चार आदि बहुत से पदों का द्वन्द्व समास करने पर पूर्व निपात के नियम लागू नहीं होते हैं। तथा-अन्य भी स्वामित्व साधनादि का निरूपण निर्देश पूर्वक ही होता है, अत: अर्थ सम्बन्धी न्याय से निर्देश का सूत्र में प्रथम ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है। अथवा स्वामित्व आदि का प्रश्नों के अनुसार क्रम है, ऐसा जानना चाहिए अर्थात् वस्तु के नामोच्चारण करने पर ही स्वामित्व आदि के प्रश्न उठते हैं अत: सर्व प्रथम निर्देश का कथन किया है।

संक्षिप्त प्रमाण नय के द्वारा संक्षेप से अधिगम होता है, ऐसा कहना चाहिए और मध्यम रुचि की अपेक्षा से उन्हीं मध्यम विस्तार वाले प्रमाण और नय के द्वारा अधिगम होता है ऐसा कहना चाहिए था,

पुनर्निर्देशादिभिस्ततो नेदं सूत्रमारंभणीयमित्यनुपपत्तिचोदनायामिदमाह;—

निर्देशाद्यैश्च कर्तव्योधिगमः कांश्चन प्रति । इत्याह सूत्रमाचार्यः प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥ १ ॥

ये हि निर्देश्यमानादिषु स्वभावेषु तत्त्वान्यप्रतिपन्नाः प्रतिपाद्यास्तान् प्रति निर्देशादिभिस्तेषामधिगमः कर्तव्यो न केवलं प्रमाणनयैरेवेति सूक्तं निर्देशादिसूत्रं विनेयाशयवशवर्तित्वात्सूत्रकारवचनस्य । विनेयाशयः कुतस्तादृश इति चेत् ततोन्यादृशः कुतः तथा विवादादिति । तत एवायमीदृशोस्तु न्यायस्य समानत्वात्॥

किं पुनर्निर्देशादय इत्याह;—

यत्किमित्यनुयोगेर्थस्वरूपप्रतिपादनम् । कार्त्स्न्यतो देशतो वापि स निर्देशो विदां मतः ॥ २ ॥

कस्य चेत्यनुयोगे सत्याधिपत्यनिवेदनं। स्वामित्वं साधनं केनेत्यनुयोगे तथा वचः ॥ ३ ॥

पुनः सर्वथा भिन्न निर्देश आदि के द्वारा अधिगम कहना उचित नहीं है, अतः सूत्रकार को 'निर्देश' आदि सूत्र की रचना का प्रारम्भ करना योग्य नहीं है इस प्रकार की अनुपपत्ति (उत्पन्न) शंका का निवारण करते हुए आचार्य कहते हैं :-

प्रतिपाद्य (अनुशासन करने योग्य) शिष्य के अनुरोध से किन्हीं शिष्यों के प्रति, निर्देश आदि के द्वारा जीवादिकों का अधिगम कराना चाहिए अतः अनुकूल शिष्य के आग्रहवश आचार्य ने 'निर्देश' इस सूत्र का कथन किया है॥१॥

जो शिष्य निर्देश (कथन) करने योग्य स्वामी आदि स्वभावों में जीवादि तत्त्वों को समझ नहीं पाया है, (अप्रतिपन्न है) उसके प्रति निर्देश आदि के द्वारा प्रतिपादन करने योग्य जीवादि तत्त्वों का उसको अधिगम (ज्ञान) कराना चाहिए क्योंकि अव्युत्पन्न शिष्य केवल प्रमाण और नय के द्वारा समझ नहीं सकता है। इसलिए सूत्रकार ने 'निर्देश' आदि सूत्र की रचना उपयुक्त ही की है क्योंकि सूत्रकार महापुरुषों के वचन विनीत शिष्यों के अनुकूल होते हैं।

प्रश्न : विनयशील शिष्य का अभिप्राय कैसा है, यह कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर : शिष्य का अभिप्राय ऐसा नहीं था, ऐसा कैसे जाना जा सकता है? यदि कोई कहे कि इस प्रकार का विवाद था, इसलिए इस सूत्र की रचना की गई है तो जैनाचार्य भी कह सकते हैं कि निर्देश आदि के विषय में विवाद था, इसलिए इस सूत्र की रचना की गई है, दोनों के प्रश्नों में न्याय की समानता है।

निर्देशादि क्या हैं – ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं–

जो कुछ है, सो क्या है? इस प्रकार प्रश्न होने पर पूर्ण रूप से अथवा एकदेश से भी जो अर्थस्वरूप का प्रतिपादन करना है, वह **निर्देश** है। ऐसा विद्वानों का कथन है॥२॥

यह पदार्थ किसका है, ऐसा प्रश्न होने पर उसके अधिपतित्व का कथन करना **स्वामित्व** है। इस पदार्थ की उत्पत्ति का कारण क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर पदार्थों की उत्पत्ति के कारणों का कथन करना **साधन** है॥३॥

क्वेति पर्यनुयोगे तु वचोधिकरणं विदुः । कियच्चिरमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरवचः स्थितिः ॥ ४ ॥

कतिधेदमिति प्रश्ने वचनं तत्त्ववेदिनाम्। विधानं कीर्तितं शब्दं तत्त्वऽज्ञानं च गम्यताम् ॥ ५ ॥

किं कस्य केन कस्मिन् कियच्चिरं कतिविधं वा वस्तु तद्रूपं चेत्यनुयोगे कात्स्‍न्र्येन देशेन च तथ प्रतिवचनं । निर्देशादय इति वचनात् प्रवक्तुः पदार्थाः शब्दात्मकास्ते प्रत्येयाः तथा प्रकीर्तितास्तु सर्वे सामर्थ्यात् ज्ञानात्मका गम्यंतेऽन्यथा तदनुपपत्तेः । सत्यज्ञानपूर्वका मिथ्याज्ञानपूर्वका वा ? न सर्वे शब्दा निर्देशादय सत्या नाम सुषुप्तादिवत् , नाप्यसत्या एव ते संवादकत्वात् प्रत्यक्षादिवत् ॥

यह पदार्थ कहाँ रहता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसके निवासस्थान का कथन करना **अधिकरण** कहलाता है। यह पदार्थ कितने काल तक रहेगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका प्रत्युत्तर देना इतने काल तक रहेगा यह **स्थिति** है ॥४॥

यह पदार्थ कितने प्रकार का है, ऐसा प्रश्न होने पर उसके भेदों के कथन करने रूप जो विद्वानों के वचन हैं, वह **विधान** कहलाता है ॥५॥

अधिगम का साक्षात् कारण ज्ञान है और उससे अव्यवहित पूर्ववर्त्ती शब्द उसका प्रधान कारण है जो कि अज्ञानस्वरूप है, जड़ है अतः छहों का कथन करते समय वचन प्रधान रूप से कहे गये हैं अर्थात् **शब्दात्मक और ज्ञानात्मक निर्देश आदिक उपाय अधिगम के कारण हैं**, ऐसा जानना चाहिए।

क्या वस्तु है ? किसकी वस्तु है ? किन कारणों से निर्मित है ? कहाँ पर स्थित है ? यह वस्तु कितने देर तक (काल तक) रहेगी ? और वस्तु कितने प्रकार की है ? इस प्रकार प्रश्न होने पर पूर्ण रूप से वा एकदेश से उसी प्रकार उत्तर रूप प्रतिवचन कहना निर्देश आदिक हैं, ऐसा मूल सूत्र में कहा है।

अथवा, प्रकृष्ट वक्ता के निर्देश आदि पदार्थ हैं वे शब्दात्मक हैं, ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि ज्ञान सामर्थ्य से उनका इसी प्रकार कथन किया गया है। तथा अधिगम के उपायभूत निर्देशादिक सभी पदार्थ सामर्थ्य से ज्ञानात्मक जाने जाते हैं। अन्यथा (यदि निर्देश आदिक को ज्ञानात्मक नहीं माना जायेगा तो) कथनोपकथन का व्यवहार नहीं हो सकता।

भावार्थ : वचन वक्ता के प्रमाण ज्ञान के कार्य हैं।

अर्थात् वचन से ही वक्ता की प्रमाणता सिद्ध होती है तथा वे वचन श्रोता के प्रमाण ज्ञान के कारण हैं क्योंकि वचन सुनकर ही श्रोता को ज्ञान उत्पन्न होता है। कारण का कार्य में और कार्य में कारण का उपचार करने से शब्द भी प्रमाण हो जाता है। इस प्रकार वाच्य वाचक भाव और गम्य गमक भाव की सामर्थ्य से निर्देश आदिक शब्द रूप और ज्ञान स्वरूप हैं। सत्य ज्ञान को कारण मानकर उत्पन्न हुए निर्देश आदिक सत्य कहे जाते हैं। मिथ्या ज्ञानपूर्वक उत्पन्न निर्देश आदिक शब्द मिथ्या कहे जाते हैं। सभी निर्देश आदि शब्द सत्य नहीं होते हैं जैसे गाढ़ निद्रा में सुप्त वा मूर्च्छित आदि जीवों के शब्द सत्य नहीं हैं।

तथा ये सभी निर्देशादि शब्द सर्वथा असत्य भी नहीं हैं, क्योंकि ये निर्देश आदि शब्द प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण के समान संवादक (सफल प्रवृत्ति के जनक) हैं अर्थात् निर्देश आदि शब्द अर्थ और ज्ञानात्मक हैं।

किं स्वभावैर्निर्देशादिभिरर्थस्याधिगमः स्यादित्याह;—

तैरर्थाधिगमो भेदात्स्यात्प्रमाणनयात्मभिः। अधिगम्य स्वभावैर्वा वस्तुनः कर्मसाधनः ॥ ६ ॥

कर्तृस्थोऽधिगमस्तावद्वस्तुनः साकल्येन प्रमाणात्मभिर्भेदेन निर्देशादिभिर्भवतीति प्रमाणविशेषास्त्वेते। देशस्तु नयात्मभिरिति नयाः ततो नाप्रमाणनयात्मकैस्तैरधिगतिरिष्टा यतो व्याघातः। कस्य पुनः प्रमाणस्यैते विशेषाः श्रुतस्यास्पष्टसर्वार्थाविषयता प्रतीतिरिति केचित्। मतिश्रुतयोरित्यपरे। तेत्र प्रष्टव्याः। कुतो मतेर्भेदास्ते इति ? मतिपूर्वकत्वादुपचारादिति चेन्न, अवधिमनःपर्ययविशेषत्वानुषंगात्। यथैव हि मत्यार्थं परिच्छिद्य श्रुतज्ञानेन परामृशन्निर्देशादिभिः प्ररूपयति तथावधिमनःपर्ययेण वा। न चैवं, श्रुतज्ञानस्य तत्पूर्वकत्वप्रसंगः

किस स्वभाव वाले निर्देश आदिक के द्वारा जीवादिक अर्थों का अधिगम होता है-ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

प्रमाण और नय के भेदस्वरूप निर्देश आदि के द्वारा एकदेश या सर्वदेश से जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है। (यहाँ आत्मा से प्रमाण, नय स्वरूप ज्ञानों की भेद विवक्षा की गई है। कर्त्ता में रहने वाले आत्मा से पृथक् प्रमाण नय स्वरूप निर्देश आदिके द्वारा पदार्थों का अधिगम होता है और कर्म में रहने वाला अधिगम जानने योग्य वस्तुके स्वभावभूत जड़ निर्देश आदि के द्वारा ज्ञान होता है, कर्त्ता में रहने वाला अधिगम कर्त्ता से भिन्न विषयीभूत प्रमाण नयों के द्वारा किया जाता है। तथा अधिपूर्वक गम् धातु सकर्मक है अत: कर्त्ता के समान कर्म में भी निर्देश आदि रहते है।) अथवा अधिगम्य स्वभाव रूप प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु का निर्णय होता है॥६॥

श्रोता रूप कर्त्ता में स्थित वस्तु का पूर्ण रूप से अधिगम प्रमाण के भेद रूप निर्देश आदि के द्वारा होता है क्योंकि कर्त्ता में स्थित अधिगम को करने वाले निर्देश आदि प्रमाण विशेष (श्रुतज्ञान) स्वरूप हैं और कर्त्ता में स्थित वस्तु का एकदेश अधिगम नयस्वरूप निर्देश आदि के द्वारा होता है अत: नयप्रमाणात्मक निर्देश आदि के द्वारा वस्तु का ज्ञान इष्ट है। तथा नय प्रमाणात्मक निर्देश को मानने पर व्याघात दोष भी नहीं आता है। परन्तु अप्रमाण और कुनयात्मक निर्देश आदि के द्वारा वस्तु का अधिगम इष्ट नहीं है क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है।

प्रश्न : निर्देश आदि किस प्रमाण के भेद हैं? उत्तर : कोई आचार्य अविशद रूप विषय से प्रतीति होने से निर्देश आदि को श्रुतज्ञान के भेद मानते हैं और कोई निर्देश आदि के मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों के भेद मानते हैं। निर्देश आदि को मतिज्ञान का भेद मानने वाले से पूछते हैं कि निर्देश आदि मतिज्ञान के भेद कैसे हो सकते हैं?

मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, इसलिए निर्देश आदि मतिज्ञान के भेद कहे जाते हैं ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उपचार से निर्देश आदि को मतिज्ञान का भेद माने लेने पर अवधिज्ञान और मन: पर्यय ज्ञान के निर्देश आदि भेद प्रभेद का प्रसंग आयेगा।

क्योंकि जिस प्रकार मतिज्ञान के द्वारा अर्थ को जानकर श्रुतज्ञान के द्वारा विचार करके निर्देशादिक के द्वारा शिष्यों के लिए अर्थ का निरूपण करता है। उसी प्रकार अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के द्वारा

साक्षात्तस्यानिंद्रियमतिपूर्वकत्वात् परंपरया तु तत्पूवकत्वं नानिष्टं । शब्दात्मनस्तु श्रुतस्य साक्षादपि नावधिमन: पर्ययपूर्वकत्वं विरुध्यते केवलपूर्वकत्ववत्। ततो मुख्यत: श्रुतस्यैव भेदा निर्देशादय: प्रतिपत्तव्या: किमुपचारेण, प्रयोजनाभावात् । तत एव श्रुतैकदेशलक्षणनयविशेषाश्च ते व्यवतिष्ठंते। येषां तु श्रुतं प्रमाणमेव तेषां तद्वचनमसाधनांगतया निग्रहस्थानमासज्यत इति क्वचित्कथंचित्प्रश्नप्रतिवचनव्यवहारो न स्यात् । स्वपरार्थानुमानात्मकोसौ इति चेन्न, तस्य सर्वत्राप्रवृत्तेरत्यंतपरोक्षेष्वर्थेषु तदभावप्रसंगात् । न च श्रुतादन्यदेव

भी अर्थ को प्रत्यक्ष करके श्रुतज्ञान के द्वारा विचार करके वक्ता निर्देश आदि के द्वारा वस्तु का कथन करता है।(अत: निर्देश आदिक अवधिज्ञान और मन:पर्यय के विशेष (भेद) क्यों नहीं माने जाते हैं।) ऐसा कहना उचित नहीं है-क्योंकि ऐसा मानने पर श्रुतज्ञान के भी अवधि, मन:पर्यय ज्ञानपूर्वक होने का प्रसंग आता है परन्तु श्रुतज्ञान साक्षात् मानसिक मति पूर्वक होता है। परम्परा से मन:पर्यय ज्ञान का कारण मानना अनिष्ट नहीं है। अर्थात् अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान भी परम्परा से श्रुतज्ञान के कारण हैं ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है।

शब्दात्मक और ज्ञानात्मक के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है।

ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान का साक्षात् कारण मानस श्रुत ज्ञान है और परम्परा कारण चाक्षुष प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान आदि भी हो सकते हैं किन्तु शब्दात्मक श्रुतज्ञान का साक्षात् कारण भी अवधि ज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान को मानने में कोई विरोध नहीं है। जैसे अर्हन्त भगवान केवलज्ञान द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का (सकल प्रत्यक्ष के द्वारा) शब्दात्मक द्वादशांग श्रुतज्ञान का उपदेश देते ही हैं अत: जिस प्रकार शब्दात्मक श्रुतज्ञान का केवलज्ञान साक्षात् कारण है वैसे अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान भी शब्दात्मक श्रुतज्ञान के साक्षात् कारण हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है (ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान का कारण मन-इन्द्रियजन्य मतिज्ञान है अत: केवली भगवान के ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान नहीं है।) इससे यह सिद्ध होता है कि **मुख्यत: निर्देश आदि श्रुतज्ञान के ही भेद हैं,** मतिज्ञान के नहीं; ऐसा जानना चाहिए, उपचार से परम्परा मतिज्ञान को कारण मानने में कोई लाभ नहीं है। इसलिए **निर्देश आदि श्रुत के एकदेश लक्षण नय के भेद हैं यही व्यवस्थित है-अर्थात् निर्देश आदि को श्रुतज्ञान का भेद मानने पर वे नयात्मक भी हो सकते हैं।**

जिनके मत में श्रुतज्ञान ज्ञानात्मक (प्रमाणस्वरूप) ही है (नयात्मक और शब्दात्मक नहीं है), उनके मत में निर्देश आदि का कथन करना साधन (हेतु) का अंग न होने से निग्रह स्थान को प्राप्त हो जाता है और ऐसा होने पर कहीं भी किसी भी प्रकार से प्रश्न, उत्तर, प्रत्युत्तर के बोलने का व्यवहार नहीं हो सकता है अर्थात् ज्ञानात्मक श्रुत का तो उच्चारण होता नहीं है क्योंकि वह स्वार्थ ज्ञान है जैसे मति आदि ज्ञान और श्रुतज्ञान को शब्दात्मक माना नहीं है अत: प्रश्न, उत्तर आदि व्यवहार का लोप हो जायेगा।

स्वार्थानुमानं मतिपूर्वकं परार्थानुमानं चेति, तद्भेदत्वमिष्टमेव निर्देशादीनां । प्रामाण्यं पुन: श्रुतस्याग्रे समर्थयिष्यत इति नेह प्रतन्यते । कर्मस्थ: पुनरधिगमोर्थानामधिगम्यमानानां स्वभावभूतैरेव निर्देशादिभि: कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां प्रमाणनयविषयैर्व्यवस्थाप्यते । निर्देश्यमानत्वादिभिरेव धर्मैरर्थानामधिगतिप्रतीते: । कर्मत्वात्तेषां कथं करणत्वेन घटनेति चेत्, तथा प्रतीते: । अग्नेरुष्णत्वेनाधिगम इत्यत्र यथा । नन्वग्ने: कर्मण: करणमुष्णत्वं भिन्नमेवेति चेत् न, तद्भेदैकांतस्य निराकरणात् । कथंचिद्भेदस्तु समानोन्यत्र । न हि निर्देशत्वादयो धर्मा: करणतया

प्रश्नोत्तर व्यवहार श्रुत रूप नहीं है, किन्तु स्वार्थ और परार्थानुमानस्वरूप श्रुतज्ञान है (वक्ता का वचन स्वार्थानुमान है और श्रोता का वचन व्यवहार परार्थानुमान है।) ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि सर्वत्र अनुमान ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है अत: अत्यन्त परोक्ष स्वर्गादिक पदार्थों में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होने से प्रश्नोत्तर व्यवहार के अभाव का प्रसंग आयेगा अर्थात् उन परोक्ष पदार्थों के जानने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता क्योंकि वचनों के द्वारा ही उन परोक्ष पदार्थों का आगम ज्ञान होता है।

किंच-मतिपूर्वक होने वाले स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भी श्रुतज्ञान से भिन्न नहीं हैं। (क्योंकि अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है और साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान ज्ञान है इसलिए साध्य और साधन की भेद विवक्षा से उत्पन्न अनुमानज्ञान श्रुतज्ञान रूप ही है।) अत: निर्देश, साधन आदि अधिगम के उपाय श्रुतज्ञान के भेद मानना ही इष्ट है। इसकी प्रमाणता का वर्णन आगे श्रुतज्ञान के प्रकरण में करेंगे अत: यहाँ विस्तार रूप से कथन नहीं कर रहे हैं।

भावार्थ : सकर्मक धातु का शुद्ध अर्थ कर्त्ता और कर्म दोनों में रहता है अत: कर्त्ता में रहने वाले अर्थ का निरूपण कर दिया है, अब कर्म में स्थित अर्थ का वर्णन करते हैं।

अधिगम्य (जानने योग्य) पदार्थों का पूर्ण स्वरूप या एकदेश से होने वाला कर्मस्थ अधिगम (अनुभव या ज्ञान) प्रमाण और नय के विषयभूत निर्देश आदि के द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। क्योंकि *निर्देश (कथन) करने योग्य धर्मों (वस्तु स्वरूप) के द्वारा पदार्थों का अधिगम होना प्रतीत होता है। अर्थात्* आत्मा निर्देश आदि के द्वारा जीवादिक पदार्थों को जानता है।

शंका : निर्देश आदिक जब कर्मस्वरूप पदार्थों का स्वभाव है, तब उनके करणत्व कैसे घटित हो सकता है ? **समाधान :** निर्देश आदि को भेदस्वरूप से प्रतीति हो रही है अत: ये निर्देश आदि करण स्वरूप हैं जैसे अग्नि उष्णत्वरूप करण (साधन) के द्वारा जानी जाती है अत: अग्नि का उष्णत्व करण साधन है। उसी प्रकार **निर्देश आदि के द्वारा पदार्थों का अधिगम होता है अत: निर्देश आदि करण स्वरूप हैं।**

शंका : अग्निस्वरूप कर्म से उष्णत्व रूप करण सर्वथा भिन्न है, क्योंकि गुण-गुणी में सर्वथा भेद है ? **समाधान :** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गुण-गुणी के भेद एकान्त का पूर्व में खण्डन कर चुके हैं अर्थात् गुण-गुणी में सर्वथा भिन्नता नहीं है क्योंकि इसका पूर्व में वर्णन कर चुके हैं। गुण-गुणी में लक्ष्य, लक्षण, संज्ञा, प्रयोजन आदि की अपेक्षा कथंचित् भेद है कथंचित् अभेद है। उसी प्रकार निर्देश आदि में भी कर्म से कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है क्योंकि ये समान ही हैं।

समभिधीयमाना जीवादेः कर्मणः पर्यायार्थाद्भिन्ना नेष्यंते । द्रव्यार्थात्तु ततस्तेषामभेदेपि भेदोपचारात्कर्मकरणनिर्देशघटनेति केचित् । परे पुनः कर्मसाधनाधिगमपक्षे निर्देश्यत्वादीनां कर्मतया प्रतीतेः करणत्वमेव नेच्छंति तेषां विशेषणत्वेन घटनात् । न हि यथाग्निरुष्णत्वेन विशिष्टोधिगमोपायैरधिगम्यत इति प्रतीतिरविरुद्धा तथा सर्वेर्था निर्देश्यादिभिर्भावैरधिगम्यंत इति निर्णयोप्यविरुद्धो नावधार्यते । तथा सति परापरकरणपरिकल्पनायां मुख्यतो गुणतो वानवस्थाप्रसक्तिरपि निवारिता स्यात् । तदपरिकल्पनायां वा

किंच-करणत्व से कथित निर्देशत्व, स्वामित्व आदि कर्मस्वरूप धर्मी से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथंचित् भिन्न नहीं है ऐसा नहीं समझना चाहिए अपितु कथंचित् भेद है, ऐसा समझना चाहिए।

अतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीवादिक पदार्थों से निर्देशत्व आदि धर्मों का अभेद होने पर भी भेद का उपचार करने पर कर्म और करण रूप से निर्देश (कथन) घटित हो जाता है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है। वह खण्डनीय नहीं है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी में अभेद है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद है ऐसा जानना चाहिए।

कोई कर्मसाधन व्युत्पत्ति से सिद्ध अधिगम का पक्ष लेकर निर्देश आदि की कर्म रूप से प्रतीति होती है अतः निर्देश आदि को करणत्व रूप से स्वीकार नहीं करते हैं उनके मत में निर्देश आदिकों को विशेषण रूप से घटित किया जाता है अर्थात् निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन विशेषणों से विशिष्ट अर्थ का प्रमाण और नय के द्वारा अधिगम होता है, यह सूत्र का अर्थ किया जाता है। क्योंकि जैसे उष्णत्व नाम के विशेषण से विशिष्ट अग्नि प्रमाण और नय रूप अधिगम के उपायों के द्वारा जानी जाती है, इस प्रकार की प्रतीति अविरुद्ध है (विरुद्ध नहीं) है उसी प्रकार सर्व पदार्थ निर्देश्य आदि भावों (विशेषणों) के द्वारा विशिष्ट होकर अधिगम उपायों के द्वारा जाने जाते हैं, यह निर्णय भी अविरुद्ध नहीं है ऐसा नहीं है अपितु अविरुद्ध है और ऐसा होने पर परापर करण की परिकल्पना में मुख्य और गौण रूप से अनवस्था दोष का भी निवारण कर दिया जाता है।

अर्थात् जीवादि पदार्थों को जानने के लिए निर्देशत्व आदि करणों की आवश्यकता है, उसी प्रकार निर्देश आदि करणों को जानने के लिए दूसरे करणों की आवश्यकता होगी और उनको जानने के लिए दूसरे करणों की। इस प्रकार आगत अनवस्था दोष का भी निर्देश आदिक को कथंचित् करणत्व और कथंचित् कर्मत्व मानने से निराकरण हो जाता है।

आगे आने वाले करणों की कल्पना नहीं करने पर अनवस्था दोष तो नहीं होगा, परन्तु स्वाभिमत धर्मों के भी करणत्व नहीं हो, ऐसी शंका को अवकाश भी नहीं रहेगा अर्थात् निर्देश आदिक को पदार्थों का विशेषण मान लेने पर अनवस्था दोष भी नहीं आता है और धर्म कारण नहीं होंगे यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता है अतः कर्मस्थ अधिगम के पक्ष में निर्देश आदिक को अधिगम के कारण न मान कर पदार्थ के विशेषण मानने चाहिए। यह भी किसी का कथन, आचार्य कहते हैं, ठीक है।

स्वाभिमतधर्माणामपि करणत्वं मा भूदित्यपि चोद्यमानमनवकाश्यं स्यात् । नन्वेवमपरापरविशेषण-कल्पनायामप्यनवस्था विशेषणांतररहितस्य वा जीवादेः स्वाभिमतधर्मविशेषणैः प्रतिपत्तौ तैरपि रहितस्य प्रतिपत्तिरस्तु विशेषाभावादिति चेन्न, विशेष्यात् कथंचिदभिन्नत्वाद्विशेषणानां । वस्तुतोऽनंता विधयोपि हि धर्मा निर्देशादिभिः संगृहीता विशेषणान्येव, तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्यासंभवात् । तत्र जीवादिवस्तु विशेष्यमेव द्रव्यार्थादेशात् निर्देश्यत्वादि विशेषणमेव पर्यायार्थात् । प्रमाणादेशादपि विशेषणविशेष्यात्मकं वस्तु जात्यंतरमिति प्ररूपणायां नोक्तदोषावकाशः । नन्वेवं निर्देशादिधर्माणां करणत्वपक्षेपि न परापरधर्मकरणत्वपरिकल्पनादनवस्था तद्व्यतिरेकेण परापरधर्माणामभावात्तेषां तु करणत्वं तैरधिगम्यमानस्यार्थस्य कर्मता नयादेशात् , प्रमाणादेशात्तु कर्मकरणात्मकं जात्यंतरं वस्तु प्ररूप्यते इति न किंचिदवद्यं । नैतत्साधीयः। करणत्वे निर्देशादीनां कर्मसाधनतानुपपत्तेः विशेषणत्वे तु तदुपपत्तेः । विशेषणविशेष्यभूतस्य जीवाद्यर्थस्य कर्मसाधनोधिगमः प्रतिपत्तुं

शंका : इस प्रकार करण पक्ष के समान विशेषण पक्ष में परापर विशेषण की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आ सकता है अर्थात् उत्तरोत्तर विशेषणों की कल्पना की आकांक्षा बढ़ती जायेगी। यदि विशेषणान्तरों से रहित जीवादिक की अपने अभिमत निर्देश आदि विशेषणों के द्वारा प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना मानने पर तो निर्देश आदि विशेषणों से रहित जीवादिक की प्रतिपत्ति स्वीकार करनी चाहिए। विशेषणान्तरों में और निर्देश आदि विशेषणों में कोई अन्तर नहीं है।

समाधान : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि विशेष्य से विशेषणों को कथंचित् अभिन्न माना है। वास्तव में विधि (अस्ति) रूप अनन्त धर्म निर्देश आदि के द्वारा ही गृहीत होते हैं, वे सर्व वस्तु के विशेषण ही हैं। (जैसे जीव है, धर्म है इत्यादि सर्व सत्त्व स्वरूप पदार्थ के विशेषण ही हैं।) क्योंकि विशेषण रहित वस्तुधर्म की असंभवता है अर्थात् विशेष के बिना कोई सामान्य धर्म रहता ही नहीं है अतः द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीवादि वस्तु विशेष है और पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से निर्देश्यत्वादि जीवादि वस्तु के विशेषण हैं तथा द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु को एक साथ जानने वाले प्रमाण वाक्य की अपेक्षा विशेष्य विशेषणात्मक (सामान्यविशेषात्मक) जात्यन्तर वस्तु है अतः वैशेषिक आदि के द्वारा कथित दोषों का स्याद्वाद कथन में अवकाश नहीं हो सकता।

शंका : इस प्रकार तो निर्देश आदि धर्मों को करणत्व मानने पर भी उत्तरोत्तर धर्मों के करणत्व की कल्पना से उत्पन्न अनवस्था दोष नहीं आ सकता क्योंकि उन निर्देश आदि कर्मों से भिन्न स्थित पर-अपर (दूसरे) धर्मों (करण) का अभाव है। उन निर्देश आदिकों को तो करणत्व के द्वारा ज्ञात अर्थ को कर्मत्व नय विवक्षा से है। यदि नय विवक्षा को गौण कर प्रमाण अपेक्षा से विचार किया जाता है तब तो कर्म और करण स्वरूप होकर तीसरी जात्यन्तर वस्तु का निरूपण किया जाता है, इसमें अनवस्था आदि कोई दोष नहीं आते हैं।

समाधान : ऐसा कहना श्रेष्ठतम नहीं है क्योंकि निर्देश आदिकों का करणत्व मान लेने पर कर्म साधनपना नहीं हो सकता है। यदि निर्देश आदि को विशेषण मान लिया जाता है तो कर्मसाधनत्व घटित हो सकता है। इसलिए विशेषण विशेष्यरूप जीवादि पदार्थों का कर्म साधन अधिगम होता है अर्थात् निर्देश

शक्यत इति विशेषणत्वपक्ष एव श्रेयान्। सकलविशेषणरहितत्वाद्वस्तुनो न संभवत्येव निर्दिश्यमानरूपमिति मतमपाकुर्वन्नाह;—

भावा येन निरूप्यंते तद्रूपं नास्ति तत्त्वत: । तत्स्वरूपवचो मिथ्येत्ययुक्तं नि:प्रमाणकम् ॥ ७ ॥

यत्तदेकमनेकं च रूपं तेषां प्रतीयते। प्रत्यक्षतोनुमानाच्चाबाधितादागमादपि ॥ ८ ॥

न हि प्रत्यक्षानुमेयागमगम्यमानानामर्थानां प्रत्यक्षानुमानागमैरेकमनेकं च रूपं परस्परापेक्षं न प्रतीयते परस्परनिराकरणप्रवणस्यैव तस्याप्रतीते:। न चाप्रतीयमानस्य सर्वथैकांतस्याप्यवस्थितौ प्रतीयमानस्यापि जात्यंतरस्यावस्थितिर्नाम स्वेष्टरूपस्यापि तत्प्रसंगात्। तथा चैकरूपाभावस्य भावेष्वनवस्थितौ स्यादेवैकरूपस्य विधिस्तदनवस्थितौ अनेकरूपस्य परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरप्रतिषेधोन्यतरस्य विधेरवश्यं भावान्नीलत्वानीलत्ववत् परस्परव्यवच्छेदस्वभावौ एकरूपभावाभावौ प्रतीतौ, तदनेनानेकरूपाभावस्य

आदि को पदार्थों का विशेषण मान लेने पर जीवादिक में कर्म साधन घटित हो सकता है वा जीवादिक पदार्थों में कर्म साधन जानना शक्य हो सकता है इसलिए सूत्र का अर्थ करते समय करण साधन (निर्देश आदि के द्वारा जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है) की अपेक्षा विशेषण निर्देश आदि से विशिष्ट जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है, यह पक्ष श्रेष्ठ है। (जैन सिद्धान्त के अनुसार सारी व्यवस्था सुघट है, एकान्त पक्ष में नहीं।)

सकल विशेषण रहित होने से वस्तु का निर्देश (कथन) करना संभव नहीं है (क्योंकि वस्तु अवक्तव्य है।) ऐसा कहने वालों के मत का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं :-

बौद्ध का कथन है-जिस स्वरूप के द्वारा वस्तु का निरूपण किया जाता है, वास्तव में वह वस्तु का स्वरूप नहीं है इसलिए वस्तु के स्वरूप का कथन करना मिथ्या (असत्य) है। आचार्य कहते हैं कि बौद्ध का यह कथन अयुक्त है, अप्रामाणिक है, प्रमाणसिद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और अबाधित (निर्दोष) आगम प्रमाण से एक और अनेक स्वरूप वस्तु की प्रतीति होती है अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक प्रतीत हो रही है॥७-८॥

प्रत्यक्ष, अनुमेय और आगम गम्य पदार्थ परस्पर में सापेक्ष एक और अनेक स्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान ज्ञान और आगम ज्ञान के द्वारा प्रतीत नहीं होते हैं, ऐसा नहीं है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण के द्वारा एक और अनेक स्वरूप वस्तु प्रतीत होती है अपितु परस्पर निराकरण करने में प्रवण (चतुर) एक और अनेक की पृथक् प्रतीति नहीं होती है अर्थात् सर्वथा एक या अनेक रूप नहीं है। अप्रतीयमान सर्वथा एकान्तों की व्यवस्था न होने पर प्रतीयमान (प्रतीति में आने वाले) जात्यन्तर (एकानेक धर्मात्मक) वस्तु की व्यवस्था कैसे नहीं हो सकती अर्थात् एकानेक धर्मात्मक वस्तु की व्यवस्था सिद्ध है। अन्यथा (यदि अनेक धर्मात्मक वस्तु स्वीकार नहीं करते हैं तो) स्व इष्ट (स्वलक्षण, क्षणिकत्व आदिक) की भी अव्यवस्था होने का प्रसंग आता है अर्थात् क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं होती।

तथा च-पदार्थों में एक रूप के अभाव की व्यवस्था न होने पर एक रूप भाव की विधि अवश्य हो जाती है और वस्तु के एक रूप के सद्भाव की व्यवस्था न होने पर अनेक रूप की विधि हो जाती है। परस्पर एक दूसरे के व्यवच्छेद स्वरूप दो पदार्थों में से किसी एक का निषेध करने पर शेष दूसरे की विधि अवश्य हो जाती है। जैसे कोई भी नील और अनील दोनों से रहित नहीं हो सकता।

इसी प्रकार एकरूप का भाव (विधि) और अभाव (निषेध) भी परस्पर व्यवच्छेद स्वभाव वाले प्रतीत होते हैं इसलिए इस कथन से यह भी निरूपण कर दिया गया है कि जब वस्तु के अनेक स्वरूप के

भावेष्वनवस्थितावनेकरूपस्य विधिस्तदनवस्थितावेकरूपस्य निवेदितः समानत्वान्न्यायस्य । ननु वाध्यक्षे सकलधर्मरहितस्य स्वलक्षणस्य प्रतिभासनात् न तत्रैकमनेकं वा रूपं परस्परं सापेक्षं निरपेक्षं वा तद्रहितत्वं वा प्रतिभाति कल्पनारोपितस्य तु तथा प्रतिभासनस्य तत्त्वतोसत्त्वात् । संवृत्त्या तत्सद्भावोभीष्ट एव । तथा चैकरूपतदभावयोरनेकरूपतदभावयोश्चैकानेकरूपयोः परस्परव्यवच्छेदस्वभावयोरेकतरस्य प्रतिषेधेऽन्यतरस्य विधेरवश्यंभावेपि न किंचिद्विरुद्धं, भावाभावोभयव्यवहारस्यानादिशब्दविकल्पवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितस्य शब्दार्थतयोपगमात् । तदुक्तं । "अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः ॥" इति केचित् । तेपि नानवद्यवचसः । सुखनीलादीनामपिरूपाणां कल्पितत्वप्रसंगात् । स्पष्टमवभासमानत्वान्न तेषां कल्पितत्वमिति चेन्न, स्वप्नावभासिभिरनेकांतात् । न हि चैषामपि कल्पितत्वं मानसविभ्रमात्मना स्वप्नस्योपगमात् तस्य करणजविभ्रमात्मनोपगमे वा कथमिंद्रियजविभ्रमात्तद्भ्रांतेः पृथक्

अभाव की सिद्धि न होने पर अनेक स्वभाव की सिद्धि होती है और अनेक स्वभाव की सिद्धि न होने पर एक स्वभाव की सिद्धि हो जाती है, यह न्याय समान है अर्थात् एकानेक धर्मात्मक वस्तु अनायास सिद्ध हो जाती है।

शंका : प्रत्यक्ष ज्ञान में सम्पूर्ण धर्मों से रहित स्वलक्षण का प्रतिभास होता है। उस प्रत्यक्ष ज्ञान में एक रूप, अनेक रूप वा परस्पर सापेक्ष वा निरपेक्ष और सापेक्ष निरपेक्ष रहित वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है क्योंकि एक अनेक आदि प्रतिभास कल्पना से आरोपित होने से असत् रूप हैं, वास्तविक नहीं हैं, अतः व्यवहार नय से कल्पित एकत्व अनेकत्व का संवृत्ति से सद्भाव इष्ट है, वास्तव में नहीं। इसलिए परस्पर व्यवच्छेदात्मक एक स्वभाव और उसका अभाव, अनेक रूप और उसका अभाव और एक स्वरूप और अनेक स्वरूप में किसी एक का निषेध करने पर शेष दूसरे की विधि करना अवश्यंभावी हो जाना भी किंचित् विरुद्ध नहीं है क्योंकि भावात्मक, अभावात्मक और उभयात्मक व्यवहार तो अनादि कालीन शब्द और विकल्प ज्ञान की वासनाओं से उत्पन्न विकल्पों में स्थित हैं। उनके व्यवहार को बौद्ध दर्शन में शब्द के वाच्यार्थ से स्वीकार किया है, वास्तविक रूप से नहीं। सो ही बौद्ध ग्रन्थ में कहा है-भाव, अभाव और उभयात्मक का आश्रय लेकर कल्पित तीन प्रकार का धर्म ही शब्द का वाच्यार्थ है, जो आत्मा में अनादि कालीन मिथ्या संस्कार से उत्पन्न वासना है, वास्तविक नहीं है।

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन भी निर्दोष नहीं है, अर्थात् शब्द के वाच्यार्थ को बौद्ध वस्तुभूत नहीं मानते हैं अतः उनका कथन निस्सार है, क्योंकि विकल्प ज्ञान को मिथ्या वासना मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान से ज्ञात अंतरंग सुख, ज्ञान आदि और बहिरंग नील, पीत आदि स्वलक्षणों के भी कल्पितपने का प्रसंग आयेगा। "स्पष्ट अवभास होने से सुखादि और नीलादिक के कल्पितत्व नहीं है" ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर स्वप्न प्रतिभासित सुखादि और नीलादि के साथ व्यभिचार आयेगा अर्थात् स्वप्न में दृष्ट नीलादि पदार्थों का स्पष्ट प्रतिभास है, परन्तु अकल्पित (वास्तविक) नहीं है, अपितु कल्पित है अतः जो-जो अकल्पित है उनका ही स्पष्ट प्रतिभास (निर्विकल्प) होता है, कल्पित का

प्ररूपणं न विरुध्यते। मानसविभ्रमत्वेपि विशदत्वं स्वप्नस्य विरुध्यत इति चेन्न, विशदाक्षज्ञानवासनासद्भूतत्वेन तस्य वैशद्यसंभवात्। न च तत्र विशदरूपतयावभासमानानामपि सुखनीलादीनां पारमार्थिकत्वं विसंवादात्। तद्वज्जाग्रद्दशायामपि तेषामनादींद्रियादिजज्ञानवासनोद्भूतप्रतिभासपरिनिष्ठितत्वात्प्रत्यक्षा एव ते न वस्तुस्वभावा इति शक्यं वक्तुं। बाधकाभावाद्वास्तवास्ते इति चेत्, शब्दार्थास्तथा संतु। न चाभावस्यापि शब्दार्थत्वात्सर्वशब्दार्थानामवास्तवत्वमिति युक्तं, भावांतररूपत्वादभावस्य। ननु तुच्छाभावस्याशब्दार्थत्वे कथं प्रतिषेधो नाम निर्विषयप्रसंगादिति चेन्न, वस्तुस्वभावस्याभावस्य विधानादेव तुच्छस्वभावस्य तस्य

नहीं, यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है, क्योंकि स्वप्न आदि में कल्पित का भी स्पष्ट प्रतिभास होता है तथा स्वप्न में अनुभूत नीलादि निर्विकल्प ज्ञान का विषय भी नहीं हैं-क्योंकि सौगत मत में स्वप्न को मनोजनित विभ्रम ज्ञान स्वीकार किया है। यदि उस स्वप्न को बहिरिन्द्रियजन्य विभ्रम ज्ञान माना जायेगा तो अन्यत्र ग्रन्थों में इन्द्रियजन्य भ्रान्ति से उस स्वप्न रूप भ्रम का पृथक् निरूपण करना विरुद्ध कैसे नहीं होगा? अर्थात् बाह्य पदार्थजन्य भ्रान्ति और स्वप्न भ्रान्ति का पृथक्-पृथक् निरूपण करने से परस्पर विरोध आता है।

स्वप्न ज्ञान को मानस विभ्रम मानने पर स्वप्न के विशदत्व का विरोध आता है अर्थात् जो भ्रान्ति रूप ज्ञान हैं, वे स्पष्ट नहीं होते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण रूप ज्ञान ही विशद होते हैं। बौद्धों का इस प्रकार कहना उचित नहीं है-क्योंकि विशद इन्द्रिय ज्ञान से निर्मित वासना से उत्पन्न स्वप्न ज्ञान के विशदत्व संभव है परन्तु स्वप्न में स्पष्ट रूप से प्रतिभासित सुख आदि अन्तरंग पदार्थ और नीलादि बहिरंग पदार्थों में विसंवाद होता है अत: वे परमार्थभूत नहीं हैं। ऐसा कहने पर स्वप्न दशा के समान जाग्रत अवस्था में भी सुख, नीलादिक पदार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञान की अनादिकालीन वासना से उत्पन्न प्रतिभास में स्थित होने के कारण प्रत्यक्ष विषय तो हो जायेंगे परन्तु वास्तविक नहीं हो सकेंगे, ऐसा जैनाचार्य भी कह सकते हैं।

यदि बाधक प्रमाण का अभाव होने से जाग्रत अवस्था में होने वाले सुख, नील आदि पदार्थ वास्तविक हैं तो फिर बाधक प्रमाण का अभाव होने से शब्द का वाच्य अर्थ वास्तविक क्यों नहीं होगा? अर्थात् शब्द का वाच्यार्थ भी वास्तविक है। ऐसा मानना पड़ेगा।

अभाव भी शब्द का वाच्यार्थ है और अभाव अवास्तविक है अत: सभी शब्दों का वाच्यार्थ अभाव स्वरूप होने से अवास्तविक है ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अभाव भी भावान्तर स्वरूप है अर्थात् अभाव भी भाव स्वरूप है। जैसे गाय का अभाव महिषी आदि है। **तुच्छ निरुपाख्य अभाव कोई पदार्थ नहीं है।**

शंका : तुच्छाभाव को यदि शब्द का वाच्यार्थ नहीं माना जायेगा तो उस तुच्छाभाव का निषेध कैसे होगा ? तथा निषेध के भी निर्विषयत्व का प्रसंग आयेगा।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वस्तु स्वरूप के अभाव का विधान करने पर तुच्छाभाव रूप अभाव का निषेध स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। जैसे अनेकान्त की सिद्धि हो जाने पर

प्रतिषेधसिद्धेः क्वचिदनेकांतविधानात्। सर्वथैकांतप्रतिषेधसिद्धिवत् तथा तस्य मुख्यः प्रतिषेधो न स्यादिति चेन्न किंचिदनिष्टं, न हि सर्वस्य मुख्येनैव प्रतिषेधेन भवितव्यं गौणेन वेति नियमोस्ति यथाप्रतीतस्योपगमात्। ननु गौणेपि प्रतिषेधे तुच्छाभावस्य शब्दार्थत्वसिद्धिर्गम्यमानस्य शब्दार्थत्वाविरोधात् सर्वथैकांतवदिति चेन्न, तस्यागम्यमानत्वात्तद्वत्। यथैव हि वस्तुनोनेकांतात्मकत्वविधानात् सर्वथैकांताभावो गम्यते न सर्वथैकांतस्तथा वस्तुरूपस्याभावस्य विधानात्तुच्छाभावस्याभावो न तु स गम्यमानः। ननु तुच्छाभावस्याभावगतौ तस्य गतिरवश्यंभाविनी प्रतिषेध्यनांतरीयकत्वात् प्रतिषेधस्येति चेन्न, व्याघातात्। तुच्छाभावस्याभावश्च कुतश्चिद्गम्यते भावश्चेति को हि ब्रूयात्स्वस्थः। ननु वस्तुरूपस्याभावस्य विधानात्तुच्छाभावस्याभावगतिस्तद्गतेस्तस्य गतिस्ततो

(अनेकान्त का विधान करने पर) सर्वथा एकान्त का निषेध स्वयमेव हो जाता है।

ऐसा होने पर तुच्छाभाव का मुख्य रूप से निषेध नहीं होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि यह कथन स्याद्वाद में अनिष्ट नहीं है। सर्व निषेध मुख्य रूप से ही होना चाहिए या गौण रूप से ही होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि जिस निषेध की मुख्य या गौण रूप से प्रतीति होती है, वैसा ही मान लिया जाता है।

शंका : तुच्छाभाव का गौण रूप से निषेध करने पर भी शब्द का वाच्यार्थ सिद्ध हो जाता है क्योंकि शब्द के द्वारा कथित पदार्थ के समान शब्द के द्वारा गम्यमान पदार्थ को भी शब्द का वाच्यार्थपना प्राप्त होने में कोई बिरोध नहीं है जैसे सर्वथा एकान्त को शब्द का वाच्यार्थ मानने में विरोध नहीं है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जैसे सर्वथा एकान्त, शब्द के द्वारा जानने योग्य नहीं है वैसे ही तुच्छाभाव, शब्द के द्वारा गम्यमान नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तु का कथन करने पर सर्वथा एकान्त का अभाव जान लिया जाता है, सर्वथा एकान्त का अस्तित्व नहीं जाना जाता है, अपितु सर्वथा एकान्त का निषेध होता है। उसी प्रकार वस्तुत्व रूप के अभाव की विधि होने पर तुच्छाभाव रूप अभाव का अभाव सिद्ध हो ही जाता है, परन्तु तुच्छाभाव का अभाव तो कैसे भी गम्यमान नहीं होता है, जाना नहीं जाता है अर्थात् जैसे सर्वथा एकान्त प्रमेयत्व धर्म से रहित है वैसे ही तुच्छाभाव प्रमेयत्व धर्म से रहित है, ज्ञान के द्वारा गम्य नहीं है क्योंकि वह प्रमेय नहीं है और जो प्रमेय नहीं होता वह ज्ञान का विषय नहीं होता।

शंका : तुच्छाभाव के अभाव का ज्ञान करने पर तुच्छाभाव की गति (ज्ञान) अवश्यंभावी है, क्योंकि निषेध्य (निषेध करने योग्य) पदार्थ के साथ रहता है, अर्थात् अभाव का निषेध तब ही हो सकता है जबकि निषेध्य (जिसका निषेध किया जाता है उस अभाव पदार्थ) का अस्तित्व होता है।

समाधान : ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है अर्थात् जिसका अस्तित्व है उसका निषेध कैसे हो सकता है, किसी कारण से तुच्छाभाव को अभाव रूप कथन करने वाला और तुच्छाभाव की सत्ता का भी कथन करने वाला स्वस्थ कैसे हो सकता है अर्थात् तुच्छाभाव सर्वथा अभावरूप ही है और शब्द का विषय होने से सत्त्व रूप भी है ऐसा कहने वाला ज्ञानी नहीं हो सकता ?

न व्याघातो नाम, यत एव हि तस्याभावगतिस्तत एव भावस्यापि गतौ व्याघातो नान्यथेति चेन्न, सामस्त्येन तस्याभावगतौ पुनर्भावगतेर्व्याहतेरवस्थानात्। प्रतिनियतदेशादितया तु कस्यचिदभावगतावपि न भावगतिर्विहन्यत इति युक्तं। कथमिदानीं "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" इति मतं न विरुध्यते? तुच्छाभावस्य प्रतिषेध्यस्याभावेपि प्रतिषेधसिद्धेरन्यथा तस्य शब्दार्थतापत्तेरिति चेन्न, संज्ञिनः सम्यग्ज्ञानवतः प्रतिषेध्यादृते न क्वचिदंततर्बहिर्वा प्रतिषेध इति व्याख्यानात्तदविरोधात्। सकलप्रमाणाविषयस्य तुच्छाभावस्य प्रतिषेधः स्वयमनुभूतसकलप्रमाणाविषयत्वेन तदनुवदनमेवेति स्यात्प्रतिषेधादृते प्रतिषेधः स्यान्नेत्यनेकांतवादिनामविरोधः

शंका : वस्तु स्वरूप के अभाव का विधान करने से ही तुच्छाभाव के अभाव की ज्ञप्ति हो जाती है और तुच्छाभाव के अभाव के ज्ञान से तुच्छाभाव की ज्ञप्ति हो जाती है। इसलिए इसमें व्याघात दोष नहीं आता है। जिस रूप से उस तुच्छाभाव के अभाव की ज्ञप्ति होती है उसी रूप से तुच्छाभाव के भाव की ज्ञप्ति मान ली जाती है तब तो व्याघात दोष अवश्य आता है परन्तु अन्यथा मानने से व्याघात दोष नहीं आता है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण रूप से तुच्छाभाव अभाव रूप ही जाना जाता है, तो फिर तुच्छाभाव के भाव की ज्ञप्ति करने से व्याघात दोष वैसे का वैसा ही रह जाता है। प्रतिनियत देशकाल आदि की अपेक्षा से किसी के अभाव की ज्ञप्ति हो जाने पर भी पुनः किसी अन्य देशकाल आदि और अन्य अवस्था में उसके भाव का ज्ञान कर लेने में व्याघात दोष नहीं आता है, यह कथन ठीक है। अर्थात् किसी देश काल में अभाव मानना और किसी देश आदि में उनका सद्भाव मानना व्याघात दोष से युक्त नहीं है अपितु सर्वथा अभाव रूप तुच्छाभाव को सद्भाव रूप मानना व्याघात दोष से युक्त है।

किसी का **प्रश्न** है-"प्रतिषेध करने योग्य पदार्थ बिना संज्ञा (नाम) वाले का कहीं भी निषेध नहीं होता है" यह जैनाचार्यों का कथन विरुद्ध क्यों नहीं होगा, अर्थात् तुच्छाभाव के नहीं होने पर तुच्छाभाव का निषेध करने पर जैनाचार्यों के स्ववचन से यह बाधित होगा कि जो प्रमेय नहीं है उसका निषेध नहीं किया जा सकता, अन्यथा (तुच्छाभाव को निषेध्य मानकर यदि निषेध किया जायेगा तो) वाचक संज्ञा वाले तुच्छाभाव को शब्द के वाच्य अर्थ का प्रसंग आयेगा। जैनाचार्य **उत्तर** देते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" इस कारिका का अर्थ **समन्तभद्राचार्य** ने इस प्रकार किया है "संज्ञिनः अर्थात् समीचीन ज्ञान वाले निषेध्य के बिना कहीं भी अंतरंग वा बहिरंग पदार्थ का निषेध नहीं होता है" ऐसा व्याख्यान करने से आचार्यों के कथन से हमारे कथन में और हमारे कथन से आचार्य देव के कथन में विरोध नहीं आता है।

भावार्थ : सर्वथा एकान्त के समान तुच्छाभाव सम्यग् ज्ञान का विषय नहीं है अतः निषेध्य के बिना भी उसका निषेध किया जा सकता है।

सकल प्रमाणों के अविषयभूत तुच्छाभाव का निषेध स्वयं अनुभूत सम्पूर्ण प्रमाणों का विषय न होने से केवल अनुवदन करना मात्र है अर्थात् तुच्छाभाव किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है, ऐसा कथन करके

प्रमाणवृत्तांतवादपरत्वात्तेषां। न हि यथा जीवादिवस्तु प्रतिनियतदेशादितया विद्यमानमेव देशांतरादितया नास्तीति प्रमाणमुपदर्शयति तथा तुच्छाभावं तस्य भावरूपत्वप्रसंगात्। सर्वत्र सर्वदा सर्वथा वस्तुरूपमेवाभावं तदुपदर्शयति तथा तुच्छाभावाभावमुपदर्शयतीति तद्वचने दोषाभाव:। नन्वेवं तुच्छाभावसदृशस्यानर्थकत्वे प्रयोगो न युक्तोतिप्रसंगात्, प्रयोगे पुनरर्थ: कश्चिद्वक्तव्य: स च बहिर्भूतो नास्त्येव च कल्पनारूढस्त्वन्यव्यवच्छेद एवोक्त: स्यात्तद्वत्सर्वशब्दानामन्यापोहविषयत्वे सिद्धेर्न वास्तवा: शब्दार्था इति चेत् नैतदपि सारं,

उसका निषध कर दिया जाता है अत: कथंचित् प्रतिषेध्य के बिना भी प्रतिषेध कर दिया जाता है और कथंचित् प्रतिषेध्य के बिना प्रतिषेध नहीं भी होता है अत: अनेकान्तवादियों के कथन में विरोध नहीं आता है क्योंकि उन अनेकान्तवादियों के द्वारा प्रमाण सिद्ध वृत्तान्त का अनुवदन (कथन) किया जाता है।

जिस प्रकार प्रमाण (अनेकान्तवाद या सम्यग्ज्ञान) प्रतिनियत देश, काल की अपेक्षा (स्वचतुष्टय की अपेक्षा) विद्यमान जीवादि पदार्थों का परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व दिखलाता है। (स्वचतुष्टय की अपेक्षा जीवादि पदार्थ अस्ति रूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति है, ऐसा सम्यग्ज्ञान कथन करता है) उसी प्रकार यदि सम्यग्ज्ञान स्वचतुष्टय और पर चतुष्टय की अपेक्षा तुच्छाभाव के अस्तित्व और नास्तित्व का कथन करेगा तो जीवादिक के समान कथंचित् तुच्छाभाव के भी भावत्व का प्रसंग आयेगा।

सम्यग्ज्ञान सर्वत्र सर्वकाल में और सभी प्रकार से वस्तुस्वरूप अभाव को ही दिखाता (कहता) है और तुच्छाभाव के भी उसी प्रकार वस्तुस्वरूप अभाव को कहता है। इस प्रकार उसके कथन करने में कोई दोष नहीं आता है अर्थात् तुच्छाभाव कोई पदार्थ नहीं है। जैसे बन्ध्या का पुत्र कोई वस्तु नहीं है।

शंका : इस प्रकार तुच्छाभाव शब्द को व्यर्थ मानने पर तो शब्द का प्रयोग करना ही युक्त नहीं है अर्थात् तुच्छाभाव के सदृश कोई पदार्थ ही नहीं है-तो 'तुच्छाभाव' इस शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है। अन्यथा अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् निरर्थक शब्दों का प्रयोग करना भी आवश्यक हो जायेगा तथा तुच्छाभाव का वचन प्रयोग करने पर फिर उसका कोई वाच्य अर्थ भी कहना पड़ेगा परन्तु तुच्छाभाव का वाच्यार्थ घट, पट आदि के समान बहिरंग वस्तुभूत अर्थ होता नहीं है अर्थात् जैसे घट आदि शब्द वाच्यार्थ वास्तविक वस्तु नहीं है वैसे तुच्छाभाव भी वास्तव अर्थ नहीं है केवल कल्पना रोपित अन्य व्यवच्छेद ही तुच्छ पदार्थ अभाव शब्द से कहा जाता है। इसी प्रकार उस अभाव शब्द के समान सभी शब्दों का अन्यापोह रूप अर्थ का विषय करना सिद्ध हो जाने पर सभी शब्दों के वाच्यार्थ वास्तविक सिद्ध नहीं होते हैं अपितु काल्पनिक सिद्ध होते हैं।

अभावशब्दस्याभावसामान्यविषयत्वात्तस्य विवादापन्नत्वात्। सर्वो हि किमयमभावो वस्तुधर्मः किं वा तुच्छ *इति प्रतिपद्यते न नास्तीति प्रत्ययार्थोऽभावमात्रे। तत्र च वस्तुधर्मतामभावस्याचक्षाणाः स्याद्वादिनः कथमभावशब्दं* कल्पितार्थं स्वीकुर्युः? स्वयं तुच्छरूपतां तु तस्य निराकुर्वंतः परैरारोपितामाशंकितां वानुवदतीत्युक्तप्रायं। न चात्यंतासंभविनो रूपस्य वस्तुन्यारोपितस्य केनचिदाशंकितस्य चातुच्छादेः सर्वशब्दानामन्यव्यवच्छेदविषयत्वप्रसंजनं प्रायः प्रतीतिविरोधात्। कथमन्यथा कस्यचित्प्रत्यक्षस्य नीलविषयत्वे सर्वप्रत्यक्षाणां नीलविषयत्वप्रसंजनं नानुज्ञायते सर्वथा विशेषाभावात्। अथ यत्र प्रत्यक्षे नीलं प्रतिभासते निर्बाधात्तन्नीलविषयं यत्र पीतादि तत्तद्विषयमित्यनुगम्यते तर्हि यत्र शाब्दे ज्ञाने वस्तुरूपमकल्पितमाभाति तद्वस्तुरूपविषयं यत्र तु कल्पनारोपितरूपं तत्तद्गोचरमित्युक्तं। ततः शब्दार्थानां भावाभावोभयधर्माणामभावादिवासनोदित-

---

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन सारभूत नहीं है क्योंकि 'अभाव' शब्द का अभाव सामान्य है और सामान्य विवाद में पड़ा हुआ है। यहाँ विचारात्मक प्रश्न है कि विवाद में पड़ा हुआ सर्व ही अभाव शब्द क्या वस्तु का धर्म है? अथवा तुच्छ स्वभाव है ? अभाव का अर्थ 'नहीं' नहीं है, इत्यादि अभाव सामान्य में अर्थ प्राप्त होता है अर्थात् अभाव का अर्थ सामान्य अभाव है। इसलिए यहाँ अभाव को वस्तु धर्म कहने वाले स्याद्वादी अभाव शब्द को कल्पित अर्थ वाला कैसे स्वीकार कर सकते हैं, अर्थात् नहीं कर सकते। स्याद्वादी तो स्वयं उस तुच्छरूपता का निराकरण करते हुए पर (वैशेषिक) के द्वारा आरोपित या मीमांसक के द्वारा शंका का विषयभूत तुच्छाभाव का अनुवदन करते हैं, उसका कथन मात्र करते हैं। इसका पूर्व में विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।

तथा अत्यन्त असंभवी (अत्यन्ताभावात्मक) किन्तु खण्डन करने के द्वारा वस्तु में आरोपित तुच्छाभाव आदि के वाचक सर्व शब्दों को अन्यापोह अर्थ के विषयत्व का प्रसंग देना प्रतीति विरुद्ध है, अन्यथा किसी भी प्रत्यक्ष ज्ञान का नीलत्व को विषय करने वाला होने पर रक्त पीत आदि का विषय करने वाले सभी प्रत्यक्ष के नीलत्व के ग्रहण करने का प्रसंग क्यों नहीं आवेगा, अपितु नीलत्व के ग्रहण करने का प्रसंग आयेगा क्योंकि इनमें कोई विशेषता नहीं है।

यदि जिस प्रत्यक्ष में नील का प्रतिभास होता है वह निर्बाधता से नील का विषय करने वाला ही प्रत्यक्ष है और जिस प्रत्यक्ष में पीत, रक्त आदि पदार्थ बाधा रहित प्रतिभासित होते हैं वह पीतादि का विषय करने वाला प्रत्यक्ष है, ऐसा मानते हो तो, जिस शब्दजन्य ज्ञान में अकल्पित परमार्थभूत वस्तुस्वरूप प्रतिभासित होता है, वह शब्दज्ञान वस्तुभूत पदार्थ का विषय करने वाला है परन्तु जिस शब्दज्ञान में कल्पना में आरोपित अवस्तुभूत पदार्थ प्रतिभासित होते हैं वह शब्दज्ञान अवस्तुभूत पदार्थ का विषय करने वाला है, ऐसा मानना चाहिए जिसका कथन पूर्व में कर दिया गया है। इसलिए शब्द के वाच्यार्थ भाव, अभाव

विकल्पपरिनिष्ठितत्वे प्रत्यक्षार्थानामपि तत्स्यात् तेषां बाधकाभावात्। पारमार्थिकत्वे वा तत एव शब्दार्थानामपि तद्वद्वेदिति न प्रतिपादितविरोधाभावः। यदप्युक्तं प्रत्यक्षे सकलधर्मरहितस्य स्वलक्षणस्य प्रतिभासनान्न तत्रैकमनेकं वा रूपं वा परस्परसापेक्षं वा निरपेक्षं वा तद्रहितं वा प्रतिभातीति। तदपि मोहविलसितमेव, अनेकांतात्मकवस्तुप्रतीतेरपह्नवात्। को हि महामोहविडंबितः प्रतिभासमानमाबालमबाधितमेकमनेकाकारं वस्तु प्रत्यक्षविषयतयानादृत्य कथमप्यप्रतिभासमानं ब्रह्मतत्त्वमिव स्वलक्षणं तथा आचक्षीत ? अतिप्रसंगात् तथानुमानादागमाच्च भावस्यैकानेकरूपविशिष्टस्य प्रतीयमानत्वान्न "भावा येन निरूप्यंते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः" इति वचनं निःप्रमाणकमेवोररीकार्यं, यतः स्वरूपवचनं सूत्रे मिथ्या स्यात्। यथा च प्रत्यक्षमनुमानमागमो

और उभय धर्मों का तथा इन धर्मों से युक्त धर्मियों का यदि अनादिकालीन भाव, अभाव आदि की वासना से उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञान द्वारा स्थित होना (मनगढ़न्त) माना जाता है, तो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत अर्थों को भी असत्य विकल्पों के द्वारा निर्मित मानना पड़ेगा अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात पदार्थ भी वस्तुभूत नहीं होंगे।

यदि बौद्ध कहे कि प्रत्यक्ष पदार्थ वस्तुभूत हैं इसमें बाधक प्रमाण का अभाव है तो उसी प्रकार बाधक प्रमाण का अभाव होने से शब्द का वाच्यार्थ भी वास्तविक होगा अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को पारमार्थिक मानने पर शब्द के वाच्यार्थ को भी पारमार्थिक मानना चाहिए। इस प्रकार शब्द का वाच्यार्थ सिद्ध हो जाने पर बौद्धों की अपनी कही गयी 'अनादिवासनोद्भूत' इस कारिका से विरोध हुआ। बौद्ध इधर तो शब्द का वाच्यार्थ नहीं मानते हैं और उधर अनेक ग्रन्थों या वक्ताओं द्वारा स्वकीय तत्त्व का प्रतिपादन कराते हैं। इस प्रकार के प्रतिपादन से अपना ही विरोध हुआ। इस विरोध दोष का अभाव बौद्ध नहीं कर सकते हैं।

तथा बौद्ध मत में जो यह कहा हुआ है कि-प्रत्यक्ष में सकल धर्म रहित कोरे स्वलक्षण का प्रतिभास होता है अतः उसमें एकरूप, अनेकरूप, परस्पर सापेक्ष, परस्पर निरपेक्ष, वा दोनों से रहित, कुछ भी स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है। जैनाचार्य कहते हैं कि-इस प्रकार कहना केवल मोह का विलास है। क्योंकि यह कथन अनेक धर्मात्मक वस्तु की प्रतीति का लोप करने वाला है। मोह की विडम्बना से युक्त कोई पुरुष ही "बालगोपाल (सभी लोगों) तक बाधा रहित प्रतिभासमान, एक-अनेक आकार वाली, वस्तु प्रत्यक्ष विषय का अनादर करके किसी भी प्रकार से दृष्टिगोचर न होने वाले (प्रतिभासित नहीं होने वाले) ब्रह्माद्वैत के समान, बौद्ध के द्वारा अभिमत स्वलक्षण को सर्व धर्मों से रहित कहता है अर्थात् मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही अनुभव में आने वाली अनेकान्तात्मक वस्तु को छोड़कर एकान्तवादी बौद्ध द्वारा कथित वस्तु का विश्वास करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। यदि प्रमाण प्रसिद्ध पदार्थों का तिरस्कार करके प्रमाण से बाधित पदार्थों की कल्पना की जायेगी तो अतिप्रसंग दोष आयेगा। सांख्य, नैयायिक आदि सभी के द्वारा स्वीकृत पदार्थों को सत्य मानना पड़ेगा। तथा-अनुमान और आगम प्रमाण से एक और अनेक धर्म से विशिष्ट वस्तु के प्रतीयमान हो जाने से भी "पदार्थ जिस स्वरूप से कहा जाता है, वास्तव में उसका वह स्वरूप नहीं है" यह बौद्ध का वचन अप्रामाणिक है अतः स्वीकार नहीं करना चाहिए जिससे कि सूत्रकार का 'निर्देश आदि सूत्र' में निर्देश शब्द से स्वरूप का कथन करना मिथ्या हो सकता हो अर्थात् बौद्धों के द्वारा स्वीकृत स्वरूप रहित अव्यक्त तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

वानेकांतात्मकं वस्तु प्रकाशयति स्वनिर्णीताबाधं तथाग्रे प्रपंचयिष्यते। किं च—

निःशेषधर्मनैरात्म्यं स्वरूपं वस्तुनो यदि। तदा न निःस्वरूपत्वमन्यथा धर्मयुक्तता ॥ ९ ॥

तत्त्वं सकलधर्मरहितत्वमकल्पनारोपितं प्रत्यक्षतः स्फुटमवभासमानं वस्तुनः स्वरूपमेव, तेन तस्य न निःस्वरूपत्वमितीष्टसिद्धं। कल्पनारोपितं तु तन्न वस्तुनः स्वरूपमाचक्ष्महे। न च कल्पितनिःशेषधर्मनैरात्म्यस्यात्मस्वरूपत्वे वस्तुनो निःशेषधर्मयुक्ततानिष्टा, कल्पितसकलधर्मयुक्तस्य तस्येष्टत्वात्। वस्तुकृताखिलधर्मसहितता तु न शक्यापादयितुं तया वस्तुनि कल्पितनिःशेषधर्मनैरात्म्यस्वरूपत्वस्याविनाभावात् तामंतरेणापि तस्योपपत्तेरिति केचित्। तेऽपि महामोहाभिभूतमनसः। स्वयं वस्तुभूत सकलधर्मात्मकतायाः स्वीकरणेपि तदसंभवाभिधानात्।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण अनेकात्मक वस्तु को प्रकाशित करता है यह सुनिर्णीत है निश्चित है, बाधारहित है, उसका कथन आगे विस्तारपूर्वक करेंगे।

किं च-यदि वस्तु का स्वरूप निःशेष धर्मों से रहित है तब तो वस्तु के स्वरूप रहितता नहीं है, अपितु धर्म रहितता है अन्यथा (यदि धर्मरहितत्व वस्तु का स्वरूप नहीं मानते हैं तो) सुलभता से धर्मयुक्तता सिद्ध हो जाती है॥९॥

बौद्ध का कथन-कल्पना ज्ञान से अनारोपित, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा विशद अवभासित और सकल धर्मों से रहित-पना ही वास्तविक, वस्तु का स्वरूप है इसलिए वस्तु का स्वरूप रहितपना नहीं है इस प्रकार इष्ट की सिद्धि होती है अर्थात् वस्तु धर्मरहित है, स्वभाव रहित नहीं है। बौद्ध मत में वस्तु का स्वभाव और धर्म भिन्न-भिन्न माना गया है अतः उनका कथन है कि नित्यादि वस्तु के धर्म कल्पना से आरोपित हैं, यह वस्तु का स्वभाव नहीं इसलिए निर्विकल्पस्वभाव से रहित वस्तु नहीं है अपितु कल्पनारोपित नित्यादि धर्मों से रहित वस्तु है।

बौद्ध दर्शन में कल्पना से आरोपित वस्तु का स्वरूप नहीं माना है। वस्तु का स्वरूप कल्पना से आरोपित है, ऐसा हम नहीं कह रहे हैं। तथा कल्पित निःशेष धर्मों से रहित वस्तु का स्वरूप मान लेने पर सम्पूर्ण धर्मों से युक्तता भी हमको अनिष्ट नहीं है क्योंकि कल्पित सकल धर्मयुक्त वस्तु के इष्टत्व है अर्थात् बौद्ध दर्शन में कल्पित धर्मयुक्त वस्तु को माना ही है। उस कल्पित धर्मयुक्त वस्तु के द्वारा वस्तुभूत अखिल(सम्पूर्ण) धर्म सहितता दूर करना शक्य नहीं है। क्योंकि वस्तु में कल्पित सम्पूर्ण धर्मों का रहितपनस्वरूप का उस वस्तुभूत अखिल धर्मों से सहितत्व के साथ अविनाभाव का अभाव है। अर्थात् जहाँ कल्पित धर्मों का अभाव है वहाँ वास्तविक धर्म ठहर नहीं सकते हैं, ऐसा नियम नहीं है अतः वस्तु में कल्पित धर्मों का सद्भाव होने से वास्तविक धर्मों का अभाव स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

सम्पूर्ण वास्तविक धर्म के बिना भी वस्तु में कल्पित धर्मों की उपपत्ति (सिद्धि) हो जाती है। इस प्रकार कोई[१] कहता है।

जैनाचार्य इसका प्रतिवाद करते हैं-इस प्रकार वस्तु के स्वरूप का कथन करने वाले बौद्ध भी महामोह से अभिभूत मनवाले हैं। क्योंकि स्वयं वस्तु की परमार्थभूत सकल धर्मों के साथ तदात्मकता को स्वीकार करके भी उसको असंभव कहते हैं। अर्थात् वस्तु के धर्म को वास्तविक स्वीकार करके भी निषेध

१. वैभाषिक बौद्ध।

कल्पिताखिलधर्मरहितत्वं हि वस्तुनः स्वरूपं ब्रुवाणेन वस्तुभूतसकलधर्मसहितता स्वीकृतैव तस्य तन्नांतरीयकत्वात् । कल्पनापोढं प्रत्यक्षमित्यत्र कल्पनाकाररहितत्वस्य वस्तुभूताकारनांतरीयकत्वेन प्रत्यक्षे तद्वचनात्तत्सिद्धिवत् तथा कल्पनाकाररहितत्वस्य वचनाद्वस्तुभूताकारसिद्धिर्न प्रत्यक्षे स्वीकृतैवेति चेत् , तत्किमिदानीं सकलाकाररहितत्वमस्तु तस्य संविदाकारमात्रत्वात्तत्त्वतस्तथापि नेति चेत् कथं न वस्तुभूताकारसिद्धिः। न हि संविदाकारो वस्तुभूतो न भवति संविदद्वैतस्याप्यभावप्रसंगात् । ततः कल्पितत्वेन निःशेषधर्माणां नैरात्म्यं यदि वस्तुनः स्वरूपं तदा स्वरूपसंसिद्धिः यस्मादन्यथा वस्तुभूतत्वेनाखिलधर्मयुक्तता तस्य सिद्धेति व्याख्या प्रेयसी । अथवा वस्तुभूतनिःशेषधर्माणां नैरात्म्यं वस्तुनो यदि स्वरूपं तदा तस्य

करते हैं तथा कल्पित सम्पूर्ण धर्मों से रहित वस्तु के स्वरूप को कहने वाले बौद्ध वस्तुभूत सकल धर्म सहितता स्वयं स्वीकार करते ही हैं क्योंकि कल्पित धर्म रहितता वास्तविक धर्म सहितता के साथ व्याप्ति रखती है अतः कल्पित धर्म रहितता और वास्तविक धर्म सहितता में कोई अन्तर नहीं है। ''प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना रहित है'' इस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण में कल्पना रूप आकारों से रहितत्व का वस्तुभूत आकारों के साथ अनान्तरीयकत्व (अविनाभावात्म) होने से प्रत्यक्ष ज्ञान में कल्पनापोढ़ शब्द से जैसे उन कल्पना रूप आकारों की सिद्धि हो जाती है, वैसे ही कल्पना धर्म रहितत्व कहने से वस्तु में वास्तविक धर्म का सहितपना सिद्ध हो ही जाता है। (जैसे इस मनुष्य की आँख नकली नहीं है अर्थात् असली है यह सिद्ध हो जाता है।)

तथा इस प्रकार कल्पनाकार रहितत्व के वचन (कथन) से प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तुभूत आकार को सिद्ध स्वीकार नहीं किया गया है।

बौद्ध के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि-क्या बौद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान को सम्पूर्ण आकारों से रहित्त मानते हैं ? बौद्ध प्रत्यक्ष को केवल संवित्ति (ज्ञान) आकार मात्र ही मानते हैं। अतः वास्तविक आकार सिद्ध नहीं है, तो उसके वस्तुभूत आकार की सिद्धि कैसे नहीं हो सकती। अर्थात् जब ज्ञान में आकार रहितपना नहीं है तो कल्पना रूप साकारपना स्वतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि संवित्ति साकार है वह वस्तुभूत है तो ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ वास्तविक साकार क्यों नहीं हैं ? अवश्य हैं।

तथा संविदाकार वस्तुभूत नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि यदि ज्ञान में आकार वस्तुभूत नहीं माने जायेंगे तो संविद् अद्वैत के भी अभाव का प्रसंग आयेगा। यदि कल्पित होने के कारण सम्पूर्ण धर्मों के निरात्मक (रहित) वस्तु का स्वरूप माना जायेगा तो वस्तु का कुछ न कुछ स्वरूप तो सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि अन्यथा (धर्म रहितत्व वस्तु का स्वरूप नहीं मानने पर) वस्तुभूतत्व होने के कारण उस वस्तु को सम्पूर्ण धर्मों से सहितत्व स्वतः सिद्ध है, यह व्याख्या ही श्रेयस्करी है, अतिप्रिय है अर्थात् ज्ञान में प्रतिबिम्बित साकार और सविकल्प ज्ञान ही सत्य है। यह सिद्धान्त अनुभवभूत होने से श्रेष्ठ है।

स्वरूपसंसिद्धिस्तत्स्वरूपस्यानिराकरणात् । अन्यथा तस्य पररूपत्वप्रकारेण तु सैव वस्तुभूतधर्मयुक्तता वास्तवाखिलधर्माभावस्य वस्तुनः परभावे तादृशसकलधर्मासद्भावस्य स्वात्मभूतत्वप्रसिद्धेरन्यथा तदनुपपत्तेः। अथवा कल्पितानां वस्तुभूतानां च निःशेषधर्माणां नैरात्म्यं वस्तुनः स्वरूपं यदि तदा तस्य स्वरूपसंसिद्धिरन्यथा कल्पिताकल्पितसकलधर्मयुक्तता तस्येति व्याख्येयं सामान्येन निःशेषधर्मवचनात् । व्याघातश्चास्मिन् पक्षे नाशंकनीयः कल्पितानां वस्तुभूतानां च धर्माणां वस्तुनि यथाप्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो यत्सकलधर्मरहितं तन्न वस्तु यथा पुरुषाद्यद्वैतं तथा च क्षणिकत्वलक्षणमिति जीवादिवस्तुनः स्वधर्मसिद्धिः सकलधर्मरहितेन

अथवा वस्तुभूत सम्पूर्ण धर्मों से रहितपना वस्तु का धर्म है तब तो वस्तु का स्वरूप सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि वस्तु के स्वरूप का निराकरण नहीं है अर्थात् धर्म रहित वा धर्म सहित वस्तु तो सिद्ध हो ही जाती है। अन्यथा (यदि धर्म रहितत्व वस्तु का स्वरूप नहीं माना जायेगा तो) उस धर्म रहितत्व का पररूपत्व प्रकार से वही वास्तविक धर्मों से युक्तपना सिद्ध हो जाता है क्योंकि वस्तुभूत अखिल धर्मों के अभाव को वस्तु का स्वभाव न मानकर परभाव माना जाता है तो वैसे वास्तविक सकल धर्मों के सद्भाव का स्वात्मभूतपना प्रसिद्ध हो ही जाता है, अन्यथा (धर्म सहितत्व को स्वात्मभूत माने बिना) धर्म रहितत्व का परभावपना बन नहीं सकता।

अथवा कल्पित और वास्तविक सम्पूर्ण धर्मों का रहितपना वस्तु का स्वरूप मानते हैं तो उस वस्तु के स्वरूप की सिद्धि हो जाती है अर्थात् कल्पना के निराकरण से ही वस्तु का स्वरूप सिद्ध हो जाता है अन्यथा (दोनों प्रकार के धर्मों से रहितपने को वस्तु का स्वरूप न मानेंगे तो) कल्पित और अकल्पित धर्मों से युक्तता उस वस्तु को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए। वस्तु निःशेष धर्मों से रहित है, यह सामान्य कथन किया गया है।

तृतीय पक्ष के अनुसार व्याघात दोष की भी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि वस्तु में कल्पित (अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य इत्यादि सप्तभंगी के विषयभूत) धर्मों का और वस्तुभूत (द्रव्यत्व, वस्तुत्व, सुख, दुःख, पुद्गल के रूप, रस इत्यादि) धर्मों के प्रमाण का उल्लंघन न करके सिद्धि हो जाती है, अर्थात् वस्तु में अस्ति आदि कल्पित धर्म और द्रव्यत्व आदि वस्तुभूत धर्म प्रमाणसिद्ध हैं क्योंकि जो सम्पूर्ण धर्म से रहित है, वह वस्तु नहीं है जैसे पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि वस्तुभूत नहीं हैं उसी प्रकार बौद्ध मत में स्वीकृत क्षणिकत्व स्वलक्षण भी सम्पूर्ण धर्मों से रहित है अतः वस्तुभूत नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म आदि वस्तु के स्वधर्म की सिद्धि होती है अर्थात् कल्पित धर्म भी वास्तविक हैं। वस्तु के अंग हैं, असत्य नहीं हैं अपितु सत्य हैं।

कोई प्रतिवादी दोष दे रहा है कि जो सकल धर्म से रहित है वह वस्तु नहीं है। इस व्याप्ति में एक धर्म से व्यभिचार दोष आता है अर्थात् एक अस्तित्व नामक धर्म अन्य धर्मों से रहित है। क्योंकि गुण में दूसरे गुण नहीं रहते हैं। स्वभाव में दूसरा स्वभाव, पर्याय में अन्य पर्याय नहीं रहती है। गुण निर्गुण हैं, पर्याय निःपर्याय है। यहाँ निषेधवाचक 'निर्' का अर्थ अन्योन्याभाव नहीं अपितु अत्यन्ताभाव है। अतः साध्य

धर्मेणानेकांतस्तस्य वस्तुत्वादिति चेन्न, वस्त्वंशत्वेन तस्य प्ररूपितत्वात् वस्तुत्वासिद्धेः । अन्यथा वस्त्वनवस्थानानुषंगात् । तदेवं सर्वथा वस्तुनि स्वरूपस्य निराकर्तुमशक्तेः सूक्तं निर्देश्यमानत्वमधिगम्यं ॥

न कश्चित्कस्यचित्स्वामी संबंधाभावतोंजसा। पारतंत्र्यविहीनत्वात् सिद्धस्येत्यपरे विदुः ॥१०॥

संबंधो हि न तावदसिद्धयोः स्वस्वामिनोः शशाश्वविषाणवत्, नापि सिद्धासिद्धयोस्तत् वंध्यापुत्रवत्। सिद्धयोस्तु पारतंत्र्याभावादेवासंबंध एव अन्यथातिप्रसंगात्। केनचिद्रूपेण सिद्धस्यासिद्धस्य च पारतंत्र्ये सिद्धे परतंत्रसंबंध इत्यपि मिथ्या, पक्षद्वयभाविदोषानुषंगात्। न चैकस्य निष्पन्नानिष्पन्ने रूपे स्तः प्रतीघातात् । तत्र

(सकल धर्म से रहित वस्तु नहीं है, साध्य) के नहीं रहने पर भी (वस्तुत्वात्) इस हेतु के रह जाने से एक अस्तित्वादि धर्म के साथ व्यभिचार दोष आता है। ऐसा बौद्ध का कथन उचित नहीं है क्योंकि धर्म को वस्तु के अंगरूप से निरूपण किया है अर्थात् धर्म वस्तु नहीं, अपितु वस्तु का अंश है अतः धर्म में वस्तुत्व की असिद्धि है इसलिए वस्तुत्व हेतु नहीं है और सकल धर्मपना साध्य भी नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है अन्यथा (यदि एक धर्म को भी अन्य धर्मों से सहित कर वस्तुत्व माना जायेगा तो) उन धर्मों के भी अन्य धर्मों के साथ सहितपना होने से अनवस्था का प्रसंग आता है। क्योंकि अन्य धर्म से धर्म सहितता मानने पर अन्य धर्म की सहितता दूसरे धर्म से माननी पड़ेगी इत्यादि रूप से अनवस्था दोष आयेगा किन्तु जैन सिद्धान्त में धर्म, धर्मी के समुदाय रूप अखण्ड वस्तु मानी गयी है इसलिए सर्वथा वस्तु में स्वरूप का (स्वभाव का) निराकरण करना शक्य नहीं है। इसलिए वस्तु निर्देश्यमानत्व के द्वारा अधिगम्य है। अथवा वस्तु निर्देश्य (वचन के द्वारा कथन करने योग्य है) अतः वस्तु के स्वरूप को जानने के उपाय निर्देश का कथन समीचीन है।

इस प्रकार **निर्देश** का कथन समाप्त हुआ। अब **स्वामित्व** का कथन करते हैं।

वास्तव में, सम्बन्ध का अभाव होने से और पारतंत्र्य विहीन होने से कोई किसी का स्वामी नहीं है क्योंकि सिद्ध के समान सर्व सम्बन्ध रहित हैं। ऐसा कोई कहते हैं॥१०॥

असिद्ध में स्व और स्वामी का सम्बन्ध नहीं हो सकता जैसे असिद्ध खरगोश वा घोड़े के सींग का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। एक असिद्ध है दूसरा सिद्ध है उनका भी सम्बन्ध नहीं हो सकता जैसे वन्ध्या के पुत्र का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अर्थात् वन्ध्या तो सिद्ध है उसका अस्तित्व दृष्टिगोचर हो रहा है और पुत्र अविद्यमान है, इन दोनों में जन्य जननी सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।

जो दो पदार्थ परिपूर्ण निष्पन्न हैं उनमें भी एक दूसरे के साथ पराधीनता न होने से सम्बन्ध सिद्ध नहीं है, अन्यथा यदि सिद्ध (निष्पन्न) पदार्थ में परस्पर सम्बन्ध मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् सिद्ध जीव या आकाश भी पराधीन हो जायेंगे। जो स्वयं निष्पन्न नहीं है उसको पराधीनता की आवश्यकता है, निष्पन्न पदार्थ को दूसरों की आवश्यकता नहीं होती है।

तत्त्वत: संबंधोस्तीति। तदुक्तं। ''पारतंत्र्ये हि संबंधे सिद्धे का परतंत्रता। तस्मात्सर्वस्य भावस्य संबंधो नास्ति तत्त्वत: ॥'' इति संबंधमात्राभावे च सिद्धे सति न कश्चित्कस्यचित्स्वामी नाम यत: स्वामित्वमर्थानामधिगम्यं स्यादित्यके॥

तथा स्याद्वादसंबंधो भावानां परमार्थत:। स्वातंत्र्यात् किं न देशादिनियमोद्भूतिरीक्ष्यते॥११॥

पारतंत्र्यस्याभावाद्भावानां संबंधाभावमभिदधानास्तेन संबंधं व्याप्तं क्वचित्प्रतिपद्यंते न वा ? प्रतिपद्यंते चेत् कथं सर्वत्र सर्वदा संबंधाभावमभिदधुर्विरोधात्। नो चेत् कथमव्यापकाभावादव्याप्याभावसिद्धे:।

किसी रूप से सिद्ध और किसी रूप से असिद्ध के परतंत्रता सिद्ध होने पर पारतंत्र्य सम्बन्ध है, इस प्रकार कहना भी मिथ्या है क्योंकि इसमें दोनों पक्षों में दिये गये दोषों का प्रसंग आता है अर्थात् सिद्ध पदार्थ को पराधीनता की आवश्यकता नहीं है। और जो असत् स्वरूप है, असिद्ध अंश है-वह क्या पराधीन होगा जो है ही नहीं, वह क्या तो दूसरे के आधीन होगा और क्या अपने आधीन होगा?

अथवा एक निष्पन्न (परिपूर्ण) और दूसरा अंश अनिष्पन्न ये दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ एक समय में नहीं रह सकते हैं। क्योंकि इन दोनों में परस्पर व्याघात करने वाला प्रतिघात दोष आता है। जो निष्पन्न है वह अनिष्पन्न नहीं है और जो अनिष्पन्न है वह निष्पन्न नहीं है इसलिए तत्त्व से विचारा जाये तो सम्बन्ध नहीं होता है। बौद्ध ग्रन्थ में कहा भी है कि ''परतंत्रता होने पर सम्बन्ध सिद्ध होता है'' परन्तु सम्पूर्ण भावों के निष्पन्न हो जाने पर पदार्थों में सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार सामान्य रूप से सम्बन्ध का अभाव सिद्ध हो जाने पर कोई भी किसी का स्वामी बन नहीं सकता। आधार, आधेय, जन्य, जनक, वाच्य, वाचक भाव नहीं होने से अकेला स्व स्वामी सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? जब सामान्य नहीं है तो विशेष की स्थिति कैसे हो सकती है। इस प्रकार सम्बन्ध मात्र के अभाव की सिद्धि होने पर कोई किसी का *स्वामी नहीं है। इसलिए स्वामित्व को अर्थाधिगम्य कहना कैसे युक्त हो सकता है? इस प्रकार कोई (बौद्ध)* कहते हैं।

जैनाचार्य बौद्ध के इस कथन का उत्तर देते हैं।

स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार पदार्थों का वास्तविक सम्बन्ध है क्योंकि पदार्थों की एकान्त से स्वतंत्रता स्वीकार कर लेने पर नियत देश और नियतकाल आदि के नियम से उत्पत्ति देखी जाती है, वह कैसे घटित हो सकेगी॥११॥

भावार्थ : सर्व पदार्थों के एकान्त से स्वतंत्र होने पर उनके पर्याय की उत्पत्ति में देश-काल का नियम कैसे घटित हो सकेगा ?

परतंत्रता के अभाव से पदार्थों के सम्बन्ध के अभाव का कथन करने वाले बौद्ध क्या उस परतंत्रता से सम्बन्ध को व्याप्त हुआ यानी अविनाभाव रखता हुआ किसी दृष्टान्त में जान लेते हैं या नहीं ? अर्थात्

परोपगमात् तस्य तेन व्याप्तिसिद्धेरदोष इति चेन्न, तथा स्वप्रतिपत्तेरभावानुषंगात् । परोपगमाद्धि परः प्रतिपादयितुं शक्यः । सर्वथा संबंधाभावान्नाशक्य एव प्रत्यक्षत इति चेन्न, तस्य स्वांशमात्रपर्यवसानात् । न कश्चित्केनचित्कथंचित्कदाचित्संबंध इतीयतो व्यापारात्कर्तुमसमर्थत्वादन्यथा सर्वज्ञत्वापत्तेः । सर्वार्थानां साक्षात्करणमंतरेण संबंधाभावस्य तेन प्रतिपत्तुमशक्तेः। केषांचिदर्थानां स्वातंत्र्यमसंबंधेन व्याप्तं सर्वोपसंहारेण

अग्नि का और धूम का अविनाभाव ज्ञात होता है तो अग्नि के अभाव में धूम का अभाव जान लिया जाता है। उसी प्रकार परतन्त्रता रूप व्यापक के साथ सम्बन्ध रूप व्याप्य का अविनाभाव ज्ञात होगा तो परतंत्रता के अभाव में सम्बन्ध का अभाव जान सकेंगे अन्यथा नहीं।

यदि परतन्त्रता के साथ सम्बन्ध की व्याप्ति को जानते हैं तो सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है तो कैसे कह सकते हो कि सर्वत्र (सर्व देश में) और सर्वदा (सर्वकाल में) सम्बन्ध का अभाव है क्योंकि इस कथन में विरोध आता है। अर्थात् पूर्व में सम्बन्ध को मानकर पश्चात् नहीं मानना पूर्वापर विरोध है। यदि कहो कि परतन्त्रता से व्याप्त हुए सम्बन्ध हेतु को कहीं नहीं जानते हैं तो अव्यापक के अभाव से अव्याप्य के अभाव की सिद्धि कैसे कर दी जाती है ? अथवा परतंत्रता के अभाव स्वरूप हेतु की सम्बन्ध अभाव स्वरूप साध्य के साथ व्याप्ति बनने का निर्णय है कि नहीं ? अनुमान ज्ञान को प्रमाण मानने वालों को व्याप्ति नामक सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा।

दूसरे दर्शनों में स्वीकृत उस सम्बन्ध की (व्याप्ति की) उस परतन्त्रता के साथ व्याप्ति को सिद्ध कर लेते हैं अतः कोई दोष नहीं है। इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकृत सम्बन्ध से व्याप्ति को स्वीकार करने पर स्वयं प्रतिपत्ति होने के अभाव का प्रसंग आयेगा क्योंकि परोपगम से पर का प्रतिपादन करना ही शक्य है। दूसरों के द्वारा स्वीकृत नियम को दूसरा ही समझा सकता है। जो स्वयं जिस ज्ञेय को जानता ही नहीं है वह दूसरों को समझा नहीं सकता।

बौद्ध कहते हैं कि सभी प्रकारों से सम्बन्ध न होने के कारण दूसरा भी समझाने के लिए समर्थ नहीं ही है। परमार्थ से प्रत्यक्ष के द्वारा ही पदार्थों के सम्बन्ध का अभाव जाना जाता है, अतः स्व को प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना कठिन नहीं है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है-क्योंकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान तो स्वांश (अपने अंश) को जानने में ही चरितार्थ (सार्थक) होकर नष्ट हो जाता है अतः कौनसा पदार्थ, किस पदार्थ के साथ, किस प्रकार से, किस काल में सम्बन्ध नहीं रखता है, इस प्रकार का व्यापार करने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान समर्थ नहीं है। अन्यथा (यदि प्रत्यक्ष ज्ञान सबको जानने में समर्थ है तो) सर्वज्ञत्व का प्रसंग आता है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात् किये बिना (प्रत्यक्ष जाने बिना) प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सम्बन्ध के अभाव को जानना शक्य नहीं है। सर्व देश और सर्व काल का उपसंहार करने वाली व्याप्ति को प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं हो सकता।

प्रतिपद्य ततोन्येषामसंबंधप्रतिपत्तिरानुमानिकी स्यादितिचेत् तत्तर्हि स्वातंत्र्यमर्थानां न तावदसिद्धानां, सिद्धानां तु स्वातंत्र्यात्संबंधाभावे तत्त्वत: किंन्न देशादिनियमेनोद्भवो दृश्यते तस्य पारतंत्र्येण व्याप्तत्वात् । न हि स्वतंत्रोर्थ: सर्वनिरपेक्षतया नियतदेशकालद्रव्यभावजन्मास्ति न चाजन्मा सर्वथार्थक्रियासमर्थ: स्वयं तस्याकारणात् । प्रत्यासत्तिविशेषाद्देशादिभिस्तन्नियतोत्पत्तिरर्थस्य स्यादिति चेत् , स एव प्रत्यासत्तिविशेष: संबंध: पारमार्थिक: सिद्ध इत्याह;—

द्रव्यत: क्षेत्रत: कालभावाभ्यां कस्यचित्स्वत:। प्रत्यासन्नकृत: सिद्ध: संबंध: केनचित्स्फुट: ॥१२॥

कस्यचित्पर्यायस्य स्वत: केनचित्पर्यायेण सहैकत्र द्रव्ये समवायाद्द्रव्यप्रत्यासत्तिर्यथा स्मरणस्यानुभवेन

सौगत कहता है कि किन्हीं विवक्षित अर्थों के स्वातंत्र्य को सम्बन्धाभाव (सम्बन्ध के अभाव) के साथ व्याप्ति रखते हुए जानकर और उस व्याप्ति से दूसरे पदार्थों के असम्बन्ध की प्रतिपत्ति (ज्ञान) अनुमान से होती है अर्थात् विवक्षित पदार्थ की व्याप्ति के ज्ञान से साध्य-साधन के सम्बन्ध को जानकर भिन्न पदार्थों के साध्य साधन की व्याप्ति अनुमान से जान ली जाती है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस अनुमान से व्याप्ति को जानने में अनवस्था दोष आता है क्योंकि व्याप्ति को जानने वाले अनुमान के उत्थान में भी पुन: व्याप्ति को जानना आवश्यक होता है। तथा असिद्ध पदार्थों की तो स्वतंत्रता हो नहीं सकती अर्थात् जो अभी तक असिद्ध है, वह स्वतंत्र हो नहीं सकता और सिद्ध पदार्थों का तो स्वतंत्र होने के कारण यदि सम्बन्ध नहीं माना जाता है तो वस्तुत: देश, कालादि के नियम से पदार्थों की उत्पत्ति होना कैसे दृष्टिगोचर हो रहा है? यदि देश, काल आदि के नियम से उत्पत्ति होती है तो उसकी परतंत्रता के साथ व्याप्ति होगी, वह स्वतंत्र नहीं हो सकती। जो अपनी उत्पत्ति में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा रखता है वह परतंत्र होता है। जो सर्वथा स्वतंत्र होता है वह पदार्थ नियत देशकाल द्रव्य भाव का अवलम्बन लेकर उत्पन्न नहीं होता है। जो उत्पन्न नहीं होता है (कूटस्थ नित्य है) वह सर्वथा अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है क्योंकि स्वतंत्र पदार्थ किसी का कारण नहीं होता है अर्थात् जो पर्याय से पर्यायान्तर होता है परिणमन करता है, वही अर्थक्रिया करने में समर्थ है और वही किसी का कारण हो सकता है। यदि प्रत्यासत्ति विशेष से देश, काल आदि के साथ नियत रूप से अर्थ (पदार्थ) की उत्पत्ति मानेंगे तो वही प्रत्यासत्ति विशेष सम्बन्ध पारमार्थिक सिद्ध हो जायेगा। इसी कथन को आचार्य विशेष रूप से कहते हैं-

किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ द्रव्य, क्षेत्र (देश), काल और भावों के द्वारा प्रत्यासन्नता (निकटता) से किया गया सम्बन्ध स्वत: सिद्ध है। स्फुट रूप से द्रव्य प्रत्यासत्ति, क्षेत्र प्रत्यासत्ति, काल प्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्ति चार सम्बन्ध प्रतीत हो रहे हैं॥१२॥

किसी एक पर्याय का स्वत: किसी अन्य पर्याय के साथ एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध हो जाना द्रव्य प्रत्यासत्ति कहलाती है। जिस प्रकार स्मरण का पूर्व अनुभव के साथ एक आत्मा में समवाय हो रहा

सहात्मन्येकत्र समवायस्तमंतरेण तत्रैव यथानुभवस्मरणानुपपत्तेः सोममित्रानुभवाद्विष्णुमित्रस्मरणानुपपत्तिवत् । संतानैकत्वादुपपत्तिरिति चेन्न, संतानस्यावस्तुत्वेन तन्नियमहेतुत्वाघटनात् । वस्तुत्वे वा नाममात्रं भिद्येत सतां नो द्रव्यमिति । तथैकसंतानाश्रयत्वमेव द्रव्याद्रव्याश्रयत्वं चेति न कश्चिद्विशेषः यत्संतानो वासनाप्रबोधस्तत्संतानं स्मरणमिति नियमोपगमोपि न श्रेयान्, प्रोक्तदोषानतिक्रमात् । संतानस्यात्मद्रव्यत्वोपपत्तौ यदात्मद्रव्यपरिणामो वासनाप्रबोधस्तदात्मद्रव्यविवर्तः स्मरणमिति परमतसिद्धेः । कथं परस्परभिन्नस्वभावकालयोरेकमात्मद्रव्यं व्यापकमिति च न चोद्यं, सकृन्नानाकारव्यापिना ज्ञानेनैकेन प्रतिविहितत्वात् । समसमयवर्तिनो

है क्योंकि उस द्रव्य प्रत्यासत्ति रूप समवाय (तादात्म्य) सम्बन्ध के बिना उसी आत्मा में अनुभव के अनुसार स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् जिसने अनुभव किया है वही स्मरण करता है, जिसने अनुभव नहीं किया है वह स्मरण नहीं कर सकता। जैसे सोममित्र के अनुभव से विष्णुमित्र को स्मरण नहीं हो सकता अत: द्रव्य प्रत्यासत्ति के कारण जन्म जन्मान्तर में भी आत्मा को पूर्व अनुभव का स्मरण हो सकता है। इससे आत्मा के नित्यता की सिद्धि होती है।

"संतान के एकत्व से अनुभव के अनुसार स्मरण हो जाता है" बौद्धों का ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि संतान अवस्तु है, कल्पित है अत: वह अवस्तुभूत संतान अनुभव के अनुसार नियत व्यक्ति में ही स्मरण होने का कारण घटित नहीं हो सकती। यदि संतान वास्तविक है तब तो संतान और द्रव्य में नाम मात्र का अन्तर है अर्थात् द्रव्य कहो या संतान, एक ही अर्थ है। इनमें शब्द भेद है, अर्थ भेद नहीं है तथा एक सन्तान के आश्रय रहने वाला आश्रयी कहो या एक द्रव्य का आश्रयी कहो, एक ही अर्थ है, दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

जिस संतान में स्मरण कराने वाली वासनाएँ जागृत होती हैं उसी संतान में स्मरण उत्पन्न होता है। इस प्रकार का नियम स्वीकार करना श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि इस नियम से भी दोषों का उल्लंघन नहीं होता है। सन्तान को आत्मद्रव्यत्व हो जाने पर जिस आत्मद्रव्य का परिणमन होकर अनुभव के पश्चात् वासना जागृत हुई है उसी आत्मद्रव्य का परिणाम होकर स्मरण उत्पन्न होता है। इससे तो जैन सिद्धान्त की ही सिद्धि होती है।

"परस्पर भिन्न स्वभाव वाले और भिन्न काल में होने वाले अनुभव और स्मरण में व्यापक होकर रहने वाला एक आत्मद्रव्य कैसे माना जा सकता है?" बौद्ध कहते हैं।

ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि एक ही समय में अनेक नील, पीत आदि नाना आकारों में व्यापने वाले एक चित्रज्ञान के द्वारा खण्डन हो जाता है अर्थात् जैसे एक ज्ञान चित्र पदार्थों को एक साथ जानता है उसी प्रकार एक आत्मा परस्पर भिन्न काल स्वभाव वाले पदार्थों को एक साथ जान लेता है। समान

रसरूपयोरेकगुणिव्याप्तयोरनुमानानुमेयव्यवहारयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरनेनोक्ता तदभावे तयोस्तद्व्यवहारयोग्यतानुपपत्तेः। एकसामग्र्यधीनत्वात्तदुपपत्तिरिति चेत् कथमेकासामग्री नाम ? एकं कारणमिति चेत्, तत्सहकार्युपादानं वा ? सहकारि चेत् कुलालकलशयोर्दण्डादिरेका सामग्री स्यात् समानक्षणयोस्तयोरुत्पत्तौ तस्य सहकारित्वात्। तथा एतयोरनुमानानुमेयव्यवहारयोग्यता अव्यभिचारिणी स्यात् तदेकसामग्र्यधीनत्वात्॥ एकसमुदायवर्तिसहकारिकारणमेका सामग्री न भिन्नसमुदायवर्ति यतोयमतिप्रसंग इति चेत् , कः पुनरयमेकः समुदायः ? साधारणार्थक्रियानियताः प्रविभागरहिता रूपादय इति चेत् कथं प्रविभागरहितत्वमेकत्वपरिणामाभावे तेषामुपपद्यतेतिप्रसंगात्। सांवृत्यैकत्वपरिणामेनेति चेन्न, तस्य प्रविभागाभावहेतुत्वायोगात्। प्रविभागाभावोपि

समय (एक समय) में रहने वाले एक गुणी द्रव्य में व्याप्त रूप से रस का और इससे रूप का अनुमान करके अनुमान और अनुमेय के व्यवहार को प्राप्त हुए रूप और रस गुण की भी परस्पर में एक द्रव्य प्रत्यासत्ति है। इसकी भी उक्त कथन से सिद्धि हो जाती है। यदि रूप और रस में एक द्रव्यप्रत्यासत्ति नहीं मानी जाती है तो उनमें अनुमान और अनुमेय के व्यवहार की योग्यता नहीं हो सकती।

एक सामग्री के आधीन होने के कारण रस से रूप का और रूप से रस का अनुमान हो जाता है ऐसा सौगत के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वह एक सामग्री क्या वस्तु है? यदि कहो कि एक सामग्री आधीनता का अर्थ है-कारण। तो वह कारण कौनसा है, निमित्त कारण है? कि उपादान कारण है ? यदि निमित्त (सहकारी) कारण मानते हो तो कुलाल (कुंभकार) और घट की दण्ड, चक्रादि सहकारी कारण भी एक सामग्री हो जावेगी क्योंकि समान समय में परिणमन करते हुए उन कुलाल और घट की उत्पत्ति में वे दण्डादि पदार्थ सहकारी कारण होते हैं तथा एक सामग्री के आधीन होने के कारण उन कुंभकार और घट की अनुमान अनुमेय के व्यवहार की योग्यता भी व्यभिचार दोष रहित हो सकती है क्योंकि वे दोनों ही एक सामग्री के आधीन हैं अर्थात् सहकारी कारण एक होने से कुंभकार से घट का और घट से कुंभकार का अनुमान हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है।

यहाँ यदि बौद्ध कहें कि एक समुदाय में रहने वाले सहकारी कारण एक सामग्री हैं, भिन्न समुदाय में रहने वाले सहकारी कारण एक सामग्री नहीं हैं जिससे कि यह अतिप्रसंग होता है अर्थात् घटनिर्माण के कारण समुदाय, कुंभकार के कारण समुदाय से भिन्न हैं, अतः भिन्न समुदाय में रहने के कारण दण्ड आदि एक सामग्री नहीं हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि यह एक समुदाय पदार्थ क्या है ?

साधारण अर्थक्रिया में नियत और प्रकट विभाग से रहित रूप, रस आदि को यदि समुदाय कहते हो तो उन रूपादिकों का परस्पर एकत्व परिणाम के अभाव में विभागरहितत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। यदि परस्पर एकत्व के अभाव में भी विभाग रहितत्व सिद्ध होता है तो अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् आकाश और आत्मा आदि के भी विभाग रहितत्व होकर समुदाय बन जायेगा। संवृत्ति (असत्य कल्पना) से एकत्व परिणाम के द्वारा रूप आदिकों का अविभागीपना मानना उचित नहीं है क्योंकि उस कल्पित (सांवृत्त) एकत्व

तेषां सांवृत इति चेन्न हि तत्त्वतः प्रविभक्ता एव रूपादयः समुदाय इत्यापन्नं। न चैवं केषांचित्समुदायेतरव्यवस्था साधारणार्थक्रियानियतत्वेतराभ्यां सोपपन्नेति वा युक्तं, सूर्यांबुजयोरपि समुदायप्रसंगात्। तयोरंबुजप्रबोधरव्योः साधारणार्थक्रियानियतत्वात्। ततो वास्तवमेव प्रविभागरहितसमुदायविशेषस्तेषामेकत्वाध्यवसायहेतुरंगीकर्तव्यः। स चैकत्वपरिणामं तात्त्विकमंतरेण न घटत इति सोपि प्रतिपत्तव्य एव, स चैकं द्रव्यमिति सिद्धं। स्वगुणपर्यायाणां समुदायस्कंध इति वचनात्। तथासति रसरूपयोरेकार्थात्मकयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव लिंगलिंगिव्यवहारहेतुः कार्यकारणभावस्यापि नियतस्य तदभावेनुपपत्तेः संतानांतरवत्। न हि क्वचित्पूर्वे रसादिपर्यायाः पररसादिपर्यायाणामुपादानं नान्यत्र द्रव्ये वर्तमाना इति नियमस्तेषामेकद्रव्यतादात्म्यविरहे कथंचिदुपपन्नः। एकमुपादानमेका सामग्रीति द्वितीयोपि पक्षः सौगतानामसंभाव्य एव, नानाकार्यस्यैकोपादानत्वविरोधात्।

परिणाम को प्रतिविभाग के अभाव का हेतुपना नहीं है। (अभाव के हेतुत्व का अयोग है)। उन रूपादिकों के प्रविभाग का अभाव भी सांवृत (कल्पित) है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो वास्तविक प्रविभक्त ही रूपादि समुदाय को प्राप्त हो जायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं है।

तथा किन्हीं पदार्थों की साधारण अर्थक्रिया में नियत और अनियत के द्वारा समुदाय एवं असमुदाय की व्यवस्था होती है, ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योंकि ऐसा मानने पर सूर्य और कमल के भी समुदायपने का प्रसंग आयेगा। उन सूर्य और कमल में कमल का खिल जाना और सूर्य का प्रकाशित होना रूप साधारण अर्थक्रिया का नियतपना हेतु विद्यमान है इसलिए विभाग रहित समुदाय विशेष वास्तविक हैं तथा उन रूपादिकों को एकत्वाध्यवसाय हेतु परमार्थ से स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह एकत्व परिणाम वास्तविकता (वा तादात्म्य सम्बन्ध) के बिना घटित नहीं हो सकता अतः रूप रस का परस्पर द्रव्य के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है, ऐसा जानना चाहिए। वही गुण और पर्यायों का समुदाय एक द्रव्य है ऐसा सिद्ध होता है क्योंकि "स्वकीय गुण-पर्यायों का समुदाय ही स्कन्ध है" ऐसा सौगत ग्रन्थ का वचन है।

ऐसा होने पर एकार्थात्मक (एक अर्थस्वरूप) रूप और रस की एक द्रव्य प्रत्यासत्ति है (एक द्रव्य नामक सम्बन्ध है) और वह एक द्रव्य प्रत्यासत्ति (एक द्रव्य में तादात्म्य रूप से रहना) ही रूप, रस के साध्य साधन व्यवहार का कारण है। अर्थक्रिया में नियत कार्य-कारण भाव की भी एक द्रव्य प्रत्यासत्ति के अभाव में उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे दूसरे सन्तानों का अनुभव स्मरण रूप कार्य का हेतु नहीं होता है अर्थात् महीदत्त के द्वारा अनुभूत पदार्थों का देवदत्त स्मरण नहीं कर सकता क्योंकि किसी द्रव्य में पूर्व में स्थित रसादि पर्यायें उत्तरवर्त्ती समय में होने वाली रसादि पर्यायों की उपादान कारण हैं परन्तु दूसरे द्रव्य में रहने वाली पूर्ववर्त्ती रसादि पर्यायें प्रकृत द्रव्य के रूपादिक की उपादान कारण नहीं हो सकतीं। इस प्रकार का नियम एक द्रव्यात्मकत्व के बिना किसी प्रकार भी नहीं बन सकता है। इस प्रकार 'एकासामग्री' इस प्रकार के वाक्य में सहकारी कारण का प्रकरण समाप्त हुआ। अब उपादान कारण का वर्णन करते हैं।

"अनेक कार्यों का एक उपादान कारण होना एक सामग्री है" इस प्रकार सौगत का द्वितीय पक्ष

यदि पुनरेकं द्रव्यमनेककार्योपादानं भवेत्तदा सैवेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरायाता रसरूपयोः। क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्यथा बलाकासलिलयोरेकस्यां भूमौ स्थितयोः संयुक्तसंयोगो हि ततो नान्यः प्रतिष्ठामियर्ति। जन्यजनकभाव एव तयोः परस्परं प्रत्यासत्तिरितिचेन्न, अन्यतरसमुद्भूतायाः परत्र सरसि बलाकाया निवाससंभवात्। नैका बलाका पूर्वं सरः प्रविहाय सरोंतरमधितिष्ठंती काचिदस्ति प्रतिक्षणं तद्भेदादितिचेन्न, कथंचित्तदक्षणिकत्वस्य प्रतीतेर्बाधकाभावात्तद्भ्रांतत्वानुपपत्तेः। क्षितेः प्रतिप्रदेशं भेदादेकत्र प्रदेशे बलाकासलिलयोरनवस्थानान्नैव तत्क्षेत्रप्रत्यासत्तिरितिचेन्न, क्षित्याद्यवयविनस्तदाधारस्यैकस्य साधनात्। न चैकस्यावयविनो नानावयवव्यापिनः

भी संभाव्य (संभवना करने योग्य) नहीं है क्योंकि अनेक कार्यों का एक उपादान होने का विरोध है। यदि अनेक कार्यों का एक द्रव्य उपादान कारण माना जायेगा तो रूप और रस की वही एकद्रव्य प्रत्यासत्ति सिद्ध होती है अर्थात् रूप और रस का परस्पर साध्य साधन वा कार्य कारण भाव एकद्रव्य की प्रत्यासत्ति के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार अनुभव और स्मरण भी एक द्रव्य प्रत्यासत्ति (एक नित्य आत्म द्रव्य) के बिना सिद्ध नहीं हो सकते।

अब **क्षेत्र प्रत्यासत्ति** का कथन करते हैं। जैसे एक भूमि में स्थित बकपंक्ति और जल का संयुक्त संयोग सम्बन्ध ही क्षेत्रप्रत्यासत्ति है। उससे भिन्न और कोई दूसरा सम्बन्ध यहाँ प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार के क्षेत्र सम्बन्ध को नहीं मानकर उन जल और बगुला का परस्पर में जन्य-जनक-भाव क्षेत्र प्रत्यासत्ति मानना युक्त नहीं है क्योंकि दूसरे सरोवर में उत्पन्न बलाकाओं का अन्य दूसरे सरोवर में निवास करना संभव है। अर्थात् एक सरोवर की बलाका दूसरे तालाब में जा सकती है।

एक ही बलाका पूर्व तालाब को छोड़कर दूसरे तालाब में जाकर नहीं रहती है क्योंकि बगुला प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न पर्यायों को प्राप्त होता है अतः प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न बगुला होती हैं ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि बक पंक्ति के कथंचित् अक्षणिकत्व (नित्यत्व) की प्रतीति के बाधक प्रमाण का अभाव है अर्थात् बगुला की पंक्ति कथंचित् नित्य है, ऐसा प्रतीत होता है, इसमें कोई बाधा नहीं है अतः इसमें भ्रान्तत्व की अनुपपत्ति है। जीवन से लेकर मरण पर्यन्त जीवित रहने वाला बगुला एक है।

''पृथ्वी के प्रत्येक प्रदेश में भेद होने से एक आकाश प्रदेश में बलाका और जल दोनों की अवस्थिति नहीं हो सकती है अतः एक प्रदेश में रहने वालों की क्षेत्र प्रत्यासत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उन जल, बगुला पंक्ति आदि के आधारभूत भूमि आदि अनेक अवयवों की सिद्धि की जा चुकी है। अनेक अवयवों में एक ही समय व्यापक रहने वाले एक अवयवी द्रव्य का रहना असंभव है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि वेद्य आकार, वेद आकार और संवित्ति आकार इनमें व्यापक रूप से रहने वाला एक ज्ञान माना गया है। वह प्रतीति सिद्ध है, उसी प्रकार अनेक अवयवों में एक ही समय एक ही द्रव्य का रहना प्रतीति सिद्ध है। इस प्रकार क्षेत्र प्रत्यासत्ति सिद्ध करके **कालप्रत्यासत्ति** का कथन करते हैं।

सकृदसंभवः प्रतीतिसिद्धत्वाद्वेद्याद्याकारव्याप्येकज्ञानवत् । कालप्रत्यासत्तिर्यथा सहचरयोः सम्यग्दर्शनज्ञानसामान्ययोः शरीरे जीवस्पर्शविशेषयोर्वा पूर्वोत्तरयोर्भरणिकृत्तिकयोः कृत्तिकारोहिण्योर्वा तयोः प्रत्यासत्त्यंतरस्याव्यवस्थानात्।

भावप्रत्यासत्तिर्यथा गोगवययोः केवलिसिद्धयोर्वा तयोरेकतरस्य हि यादृग्भावः संस्थानादिरनंतज्ञानादिर्वा तादृक्तदन्यतरस्य सुप्रतीत इति न प्रत्यासत्त्यंतरं कयोश्चिदनेकप्रत्यासत्तिसंबंधे वा न किंचिदनिष्टं प्रतिनियतोद्भूतेः सर्वपदार्थानां द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयव्यतिरेकेणानुपपद्यमानत्वेन प्रसिद्धेः । सैव चतुर्विधा प्रत्यासत्तिः स्फुटः संबंधो बाधकाभावादिति न संबंधाभावो व्यवतिष्ठते। ननु च द्रव्यप्रत्यासत्तिरेकेन

जैसे सहचर (एक साथ रहने वाले) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सामान्य की काल प्रत्यासत्ति है। अथवा शरीर में जीव और स्पर्श विशेष की काल प्रत्यासत्ति है। पूर्व और उत्तर काल में उदय होने वाली भरणी नक्षत्र और कृत्तिका नक्षत्र के अथवा कृत्तिका और रोहिणी के काल की अपेक्षा प्रत्यासत्ति है। काल प्रत्यासत्ति के बिना सम्यग्दर्शन आदि के सहचर भाव की व्यवस्था नहीं हो सकती है।

इस प्रकार काल प्रत्यासत्ति का कथन पूर्ण हुआ।

अब **भाव प्रत्यासत्ति** का कथन करते हैं-गौ (गाय) और गवय (रोझ) में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण, जैसे संस्थान रचना आदि परिणाम गौ में हैं वैसे ही रचना आदि रोझ में हैं अतः इन दोनों में रचना आदि की अपेक्षा भाव प्रत्यासत्ति है।

केवली भगवान और सिद्ध भगवान में परस्पर भाव प्रत्यासत्ति है। क्योंकि जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि भाव तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान के हैं वैसे ही अनन्त ज्ञानादि भाव सिद्ध परमेष्ठी के हैं। अथवा सिद्ध भगवान के जैसे अनन्त ज्ञानादि हैं-वैसे केवली भगवान के भी प्रतीत हो रहे हैं। भाव प्रत्यासत्ति से भिन्न सम्बन्ध की इनमें सम्भावना नहीं है। किन्हीं दो पदार्थों में अनेक प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध हो जाये तो कोई अनिष्ट नहीं है, क्योंकि अपने नियत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण से सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति (परिणमन) होती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार सम्बन्धों के अतिरिक्त (भिन्न) अन्य सम्बन्धों की असिद्धि होने से द्रव्य क्षेत्र आदि चार सम्बन्धों की ही प्रसिद्धि है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के एक आत्मद्रव्य में रहने के कारण द्रव्य प्रत्यासत्ति है, एक क्षेत्रावगाही होने से क्षेत्र प्रत्यासत्ति है। एक समय में रहने से काल प्रत्यासत्ति है और दोनों ही क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव होने से इनमें भाव प्रत्यासत्ति भी है। इस प्रकरण में बाधक प्रमाण का अभाव होने से स्फुट रूप से चार प्रकार के प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध हैं अतः सम्बन्ध का अभाव व्यवस्थित नहीं है।

द्रव्येण कयोश्चित्पर्याययोः क्रमभुवोः सहभुवोर्वा तादात्म्यं तच्च रूपश्लेषः स च द्वित्वे सति संबंधिनोरयुक्त एव विरोधात् तयोरैक्येपि न संबंधः संबंधिनोरभावे तस्याघटनात् द्विष्ठत्वादन्यथातिप्रसंगात्। नैरंतर्यं तयो रूपश्लेषः इत्यप्ययुक्तं, तस्यांतराभावरूपत्वे तात्त्विकत्वायोगात् प्राप्तिरूपत्वेपि प्राप्तेः। परमार्थतः कात्स्न्यैकदेशाभ्यामसंभवाद्गत्यंतराभावात्। कल्पितस्य तु रूपश्लेषस्याप्रतिषेधात् न स तात्त्विकः संबंधोस्ति प्रकृतिभिन्नानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः अन्यथा सांतरत्वस्य संबंधप्रसंगादिति केचित्। तदुक्तं। "रूपश्लेषो हि संबंधो द्वित्वे स च कथं भवेत्। तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां संबंधो नास्ति तत्त्वतः ॥" इति। तदेतदेकांतवादिनश्चोद्यं

शंका : एक द्रव्य के साथ क्रम से होने वाली किन्हीं विवक्षित अनुभव, स्मरण रूप पर्यायों का अथवा रूप, रस आदि गुण स्वरूप पर्यायों का तदात्मक हो जाना द्रव्य प्रत्यासत्ति है और तादात्म्यस्वरूप प्रत्यासत्ति का अर्थ है-रूपश्लेष (एकमेक हो जाना) परन्तु वह श्लेष सम्बन्धियों के द्वित्व (दो) होने पर अयुक्त है। श्लेष सम्बन्ध दो पदार्थों में नहीं हो सकता क्योंकि श्लेष और द्वित्व इनमें परस्पर विरोध है अर्थात् स्वतंत्र दो पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा उन सम्बन्धियों का एकत्व स्वीकार करने पर भी सम्बन्ध घटित नहीं होता है। और दो सम्बन्धियों के अभाव में भी उस सम्बन्ध की घटना नहीं हो सकती क्योंकि सम्बन्ध दो पदार्थों में ही होता है, अकेले में नहीं। अन्यथा (यदि एक में रहने वाला सम्बन्ध माना जायेगा तो) अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् आत्मा-आत्मा का बन्ध हो जायेगा।

उस द्रव्य प्रत्यासत्ति रूप सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध न मान कर नैरन्तर्य (अन्तराल रहित) सम्बन्ध मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह निरंतरता अन्तराल के अभाव रूप है अतः उसमें वास्तविकता का अयोग है। यदि संश्लेष का अर्थ दोनों की परस्पर प्राप्ति होना माना जाता है तो वह प्राप्ति पूर्ण रूप से होती है या एकदेश रूप होती है, ये दो प्रश्न उठते हैं। उनमें पूर्ण रूप से या एकदेश से प्राप्ति होना परमार्थ से असंभव है अर्थात् पूर्ण रूप से सम्बन्ध मानने पर अनेक परमाणुओं का पिण्ड एक अणुमात्र हो जायेगा एकदेश संश्लेष मानने पर वह आत्मभूत और परात्मभूत के भेद से दो प्रकार का होगा। यदि एकदेश संश्लेष आत्मभूत है तो दो वस्तु का संश्लेष पृथक्-पृथक् रहेगा और परात्मभूत कहेंगे तो उसका सम्बन्ध कराने के लिए दूसरे की और उसे तीसरे की आवश्यकता होने से अनवस्था दोष आयेगा। संश्लेष का स्पष्ट अर्थ करने के लिए इन तीन से अतिरिक्त गत्यन्तर का अभाव है अर्थात् अन्य कोई उपाय नहीं है।

कल्पित रूप संश्लेष का भी निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि वह तात्त्विक नहीं है। वह रूप संश्लेष स्वकीय भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के अनुसार सर्वथा भिन्न पदार्थों में अपने निज स्वरूप से अवस्थित है। उनका परस्पर स्वरूप संश्लेष कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता, जैसे जल और कमल इन दो भिन्न पदार्थों में संश्लेष (एकमेकता) नहीं हो सकता। अन्यथा (निरन्तरता को सम्बन्ध कहोगे तो) सांतरता के भी सम्बन्ध होने का प्रसंग आयेगा। ऐसा कोई (बौद्ध) कहता है, उनके ग्रन्थ में भी लिखा है। "रूप संश्लेष सम्बन्ध दो पदार्थों में कैसे हो सकता है ? इसलिए प्रकृति से भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है।" इति।

न पुन: स्याद्वादिनां। ते हि कथंचिदेकत्वापत्तिं संबंधिनो रूपश्लेषं संबंधमाचक्षते। न च सा द्वित्वविरोधिनी कथंचित्स्वभावनैरंतर्यं वा तदपि नांतराभावरूपमस्तित्वं छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमस्यांतरस्याभावो हि तत्स्वभावांतरात्मको वस्तुभूत एव यदा रूपश्लेष: कयोश्चिदास्थीयते निर्बाधं तथा प्रत्ययविषयस्तदा कथं कल्पनारोपित: स्यात् । केनचिदंशेन तादात्म्यमतादात्म्यं च संबंधिनोर्विरुद्धमित्यपि न मंतव्यं तथानुभवाच्चित्राकारसंवेदनवत् । एतेन प्राप्त्यादिरूपं नैरंतर्यं रूपश्लेष इत्यपि स्वीकृतं तस्यापि कथंचित्तादात्म्यानतिक्रमात्। तत: स्वस्वभावव्यवस्थिते: प्रकृतिभिन्नानामर्थानां न संबंधस्तात्त्विक इत्ययुक्तं तत एव तेषां संबंधसिद्धे:। स्वस्वभावो हि भावानां प्रतीयमान: कथंचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षश्च सर्वथा तदप्रतीतेस्तेन चावस्थिति: कथं संबंधाभावैकांतं साधयेत् संबंधैकांतवत्। न चापेक्षत्वात् संबंधस्वभावस्य मिथ्याप्रतिभास:

जैनाचार्य उक्त शंकाओं का **समाधान** करते हैं-

एकान्तवादियों की यह कुतर्कणा (शंकायें) स्याद्वादियों के प्रति नहीं हो सकती क्योंकि वे स्याद्वादी सम्बन्धियों के संश्लेष रूप सम्बन्ध को कथंचित् एकरूप कहते हैं और वह एकत्व की प्राप्ति दो का विरोध करने वाली नहीं है अर्थात् आत्मा और पुद्गल का अथवा स्वर्ण और चांदी का संश्लेष होने पर भी वे दोनों एकरूप नहीं होते हैं तथा नैरन्तर्य सर्वथा अन्तर के अभाव रूप तुच्छाभाव नहीं है अपितु इस प्रकरण मे अन्तर का छिद्र, मध्य, विरह, सामीप्य, विशेष आदि अनेक अर्थ हैं। इस सूत्र में अन्तर का छिद्र, मध्य, विरह में से किसी एक अन्तर के अभाव स्वरूप अर्थ माना गया है अत: वह स्वभावान्तरात्मक भावस्वरूप होने से वास्तविक ही है। अथवा (जिस समय) किन्हीं दो पदार्थों का वस्तुभूत निरन्तर रूपसंश्लेष निर्बाध ज्ञान का विषय होता हुआ स्थित है, इस प्रकार ज्ञान का विषयभूत रूपसंश्लेष कल्पना आरोपित कैसे हो सकता है अर्थात् रूपसंश्लेष कल्पित नहीं है।

दो सम्बन्धियों का किसी अंश से तादात्म्य हो जाना और किसी अंश से तादात्म्य नहीं होना, यह विरुद्ध है, ऐसा भी नहीं मानना चाहिए। क्योंकि चित्राकार के सम्बन्ध के समान इस प्रकार का अनुभव होता है अर्थात् जैसे चित्राकार वाले संवेदन का नीलाकार से अभेद है, कथंचित् भेद है। ऐसा भेदाभेदात्मक चित्र ज्ञान सौगत ने स्वीकार किया है।

इस कथन (कथंचित् भेदाभेदात्मक रूप) से बौद्ध के द्वारा कथित प्राप्ति आदिरूप नैरन्तर्य रूप-संश्लेष है, यह भी स्वीकार कर लिया गया है क्योंकि निरंतर का भी कथञ्चित् तादात्म्य से अतिक्रमण नहीं है अर्थात् सौगत सिद्धान्त में जो नैरन्तर्य (अन्तर रहित) संश्लेष है (सम्बन्ध है) वही जैन सिद्धान्त में कथंचित् तादात्म्य है । इसलिए प्रकृति (स्वभाव) से भिन्न पदार्थों का अपने स्वभाव में व्यवस्थित होने से उनका परस्पर सम्बन्ध वास्तविक नहीं है-ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध का निषेध करना ही सम्बन्ध की सिद्धि है अर्थात् विधि के बिना निषेध नहीं क्योंकि पदार्थों का स्वस्वभाव प्रतीत होता है अत: स्वभाव और स्वभाववानों की कथंचित् प्रत्यासत्ति (निकटता) और कथंचित् विप्रकर्ष (दूरत्व) प्रतीत हो रहा है। सर्वथा प्रत्यासत्ति या विप्रकर्षत्व प्रतीत नहीं होता है। कथंचित् स्व स्वामी सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध,

सूक्ष्मत्वादिवदसंबंधस्वभावस्यापि तथानुषंगात् । स चासंबंधस्वभावोऽनापेक्षिक: कथंचिदर्थमपेक्ष्य कस्यचित्तद्व्यवस्थितेरन्यथानुपपत्ते: । स्थूलत्वादिवत् प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो अनापेक्षिक एव तत्पृष्ठभाविना तु विकल्पेनाध्यवसीयमानो यथापेक्षिकस्तथा वास्तवो भवतीतिचेत्, संबंधस्वभावोपि समानं। न हि स प्रत्यक्षेन प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिको न स्यात् । ननु च परापेक्षैव संबंधस्तस्य तन्निष्ठत्वात् तदभावे सर्वथाप्यसंभवात् । परापेक्षमाणो भाव: स्वयमसत्त्वादपेक्षते स तथा न तावदसन्नपेक्षो धर्माश्रयत्वविरोधात्

तादात्म्य सम्बन्ध आदि सिद्ध है। जब स्वस्वरूप से पदार्थों की स्थिति होती है तब एकान्त रूप से सर्वथा सम्बन्ध के अभाव को सिद्ध कैसे कर सकते हैं ? जैसे एकान्त रूप से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है, वैसे ही एकान्त रूप से सम्बन्ध का अभाव भी सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थ : पर्याय और पर्यायी का सम्बन्ध माने बिना स्वस्वभावों में पदार्थों की व्यवस्था नहीं हो सकती। सूक्ष्मत्व, ह्रस्वत्व आदि के समान सापेक्ष (अपेक्षा सहित होने से) सम्बन्ध स्वभाव का मिथ्या प्रतिभास है-ऐसा नहीं है क्योंकि अपेक्षाकृत को मिथ्या कहने पर असम्बन्ध स्वभाव के भी मिथ्या प्रतिभास होने का प्रसंग आता है क्योंकि असम्बन्ध स्वभाव भी अनपेक्षिक (अपेक्षा रहित) नहीं है। किसी पदार्थ की अपेक्षा से ही असम्बन्ध की व्यवस्था होती है। अन्यथा (यदि असम्बन्ध किसी की अपेक्षा नहीं रखता है तो) अन्य किसी एक पदार्थ का किसी अन्य एक अर्थ की अपेक्षा से असम्बन्ध की व्यवस्था नहीं होती। जैसे स्थूल, ह्रस्व आदि की अपेक्षा के बिना व्यवस्था नहीं हो सकती।

यदि अपेक्षा सहित होने से गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध वास्तविक नहीं माने जाते हैं तो असम्बन्ध भी वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकता। बौद्ध कहता है कि प्रत्यक्ष बुद्धि में प्रतिभासमान असम्बन्ध अनापेक्षिक है; पुन: उसके पीछे होने वाले असत्य विकल्प के द्वारा निर्णीत होने से जैसे असम्बन्ध आपेक्षिक है, उसी प्रकार असम्बन्ध अवस्तुभूत है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयभूत असम्बन्ध अंश वास्तविक है और कल्पना से ज्ञात असम्बन्ध अंश अवास्तविक है परन्तु सम्बन्ध तो किसी प्रकार से भी वास्तविक नहीं है।

जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो वस्तु के सम्बन्ध स्वभाव में भी समान रूप से यही कथन लागू हो जाता है, वह सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता है, ऐसा नहीं है अर्थात् सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रतिभासित होता है जिससे वह अनापेक्षिक नहीं हो सकेगा। अपितु सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से वास्तविक है।

सम्बन्ध को नहीं मानने वाला बौद्ध कहता है कि-सम्बन्ध अन्य की अपेक्षा रखने वाला ही होता है-क्योंकि वह सम्बन्ध आपेक्षिक पदार्थों में ही रहता है। अपेक्षणीय पदार्थों के अभाव में सम्बन्ध की सर्वथा असंभवता है। अथवा दूसरों की अपेक्षा रखने वाले सम्बन्ध स्वयं असद्भूत होकर दूसरों की अपेक्षा रखता है कि (अथवा) स्वयं सत् होकर परापेक्षा करता है ?

खरशृंगवत्। नापि सन् सर्वनिराशंसत्वादन्यथा सत्त्वविरोधात् कथंचित्सन्नसन्नापेक्ष्य इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान् पक्षद्वयदोषानतिक्रमात् । न चैकोर्थः सन्नसंश्च केनचिद्रूपेण संभवति विरोधादन्यथातीतानागताद्यशेषात्मको वर्तमानार्थः स्यादिति न क्वचित्सदसत्त्वव्यवस्था, संकरव्यतिकरापत्तेः । ततोपरापेक्षाणामसन्निबंधनः संबंधः सिद्ध्येत् । तदुक्तं । ''परापेक्षादिसंबंधः सोसत्कथमपेक्षते। संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्ष्यते॥'' इति कश्चित् । सोपि सर्वथा सदसत्त्वाभ्यां भावस्य परापेक्षाया विरोधमप्रतिपद्यमानः कथं तां प्रतिषेध्यात् । प्रतिपद्यमानस्तु स्वयं प्रतिषेद्धुमसमर्थस्तस्याः क्वचित्सिद्धेरन्यथा विरोधायोगात् कथं चानिराकुर्वन्नपि परापेक्षा सर्वत्र संबंधस्यानापेक्षिकत्वं प्रत्याचक्षीत? न चेदुन्मत्तः। स्वलक्षणमेव संबंधोऽनापेक्षिकः स्यान्न ततोऽन्यः।

प्रथम पक्ष के अनुसार असद्भूत पदार्थ तो पर की अपेक्षा नहीं कर सकता है क्योंकि अपेक्षा क्रिया रूप धर्म का आश्रय सद्भूत कर्त्ता होना चाहिए। असत् पदार्थ को खर (गधे) के सींग के समान अपेक्षा धर्म के आश्रयपन का विरोध है। तथा दूसरे पक्ष के अनुसार सद्भूत पदार्थ भी परकी अपेक्षा नहीं रखता है। सत्त्व होने से सर्व आकांक्षाओं से रहित है। वह किसी की अपेक्षा नहीं करता है। अन्यथा यदि सत् पदार्थ परकी अपेक्षा करता है, तो उसके सद्भूतत्व में विरोध आता है अर्थात् जो परिपूर्ण नहीं है वही अन्य की अपेक्षा करता है। कथंचित् सत् और कथंचित् असत् अपेक्षा करके कहना यह पक्ष भी श्रेष्ठ नहीं है। क्यों कि दोनों पक्षों में कथित दोषों का अतिक्रम नहीं होता है अर्थात् सत् और असत् पक्ष में दिये गये दोष उभय पक्ष में प्राप्त हो जाते हैं। अथवा एक ही पदार्थ किसी स्वरूप से सद्भूत और किसी से असत् हो, ऐसा संभव नहीं है क्योंकि इसमें परस्पर विरोध है। अन्यथा, यदि ऐसा नहीं है तो वर्तमानकालीन पदार्थ ही अतीत (भूत), अनागत (भविष्यत्) आदि अशेष आत्मक हो जायेगा। इस प्रकार किसी भी पदार्थ में सत्त्व और असत्त्व की व्यवस्था नहीं होगी। तथा संकर (सब मिलकर एक हो जाना) और व्यतिकर दोष का भी प्रसंग आयेगा जिससे दूसरों की अपेक्षा रखने वाले पदार्थ का असत् कारण मानकर होने वाला सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है अर्थात् परापेक्षा रूप सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। सो ही **बौद्ध** कथित ग्रन्थ में कहा है:-

जो परापेक्षा रखने वाला सम्बन्ध है-वह असद्भूत होकर दूसरों की अपेक्षा कैसे कर सकता है ? यदि वह सम्बन्ध सत् रूप है तब तो निराकांक्ष है और जो निराकांक्षभाव है वह दूसरे की अपेक्षा कैसे कर सकता है। इस प्रकार बौद्ध के कह चुकने पर **जैनाचार्य** कहते हैं कि-

वह सौगत सर्वथा सद् और असद् के द्वारा पदार्थों की परापेक्षा से होने वाले विरोध को नहीं समझता हुआ परापेक्षा का निषेध कैसे कर सकता है ? और सत् असद् के द्वारा भावों का परापेक्षा के साथ विरोध को जानने वाला बौद्ध स्वयं निषेध करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि कहीं-न-कहीं सम्बन्ध के साथ पर पदार्थ की अपेक्षा सिद्ध हो जाती है तब ही तो विरोध आता है अन्यथा (परपदार्थों की अपेक्षा के सिद्ध हुए बिना) विरोध का अयोग है। तथा दूसरे की अपेक्षा का निराकरण नहीं करने वाला सर्वत्र सम्बन्ध की अनापेक्षिकता का खण्डन कैसे कर सकता है ? यदि बिना जाने सम्बन्ध का खण्डन करेगा तो वह उन्मत्त (पागल) है। अर्थात् उन्मत्त (पागल) पुरुष ही परापेक्षा को मानता हुआ भी अपेक्षा का खण्डन करता है, ज्ञानी नहीं।

स चेष्टो नाममात्रे विवादाद्वस्तुन्यविवादादितिचेत् । कः पुनः संबंधमस्वलक्षणमाहतस्यापि स्वेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वलक्षणत्वात् । ननु कुतः संबंधस्तथा द्वयोः संबंधिनोः सिद्धः ? एकेन गुणाख्येन संयोगेनान्येन वा धर्मेणांतरस्थितेनावाच्येन वा वस्तुरूपेण संबंधादितिचेत् , स तत्संबंधिनोरनर्थांतरमर्थांतरं वा ? यद्यनर्थांतरं तदा संबंधिनावेव प्रसज्येते । तथा च न संबंधो नाम । स ततोर्थांतरं चेत् संबंधिनौ केवलौ कथं संबंधौ स्यातां तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यश्चेत् कथं वस्तुभूतः स्यात् । भवतु चार्थांतरमनर्थांतरं वा संबंधः । स तु द्वयोरेकेन कुतः

स्वलक्षण तत्त्व ही बिना अपेक्षा सम्बन्ध को प्राप्त होता है। उस स्वलक्षण सम्बन्ध से अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है और वह स्वलक्षणरूप सम्बन्ध अनापेक्षिक है और बौद्धों को इष्ट ही है। इस कथन में बौद्ध और जैनमत में नाम मात्र का विवाद है। वास्तविक वस्तु में विवाद नहीं है'' इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य प्रत्युत्तर देते हैं कि कौन वादी सम्बन्ध को अस्वलक्षण (स्वलक्षण रहित) कहता है? अर्थात् कोई नहीं कहता है क्योंकि सम्बन्ध भी स्वकीय लक्षण से लक्ष्यमाण होता हुआ स्वलक्षण स्वरूप ही है स्वलक्षण को छोड़कर कोई वस्तु रहती ही नहीं।

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि- दो सम्बन्धियों के मध्य में रहने वाला सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस पर जैन या अन्य कोई यों कहे कि एक संयोग नामक गुण से अथवा अन्य किसी अन्तर स्थित धर्म के द्वारा अवाच्य वस्तु के स्वरूप से दोनों का सम्बन्ध होना बन जाता है, ऐसा कहने पर तो प्रश्न उठता है कि अन्तराल में स्थित वह अवाच्य वस्तु स्वरूप उन दो सम्बन्धियों से भिन्न है ? या अभिन्न है ? (अर्थान्तर है ? कि अनर्थान्तर है ?) यदि अनर्थान्तर (अभिन्न) है तब तो केवल दो सम्बंधियों के मानने का ही प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर सम्बन्ध की स्थिति नहीं रहेगी, सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा। यदि सम्बन्ध को दोनों सम्बन्धियों से भिन्न मानते हो तो पृथक् स्थित सम्बन्ध से केवल दो सम्बंधियों का सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा? यदि भिन्न और अभिन्न रूप से नहीं कहने योग्य (तत्त्व और अतत्त्व से रहित) अवाच्य सम्बन्ध है तो वह अवाच्य सम्बन्ध वस्तुभूत कैसे होगा ? यदि पदार्थ कैसा भी हो, सम्बन्ध अर्थान्तरभूत (भिन्न) हो चाहे अनर्थान्तर भूत हो तो वह सम्बन्ध दो में एक रूप से कैसे रहेगा ? अर्थात् दो सम्बन्धियों में किसी अन्य सम्बन्ध से रहने वाला सम्बन्ध होता है। दूसरे एक से सम्बन्ध मानते हैं तो भी उसके साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि दूसरे एक सम्बन्ध से दो के साथ सम्बन्ध का सम्बन्ध माना जायेगा तो अनवस्था दोष आता है अर्थात् जैसे आत्मा और ज्ञान में रहने वाला संयोग सम्बन्ध गुण होने के कारण समवाय सम्बन्ध से है तब आत्मा और ज्ञान में रहने वाला समवाय भी किसी दूसरे सम्बन्ध से युक्त होगा अतः अनवस्था दोष आयेगा। इसलिए सम्बन्ध ज्ञान नहीं है। बहुत दूर जाकर भी दो सम्बन्धियों में सम्बन्ध का ज्ञान कैसे भी नहीं हो सकता? अर्थात् सर्व पदार्थ अपने स्वरूप में स्थित हैं, किसी का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है।

स्यात् । परेणैकेन-संबंधादिति चेत् तेनापि न संबंध: ।[१] परेणैकेन संबंधादित्यनवस्थानात् संबंधमति: सुदूरमपि गत्वा द्वयोरेकाभिसंबंधमंतरेणापि संबंधत्वेन कथं न अभिसंबंधत्वमति: केवलयो: संबंधिनोरतिप्रसंगात् । यदि संबंधश्च स्वेनासाधारणेन रूपेण स्थितस्तदा सिद्धममिश्रणमर्थानां परमार्थत: । तदुक्तं । ''द्वयोरेकाभिसंबंधात् संबंधो यदि तद्द्वयो: । क: संबंधोऽनवस्था च न संबंधमतिस्तथा ॥'' ''तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिता: । इत्यमिश्रा: स्वयं भावास्तान्मिश्रयति कल्पना ॥'' इति कथं संबंध: स्वलक्षणमिष्यते संबंधिनोरर्थांतरं ततोऽनर्थांतरस्य तु तथेष्टौ न वस्तुव्यतिरेकेण संबंधोन्यत्र कल्पनामात्रादिति वदन्नपि न स्याद्वादिमतमवबुध्यते। तद्विभेदाभेदैकांतपराङ्मुखं न तद्दोषास्पदं । येन रूपेण लक्ष्यमाण: संबंधो अन्यो वार्थ: स्वलक्षणमिति तु परस्परापेक्षभेदाभेदात्मकं जात्यंतरमेवोक्तं तस्याबाधितप्रतीतिसिद्धत्वेन स्वलक्षणव्यपदेशात्। ततो न

अन्यथा अति प्रसंग दोष आता है और किसी का किसी के भी साथ स्वामी सम्बन्ध हो जायेगा। यदि कहा जाए कि स्वकीय असाधारण रूप से सम्बन्ध स्थित है तब तो परमार्थ से पदार्थों का अमिश्रण रूप (परस्पर नहीं मिलने रूप) असम्बन्ध ही सिद्ध होता है अर्थात् सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में पृथक्-पृथक् अवस्थित हैं किसी का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है। सो ही कहा है:-

''दोनों का एक अभिसम्बन्ध होने से यदि सम्बन्ध माना जाता है तो फिर उन दोनों का क्या सम्बन्ध होगा? अनवस्था होने से सम्बन्ध ज्ञान भी नहीं हो सकता है'' अर्थात् दंड और दंडी का संयोग सम्बन्ध माना जाये और दण्ड में संयोग गुण समवाय सम्बन्ध से रहे अत: संयोग और दण्ड का समवाय माना जाए। समवाय का संयोजक स्वयंरूप सम्बन्ध से और समवाय में स्वरूप सम्बन्ध विशेषणता सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार सम्बन्धों की परम्परा शांत न होने से अनवस्था दोष आता है। यह अनवस्था दोष सम्बन्ध ज्ञान नहीं होने देता है तथा ''वे दोनों सम्बन्धी रूप भाव और उनसे भिन्न सम्बन्ध तथा दूसरे सर्व पदार्थ स्वस्वरूप में स्थित हैं अत: सर्व पदार्थ अमिश्र हैं (परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, व्यावृत हैं मिले हुए नहीं हैं)। व्यवहारी लोग कल्पना ज्ञान से सम्बन्ध की (मिश्रण की) कल्पना करते हैं'' इसलिए सम्बन्धियों से भिन्न सम्बन्ध पदार्थ स्वलक्षण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं। उन सम्बन्धियों से अभिन्न सम्बन्ध का इष्ट करोगे तो दोनों सम्बन्धी रूप वस्तुओं से भिन्न कोई सम्बन्ध पदार्थ नहीं बन सकता। केवल कल्पना के अतिरिक्त सम्बन्ध कोई वस्तु नहीं है। **जैनाचार्य** कहते हैं कि इस प्रकार कहने वाला सौगतानुयायी भी स्याद्वाद सिद्धान्त को नहीं समझता है, क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त भेद और अभेद के एकान्त से पराङ्मुख है। अत: दोष के स्थान से रहित है अर्थात् सौगत के द्वारा कथित सम्बन्ध के निषेध से सम्बन्ध सिद्धि में दिये गये दोष स्याद्वाद सिद्धान्त में लागू नहीं हो सकते।

जिस रूप से लक्षित सम्बन्ध वा अन्य पदार्थ स्वलक्षण है इसे परस्पर सापेक्ष भेदाभेदात्मक भिन्न जाति वाला पदार्थ कहा जाता है कथञ्चित् भेदाभेदात्मक वस्तु की अबाधित प्रतीति सिद्ध होती है।

इसलिए स्वलक्षण इस नाम को प्राप्त होता है। तथा कल्पना के अनुसार चलने वाले व्यवहारी

१. 'परेणैकेन सम्बन्धादितिचेत् तेनापि न सम्बन्ध:' यह सोलापुर प्रति में नहीं है।

कल्पनामेवानुरुंधानैः प्रतिपत्तृभिः क्रियाकारकवाचिनः शब्दाः संयोज्यंतेऽन्यापोहप्रतीत्यर्थमेवेति घटते येनेदं शोभेत । "तामेव चानुरुंधानैः क्रियाकारकवाचिनः । भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यंतेऽभिधायिकाः ॥" इति क्रियाकारकादीनां संबंधिनां तत्संबंधस्य च वस्तुरूपप्रतीतये तदभिधायिकानां प्रयोगसिद्धेः सर्वत्रान्यापोहस्यैव शब्दार्थत्वनिराकरणाच्च। ततः कश्चित्कस्यचित्स्वामी संबंधात्सिध्यत्येवेति स्वामित्वमर्थानामधिगम्यं निर्देश्यत्ववदुपपन्नमेव ॥

न किंचित्केनचिद्वस्तु साध्यते सन्न चाप्यसत् । ततो न साधनं नामेत्यन्ये तेप्यसदुक्तयः ॥१३॥

साधनं हि कारणं तच्च न सदेव कार्यं साधयति स्वरूपवत् , नाप्यसत्खरविषाणवत् । प्रागसत्साधयतीति न वा युक्तं, सदेव साधयतीति पक्षानतिक्रमात्। न ह्युत्पत्तेः प्रागसत् प्रागेव कारणं निष्पादयति, तस्यासत एव निष्पादनप्रसक्तेः। उत्पत्तिकाले सदेव करोतीति तु कथनेन कथं न सत्पक्षः । कथंचित्सह करोतीत्यपि न

प्रतिपत्ताओं (ज्ञाताओं) के द्वारा अन्यापोह की प्रतीति के लिए क्रियाकारकवाची शब्द जोड़ लिये जाते हैं, यह कथन घटित नहीं होता जिससे कि सौगत का यह सिद्धान्त शोभित होता हो कि "कल्पनाओं का अनुरोध करने वाले ज्ञाताओं के द्वारा भावों के भेद की प्रतीति कराने के लिए क्रियावाची और कारकवाची शब्द जोड़ लिये जाते हैं अर्थात् सौगत सिद्धान्त में क्रिया काल में कारक नहीं है अतः क्रिया-कारक सम्बन्ध नहीं है। वाच्य-वाचक भाव भी नहीं हैं अतः सौगत का कथन सुष्ठु नहीं है क्योंकि क्रिया, कारक, ज्ञापक, आदि सम्बन्धियों और उनके सम्बन्ध के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करने के लिए उनके कहनेवाले शब्दों का प्रयोग करना सिद्ध है तथा सब स्थानों पर अन्यापोह ही शब्द का वाच्य अर्थ है इसका निराकरण कर दिया गया है इसलिए कोई एक विवक्षित पदार्थ किसी एक का स्वस्वामी सम्बन्ध हो जाने से स्वामी सिद्ध हो ही जाता है। इस प्रकार पदार्थों का निर्देश्यपने के समान स्वामीपना भी जानने योग्य है।

अब **साधन** अनुयोग का विचार करते हैं :-

सत् वस्तु किसी साधन (कारण) के द्वारा सिद्ध नहीं की जाती है और सर्वथा असत् वस्तु भी किसी साधन के द्वारा सिद्ध नहीं की जाती है अतः साधन नामक कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा अन्य कोई वादी (कार्य-कारण भाव को नहीं मानने वाले बौद्ध) कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि यह भी असद् उक्ति है, अर्थात् समीचीन नहीं है ॥१३॥ क्योंकि, कार्य-कारण भाव दृष्टिगोचर है।

साधन का अर्थ कारण है और यह साधन रूप कारण स्वरूप के समान सत् कार्य को सिद्ध नहीं करता है और गधे के सींग के समान असत् कार्य को भी सिद्ध नहीं करता है।

"पूर्व में जो असत् है उसको साधन सिद्ध करता है"-ऐसा कहना भी युक्त नहीं हैं, क्योंकि इस कथन से सत् कार्य ही साधन बनता है इस पक्ष का अतिक्रमण नहीं होता है अर्थात् सत् पदार्थ को ही कारण सिद्ध करता है अतः सिद्ध साधन है। उत्पत्ति के पूर्व असत् कार्य को कारण पूर्व में ही बना लिया है-इस प्रकार तो नहीं कह सकते क्योंकि, ऐसा मानने पर असत् कार्य के उत्पादन का प्रसंग आता है। अर्थात् कारण असत् पदार्थों का उत्पादक हो जायेगा। उत्पत्ति काल में कारण सद् पदार्थों को ही उत्पन्न करता है-ऐसा कहने

व्यवतिष्ठते, येन रूपेण सत्तेन करणायोगादन्यथा स्वात्मनोपि करणप्रसंगात्। येन चात्मना तदसत्तेनापि न कार्यतामियर्ति शशविषाणवदित्युभयदोषावकाशात्। सदसद्रूपं कार्यं नाऽनाकुलं, न च कथंचिदपि कार्यमसाधयत् किंचित्साधनं नाम कार्यकरणभावस्य तत्त्वतोसंभवाच्च। तदुक्तं। "कार्यकारणभावोपि तयोरसहभावत:। प्रसिद्ध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे संबंधता कथं ॥" "क्रमेण भाव एकत्र वर्तमानोन्यनिस्पृह:। तदभावेपि भावाच्च संबंधो नैकवृत्तिमान् ।।" "यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्तते। उपकारी ह्यपेक्ष: स्यात् कथं चोपकरोत्यसत्

पर तो सत्पक्ष क्यों नहीं आयेगा ? अर्थात् सत् और असत् दोनों पक्षों में भी कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं होता है।

किसी द्रव्य की अपेक्षा सत् और कथञ्चित् पर्याय की अपेक्षा असत् कार्य को कारण उत्पन्न करता है, यह स्याद्वाद पक्ष भी व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि जिस स्वरूप से कार्य सत् है उस स्वरूप से उसका करना नहीं हो सकता है। अन्यथा (यदि सत्स्वरूप का भी पुन: उत्पादन किया जाता है तब तो) कारणों के अपनी आत्मा के भी पुन: निष्पादन करने का प्रसंग आता है। जिस स्वरूप से वह कार्य असत् है उसी स्वरूप से कार्य को प्राप्त करता है-ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि शश के सींग के समान असत् के उत्पाद का प्रसंग आता है अत: उभय (दोनों) दोषों का अवकाश (स्थान) होने से स्याद्वादियों का सत्-असत् रूप कार्य का पक्ष लेना भी अनाकुल नहीं है अर्थात् आकुलता उत्पादक होने से सदोष है अत: किसी भी प्रकार से कार्य को नहीं बनाता हुआ तो कोई साधन सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए परमार्थ से कार्य कारण भाव की असंभवता है। सोही **बौद्ध ग्रन्थों में कहा है-**

"कार्य-कारण भाव भी एक काल में दोनों एक साथ न रहने से अद्विष्ठ में द्विष्ठ सम्बन्धता कैसे सिद्ध हो सकती है *अर्थात् कार्य-कारण भाव दो पदार्थों में रहता है वह एक साथ एक काल में रहता नहीं* है, कारण के समय कार्य नहीं है और कार्यकाल में कारण नहीं है अत: द्विष्ठ सम्बन्ध की असंभवता है अत: दो पदार्थों में रहने वाले कार्य-कारण में सम्बन्ध कैसे घटित हो सकता है ?

(१) सम्बन्ध नाम का पदार्थ एक कारण या कार्य में रहता हुआ तथा कार्य और कारणों में से एक की भी अपेक्षा न करता हुआ एक में ही स्थित रहने वाला वृत्तिमान (सम्बन्ध) नहीं बन सकता क्योंकि कार्य और कारण में से एक के न होते हुए भी सम्बन्ध रह जाता है, ऐसा माना गया है। परन्तु केवल एक में रहने वाला सम्बन्ध नहीं होता है।

(२) यदि कार्य-कारणभाव वादी कहे कि कार्य और कारण में से एक कार्य अथवा कारण की अपेक्षा करके शेष बचे अन्य कार्य और कारण में वह सम्बन्ध क्रम से प्रवृत्ति करता है अत: अपेक्षा सहित होने से दो में रहने वाला ही माना जाता है तो जो अपेक्ष्य है (जिसकी अपेक्षा की जाती है, वह उपकारी होना चाहिए) अर्थात् उपकारी की ही अपेक्षा होती है, अन्य (अनुपकारी) कार्य कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। परन्तु जब कार्यकाल में कारण और कारण काल में कार्य भाव अविद्यमान है तो वह उपकार कैसे कर सकता है ?

॥'' ''यद्येकार्थाभिसंबंधात्कार्यकारणता तयोः। प्राप्ता द्वित्वादिसंबंधात् सव्येतरविषाणयोः ॥'' ''द्विष्ठो हि कश्चित्संबंधो नातोन्यत्तस्य लक्षणं। भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥'' योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किं। भेदाच्चेन्न त्वयं[1] शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः॥'' ''पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने। अपश्यत्कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥'' दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसंभवात् । कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता॥'' ''तद्भावभावात्तत्कार्यगतिर्यस्य तु वर्तते । संकेतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा॥''

(३) यदि एक सम्बन्ध रूप अर्थ से बँध जाने के कारण कार्यत्व और कारणत्व रूप से स्वीकृत क्रमवर्त्ती पदार्थों में कार्य-कारण भाव माना जाता है तब तो बैल के दायें, बायें सींग में द्वित्व संख्या आदि शब्द के दूरवर्ती निकटवर्ती पदार्थों में होने वाले काल, देश सम्बन्धी परत्व, अपरत्व विभाग, आदि के सम्बन्ध से कार्य-कारण भाव प्राप्त हो जाएगा क्योंकि, दोनों सींग में द्वित्व विभाग आदि विद्यमान हैं।

(४) कोई सम्बन्धवादी कहते हैं कि सम्बन्ध द्विष्ठ है। इससे अन्य द्विष्ठ का लक्षण नहीं है, क्योंकि भावाभावोपधि (जिसके होने पर होना और नहीं होने पर नहीं होना रूप उपाधि) योग-कार्य कारणता है तब तो सभी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होते हैं। ऐसा होने पर उस भाव-अभाव रूप विशेषण को ही कार्य कारण भाव क्यों नहीं मान लिया जाता है। असत् सम्बन्ध की कल्पना करने से क्या लाभ है?

योगोपाधी (जिसके होने पर होना और जिसके नहीं होने पर नहीं होना) वे दोनों अन्वय व्यतिरेक भी कार्य कारणता नहीं है क्योंकि इसमें भेद से एक कार्य-कारण भाव शब्द के द्वारा अन्वय व्यतिरेक रूप प्रमेय नहीं कहा जा सकता क्योंकि, शब्द तो प्रयोग करने वाले के आधीन है अर्थात् नियोग करने वाला शब्द का जिस प्रकार प्रयोग करता है शब्द उसी प्रकार के अर्थ को कह देता है।

जिस कारण से जानने योग्य परन्तु कारण के पूर्व दृष्टिगोचर नहीं होने पर भी वर्तमान मे स्थित कार्य को देखकर ''वह इससे उत्पन्न हुआ'' इस बात के उपदेशक पुरुष के बिना भी मुनष्य जान लेते हैं और कार्य का ज्ञान कर लेते हैं।

दर्शन, अदर्शन (विषयरूप भाव और अभाव) को छोड़कर कार्य बुद्धि की असंभवता है। अर्थात् विषय स्वरूप भाव और अभाव के सिवाय कार्य बुद्धि कुछ जानती ही नहीं है। यह इसका कार्य है, इत्यादि कार्यादि श्रुति (शब्द व्यवहार) को भी लाघव के लिए निविष्ट किया गया है। अर्थात् जिसके होने पर होता है जिसके नहीं होने पर नहीं होता है इतना विस्तारपूर्वक न कह कर ''यह इसका कार्य है'' ''यह इसका कारण है'' ऐसा शब्द बोल दिया जाता है। भाव और अभाव रूप हेतु के द्वारा जो कार्य ज्ञान होने का वर्णन किया जाता है, व जिस कार्य का कथन किया है वह भी इस कारण का यह कार्य है, और इस कार्य का यह कारण है, इस संकेत के विषय को ही करता है। (वस्तुभूत कार्य-कारण भाव को नहीं बताता)।

जैसे सास्ना (गले में लटकता हुआ चर्म) आदि शब्द से सींग पूंछ के द्वारा गौ (गाय) का ज्ञान कर लिया जाता है अर्थात् गौ और सास्ना आदि का कार्य-कारण भाव नहीं है ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव हो सकता है।

१. भेदाच्चेन्नन्वयं यह पाठ मा०प्र०।

''भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता। प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलंभत:॥'' ''एतावन्मात्रतत्त्वार्था: कार्यकारणगोचरा:। विकल्पा दर्शयंत्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव॥'' ''भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का। भावे वान्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं न तौ॥'' इति। तदेतदसदूषणं। स्वाभिमतेप्यकार्यकारणभावे समानत्वात्। तथाहि। अकार्यकारणभावोद्विष्ठ एव कथमसहभाविनो: कार्यकारणत्वाभ्यां निषेध्ययोरर्थयोर्वर्तते। न वा द्विष्ठोसौ संबंधाभावत्त्वविरोधात्। पूर्वत्र भावे वर्तित्वा परत्र क्रमेण वर्तमानोपि यदि सोन्यनिस्पृह एवैकत्र

कार्य नामक पदार्थ के होने पर कारण का भाव होना ही कारणत्व है। और कारण के होने पर ही कार्य का होना कार्यत्व है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से हेतुता एवं कार्यता दोनों प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार भाव, अभाव ही कार्य-कारणता है, उससे भिन्न नहीं अत: केवल इतने ही भाव और अभाव रूप तत्त्व का विषय लेकर उत्पन्न होने वाले असत्य विकल्पज्ञान कार्य-कारण का विषय कर रहे हैं, और असत्य अर्थ को विषय करने वाले वे विकल्प ज्ञान प्रत्येक असम्बद्ध पदार्थ को भी परस्पर सम्बद्धों के समान दिखलाते हैं।

अथवा, यह कार्य-कारण भाव को प्राप्त हुआ अर्थ भिन्न है या अभिन्न है? यदि कार्य-कारण भाव को प्राप्त हुआ अर्थ सर्वथा भिन्न है तो भिन्न पदार्थों में संयोजना (कार्य कारणता) कैसे घटित हो सकती है? क्योंकि, वे स्वकीय-स्वकीय पृथक्-पृथक् स्वभावों में व्यवस्थित हैं। यदि अभिन्न मानोगे तो अभिन्न (अकेले) में कार्य, कारणता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

यदि सर्वथा भिन्न और अभिन्न न मानकर एक सम्बन्ध नाम के पदार्थ से जुड़े हुए पदार्थों का सम्बन्ध मानते हैं तो वे भिन्न सम्बन्ध से विभक्त स्थित वे कार्य-कारण रूप दो पदार्थ मिले हुए कैसे हो सकते हैं? (अत: साधन नामक पदार्थ नहीं है।)

अब **जैनाचार्य** इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार दूषण उठाना समीचीन नहीं है, क्योंकि जैसे बौद्धों के द्वारा कार्य-कारण भाव में दूषण दिये हैं वे दूषण बौद्धों के द्वारा स्वीकृत अकार्य-कारण भाव में भी समान रूप से उपस्थित हैं। उसी को स्पष्ट करते हैं; द्विष्ठ अकार्य-कारण भाव कार्य-कारण भाव के द्वारा निषेध्य दो असहभावी अर्थों में कैसे रहता है ? यह अकार्य-कारण भाव अद्विष्ठ (दो में नहीं रहने वाला) भी नहीं है। (द्विष्ठ दो में रहने वाला है) क्योंकि अकार्य-कारण भाव को दो में रहने वाला नहीं मानने पर उसके सम्बन्धाभाव का विरोध आता है। पूर्व भाव में रहकर पुन: दूसरे पदार्थ में रहता हुआ वह अकार्य-कारण भाव यदि अन्य की स्पृहा (अपेक्षा) नहीं करता है तो एक में रहने वाला वह असम्बन्ध कैसे हो सकता है। अभी तक नहीं उत्पन्न, परवर्त्ती पदार्थ के न होने पर भी पूर्व समयवर्त्ती पदार्थ में रहने वाला और पूर्व पदार्थ के नष्ट होने के कारण अभाव हो जाने पर भी उत्तर समयवर्त्ती पदार्थों में रहता हुआ वह असम्बन्ध एक में ही रहेगा।

''पूर्व पदार्थ में रहने वाला असम्बन्ध परकी अपेक्षा करता है और पर समयवर्त्ती पदार्थों में रहता हुआ पूर्व समयवर्त्ती पदार्थ की अपेक्षा रखता है, अत: अन्य निस्पृहता न होने के कारण असम्बन्ध दो में रहने वाला ही है।'' ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि अनुपकारक पूर्व पदार्थ उत्तर पदार्थ की

तिष्ठत्कथमसंबंधः ? परस्य ह्यनुत्पन्नस्याभावेपि पूर्वत्र वर्तमानः पूर्वस्य च नष्टत्वेनाभावेपि परत्र वर्तमानोसावेकवृत्तिरेव स्यात् । पूर्वत्र वर्तमानः परमपेक्षते परत्र च तिष्ठत्पूर्वमतो संबंधो द्विष्ठ एवान्यनिस्पृहत्वाभावादिति चेत् कथमनुपकारं तथोत्तरमपेक्ष्यतेति प्रसंगात्। सोपकारकमपेक्षत इति चेत् नासतस्तदोपकारकत्वायोगात् । यदि पुनरेकेनाभिसंबंधात्पूर्व-परयोरकार्यकारणभावस्तदा सव्येतरविषाणयोः स स्यादेकेन द्वित्वादिनाभिसंबंधात् । तथा च सिद्धसाध्यता । द्विष्ठो हि कश्चिदसंबंधो नातोन्यत्तस्य लक्षणं येनाभिमतसिद्धिः । यदि पुनः पूर्वस्याभाव एव यो भावोऽभावेऽभावस्तदुपधियोगो-कार्यकारणभावस्तदा तावेव भावाभावावयोगोपाधी किं नोऽकार्यकारणभावः स्यात् तयोर्भेदादिति चेत्, शब्दस्य नियोक्तृसमाश्रितत्वेन भेदेप्यभेदवाचिनः प्रयोगाभ्युपगमात् । स्वयं हि लोकोयमेकमदृष्टस्य दर्शनेप्यपश्यंस्तददर्शने च

अपेक्षा क्यों करेगा ? अन्यथा (यदि अनुपकारक पदार्थ की अपेक्षा करेगा तो) अतिप्रसंग दोष आता है। ''तथा उपकार करने वाले उत्तर पदार्थ की पूर्व पदार्थ अपेक्षा करता है'' ऐसा कह नहीं सकते ? क्योंकि उस समय अविद्यमान पदार्थों के उपकारकत्व का अयोग है।

यदि किसी एक पदार्थ से पूरा सम्बन्ध हो जाने के कारण पूर्व उत्तर पदार्थों में, अकार्यकारण भाव माना जायेगा तो बैल के दायें, बायें सींगों में भी अकार्य कारण भाव हो जाना चाहिए क्योंकि एक का द्वित्व आदि के साथ सम्बन्ध पाया जाता है और ऐसा होने पर सिद्ध साध्यपना ही है अर्थात् इस प्रकार सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है। जो कोई भी असम्बन्ध है वह दो आदि पदार्थों में ही है-इससे भिन्न असम्बन्ध का कोई लक्षण नहीं है जिससे कि बौद्धों के अभिमत की सिद्धि हो सकती हो।

''पूर्ववर्त्ती पदार्थ का अभाव होने पर ही उत्तरवर्त्ती पदार्थ का सद्भाव है, तथा पूर्ववर्त्ती पदार्थ का सद्भाव उत्तरवर्त्ती पदार्थ का अभाव है। उस उपाधि का योग (अर्थात् अयोग विशेषण ही) अकार्यकारण भाव है। बौद्ध के ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा होने पर तो वे (भाव और अभाव ही अयोग विशेषण वाले होकर) अकार्य-कारण भाव क्यों नहीं मान लिये जाते हैं ? अविद्यमान (असत्) असम्बन्ध की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? बौद्ध कहते हैं कि भाव और अभाव के साथ उस अकार्य कारण भाव का विशेष्य विशेषण होने के कारण उनमें भेद है अतः वह अयोग ही अकार्य-कारण भाव नहीं हो सकता। इसके उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द तो प्रयोक्ता के अधीन होकर प्रवृत्त होता है। अर्थात् प्रयोक्ता जिस प्रकार एक अर्थ या अनेक अर्थ वाले शब्द को बोलता है, शब्द वैसा ही अर्थ कह देता है। अतः भेद होने पर भी अभेद को कहने वाले शब्द का प्रयोग करना मान लिया जाता है।

अदृष्ट अकार्य के वर्तमान में दर्शन होने पर भी एक अकारण को नहीं देखता हुआ और उसके नहीं दीखने पर भी देखता हुआ लौकिक जन समुदाय व्याख्याताओं के बिना भी 'यह इसका अकार्य है' और

पश्यद्विनाप्याख्यातभिरकार्यमवबुध्यते । न च तथा दर्शनादर्शने मुक्त्वा क्वचिदकार्यबुद्धिरस्ति। न च तयोरकार्यादिश्रुतिर्विरुध्यते लाघवार्थत्वात् तन्निवेशस्य। या पुनरतद्भावाभावादकार्यगतिरुपवर्ण्यते सा संकेतविषयाख्या, यथा असास्नादेरगोगतिः । नैतावता तत्त्वतोकार्यकारणभावो नाम। भावे हि अभाविनी वा भाविता अहेतुफलते प्रसिद्धे। प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यामेव । तदेतावन्मात्रतत्त्वार्था एवाकार्यकारणगोचरा विकल्पा दर्शयंत्यर्थान् मिथ्यार्थास्त्वयमघटितानपीति समायातं । भिन्ने हि भावे का नामाघटना तत्कान्यावभासते? येनासौ तात्त्विकी स्यात् । अभिन्ने सुतरां नाघटना। न च भिन्नावर्थौ केनचिदकार्यकारणभावेन योगादकार्यकारणभूतौ स्यातां संबंधविधिप्रसंगात् । तदेवं न तात्त्विकोऽर्थो नाम कार्यकारणभावो व्यवतिष्ठतेऽकार्यकारणभाववत्। स्वस्वभावव्यवस्थितार्थान् विहाय नान्यः कश्चिदकार्यकारणभावोस्त्विति । तथा व्यवहारस्तु कल्पनामात्रनिर्मित एव कार्यकारणव्यवहारवदितिचेत् तर्हि वास्तव एव

'यह इसका अकारण है,' ऐसा स्वयं समझ लेते हैं। दर्शन, अदर्शन या इनके विषयभाव अभाव को छोड़कर कहीं भी अकार्य बुद्धि नहीं होती है तथा भाव और अभाव ही अकार्य हैं और अकारण हैं इत्यादि शब्द प्रयोग भी उन दोनों में विरुद्ध नहीं पड़ते हैं क्योंकि उन शब्दों का निवेश करना लाघव के लिए है। जो फिर उस भाव, अभाव के न होने से अकार्यपने का ज्ञान होना कहा जाता है, वह केवल संकेत विषय की व्याख्या करने वाला है। जैसे कि सास्ना आदिक के अभाव से गौ से भिन्न अगो (पदार्थ) का ज्ञान कर लिया जाता है। इतने मात्र से परमार्थ रूप से अकार्यकारण भाव कैसे भी नहीं बन सकता अत: अकार्य रूप भाव के न होने पर अकारण का होना अथवा अकारण के न होने पर अकार्य का होना ही अहेतु फलपना प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलंभ से ही अकार्यता और अकारणता प्रसिद्ध हो जाती है। इतना मात्र ही तत्त्व अर्थ, अकार्य कारणगोचर विकल्प दिखाता है। अत: वे असत्य मिथ्या अर्थ को विषय करने वाले हैं। भिन्न पदार्थ में असम्बन्ध भी क्या हो सकता है ? और वह असम्बन्ध भिन्न रहकर कहाँ प्रतिभासित होता है? अर्थात् वह असम्बन्ध पदार्थों से पृथक् कहीं भी प्रतिभासित नहीं होता है, जिससे वह असम्बन्ध तात्त्विक हो सकता हो।

अभिन्न पदार्थों में सुलभता से असम्बन्ध नहीं हो सकता, तथा भिन्न पड़े हुए अर्थ भी किसी अकार्यकारण भाव से बँध जाने के कारण अकार्य और अकारण स्वरूप हो जायेंगे। और ऐसा होने पर बौद्धों को वास्तविक सम्बन्ध के विधान करने का प्रसंग आएगा अत: इस प्रकार अकार्य कारण भाव भी वास्तविक अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे बौद्धों के कार्य-कारण भाव नहीं बनता है।

निज स्वभाव में व्यवस्थित हो रहे पदार्थों को छोड़कर अन्य कोई अकार्यकारण भाव नहीं है तथा लोक में जो अकार्य कारण की व्यवस्था है, वह केवल कल्पना-कल्पित है, जैसे कार्य कारण भाव का

कार्यकारणभावोऽकार्यकारणभाववत्। केवलं तद्व्यवहारो विकल्पशब्दलक्षणो विकल्पनिर्मित इति किमनिष्टं। वस्तुरूपयोरपि कार्यकारणभावे तयोरभावो वस्तुत्वेति न तु युक्तं, व्याघातात् क्वचिन्नीलेतरत्वाभाववत्। ततो यदि कुतश्चित्प्रमाणात् कार्यकारणभावः परमार्थतः केषांचिदर्थानां सिध्येत् तदा तत एव कार्यकारणभावोपि प्रतीतेरविशेषात्तथैव हि गवादीनामसाध्यसाधनभावः परस्परमतद्भावभावित्वप्रतीतेर्व्यवतिष्ठते। तथाग्निधूमादीनां साध्यसाधनभावोपि तद्भावभावित्वप्रतीतेर्बाधकाभावात्। नन्वकस्मादग्निं धूमं वा केवलं पश्यतः कारणत्वं कार्यत्वं वा किं न प्रतिभातीतिचेत् किं पुनरकारणत्वमकार्यत्वं वा प्रतिभाति। सातिशयसंविदां प्रतिभात्येवेति

व्यवहार कल्पित है। **बौद्ध** के इस कथन पर **जैनाचार्य** कहते हैं कि तब तो अकार्य-कारण भाव के समान कार्य-कारण भाव वास्तविक सिद्ध हो जाता है। केवल उनका विकल्प शब्द लक्षण व्यवहार सत्य कल्पनाओं के विकल्प से निर्मित है। ऐसा मानना अनिष्ट क्यों है ?

भावार्थ : कार्य कारण भाव और अकार्य कारण भाव ये दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं। जैसें आत्मा और आकाश का अकार्य और अकारण भाव इन दोनों का स्वभावभूत तथा ज्ञान और आत्मा का कार्य। कारण भाव भी आत्मा और ज्ञान का स्वभाव है। ऐसे निज स्वभाव में वस्तु व्यवस्थित है। संसार में स्वभाव और स्वभाववान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है।

वस्तुभूत पदार्थों का कार्य कारण स्वभाव मानते हुए भी कार्य-कारण भाव का अभाव कहना और उस कार्य कारण भाव के अभाव को वस्तु कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि, इस कथन में व्याघात दोष आता है अर्थात् ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं। जैसे किसी पदार्थ में नील से भिन्नपना स्वीकार करके पुनः नीलेतर का अभाव कहना व्याघात दोष से युक्त है। यदि किसी भी प्रमाण से किन्हीं अर्थों का परमार्थ रूप से अकार्य कारण भाव सिद्ध करते हो तो उसी कारण से कार्य-कारण भाव भी सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि प्रतीति में दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

जिस प्रकार गौ, भैंस आदि की परस्पर में अन्वय-व्यतिरेक से होने और न होने की प्रतीति न होने के कारण असाध्य साधनपना व्यवस्थित है, उसी प्रकार अग्नि, धूम, कृतकत्व, अनित्यत्व आदि का भी उसके होने से होना प्रतीत होने से साध्य साधन भाव व्यवस्थित हो जाता है अतः इस भाव भावित्व प्रतीति में बाधक का अभाव है अर्थात् ज्ञाप्य, ज्ञापक और कार्य कारण भाव को प्राप्त पदार्थों में साध्य, साधनत्व प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है।

प्रश्न : अकस्मात् केवल धूम या केवल अग्नि को देखने वाले पुरुष के अग्नि में कारणत्व और धूम में कार्यत्व का प्रतिभास क्यों नही होता है ?

उत्तर : जैनाचार्य कहते हैं कि अग्नि में अकारणता तथा धूम में अकार्यता का क्या ज्ञान हो जाता है? अकारण-कार्य भाव ज्ञात हो जाता है ? बौद्ध कहता है कि सातिशय ज्ञानी जनों को अकारणता का और अकार्य का प्रतिभास होता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने पर तो ''सातिशय ज्ञानी जनों को

चेत् , कारणत्वं कार्यत्वं वा तत्र तेषां न प्रतिभातीति कोशपानं विधेयं। अस्मदादीनां तु तदप्रतिभासनं तथा निश्चयानुपपत्तेः क्षणक्षयादिवत् । तथोभयत्र समानं। यथैव हि तद्भावभावित्वानध्यवसायिनां न क्वचित्कार्यत्वकारणत्वनिश्चयोस्ति तथा स्वयमतद्भावभावित्वव्यवसायिनामकार्यकारणत्वनिश्चयोपि प्रतिनियतसामग्री सापेक्षकत्वाद्वस्तुधर्मनिश्चयस्य। न हि सर्वत्र समानसामग्रीप्रभावो निर्णयस्तस्यान्तरङ्ग बहिरङ्ग सामग्री वैचित्र्यदर्शनात्। धूमादिज्ञानसामग्रीमात्रात्तत्कार्यत्वादिनिश्चयानुत्पत्तेः न कार्यत्वादि धूमादिस्वरूपमिति चेत् तर्हि क्षणिकत्वादिरपि तत्स्वरूपं माभूत्तत एव क्षणिकत्वाभावे वस्तुत्वमेव न स्यादिति चेत् कार्यत्वकारणत्वाभावेपि कुतो वस्तुत्वं खरशृंगवत् । सर्वथाप्यकार्यकारणस्य वस्तुत्वानुपपत्तेः कूटस्थवत् ।

अग्नि और धूम में कारण कार्यता का प्रतिभास (ज्ञान) नहीं प्रतिभासित होता है,'' इस विषय में क्या सौगत ने सौगन्ध खाई है ? अर्थात् अकारण कार्यता के समान अतिशय ज्ञानी जनों को कारण कार्यता का ज्ञान भी होना चाहिए। परन्तु हमारे सरीखे साधारण लोगों को उस प्रकार का निश्चय न होने के कारण इनका प्रतिभास नहीं होता है। जैसे स्वलक्षण का प्रत्यक्ष हो जाने पर भी उसके अभिन्न स्वभाव क्षणिकत्व का निश्चय न होने से प्रत्यक्ष द्वारा उल्लेखनीय ज्ञान नहीं होता है अत: इस प्रकार अकार्य-कारण और कार्य-कारण भाव का हमारे सरीखे साधारण जीवों को ज्ञान नहीं होना दोनों में एक समान है।

जैसे कहीं पर (किसी स्थल में) जिसके होने पर ही होने का निर्णय कराने वालों को किसी पदार्थ में कार्य कारण भाव का निश्चय नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके नहीं होने पर नहीं होने का निर्णय कराने वालों के अकारण और अकार्य का निश्चय भी किसी आत्मा, आकाश आदि में नहीं हो पाता है। धर्मी के देखने पर शीघ्र धर्म का निर्णय हो जाए, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि वस्तु के धर्मों का निश्चय होना प्रत्येक नियत सामग्री की अपेक्षा रखने वाला है। सर्वत्र धर्मी और धर्मों की सदृश सामग्री से ही निर्णय उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि उसके निर्णय में बहिरंग और अंतरंग सामग्री की विचित्रता देखी जाती है। (अर्थात् क्वचित् धर्मी का ज्ञान होने पर उसके धर्मों (स्वभावों) का ज्ञान नहीं होता है। जैसे आत्मा-रूपी धर्मी का ज्ञान हो जाने पर भी उसके अनन्त धर्मों का ज्ञान नहीं होता है। क्वचित् धर्मों का ज्ञान होकर भी धर्मी का विशद ज्ञान नहीं हो पाता है जैसे आकाश के अवकाश देना आदि धर्मों का ज्ञान होने पर भी धर्मी आकाश का ज्ञान नहीं होता है।)

''धूम आदि के ज्ञानों की सामान्य सामग्री मात्र से उनके कार्य और कारणत्व का निश्चय नहीं होता है अत: कार्यत्व कारणत्व आदि धूम आदि के स्वरूप नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं।'' इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो उन नील आदिक स्वलक्षणों के भी क्षणिकत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वरूप नहीं हो सकेंगे। क्योंकि सौगत में श्रद्धान करने वालों ने स्वलक्षण को जानने वाले निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा क्षणिकत्व आदि का निश्चय होना स्वीकार नहीं किया है।

यदि बौद्ध कहे कि क्षणिकत्व के अभाव में वस्तुत्व ही नहीं रहता है तब तो कार्य, कारणत्व के अभाव में भी गधे के सींग के समान वस्तुत्व कैसे रह सकता है ? अर्थात् कार्य-कारण के अभाव में जैसे गधे के सींग का अस्तित्व नहीं रहता है उसी प्रकार कार्य-कारण के अभाव में वस्तुत्व भी नहीं रह सकता।

क्षणिकैकांतवद्वा विशेषासंभवात्। ननु च सदपि कार्यत्वं कारणत्वं वा वस्तुत्वस्वरूपं न संबंधोऽद्विष्ठत्वात्। कार्यत्वं कारणे हि न वर्तते कारणत्वं वा कार्ये येन द्विष्ठं भवेत्। कार्यकारणभावस्तयोरेको वर्तमान: संबंध इति चेन्न, तस्य कार्यकारणाभ्यां भिन्नस्याप्रतीते:। सतोपि प्रत्येकपरिसमाप्त्या तत्र वृत्तौ तस्यानेकत्वापत्ते:। एकदेशेन वृत्तौ सावयवत्वानुषक्ते: स्वावयवेष्वपि वृत्तौ प्रकृतपर्यनुयोगस्य तदवस्थत्वादनवस्थानावतारात्। कार्यकारणांतराले तस्योपलंभप्रसंगाच्च ताभ्यां तस्याभेदेपि कथमेकत्वं भिन्नाभ्यामभिन्नस्याभिन्नत्वविरोधात्। स्वयमभिन्नस्यापि भिन्नार्थैस्तादात्म्ये परमाणोरेकस्य सकलार्थैस्तादात्म्यप्रसंगादेकपरमाणुमात्रं जगत्स्यात्

सर्वथा अकार्य-कारण के वस्तुपना असिद्ध है। जैसे सांख्य के द्वारा स्वीकृत कूटस्थ नित्य आत्मा, अथवा बौद्धों के द्वारा माना गया वस्तु का क्षणिकत्व सिद्ध नहीं है एकान्त अवस्तु है क्योंकि अर्थ क्रियाकाअभाव होने से कूटस्थ नित्य और क्षणिक एकान्त में विशेषता की असंभवता है अर्थात् जो किसी का कारण वा कार्य नहीं है वह परमार्थ रूप पदार्थ नहीं है।

शंका : कार्यत्व और कारणत्व के सद्भूत होते हुए भी सम्बन्ध के द्विष्ठ होने से सम्बन्ध वस्तुस्वरूप नहीं है। अर्थात् सम्बन्ध दो वस्तु में रहता है, परन्तु कार्य-कारण भाव दो में नहीं रहता है। अत: कार्य कारण सम्बन्ध वास्तविक नहीं है क्योंकि, कारण में कार्यत्व और कार्य में कारणत्व नहीं रहता है जिससे कि वह दोनों में रह सकता हो। ''दो में रहने वाला एक कार्य-कारण भाव है'' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि कार्य कारण से भिन्न उस कार्य कारण भाव की प्रतीति नहीं होती है। तथा कार्य कारण भाव को सद्रूप मान लिया जाए तो भी उस कार्य कारण भाव सम्बन्धी कार्य और कारणों में प्रत्येक में परिपूर्ण रूप से वृत्ति माननी पड़ेगी ? तबतो वह सम्बन्ध अनेकपन को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् जो पदार्थ एक ही समय अपने पूरे शरीर से दो में रहता है, वह एक नहीं है वस्तुत: वे दो हैं। यदि उस एक सम्बन्ध को कुछ एकदेश से कारण में और एकदेश से कार्य में रहने वाला मानेंगे तो सम्बन्ध में सावयव का प्रसंग आयेगा। क्योंकि जो सावयवी होता है वही एक-एक भाग से अनेक में स्थित रह सकता है और एकदेश स्वरूप अपने अवयवों में भी अवयवी की एकदेश से ही वृत्ति मानी जायेगी तो फिर प्रकरण प्राप्त प्रश्न उठाना वैसे का वैसा ही अवस्थित रहेगा अत: अनवस्था दोष आएगा।

अथवा कार्य कारण भाव के मध्य में रहने वाले उस कार्य कारण भाव के उपलंभ होने का प्रसंग आयेगा अर्थात् जैसे दो कपड़ों के जोड़ (सम्बन्ध) में डोरा दृष्टिगोचर होता है, परन्तु धूम और अग्नि के मध्य में रहने वाला कार्य-कारण भाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

कार्य-कारण में सम्बन्ध का अभेद मानने पर भी वह सम्बन्ध एक कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो दो भिन्न पदार्थों से अभिन्न है, उसको एकपन का विरोध है स्वयं अभिन्न पदार्थ का यदि भिन्न अर्थों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध माना जाएगा तो एक परमाणु के भी सम्पूर्ण पदार्थों के साथ तादात्म्य होने का प्रसंग आएगा और ऐसा होने पर सर्व जगत् परमाणु मात्र हो जाएगा अर्थात् एक परमाणु ही सर्व जगत् स्वरूप हो जाता है।

सकलजगत्स्वरूपो वा परमाणुरिति भेदाभेदैकांतवादिनोरुपलंभ: स्याद्वादिनस्तथानभ्युपगमात्। कार्यकारणभावस्य हि संबंधस्याबाधिततथाविधप्रत्ययारूढस्य स्वसंबंधिनो वृत्ति: कथंचित्तादात्म्यमेवानेकांतवादिनोच्यते। स्वाकारेषु ज्ञानवृत्तिवत् कुतोनेकसंबंधितादात्म्ये कार्यकारणभावस्य संबंधस्यैकत्वं न विरुध्यते इति चेत्, नानाकारतादात्म्ये ज्ञानस्यैकत्वं कुतो न विरुध्यते ? तदशक्यविवेचनत्वादिति चेत् तत एवान्यत्रापि कार्यकारणयोर्हि द्रव्यरूपतयैकत्वात् कार्यकारणभावस्यैकत्वमुच्यते न च तस्य शब्दे विवेचनत्वं मृद्‌द्रव्यात् कुशूलघटयोर्हेतुफलभावेनोपगतयोर्द्रव्यांतरं नेतुमशक्ते:। क्रमभुवो: पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविध: कार्यकारणभाव: सिद्धांतविरुद्ध: सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं यत्

उत्तर : इस प्रकार भेद एकान्त और अभेद एकान्त वादियों के द्वारा कथित उपलंभ (उलाहना) स्याद्वादियों के प्रति लागू नहीं हो सकता। क्योंकि स्याद्वादियों ने इस प्रकार का एकान्त स्वीकार नहीं किया है। स्याद्वाद सिद्धान्त के निर्बाध ज्ञान में आरूढ़ कार्य-कारण भाव नामक सम्बन्ध की अपने प्रतियोगी, अनुयोगी रूप सम्बन्धियों में कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध रूप ही वृत्ति स्वीकृत है। जैसे कि बौद्धों के द्वारा स्वीकृत ज्ञान की स्वकीय आकारों में कथञ्चित् तादात्म्य वृत्ति है। ऐसा कहा जाता है अर्थात् जैसे ज्ञान एक होकर भी अनेक आकारों में रहता है वैसे ही एक सम्बन्ध कथञ्चित् अनेक सम्बन्धियों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है।

अनेक सम्बन्धियों के साथ तादात्म्य होने पर कार्य-कारण भाव सम्बन्ध का एकत्व विरुद्ध कैसे नहीं है ? ऐसा बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्ध सिद्धान्त में एक ज्ञान अनेक आकारों में विरुद्ध कैसे नहीं है ? "एक ज्ञान का अनेक आकारों से पृथक् विवेचन करना शक्य नहीं है। इसलिए एक ज्ञान अनेक आकारों के साथ सम्बन्ध रखता है"। बौद्ध के इस प्रकार कहने पर, जैनाचार्य कहते हैं कि यह कथन तो अन्यत्र (कार्य कारण भाव में) भी कहा जा सकता है कि एक कार्य कारण भाव सम्बन्ध का दो आदि सम्बन्धियों में से पृथक् करना अशक्य है। कार्य और कारण के नियम से द्रव्यरूपपने से एक होने के कारण कार्य-कारण भाव सम्बन्ध का एकपना कहा गया है। उस सम्बन्ध का शब्द के निमित्त से (शब्द के द्वारा) पृथक् करण नहीं होता है। क्योंकि द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा वे दोनों एक हैं। जैसे हेतु (कारण) और फल (कार्य) भाव को प्राप्त कुशूल (घट की पूर्ववर्त्ती पर्याय) और घट को मिट्टीद्रव्य से पृथक् करना शक्य नहीं है। अर्थात् कारण और कार्य (कुशूल और घट) दोनों ही मिट्टी द्रव्य रूप ही हैं क्योंकि क्रम से होने वाली पर्यायों में एक द्रव्य की प्रत्यासत्ति होने से उपादान का कथन किया गया है अर्थात् एक ही द्रव्य की पूर्व समयवर्त्ती पर्याय उपादान कारण है, और उत्तर सयमवर्त्ती पर्याय उपादेय कार्य है। इस प्रकार कारण कार्य (उपादान-उपादेय) भाव एक द्रव्य में होना सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है क्योंकि, एक द्रव्य की पर्याय होने से उपादेय कार्य की उपादान कारण के साथ एक द्रव्य प्रत्यासत्ति है। यह द्रव्य प्रत्यासत्ति सम्बन्धी कार्य-कारण भाव का कथन हुआ।

स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनंतरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतं । न चेदं सहकारित्वं क्वचिद्भावप्रत्यासत्तिः क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्वा नियमाभावात्। निकटदेशस्यापि चक्षुषो रूपज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वदर्शनात् । संदंशकादेश्चासुवर्णस्वभावस्य सौवर्णकटकोत्पत्तौ यदि पुनर्यावत्क्षेत्रं यद्यस्योत्पत्तौ सहकारि दृष्टं यथाभावं च तत्तावत्क्षेत्रं तथाभावमेव सर्वत्रेति नियता क्षेत्राभावप्रत्यासत्तिः सहकारित्वं कार्ये निगद्यते तदा न दोषो विरोधाभावात् । तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे

प्रश्न : एक द्रव्य की प्रत्यासत्ति का अभाव होने से सहकारी कारण के साथ कार्यों का कार्य-कारण भाव कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात् जिसमें एक द्रव्यपना नहीं है, ऐसे गुरु शिष्य में, स्वामी भृत्य में स्वामी सम्बन्ध कार्य कारण भाव कैसे घटित हो सकेगा ?

उत्तर : काल प्रत्यासत्ति नामक सम्बन्ध विशेष से सहकारी कारण और कार्यों में उस कार्य कारण भाव सम्बन्ध की कार्य सिद्धि होती है जिससे अव्यवहित उत्तर काल में नियम से जो अवश्य उत्पन्न होता है, वह उसका सहकारी कारण है और शेष दूसरा कार्य है। इस प्रकार कालिक सम्बन्ध सबको प्रतीत होता है अर्थात् सहकारी कारणों के साथ कार्य की काल प्रत्यासत्ति है।

कहीं पर भी क्षेत्र प्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्ति को सहकारी कारण नहीं समझना चाहिए। क्योंकि क्षेत्र प्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्ति में सहकारी कारणत्व के नियम का अभाव है क्योंकि निकट देशवाली चक्षु को भी रूपज्ञान की उत्पत्ति में सहकारीपना देखा जाता है अर्थात् शरीर के एक देश में चक्षु है और सम्पूर्ण आत्मा में रूप ज्ञान होता है। अथवा चक्षु तो शरीर में है और दूसरे क्षेत्र में स्थित वस्तु के जानने में सहकारी होती है। अथवा संडासी आदि स्वर्ण स्वभाव वाले स्वर्ण के कड़े की उत्पत्ति में सहकारी कारण होते हैं अर्थात् संडासी और स्वर्ण के भी एकक्षेत्रपना नहीं है। तथा कार्य-कारण सम्बन्ध में भाव प्रत्यासत्ति भी कारण नहीं है क्योंकि चक्षु पौद्गलिक है और रूप ज्ञान चेतन का परिणाम है; कड़ा सोने का है और संडासी लोहे की है अतः इनमें भाविक सम्बन्ध और क्षेत्र का सम्बन्ध न मान कर कालिक सम्बन्ध ही मानना चाहिए। अथवा यदि जितना क्षेत्र जिस प्रकार के स्वभाव का अतिक्रमण न करके जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण होता हुआ देखा जाता है, वह कारण उतने क्षेत्र और उस प्रकार के परिणाम के अनुसार कार्यकारी है। इस प्रकार भाव प्रत्यासत्ति और क्षेत्र प्रत्यासत्ति भी सर्वत्र कार्यकारी है अतः क्षेत्रप्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्ति भी नियत हैं। उसमें विरोध का अभाव होने से दोषों का अभाव है।

भावार्थ : जितने क्षेत्र में कार्य होता है यदि उस क्षेत्र को कारण मानते हैं तो कार्य में क्षेत्र प्रत्यासत्ति कारण है परन्तु क्षेत्र में उपादान-उपादेय भाव नहीं हो सकता। उसी प्रकार भाव परिणाम से अविभागी प्रतिच्छेदों का यथासंभव संख्या, परिणाम, जाति आदि की समानता से भाव प्रत्यासत्ति को भी कारण माना जा सकता है। वास्तव में है नहीं।

कार्यकारणभावो द्विष्ठ: संबंध: संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन: कल्पनारोपित: सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। संग्रहर्जुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्संबंधोन्यत्र कल्पनामात्रात् इति सर्वमविरुद्धं। न चात्र साध्यसाधनभावस्य व्यवहारनयादाश्रयणे कथंचिदसंभव इति सूक्तं साधनत्वमधिगम्यमर्थानां तदपलपंतोऽसदुक्तय एव इत्याह;—

मोक्षादिसाधनाभ्यासाभावासक्तेस्तदर्थिनाम्। तत्राविद्याविलासेष्टौ क्व मुक्ति: पारमार्थिकी॥१४॥

संविच्चेत्संविदेवेत्यदोष: सा यद्यसाधना। नित्या स्यादन्यथा सिद्धं साधनं परमार्थत:॥१५॥

इस प्रकार व्यवहार नय के आश्रय से (अपेक्षा से) संयोग, समवाय, विशेष्य-विशेषण, गुरु-शिष्य, स्वामी-नौकर सम्बन्ध के समान, सर्वथा निर्दोष होने से तथा प्रतीति सिद्ध होने से दो में रहने वाला कार्य कारण भाव सम्बन्ध भी पारमार्थिक (वस्तुभूत) है कल्पना से आरोपित नहीं है परन्तु सम्पूर्ण पदार्थों को सद्रूप से ग्रहण करने वाले शुद्ध सत्ताग्राही संग्रह नय की अपेक्षा से और सूक्ष्म एक समय की पर्याय को ग्रहण करने वाले ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से कोई भी किसी का सम्बन्ध नहीं है-अर्थात् किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है केवल कल्पना मात्र है। इस प्रकार नय विवक्षा से अनेकान्त में सम्बन्ध और असम्बन्ध विरुद्ध नहीं हैं। इस प्रकार साधन के प्रकरण में व्यवहार नय की अपेक्षा से कथंचित् साध्य साधन भाव असंभव नहीं है।

इसलिए जानने योग्य जीवादि पदार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का साधन भी जानने योग्य है। अर्थात् साधन भी सम्यग्दर्शन आदि के जानने का उपाय है। जो सौगत मतानुयायी साधन का लोप करते हैं, साधन को नहीं मानते हैं, उनका वह कथन समीचीन नहीं है। प्रतीतिविरुद्ध है। उसी को आगे की कारिका में कहा गया है।

यदि व्यवहार नय से भी साध्य-साधन भाव का अपलाप (लोप) करेंगे तो मोक्षाभिलाषी जीवों के ज्ञानार्जन तपश्चरण आदि साधनों के अभ्यास के अभाव का प्रसंग आएगा। तथा, धनार्थी के धनोपार्जन के कारणों के अभ्यास के अभाव का प्रसंग आएगा। यदि दीक्षा ग्रहण करना, ज्ञानोपार्जन करना आदि मोक्ष के कारणों को अविद्या का विलास (चेष्टा) इष्ट किया जायेगा (माना जायेगा) तो मुक्ति पारमार्थिकी कैसे हो सकती है॥१४॥

यदि मोक्ष के साधन को ज्ञान स्वरूप स्वीकार किया जाता है तो मोक्ष भी ज्ञान स्वरूप ही होगा। इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि कार्य-कारण के अनुसार ही होता है। यदि ज्ञान स्वरूप मोक्ष अकारण होता है तो मोक्ष के नित्यत्व का प्रसंग आएगा (क्योंकि जो अकारण होता है वह नित्य होता है जैसे आकाश)। यदि मुक्ति नित्य नहीं है, सकारण है तब तो साधन रूप अनुयोग परमार्थ सिद्ध हो जाता है अर्थात् साधन वास्तविक है, यह सिद्ध हो जाता है॥१५॥

नित्यसर्वगतेष्विष्टौ तस्याः संवित्त्यसंभवात् । क्व व्यवस्थापनानंशक्षणिकज्ञानतत्त्ववत् ।।१६।।

न हि क्षणिकानंशसंवेदनं स्वतः प्रतिभासते सर्वस्य भ्रांत्यभावानुषंगात् । तद्वन्नित्यं सर्वगतं ब्रह्मेति न तत्संवेदनमेव मुक्तिः पारमार्थिकी युक्ता, ततः सकलकर्मविप्रमोक्षो मुक्तिरुरीकर्तव्या । सा बंधपूर्विकेति तात्त्विको बंधोभ्युपगंतव्यः तयोः ससाधनत्वात् अन्यथा कादाचित्कत्वायोगात्साधनं तात्त्विकमभ्युपगंतव्यं न पुनरविद्याविलासमात्रमिति सूक्तं साधनमधिगम्यम् ।।

आधाराधेयभावस्य पदार्थानामयोगतः । तत्त्वतो विद्यते नाधिकरणं किंचिदित्यसत् ।। १७ ।।

स्फुटं द्रव्यगुणादीनामाधाराधेयतागतेः । प्रसिद्धिबाधितत्वेन तदभावस्य सर्वथा ।। १८ ।।

यदि ज्ञानस्वरूप मुक्ति की संवित्ति को नित्य सर्वव्यापक आत्मस्वरूप इष्ट किया जायेगा (माना जायेगा) तो ज्ञानस्वरूप मुक्ति की संवित्ति होना (निश्चय होना) भी असंभव है अतः बौद्धों के निरंश और क्षणक्षयी ज्ञान तत्त्व के समान, ब्रह्मवादियों के नित्य, सर्व व्यापक, संवित्ति (ज्ञान) स्वरूप मोक्ष की सिद्धि भी कैसे हो सकती है ? अर्थात् मुक्ति को सकारण मानने पर ही तत्त्व श्रवण, मनन आदि की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं ।।१६।।

क्षणिक और अंश रहित स्वसंवेदन स्वयं प्रतिभासित नहीं होता है। यदि सर्व जीवों को स्वसंवेदन का स्वयं प्रतिभास होता है तो भ्रान्ति के अभाव का प्रसंग आता है अर्थात् सर्व जीवों को सदृश ज्ञान प्राप्त होगा किसी को भी किसी तत्त्व में भ्रान्ति नहीं रहेगी।

''उसी स्वसंवेदन के समान नित्य, सर्वगत, परम ब्रह्म का भी स्वयं प्रतिभास नहीं होता है। अतः स्वसंवेदन ही पारमार्थिकी मुक्ति है-ऐसा भी कहना युक्तिसंगत नहीं है। (प्रमाणों से बाधित है) इसलिए सर्व कर्मों से रहित हो जाना ही मुक्ति है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए और सर्वकर्मों से रहित अवस्था (मुक्ति) बन्धपूर्वक ही होती है अतः बन्ध तत्त्व को भी वास्तविक स्वीकार करना चाहिए।क्योंकि वे मोक्ष तत्त्व और बन्ध तत्त्व दोनों ही अपने उत्पादक कारणों से युक्त हैं। अन्यथा, यदि उनको उत्पादक कारण सहित साधन नहीं माना जाता है तो कदाचित् का अयोग होगा अर्थात् जो अनादि काल से बँधा है, वह बँधा ही रहेगा और बंध के कारणों का अभाव होने से नवीन बन्ध नहीं होगा और न मुक्ति की प्राप्ति होगी। इसलिए साधन को भी तात्त्विक स्वीकार करना चाहिए। यह साधन (कारण) अविद्या का विलास मात्र है-ऐसा नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार उमा स्वामी आचार्य ने तत्त्वाधिगम का उपाय साधन को कहा है जो समीचीन है-ऐसा जानना चाहिए।

अथ अधिगम के उपायभूत **अधिकरण** का कथन करते हैं:-

''जीव, घट आदि पदार्थों के वस्तुभूत आधार आधेय भाव का अयोग है, इसलिए जगत् में कोई किसी का किंचित् भी अधिकरण नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

क्योंकि द्रव्य गुण आदि की स्पष्ट रूप से आधार आधेय गति जानी जा रही है अर्थात् द्रव्यों का आधार आधेय भाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है इसलिए उस अधिकरण का अभाव सर्वथा लोकप्रसिद्ध प्रतीतियों से बाधित है।।१७-१८।।

न हि द्रव्यमप्रसिद्ध गुणादयो वा प्रत्यभिज्ञानादिप्रत्ययेनाबाधितेन तन्निरूपणात् । नाप्याधाराधेयता द्रव्यगुणादीनामप्रसिद्धा यतः सर्वथाधिकरणमसदिति पक्षः प्रसिद्धिबाधितो न स्यात् । हेतुश्चासिद्धः पदार्थानामाधाराधेयभावस्य विचार्यमाणस्यायोगादिति । स्थाल्यां दधि पटे रूपमिति तत्प्रत्ययस्य निर्बाधस्य तत्साधनत्वात् कार्यकारणभावविशेषस्य साधकोयं प्रत्यय इति चेत् स एवाधाराधेयभावोस्तु । सांवृतोसाविति चेत् न, कार्यकारणभावस्य तात्त्विकस्य साधितत्वात् । तद्विशेषस्य तात्त्विकत्वसिद्धेः । कथं तर्हि गुणादीनां द्रव्याधारत्वे द्रव्यस्याप्यन्याधारत्वं न स्याद्यतोऽनवस्था निवार्येत । तेषां वा द्रव्यानाधारत्वप्रसक्तिरिति चेत्—

प्रत्यभिज्ञान, अनुमानज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान और आगम प्रमाण के द्वारा निर्बाध निरूपण हो जाने से द्रव्य और गुणादि अप्रसिद्ध नहीं है। तथा द्रव्य और गुण आदि की आधार आधेयता भी अप्रसिद्ध नहीं है। इसलिए "अधिकरण सर्वथा असत् है" यह पक्ष (कथन) प्रसिद्ध बाधित नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा। पदार्थों के विचार्यमाण आधार, आधेय भाव का अयोग होने से हेतु असिद्ध है अर्थात् प्रतीतियों से आधार आधेय भाव की सिद्धि हो जाने पर बौद्धों का पक्ष प्रमाण बाधित है-हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

जैसे थाली में दही है-वृक्ष में आम्रफल हैं, कपड़े में रूप है, आत्मा में सुख है इत्यादि पदार्थ का निर्दोष ज्ञान आधार-आधेय भाव को सिद्ध करने वाला साधन (कारण) है।

बौद्ध कहता है कि "थाली में दही है" इत्यादि ज्ञान तो विशेष कार्य-कारण भाव के साधक हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि यही आधार आधेय हैं अर्थात् स्याद्वाद मत में कार्य-कारण भाव का व्याप्य ही आधार-आधेय भाव बन जाता है इसमें कोई क्षति नहीं है। कार्य-कारण भाव व्यापक है और आधार-आधेय भाव व्याप्य है। चक्षु और ज्ञान में अथवा घट और दण्ड में कार्य कारण भाव है, आधार आधेय भाव नहीं है परन्तु आत्मा और ज्ञान में तथा कपड़े और रूप में कार्य-कारण भाव भी है और आधार-आधेय भाव भी।

बौद्ध कहता है कि कार्य-कारण भाव तो कल्पित है, वास्तविक नहीं है। इसके उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्ध का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि, कार्य-कारण भाव की वास्तविकता प्रमाणों के द्वारा पहले सिद्ध कर चुके हैं इसलिए सामान्य विशेषात्मक वस्तु का कार्य कारण भाव और आधार आधेय भाव पारमार्थिक है ऐसा सिद्ध हो जाता है।

"**शंका :** यदि गुणों का आधार द्रव्य है तो द्रव्यों का आधार अन्य द्रव्य क्यों नहीं है ? अर्थात् गुणों के आधारभूत द्रव्य के समान द्रव्य का भी आधारभूत अन्य द्रव्य होना चाहिए और द्रव्य का भी अन्य आधार स्वीकार करेंगे तो अनवस्था दोष का निवारण कैसे हो सकेगा ? यदि द्रव्य का अन्य द्रव्य आधार नहीं है तो गुणों के भी द्रव्य के अनाधारत्व (गुण भी निराधार रहने) का प्रसंग आयेगा"। इस प्रकार बौद्धों की शंका का जैनाचार्य **निराकरण** करते हैं।

नानवस्थाप्रसंगोत्र व्योम्न: स्वाश्रयतास्थिते:। सर्वलोकाश्रयस्यांतविहीनस्य समंतत: ॥ १९ ॥

स्वाश्रयं व्योम, समंततोंतविहीनत्वान्यथानुपपत्ते:। समंततोंतविहीनं तत् सकलासर्वगतार्थाभावस्वभावत्वे सत्येकद्रव्यरूपत्वात्। रूपादिपरमाणूनां रसादिपरमाणुभावरूपत्वादविरोध इति चेत् ते तर्हि रूपरसादिपरमाणव: सर्वे सकृत्परस्परं संसृष्टा व्यवहिता वा स्यु: ? न तावत्संसृष्टा: कात्स्न्र्येनैकदेशेन वा संसर्गस्य स्वयं निराकरणात्। व्यवहितत्वे तु तेषामनंतानामनंतप्रदेशं व्यवधायकं किंचिदुररीकर्तव्यं तदेव व्योम तेषामभावे। इति सिद्धं सकलासर्वगतार्थाभावस्वभावत्वं व्योम्न:। न च तस्यानंता: प्रदेशा: परस्परमेकशो

द्रव्य को गुणों का आधार मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि सम्पूर्ण संसार के पदार्थों को आश्रय देने वाले और अन्त रहित (अनन्त प्रदेशी) आकाश प्रदेश का स्वाश्रयपना असिद्ध नहीं है अर्थात् सारे जगत् के पदार्थों को आश्रय (आधार) देने वाला आकाश स्वयं निराधार रहता है। वह स्वप्रतिष्ठित है ॥१९॥

आकाश स्वाश्रित है, चारों तरफ अन्तरहित होने से; अन्यथा (स्वाश्रय के बिना) अन्तरहितपना सिद्ध नहीं हो सकता।

सकल असर्वगत (अव्यापक) पदार्थों का अभाव स्वरूप स्वभाव होने से तथा एक अखण्ड द्रव्य होने से आकाश चारों तरफ से अन्त रहित है।

"रूप, रस आदि के परमाणु रस गन्ध आदि के परमाणुओं के स्वभाव रूप हो जाते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् जिस प्रकार आकाश अनन्त है (अन्त रहित है) वैसे परमाणु भी अन्त रहित हैं। परमाणु के भी अविभागी प्रतिच्छेद नहीं है; वह भी स्व आश्रय रहता है; उसके भी आधार आधेय भाव नहीं होना चाहिए।" बौद्ध के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वे रूप, रस, गन्ध स्पर्श वाले सर्व परमाणु परस्पर एक साथ संसर्ग युक्त हैं कि अन्तराल सहित हैं ? प्रथम पक्ष के अनुसार वे परमाणु संसर्ग सहित तो हो नहीं सकते क्योंकि इसका पूर्व में निराकरण किया है। परमाणुओं का परस्पर संसर्ग मानने पर एकदेश से संसर्ग होता है कि सर्वदेश संसर्ग होता है ? यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वदेश संसर्ग होता है तब तो सर्व पुद्गल एक परमाणु रूप हो जाएंगे। यदि परमाणु का सम्बन्ध एकदेश माना जायेगा तो परमाणु में भी अंश की कल्पना करनी पड़ेगी।

यदि परमाणु का सम्बन्ध व्यवधान सहित मानोगे तो उन अनन्त परमाणुओं का परस्पर व्यवधान कराने वाला कोई अनन्त प्रदेश वाला पदार्थ स्वीकार करना चाहिए। और वह अनन्त प्रदेश वाला आकाश द्रव्य ही है और उस आकाश के अव्यापक अभाव स्वभावत्व सिद्ध ही है।

उस आकाश के अनन्त प्रदेश परस्पर व्यवधान युक्त (अन्तराल सहित) नहीं हैं क्योंकि आकाश प्रदेशों के भी परस्पर व्यवधान करने वाले पदार्थ की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है। अर्थात् आकाश के प्रदेशों का व्यवधान करने वाला कोई पदार्थ नहीं है। आकाश द्रव्य में उसके अनन्त प्रदेशों का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है अत: व्यवधान रहित है। अन्यथा (एक द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध के अभाव

व्यवहिता यतस्तद्व्यवधायकांतरकल्पनायामनवस्था कथंचिदेकद्रव्यतादात्म्येनाव्यवहितत्वात् अन्यथा तदव्यवधानायोगात्। भवितव्यं वा व्यवधानेन तेषां प्रसिद्धसत्त्वानां व्यवधानेनवस्थानात्। येन चैकेन द्रव्येण तेषां कथंचित्तादात्म्यं तन्नो व्योमेति तस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिरिति नासिद्धं व्योम्नो सर्वगतार्थभावस्वभावत्वसाधनं। ततस्तदनंतं सर्वलोकाधिकरणमिति नानवस्था तदाधारान्तरानुपपत्तेः॥

व्योमवत् सर्वभावानां स्वप्रतिष्ठानुषंजनं। कर्तुं नैकान्ततो युक्तं सर्वगत्वानुषंगवत्॥ २० ॥

निश्चयनयात् सर्वे भावाः स्वप्रतिष्ठा इति युक्तं न पुनः सर्वथा व्योमवत्तेषां सर्वगतत्वामूर्तत्वादिप्रसंगस्यापि दुर्निवारत्वात्। सर्वद्रव्याणां सर्वगतत्वे को दोष इति चेत् प्रतीतिविरोध

में) आकाश प्रदेशों का व्यवधान रहितपना बन नहीं सकता। परन्तु अखण्ड, अछिद्र आकाश प्रदेशों के ही अव्यवधान (अन्तराल रहितपना) हो सकता है तथा प्रसिद्ध उन आकाश प्रदेशों के अव्यवधान ही होना चाहिए। यदि उन आकाश प्रदेशों में अन्तराल सहितपना माना जाएगा तो अनवस्था दोष आएगा अर्थात् आकाश प्रदेशों के व्यवधायक पदार्थ के भी दूसरा व्यवधायक होना चाहिए अतः अनवस्था दोष आएगा।

एक द्रव्य के साथ आकाश प्रदेशों का कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर दोष नहीं आता है। जिस एक अखण्ड द्रव्य के साथ अनन्त प्रदेशों का कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है, वही स्याद्वाद सिद्धान्त में आकाश द्रव्य है अतः आकाश के एक द्रव्यत्व की सिद्धि है इसलिए आकाश द्रव्य के सर्वगतार्थ भाव स्वभावत्व साधन असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। इस प्रकार सर्व लोक का अधिकरण (अवगाह देने वाला) आकाश है; इसमें अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि आकाश को आधार की अनुपपत्ति है अर्थात् अखण्ड द्रव्य होने से आकाश को दूसरे द्रव्य के आधार की आवश्यकता नहीं है।

"आकाश के समान सभी पदार्थों के एकान्त रूप से अपने में प्रतिष्ठित रहने का प्रसंग आएगा अर्थात् आकाश के समान सभी पदार्थ अपने में स्थित रहेंगे, किसी का कोई आधार नहीं होगा।" ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर सभी पदार्थों के आकाश के समान सर्वगतत्व (व्यापकत्व) का प्रसंग आएगा अर्थात् जैसे सर्व पदार्थ आकाश के समान व्यापक नहीं हैं, वैसे निराधार भी नहीं हैं॥२०॥

यद्यपि निश्चय नय से सर्व पदार्थ अपने में ही प्रतिष्ठित हैं। (किसी का किसी के साथ आधार आधेय भाव नहीं है) इस प्रकार सर्वथा आकाश के समान आधार रहित मानना ठीक नहीं है क्योंकि, यदि व्यवहार नय से भी आकाश के समान सर्व पदार्थों को आधार रहित मानेंगे तो जीव आदि पदार्थों के भी आकाश के समान सर्वगतत्व और अमूर्त्तत्व आदि का प्रसंग भी दुर्निवार होगा। आकाश के समान जीवादि पदार्थ भी अमूर्त्त और सर्वगत होंगे।

एवामूर्तत्वादिति वक्ष्याम:। प्रतीत्यतिक्रमे तु कारणाभावात् सर्वमसमंजसं मानमेयं प्रलापमात्रमुपेक्षणीयं स्यादिति यथा प्रतीतिसिद्धमधिकरणमधिगम्यमर्थानाम्॥

अस्थिरत्वात्पदार्थानां स्थितिर्नैवास्ति तात्त्विकी । क्षणादूर्ध्वमितीच्छंति केचित्तदपि दुर्घटम्॥ २१ ॥

निरन्वयक्षयैकांते संतानाद्यनवस्थिते: । पुण्यपापाद्यनुष्ठानाभावासक्तेर्निरूपणात् ॥ २२ ॥

संवृत्या संतानसमुदायसाधर्म्यात् प्रेत्यभावानां पुण्यपापमुक्तिमार्गानुष्ठानस्य चाभ्युपगमात् परमार्थतस्तदभावासक्तिर्नानिष्टेति चेत्, किमिदानीं संवेदनाद्वैतमस्तु परमार्थं सत्

शंका : सर्व द्रव्यों को सर्वत्र व्यापक मानने में क्या दोष है ?

उत्तर : सर्व पदार्थ सर्वगत हैं-यह कथन प्रतीति विरुद्ध है। जैसे संसारी जीव और पुद्गल को अमूर्त्त कहना प्रतीति विरुद्ध है। तथा धर्म अधर्म आकाश को मूर्त्तिक कहना प्रतीति विरुद्ध है। प्रत्यक्ष ज्ञान की अनुमान ज्ञान से मूर्त्तत्व की प्रतीति नहीं हो रही है। (इसका विस्तारपूर्वक कथन पाँचवें अध्याय में करेंगे) कारण का अभाव होने से प्रतीति का उल्लंघन करके कथन करना असमंजस है; प्रलाप मात्र है। अत: वस्तु के व्यवस्थापन का कारण न होने से तथा नीति का उल्लंघन करने वाला होने से उपेक्षणीय है; ग्रहण करने योग्य नहीं है। इसलिए प्रतीति सिद्ध होने से अधिकरण भी पदार्थों के जानने का उपाय है-ऐसा जानना चाहिए।

अधिकरण का निरूपण पूर्ण हुआ।

अब **स्थिति** का कथन करते हैं:-

''सर्व पदार्थ अस्थिर हैं-क्षण क्षयी हैं अत: उनकी स्थिति वास्तविक नहीं है। क्योंकि, वे एक क्षण से अधिक स्थित नहीं रहते हैं। इस प्रकार कोई (बौद्ध) चाहते हैं (स्वीकार करते हैं)। परन्तु, उनका यह कथन दुर्घट है। (कठिनता से भी घटित नहीं होता है) क्योंकि, सर्वथा पदार्थों का निरन्वय नाश मान लेने पर सन्तान समुदाय आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती और पुण्य-पाप आदि अनुष्ठान के अभाव का प्रसंग आता है अर्थात् निरन्वय नाश होने वाले पदार्थों में पुण्य-पाप, पूर्व-भव स्मरण आदि का कथन सिद्ध नहीं हो सकता इसलिए स्थिति का निरूपण करना उपयुक्त है॥२१-२२॥

बौद्ध कहते हैं कि काल प्रत्यासत्ति से कल्पित अनेक क्षणिक परिणामों की संतान, देश प्रत्यासत्ति से स्वीकृत अनेक क्षणिक परिणामों का समुदाय, समान धर्मों की अपेक्षा से माना गया साधर्म्य एवं मर कर पुन: जन्म धारण करना रूप प्रेत्यभाव, तथा पुण्य-पाप, मोक्षमार्ग का अनुष्ठान आदि सर्व प्रक्रिया संवृत्ति (कल्पनाओं) से कल्पित है बौद्ध सिद्धान्त में पुण्य-पाप, प्रेत्यभाव आदि को कल्पना से स्वीकार किया है अत: पुण्य, पापादि के अभाव का प्रसंग परमार्थ से अनिष्ट नहीं है अर्थात् पुण्य-पाप आदि वास्तविक नहीं हैं। यह सौगत मत में इष्ट है बौद्ध के इस कथन के उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि क्या सौगत मत में स्वीकृत संवेदनाद्वैत परमार्थ सत् है ?

निरन्वयविनश्वराणामेकक्षणस्थितीनां नानापदार्थानामनुभवात्। तदपि नेति चेत् तर्हि इष्टं संतानादि सर्वं निरंकुशत्वात् तच्च निरन्वयक्षयैकांते संवृत्त्यापि न स्यात्। तथा च निरूपितं "संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरंकुशः। प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे॥" इति। ननु च बीजांकुरादीनामेकत्वाभावेपि संतानः सिद्धस्तिलादीनां समुदायसाधर्म्यं च तद्वत्सर्वत्र तत्सिद्धौ किमेकत्वेनेति चेन्न, सर्वबीजांकुरादीनामेकसंतानत्वापत्तेः, सकलतिलादीनां वा समुदायसाधर्म्यप्रसक्तेः। प्रत्यासत्तेर्विशेषात्केषांचिदेव संतानः समुदायः

यदि बौद्ध कहे कि अन्वयरहित, विनाशशील और एक क्षणस्थायी अनेक घट, पट, जीवादि पदार्थों का अनुभव हो रहा है, अतः संवेदनाद्वैत भी परमार्थ सत् नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो बाधक प्रमाण से रहित होने के कारण सभी सन्तान, समुदाय आदि पदार्थ अभीष्ट (परमार्थ सत् रूप) हो जायेंगे; निरंकुश सिद्ध हो जाएँगे तथा निरन्वय नाश वा क्षणिक एकान्त की अपेक्षा से दूसरे ही क्षण में द्रव्यत्व का अन्वय रहित नाश हो जाने पर बौद्ध मत में सन्तान समुदाय साधर्म्य और मरकर जन्म लेना (पुनर्भव) आदि सभी पदार्थ संवृत्ति से भी बाधारहित सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ : जब पदार्थ सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, द्रव्य दृष्टि से भी ध्रुव नहीं रहते हैं, तो पुण्य-पाप, मरकर जन्मना, स्वकीय कर्मों का फल भोगना आदि कोई भी क्रिया संवृत्ति से सिद्ध नहीं होती है तथा ऐसा **देवागम स्तोत्र** में भी निरूपण है। सो ही **समन्तभद्र** ने कहा है-

एकत्व परिणति स्वभाव का निह्नव करने पर प्रेत्यभाव, सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, सर्वभाव निरंकुश होकर सिद्ध नहीं हो सकता।

शंका : बीजांकुर न्याय से बीज अंकुर आदि के एकत्व का अभाव होने पर भी संतान की सिद्धि है अर्थात् अंकुर अवस्था में बीज के सर्वथा नष्ट हो जाने पर और वृक्ष में अंकुर का अभाव हो जाने पर वह बीज की संतान कही जाती है तभी तो बीज के अनुरूप फल लगते हैं। तिल आदि का समुदाय भी सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार तिल आदि का सादृश्य होने से साधर्म्य बनना भी शक्य है। इस प्रकार सर्वथा भेद में सन्तान, समुदाय साधर्म्य की सिद्धि हो जाने पर एक अखण्ड अविनाशी द्रव्य के मानने से क्या प्रयोजन है?

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है-अर्थात् द्रव्य को क्षणध्वंसी मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्व बीज अंकुरादिक में एक संतान होने का प्रसंग आयेगा अर्थात् गेहूँ बीज से ही गेहूँ का पौधा बनेगा, यह नियम नहीं रहेगा अपितु किसी भी बीज से गेहूँ की उत्पत्ति हो जायेगी क्योंकि बीज तो बौद्ध मतानुसार सर्वथा नष्ट हो जाता है उस बीज से सर्वथा भिन्न गेहूँ लघु वृक्ष की उत्पत्ति हुई है। अतः गेहूँ बीज उत्पन्न न होकर किसी भी बीज से उत्पन्न हो सकता है। उसमें एक संतानत्व क्यों नहीं होगा? तथा सकल तिल, सरसों, आदि के भी समुदाय और साधर्म्य होने का प्रसंग आयेगा।

"यदि बौद्ध कहे कि किसी विशेष प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से कुछ विवक्षित पूर्वोत्तरभावी संततियाँ सन्तान बन जाती हैं और विशेष सम्बन्ध के कारण किन्हीं नियत पदार्थों का ही समुदाय अथवा विशिष्ट

साधर्म्यं च विशिष्टमिति चेत्, स कोन्योऽन्यत्रैकद्रव्यक्षेत्रभावप्रत्यासत्तेरिति नान्वयनिह्नवो युक्तः । न ह्यव्यभिचारी कार्यकारणभावः संताननियमहेतुः, सुगतेतरचित्तानामेकसंतानत्वप्रसंगादिति समर्थितं प्राक् । नाप्येकसामग्र्यधीनत्वं समुदायैकत्वनियमनिबंधनं धूमेंधनविकारादिरूपादीनां नानासमुदायानामेक-समुदायत्वानुषंगात् प्रतीतमातुलिंगरूपादिवत्। एतेन समानकालत्वं तन्निमित्तमिति प्रत्युक्तं, एक द्रव्याधिकरणत्वं तु सहभुवामेकसमुदायत्वव्यवस्थाहेतुरिति सत्येवान्विते द्रव्ये तिलादिरूपादि-समुदायैकत्वनियमः साधर्म्यं।

साधर्म्य बन जाता है, अन्य तटस्थ पदार्थों का नहीं,'' तो जैनाचार्य कहते हैं कि विशेष सम्बन्ध एकद्रव्यप्रत्यासत्ति, एकक्षेत्रप्रत्यासत्ति और एकभावप्रत्यासत्ति के अतिरिक्त अन्य कौन हो सकता है ? **भावार्थ:** एक द्रव्य में उसकी भूत, वर्तमान और भविष्यत् अनेक पर्यायें तदात्मक हो रही हैं अत: उनका एक द्रव्य सम्बन्ध होने के कारण सन्तान बन जाता है। अन्य द्रव्य की पर्यायें उस सन्तान में अन्वित नहीं हो पाती हैं। तथा सजातीय अनेक पदार्थों के एक क्षेत्र में रहने रूप क्षेत्र प्रत्यासत्ति समुदाय है तथा समान रूप से परिणमन करने वाले पदार्थों का एक भाव प्रत्यासत्ति साधर्म्य है। सर्वथा भिन्न पदार्थों में सन्तान, समुदाय, साधर्म्य आदि घटित नहीं होते। इसलिए एक द्रव्य अनुस्यूत रहने वाले एकत्व वा ध्रुवत्व के अन्वय का निह्नव करना युक्तिसंगत नहीं है।

अव्यभिचारी (निर्दोष) कार्य-कारण भाव सम्बन्ध तो संतान की नियत व्यवस्था का हेतु नहीं है, क्योंकि इस प्रकार मानने पर तो बुद्ध और अन्य संसारी आत्माओं के भी एक संतानपने का प्रसंग आयेगा।

भावार्थ : उत्तर पर्याय की उत्पत्ति रूप कार्य में पूर्व समयवर्ती पर्याय कारण है।

वह कारण कार्य-भाव सिद्ध होने पर संतान सिद्ध होती है-और वह कार्य-कारण भाव ध्रुव एक द्रव्य में ही घटित हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् द्रव्यों में नहीं, उसका पूर्व में समर्थन कर चुके हैं।

एक सामग्री का अधीनत्व भी समुदाय के एकत्व की नियत व्यवस्था का कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो अनेक समुदायों में रहने वाले धूम के रूप आदिक और गीले ईंधन के रूप आदिकों के भी एक समुदायत्व का प्रसंग आयेगा। जैसे कि प्रमाण से ज्ञात विजौरा नींबू के रूप रस आदि का समुदाय बन जाता है अर्थात्-अग्नि के प्रज्वलित होने पर गीले ईंधन के रूप और धूम के रूप आदि की सामग्री एक है किन्तु उनका समुदाय पृथक्-पृथक् माना जाता है ऐसे ही क्षेत्र भूमि, जलवायु आदि एक सामग्री होते हुए भी अनेक बीज या अंकुरों के समुदाय भिन्न-भिन्न हैं अत: एक सामग्री की आधीनता एक समुदाय का कारण नहीं हो सकती है।

इस पूर्वोक्त कथन से समान कालपना भी एक सन्तानपन या एक समुदायपन का कारण है, इसका भी खण्डन कर दिया है। यद्यपि एक द्रव्याधिकरण एक साथ होने वाली पर्यायों के एक समुदाय की व्यवस्था का कारण है- परन्तु वह तीनों काल में अन्वय रूप से स्थित रहने वाले एक द्रव्य के मानने पर ही बन सकता है, अन्यथा नहीं। तथा तिल आदि रूप समुदाय के एकत्व का नियम वा साधर्म्यं का नियम भी नाना

न पुनर्नानाद्रव्याणां समानहेतुकत्वादिति वार्तामात्रं, विसदृशहेतूनामपि बहुलं साधर्म्यदर्शनात्। रजतशुक्तिकादिवत् समानपरिणामसत्त्वात् साधर्म्ये भावप्रत्यासत्तिविशेषादेव साधर्म्यं। न च समानपरिणामो नाना परिणामिद्रव्याभावे संभवतीति न तद्वादिनामेकद्रव्यापह्नवः श्रेयान्। प्रेत्यभावः कथमेकत्वाभावे न स्यादितिचेत् तस्य मृत्वा पुनर्भवनलक्षणत्वात्। सन्तानस्यैव मृत्वा पुनर्भवनं न पुनर्द्रव्यस्येति चेन्न, संतानस्यैकद्रव्याभावे नियमायोगस्य प्रतिपादनात्। कथंचिदेकद्रव्यात्मनो जीवस्य प्रेत्यभावसिद्धेः। पुण्यपापाद्यनुष्ठानं पुनरपि संवाहकर्तृक्रियाफलानुभवितृनानात्वे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसक्तेर्दूरोत्सारितमेव। तत्संतानैक्ये चैकद्रव्यत्वस्य

द्रव्यों के मानने पर नहीं होता, अपितु अन्वय रूप एक क्षेत्र के मानने पर ही हो सकता है। समान हेतु वाले पदार्थों का साधर्म्य कहना केवल प्रलाप मात्र है, क्योंकि विसदृश कारणों से उत्पन्न हुए पदार्थों में भी प्रायः करके साधर्म्य देखा जाता है। जैसे खान से उत्पन्न चांदी और जल से उत्पन्न सीप में कथञ्चित् श्वेतवर्ण की अपेक्षा साधर्म्य देखा जाता है।

यदि समान परिणति के विद्यमान होने से पदार्थों का साधर्म्य माना जाता है तब तो एक विशेष भाव प्रत्यासत्ति से ही साधर्म्य होना इष्ट किया गया है, परन्तु वह समान जाति वाला परिणाम तो नाना परिणामी द्रव्यों के अभाव में संभव नहीं है अर्थात् सदृश परिणाम भी परिणामी ध्रुव रहने वाले अनेक द्रव्यों के मानने पर ही सिद्ध हो सकता है अतः सन्तान, समुदाय और साधर्म्य को कहने वाले बौद्धों को एक अन्वित द्रव्य का लोप करना श्रेयस्कर नहीं है।

प्रश्न : एक अन्वित आत्म द्रव्य के नहीं मानने पर प्रेत्य भाव (मरकर पुनः जन्म लेना) सिद्ध क्यों नहीं होता है?

उत्तर : मरकर पुनः जन्म लेना रूप प्रेत्यभाव मरने और जन्म लेने वाले एक जीव को माने बिना सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् मरकर पुनः जन्म लेने वाली एक आत्मा के होने पर ही प्रेत्य भाव सिद्ध हो सकता है।

"सन्तान मर कर पुनः जन्म लेती है, संतान की परम्परा चलती है, द्रव्य ध्रुव नहीं है" ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि एक द्रव्य के अभाव में संतान के नियम के अयोग का प्रतिपादन किया गया है अर्थात् सन्तानी के बिना संतान की परम्परा कैसे रह सकती है? अतः कथञ्चित् एक द्रव्यात्मक जीव के मानने पर ही प्रेत्यभाव की सिद्धि हो सकती है अर्थात् एक जीव के नष्ट हो जाने पर मरकर जन्म उसी का हो सकता है।

पुनः क्षणिकवाद में पुण्य, पापादि का अनुष्ठान, लेन-देन आदि क्रियाओं का कर्त्ता, उनके फलों का अनुभोक्ता, कार्य का करना, उसके फलका भोगना आदि सर्व क्रियाओं को दूर से फेंक दिया गया है अर्थात् क्षणिक एकान्त में पुण्य-पाप आदि का अनुष्ठान, फल भोगना आदि कुछ भी नहीं बन सकता।

सिद्धेर्न निरन्वयक्षयैकांतस्ताद्वादिभिरभ्युपगंतव्यः। ततः सर्वथा संतानाद्युपगमे द्रव्यस्य कालांतरस्थायिनः प्रसिद्धेर्न क्षणादूर्ध्वमस्थितिः पदार्थानाम्॥

यथा चैकक्षणस्थायी भावो हेतोः समुद्भवेत्। तथानेकक्षणस्थायी किन्न लोके प्रतीयते ॥२३॥

ननु प्रथमे क्षणे यथार्थानां क्षणद्वयस्थास्नुता तथा द्वितीयेपीति न कदाचिद्विनाशः स्यादन्यथा सैव क्षणस्थितिः प्रतिक्षणं स्वभावात्ततो न कालांतरस्थायी भावो हेतोः समुद्भवन् प्रतीयतेऽन्यत्र विभ्रमादिति न मंतव्यं, क्षणक्षयस्थायिनां तृतीयादिकक्षणस्थायित्वविरोधात्। प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणापेक्षायामिव द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणापेक्षायां क्षणद्वयस्थास्नुत्वाविशेषात् प्रतिक्षणं स्वभावभेदानुपपत्तेः कालांतरस्थायित्वसिद्धेः। ननु च

हिंसादि पाप करने वाला दूसरा होगा और फल का भोक्ता दूसरा सिद्ध होगा तथा संतान को एक मानने पर एक द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, अतः बौद्धों को निरन्वय क्षणिक एकान्त नहीं स्वीकार करना चाहिए।

इसलिए सर्वथा संतान आदि को मानने पर एक द्रव्यत्व की सिद्धि होती है। पदार्थों का एक क्षण के ऊर्ध्व (ऊपर) नहीं रहना सिद्ध नहीं होता है।

जिस प्रकार एक क्षणस्थायी भाव (पदार्थ) हेतु से उत्पन्न होता है-वैसे ही अनेक क्षणों तक स्थायी रहने वाले भावों की लोक में प्रतीति क्यों नहीं होती है ? अर्थात् कारणों से एक क्षणस्थायी पदार्थों की उत्पत्ति के समान कालान्तर स्थायी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं॥२३॥

शंका : जैसे प्रथम क्षण में पदार्थों का दो क्षण तक स्थित रहना स्वभाव है, उसी प्रकार दूसरे क्षण में भी दो समय तक रहना रूप स्वभाव स्थित रहेगा। इसी प्रकार तीसरे आदि क्षण में भी स्थित रहेगा। इस प्रकार तो पदार्थ का कभी भी विनाश नहीं होगा। अन्यथा यदि दूसरे तीसरे समय में रहना नहीं मानेंगे तो एक समय स्थित रहना ही पदार्थ का स्वभाव निश्चित होता है। अतःप्रतिक्षण स्वभाव में भेद होने से पदार्थ कालान्तर स्थायी नहीं है। यह हेतु से सिद्ध होता हुआ प्रतीत होता है। भ्रान्ति से कालान्तर स्थायी पदार्थ की प्रतीति होती है।

उत्तर : जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यह कथन (पदार्थ कालान्तर स्थायी नहीं है) समीचीन नहीं है, क्योंकि दो क्षणस्थायी पदार्थों के तीसरे चौथे आदि क्षणों में स्थायी रहने का विरोध है। प्रथम क्षण में द्वितीय क्षण की अपेक्षा है और द्वितीय क्षण में प्रथम क्षण की अपेक्षा है। अतः दो क्षण स्थायीपन स्वभाव मे कोई विशेषता नहीं है। इसी प्रकार तृतीय क्षण आदि में लगाना चाहिए। इसलिए पदार्थ में सर्वथा स्वभाव भेद नहीं होने से कालान्तर स्थायित्व की सिद्धि होती है।

अर्थात् पदार्थों केअन्वय रूप से रहते हुए भी निरंतर परिवर्तन होता रहता है न पदार्थ सर्वथा कूटस्थ नित्य है और न सर्वथा क्षणिक है अपितु नित्यानित्यात्मक है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा प्रतिक्षण पदार्थों में स्वभाव भेद पाया जाता है और द्रव्यार्थिक नय से पदार्थों में प्रतिक्षण स्वभाव भेद नहीं होता है अतः पदार्थ कालान्तर स्थायी है।

प्रथमक्षणे द्वितीयक्षणापेक्षं क्षणद्वयस्थायित्वमन्यदेव, द्वितीयक्षणे प्रथमक्षणापेक्षात्ततोस्त्येव प्रतिक्षणं स्वभावभेदोऽसत्त: क्षणमात्रस्थिति: सिद्ध्येत्सर्वार्थानामिति वदंतं प्रत्याह;—

क्षणमात्रस्थिति: सिद्धैवर्जुसूत्रनयादिह । द्रव्यार्थिकनयादेव सिद्धा कालांतरस्थिति: ॥ २४ ॥

न हि वयमृजुसूत्रनयात्प्रतिक्षणस्वभावभेदात् क्षणमात्रस्थितिं प्रतीक्षयाम: तत: कालांतरस्थितिविरोधात्। केवलं यथार्जुसूत्रात्क्षणस्थितिरेव भाव: स्वहेतोरुत्पन्नस्तथा द्रव्यार्थिकनयात्कालांतरस्थितिरेवेति प्रतिचक्ष्महे सर्वथाप्यबाधितप्रत्ययात्तत्सिद्धिरिति स्थितिरधिगम्या ॥

विश्वमेकं सदाकाराविशेषादित्यसंभवि। विधानं वास्तवं वस्तुन्येवं केचित्प्रलापिन: ॥ २५ ॥

सदाकाराविशेषस्य नानार्थानामपह्नवे । संभवाभावत: सिद्धे विधानस्यैव तत्त्वत: ॥ २६ ॥

शंका : प्रथम क्षण में द्वितीय क्षण की अपेक्षा रखने वाले दो क्षणस्थायी भाव पृथक् हैं द्वितीय क्षण में प्रथम क्षण की अपेक्षा रखने वाले भाव पृथक् हैं अत: प्रत्येक क्षण में स्वभाव भेद रहता है इसलिए सम्पूर्ण पदार्थों की केवल एक समय की स्थिति सिद्ध होती है इस प्रकार शंका करने वाले बौद्ध के प्रति जैन आचार्य कहते हैं :-

समाधान : यदि ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा कथन किया जाता है तब तो पर्यायों की एक क्षणमात्र स्थिति सिद्ध होती है अर्थात् ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण प्रवर्त्तन करता रहता है परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य कालान्तर में स्थित सिद्ध होते हैं॥२४॥

भावार्थ : ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अनित्य है, क्षणध्वंसी है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और कालान्तर स्थायी है अत: वस्तु नित्यानित्यात्मक है।

हम स्याद्वादी लोग ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा निरंतर स्वभाव भेद होने के कारण सम्पूर्ण पर्यायों की केवल एक क्षण मात्र स्थिति की प्रतीक्षा नहीं करते हैं क्योंकि ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से पदार्थों के कालान्तर स्थिति का विरोध है अर्थात् ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा हम पदार्थ को क्षणध्वंसी मानते हैं। जैसे ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा एक क्षण स्थित रहने वाला पदार्थ स्वकीय कारणों से उत्पन्न होता है-वैसे ही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ चिरकाल तक स्थित रहने वाला अपने कारणों से उत्पन्न होता है ऐसा जैन सिद्धान्तानुयायी हम कहते हैं।

सर्वथा अबाधित प्रमाणों के द्वारा कालान्तर स्थायी ध्रुव पर्याय की सिद्धि होती है। इस प्रकार स्थिति को भी पदार्थों के जानने का उपाय समझना चाहिए। अब **विधान** का कथन करते हैं-

सत् आकार की अविशेषता से उत्पन्न होने के कारण विश्व एक रूप है इसलिए वस्तु में विधान (भेदगणना) का वास्तविक होना असंभव है। इस प्रकार कोई (ब्रह्माद्वैतवादी) व्यर्थ का प्रलाप कर रहा है क्योंकि, अनेक अर्थों का लोप करके (नानार्थों को स्वीकार न करके) सद् आकारों की अविशेष का (सद्रूप ब्रह्माद्वैत को मानना वा सिद्ध करना) होना संभव नहीं है इसलिए विधान (भेद के प्रकार) की वास्तविक रूप से ही सिद्धि हो जाती है अर्थात् सामान्य रूप से सत्पना विशेष भेदों के होने पर ही संभव हो सकता है अत: विधान सिद्ध हो जाता है॥२५-२६॥

सर्वमेकं सदविशेषादिति विरुद्धं साधनं, नानार्थाभावे सदविशेषस्यानुपपत्तेस्तस्याभेदनिष्ठत्वात् । ननु च सदेकत्वं सदविशेषो न तत्साधर्म्यं यतो विरुद्धं साधयेदिति चेन्न, तस्य साध्यसमत्वात् । को हि सदेकमिच्छन् सर्वमेकं नेच्छेत् । यदि पुनः सत्ताविशेषाभावादिति हेतुस्तदाप्यसिद्धं, सद्घटः सत्पट इति विशेषस्य प्रतीतेः। मिथ्येयं प्रतीतिर्घटादिविशेषस्य स्वप्नादिवद्व्यभिचारादिति चेन्न, सत्ताद्वैते सम्यङ्मिथ्याप्रतीतिविशेषस्यासंभवात् संभवे वा तद्वदन्यत्र तत्संभवः कथं नानुमन्यते ? मिथ्याप्रतीतेरविद्यात्वादविद्यायाश्च नीरूपत्वान्न सा सन्मात्रप्रतीतेर्द्वितीया यतो भेदः सिद्ध्येत् इति चेन्न, व्याघातात् । प्रतीतिर्हि सर्वा स्वयं प्रतिभासमानरूपा सा

विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य रूप से सत् होने के कारण एक हैं, इस अनुमान में दिया गया सद्विशेष यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि अनेक अर्थों के अभाव में सत्ता रूप से अविशेष की उत्पत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती है वह सत् का सामान्यपन विशेष स्वरूप से भेदों में ही स्थित है।[१]

शंका : सत्तापन से अविशेषता का अर्थ तो सत्त्व रूप से एकत्व है उस सत्ता रूप से साधर्म्य उसका अर्थ नहीं है जिससे हमारा हेतु साध्य के विरुद्ध अनेकत्व को सिद्ध कर सकता हो।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वह हेतु साध्य सम है अर्थात् जो एकपना साध्य है, वही सत्ता अविशेष का अर्थ सत्ता रूप से एकपना है अतः हेतु और साध्य एक समान हैं। जब साध्य असिद्ध है तो हेतु भी असिद्ध है।

कौन बुद्धिमान है जो सत् रूप से हेतु के तो एकत्व स्वीकार करता हो और सबका एकपना इष्ट नहीं करता हो अर्थात् जब हेतु और साध्य दोनों एक हैं तो हेतु को जानना ही साध्य को जानना हुआ अतः अनुमान करने की क्या आवश्यकता है ? यदि फिर सबको एक सिद्ध करने के लिए सत्ता विशेष का अभाव है-यह हेतु भी असिद्ध है क्योंकि घट सत् है पट सत् है, इस प्रकार विशेष सत्ता वाले पदार्थ प्रतीति सिद्ध हैं।

अद्वैतवादी कहता है कि स्वप्न आदि के साथ व्यभिचार होने से घटादिक विशेष की प्रतीति मिथ्या है अर्थात् जैसे स्वप्नादि अवस्था में घटादिक का प्रतिभास मिथ्या है, उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी होने वाला घटादिक का प्रतिभास मिथ्या है। जैनाचार्य कहते हैं कि अद्वैतवादी का यह कथन उचित नहीं है-क्योंकि सत्ताद्वैत में यह प्रतीति समीचीन है और यह मिथ्या प्रतीति है ऐसे भेद का होना असंभव है अर्थात् जब सत्ता में द्वैतपना ही नहीं है तो यह प्रतीति समीचीन है, यह मिथ्या है, इस प्रकार का भेद (द्वैत) कैसे हो सकता है? यदि मिथ्या और समीचीन भेद संभव हैं तो फिर उसके समान अन्य स्थानों में भी भेद स्वीकार करके सामान्य सत्ता और विशेषसत्ता ये दो भेद क्यों नहीं मानते हैं ? अद्वैत का कदाग्रह क्यों करते हैं ?

''अविद्या के कारण मिथ्या प्रतीति होती है और अविद्या के नीरूपत्व है (अर्थात्-अविद्या स्वरूप रहित तुच्छ पदार्थ है), अतः सत्तामात्र को विषय करने वाली प्रतीति से अतिरिक्त अविद्या कोई दूसरा वस्तुभूत पदार्थ नहीं है।''

१. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।

कथं नीरूपा स्यात् । ग्राह्यरूपाभावान्नीरूपा मिथ्याप्रतीतिरितिचेत्तर्हि ग्राह्यरूपसहिता सम्यक् प्रतीतिरिति तद्विशेषसिद्धेः । सम्यक्प्रतीतिरपि ग्राह्यरूपरहितेतिचेत् कथमिदानीं सत्येतरप्रतीतिव्यवस्था? यथैव हि सन्मात्रप्रतीतिः स्वरूप एवाव्यभिचारात्सत्या तथा भेदप्रतीतिरपि । यथा वा सा ग्राह्याभावादसत्या तथा सन्मात्रप्रतीतिरपीति न विद्याविद्याविभागं बुद्ध्यामहेन्यत्र कथंचिद्भेदवादात् ततो न सन्मात्रं तत्त्वतः सिद्धं साधनाघटनादिति विधानस्यैव नानार्थाश्रयस्य सिद्धेस्तदधिगम्यमेव निर्देशादिवत्॥

तदेवं मानतः सिद्धैर्निर्देशादिभिरंजसा । युक्तं जीवादिषूक्तेषु निरूपणमसंशयम् ॥ २७ ॥

ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि यह कथन व्याघात दोष से युक्त है अर्थात् यह कथन स्ववचन बाधित है क्योंकि सम्पूर्ण ही प्रतीतियाँ (ज्ञान) अपने स्वरूप से प्रतिभासमान स्वरूप हैं। जो स्वयं प्रतिभासमान स्वरूप है वह स्वभाव से रहित नीरूप कैसे हो सकती है ?

यदि अद्वैतवादी कहे कि ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य रूपों के नहीं होने से (ज्ञान के ग्रहण करने का अभाव होने से) प्रतीति मिथ्या और स्वभाव रहित अवस्तु है तो इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने पर तो ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य सत्ता समीचीन प्रतीति सिद्ध होती है। इस प्रकार सम्यक् प्रतीति और असम्यक् प्रतीति के भेद से सत्ता विशेष की सिद्धि हो जाती है। यदि सम्यक् प्रतीति को भी ग्रहण रूप से रहित मानते हैं तबतो इस समय समीचीन प्रतीति और असमीचीन प्रतीति की व्यवस्था कैसे हो सकती है ? जिस प्रकार केवल शुद्ध सत्ता को विषय करने वाली प्रतीति सत्ता विधि स्वरूप में ही व्यभिचार रहित होने के कारण सत्य स्वरूप है उसी प्रकार घट, पट आदि भेद रूप विशेष सत्ता को विषय करने वाली प्रतीति भी व्यभिचार रहित होने से सत्य स्वरूप है जैसे ग्राह्य विषय न होने से वह भेद प्रतीति असत्य मानी जाती है उसी प्रकार शुद्ध सन्मात्र प्रतीति भी बहिर्भूत ग्राह्य पदार्थ न होने के कारण असत्य हो जाएगी अत: कथञ्चित् भेद वाद से अतिरिक्त विद्या और अविद्या के विभाग को हम कुछ भी नहीं समझते हैं इसलिए केवल सत्स्वरूप अद्वैत तत्त्व वास्तविक स्वरूप से सिद्ध नहीं हो पाता है तथा अद्वैतवादियों के द्वारा कथित साधन (हेतु) भी घटित नहीं होता है।

भावार्थ : भेद एकान्त और अभेद एकान्त सिद्ध नहीं होता है-अपितु कथञ्चित् भेदाभेदात्मक सिद्ध होता है। इस प्रकार निर्देश और स्वामित्व के समान विधान भी जानने योग्य है क्योंकि अनेक अर्थों में रहने वाले अधिगमक विधान की सिद्धि हो जाती है और विधान के कथन से ही वस्तु का परिपूर्ण ज्ञान होता है।

इस प्रकार प्रमाण से सिद्ध किये गये निर्देश आदि के द्वारा पूर्वोक्त जीवादि पदार्थों का और रत्नत्रय आदि का संशय रहित निर्दोष अधिगम होने का निरूपण करना युक्त है। अर्थात् सूत्रकार उमास्वामी के द्वारा कथित निर्देश आदि युक्तिसंगत है॥२७॥

न हि प्रमाणनयात्मभिरेव निर्देशादिभिर्जीवादिषु भावसाधनोधिगम: कर्तव्य इति युक्तं तद्विषयैरपि निर्दिश्यमानत्वादिभि: कात्स्न्यैकदेशार्पितै: कर्मसाधनस्याधिगमस्य करणात् तेषामुक्तप्रमाणसिद्धत्वादिति व्यवतिष्ठते ॥

यथागममुदाहार्या निर्देष्टव्यादयो बुधै:। निश्चयव्यवहाराभ्यां नयाभ्यां मानतोपि वा ॥ २८ ॥

निश्चयनय एवंभूत: व्यवहारनयोऽशुद्धद्रव्यार्थिकस्ताभ्यां निर्देष्टव्यादयो यथागममुदाहर्तव्या विकलादेशात् प्रमाणतश्च सकलादेशात्। तद्यथा। निश्चयनयादनादिपारिणामिकचैतन्यलक्षणजीवत्वपरिणतो जीव: व्यवहारादौपशमिकादिभावचतुष्टयस्वभाव:, निश्चयत: स्वपरिणामस्य व्यवहारत: सर्वेषां, निश्चयतो

"प्रमाणनयैरधिगम:" इस सूत्र के अनुसार प्रमाण नय स्वरूप निर्देश आदि के द्वारा जीव आदि पदार्थों में भाव साधन निरुक्ति से सिद्ध किया गया अधिगम करना चाहिए। इतना ही युक्त नहीं है किन्तु प्रमाण और नय के साथ में प्रमाण और नयों के विषयभूत सर्वदेश एवं एकदेश से विवक्षित किये गये निर्देश करने योग्य, स्वामी पने को प्राप्त आदि के द्वारा कर्म साधन से निरुक्ति से अधिगम करना चाहिए। निर्देश आदि भी प्रमाण सिद्ध व्यवस्थित हैं।

भावार्थ : "निर्दिश्यते अनेन इति निर्देश:" इस प्रकार करण साधन के द्वारा निर्देश आदि की सिद्धि करना चाहिए। और "अधिगमनं अधिगम:" इस प्रकार भाव साधन के द्वारा अधिगम को सिद्ध करने पर वस्तु को पूर्ण रूप से तथा एकदेश से जानने वाले प्रमाण, नय, स्वरूप निर्देश आदि के द्वारा जीवादिकों का अधिगम होता है तथा 'निर्दिश्यते यत्' इस प्रकार कर्म में यत् प्रत्यय कर पुन: शानच् और तद्धित के 'त्व' प्रत्यय करने पर साधे गये निर्देश्यमानत्व आदिकों से 'अधिगम्यते यत्' जो जाना जाये ऐसा कर्मसाधन अधिगम किया जाता है। विषय और विषयी दोनों में पूर्णदेश और एकदेश से जानलिया गया पन और जानलेना पन व्यवस्थित हो रहा है अत: ग्रन्थकार का विषयी और विषय की अपेक्षा उक्त दोनों सूत्र बनाना सार्थक है।

व्यवहार और निश्चयनय के द्वारा तथा प्रमाण के द्वारा बुद्धिमानों को आगमानुसार निर्देश करने योग्य, स्वामिपने को प्राप्त आदि पदार्थों को जान लेना चाहिए और उनके उदाहरण बना लेने चाहिए ॥२८॥

एवंभूतनय ही निश्चयनय है, और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय व्यवहार नय है। इन निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा निर्देश करने योग्य जीवादि पदार्थों का आगमानुसार कथन करना चाहिए। वस्तु के विकल अंश को ग्रहण करने वाले विकलादेशी नय वाक्य के द्वारा और वस्तु के सकल अंश को ग्रहण करने वाले सकलादेशी प्रमाण वाक्य के द्वारा वस्तु के स्वरूप को जानना चाहिए। जैसे-निश्चय नय से अनादि पारिणामिक चैतन्य लक्षण जीवत्व परिणत जीव है अर्थात् इस परम पारिणामिक भाव रूप जीव के कर्मों के उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं है। व्यवहार नय की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक इन चारों भाव स्वरूप परिणत को जीव कहते हैं। निश्चय नय से जीव स्वकीय ज्ञान दर्शन रूप

जीवत्वसाधनः व्यवहारादौपशमिकादिभावसाधनश्च, निश्चयतः स्वप्रदेशाधिकरणो व्यवहारतः शरीराद्यधिकरणः, निश्चयतो जीवनसमयस्थितिः व्यवहारतो द्विसमयादिस्थितिरनाद्यवासनस्थितिर्वा, निश्चयतोनंतविधान एव व्यवहारतो नारकादिसंख्येयासंख्येयानंतविधानश्च। प्रमाणतस्तदुभयनयपरिच्छित्तिरूपसमुदायस्वभाव इत्यादयो जीवादिष्वप्यागमाविरोधान्निर्देशादीनामुदाहरणमवगंतव्यम्॥

न केवलं निर्देशादीनामधिगमस्तत्त्वार्थानां किं तर्हि;—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

परिणामों का स्वामी है। व्यवहार नय से परद्रव्य के सम्बन्ध के निमित्त से होने वाले क्रोधादि सभी परिणामों का स्वामी है, तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से घर, पुत्र, स्त्री, गाय, भैंस आदि का भी स्वामी है। निश्चयनय से जीव का साधन स्वकीय ज्ञान दर्शन आदि जीवत्व ही है, स्वभाव भाव का ही आत्मा साधन (कारण) है जो कि पारिणामिक भाव है और व्यवहार नय से उपशम सम्यक्त्व, क्रोधादि विभाव भाव का आत्मा साधन है, कारण है अथवा इनके द्वारा जीव की सिद्धि होती है इनमें ही दश प्राणगर्भित हैं।

निश्चय से जीव का अधिकरण स्वकीय आत्मप्रदेश ही हैं क्योंकि निश्चय नय से आत्मा अपने प्रदेशों में ही रहती है और व्यवहार नय से शरीर, घर, भूमि आदि भी जीव के अधिकरण हैं। निश्चय नय से अनादिकाल से अनन्त काल तक जीवित रहने के समयों तक जीव की स्थिति है अर्थात् आत्मा अनादि काल से अनन्त काल तक रहता है। व्यवहार नय से दो समय से लेकर अनादि अवसान सहित है अर्थात् एक पर्याय में रहने के कारण जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तैंतीस सागर प्रमाण स्थिति है अथवा दश प्राणों का धारक आत्मा अनन्त काल तक रहता है।

निश्चय नय से जीव अनन्त प्रकार का है और व्यवहार नय से नरकादि गतियों के भेद से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकार के हैं अर्थात् इस प्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष रत्नत्रय आदि के भी निर्देश आदि कथन करना चाहिए। तथा प्रमाण से यह जीव उन निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के द्वारा उत्पन्न ज्ञप्ति स्वरूप के विषयभूत समुदायों का स्वभाव है अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप है, यह जीव का निर्देश है। इस प्रकार निर्देश आदि छहों अनुयोगों का जीव, अजीव आदि सातों तत्त्वों में आगम के अविरोध से निर्देश आदि का उदाहरण जानना चाहिए अर्थात् संक्षेप से जीवादि पदार्थों का अधिगम प्रमाण और नयों के द्वारा होता है और विस्तार से इस निर्देश आदि के द्वारा जानना चाहिए।

केवल निर्देश आदि के द्वारा ही जीवादि पदार्थों का अधिगम नहीं होता है, तो जीवादि पदार्थों के जानने के दूसरे उपाय कौन से हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं:-

सत् , संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व के द्वारा भी जीवादि पदार्थों का अधिगम होता ह ॥८॥

स्वार्थोऽधिगमो ज्ञानात्मकैः, परार्थः शब्दात्मकैः कर्तव्य इति घटनात्॥

ननु पूर्वसूत्र एवाधिगमस्य हेतोः प्रतिपादितत्वात् किं चिकीर्षुरिदं सूत्रमब्रवीत् इति चेत् ;—

सदादिभिः प्रपंचेन तत्त्वार्थाधिगमं मुनिः। संदिदर्शयिषुः प्राह सूत्रं शिष्यानुरोधतः ॥ १ ॥

ये हि शिष्याः संक्षेपरुचयस्तान् प्रति "प्रमाणनयैरधिगमः" इति सूत्रमाह, ये च मध्यमरुचयस्तान् प्रति निर्देशादिसूत्रं, ये पुनर्विस्तररुचयस्तान् प्रति सदादिभिरष्टाभिस्तत्त्वार्थाधिगमं दर्शयितुमिदं सूत्रं, शिष्यानुरोधेनाचार्यवचनप्रवृत्तेः॥

नास्तित्वैकांतविच्छित्त्यै तावत् प्राक् च प्ररूपणम्। सामान्यतो विशेषात्तु जीवाद्यस्तित्वभिद्विदे॥२॥

नन्वेकत्वादस्तित्वस्य न सामान्यविशेषसंभवो येन सामान्यतो नास्तित्वैकांतस्य विशेषतो जीवादिनास्तित्वस्य व्यवच्छेदात्तत्प्ररूपणं प्रागेव संख्यादिभिः क्रियते। न ह्येका न सत्ता सर्वत्र, सर्वदा तस्या

ज्ञानात्मक सत् संख्यादि के द्वारा स्वार्थ (अपने आपका) अधिगम होता है। (क्योंकि प्रतिपादक को स्वयं का अन्वेषण करना भी आवश्यक है)।

शब्दात्मक सत् संख्या आदि के द्वारा पदार्थ का अधिगम होता है (क्योंकि प्रतिपाद्य श्रोता अपनी प्रतिपत्ति को शब्दों के द्वारा ही जानता है।)

हेतुओं के द्वारा तत्त्वार्थ के अधिगम का प्रतिपादन करना पूर्व सूत्र में कह दिया गया है तो पुनः इस सूत्र का क्या करने की इच्छा से प्रतिपादन किया है ? ऐसी **शंका** होने पर आचार्य कहते हैं :-

अति विस्तार के साथ सत्संख्या आदि के द्वारा तत्त्वार्थों को दिखलाने के इच्छुक उमास्वामी आचार्य ने शिष्यों के अनुरोध से सूत्र कहा है॥१॥ क्योंकि जो शिष्य संक्षेप रुचि वाले हैं उनके प्रति **"प्रमाणनयैरधिगमः"** इस सूत्र का कथन किया है और जो शिष्य न अधिक संक्षेप से समझता है और न अति विस्तार से समझता है, ऐसे मध्यम रुचि वाले शिष्य को समझाने के लिए **"निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरण स्थितिविधानतः"** इस सूत्र का प्रतिपादन किया है परन्तु जो शिष्य अतीव विस्तार से समझने की उत्कण्ठा रखते हैं, उन शिष्यों के प्रति **'सत्संख्या'** आदि आठ अनुयोगों के द्वारा तत्त्वार्थ के अधिगम को दिखाने के लिए इस सूत्र का निर्देश किया है क्योंकि शिष्यों के अनुरोध से आचार्य के वचनों की प्रवृत्ति होती है।

इन अनुयोगों में सामान्य रूप से नास्तित्व के एकान्त का निराकरण करने के लिए और विशेष रूप **से जीवादिक के अस्तित्व को नहीं मानने वाले चार्वाक का निराकरण करने के लिए सर्वप्रथम सूत्र में "सत्" की प्ररूपणा की ह॥२॥**

शंका : 'सत्' एकत्व (एक) है; उसके सामान्य और विशेष दो भेद कैसे संभव हो सकते हैं? जिससे सामान्यतः सम्पूर्ण पदार्थों के नास्तित्व के एकान्त का और विशेष रूप से जीवादिक के नास्तित्व

विच्छेदाभावात् । सत्ताशून्यस्य कस्यचिद्देशस्य वानुपपत्तेः, सत्प्रत्ययस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात् । सत्प्रत्ययस्यैकरूपत्वेपि सत्तानेकत्वे च न किंचिदेकं स्यादिति कश्चित् , सोऽसमीक्षिताभ्यधायी। सत्तायास्तद्वाह्यार्थेभ्यः सर्वथा भिन्नायाः प्रतीत्यभावात् तेभ्यः कथंचिद्भिन्नायास्तु प्रतीतौ तद्वत्सामान्यविशेषवत्त्वसिद्धे नोक्तोपालंभः॥

सर्वमसदेवेति वदंतं प्रत्याह;—

सन्मात्रापह्नवे संवित्सत्त्वाभावान्न साधनम्। स्वेष्टस्य दूषणं वास्ति नानिष्टस्य कथंचन ॥ ३ ॥

संवेदनाधीनं हीष्टस्य साधनमनिष्टस्य च दूषणं ज्ञानात्मकं न च सर्वशून्यतावादिनः संवेदनमस्ति, विप्रतिषेधात् । ततो न तस्य च युक्तं । नापि परार्थं वचनात्मकं तत एवेति न सन्मात्रापह्नवोपायात् संविन्मात्रं ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यत्वाच्छून्यमिति चेत् ;—

का विच्छेद करने के लिए 'संख्यादि' के पूर्व सत् की प्ररूपणा की गई है अर्थात् सत्ता नित्य, व्यापक और एक है। जब उसमें सामान्य और विशेष विकल्प ही नहीं हैं तो फिर सामान्य और विशेष रूप से नास्तित्व के निवारण के लिए 'सत्' का निर्देश क्यों किया जाता है ?

सत्ता एक नहीं हैं-ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र सदा उस सत्ता के व्यवच्छेद का अभाव है अर्थात् सर्वकाल और सर्वदेश में आकाश के समान सत्ता व्याप्त होकर रहती है, कोई भी देश सत्ता से शून्य होकर स्थित नहीं है, सम्पूर्ण पदार्थों में, सर्व स्थलों पर सदा ही 'सत्' ऐसे ज्ञानों का सद्भाव है।

सत्प्रत्यय के एकत्व रूप होते हुए भी यदि सत्ता को अनेक रूप माना जायेगा तो संसार में कोई एक रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसा कोई (वैशेषिक) कहता है।

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि वैशेषिक का यह कथन बिना विचारा है, क्योंकि सत्तावाले घटपट आदि बाह्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न सत्ता की प्रतीति का अभाव है।

उन सत्तावान पदार्थों से कथंचित् भिन्न (और कथंचित् अभिन्न) सत्ता की प्रतीति होने पर तो उन्हीं अर्थों के समान सत्ता के भी सामान्य विशेषत्व सिद्ध होता है अतः स्याद्वाद सिद्धान्त में तुम्हारे द्वारा कथित उलाहना लागू नहीं होता।

''सर्व पदार्थ असत् ही हैं''-इस प्रकार कहने वाले शून्यवादी के प्रति आचार्य कहते हैं:-

पदार्थों की सत्ता मात्र का सर्वथा लोप कर देने पर (सर्वथा तत्त्वों का अभाव मानने पर) संवेदन के सत्त्व का भी अभाव हो जाता है, तथा संवेदन के अस्तित्व का अभाव मानने पर इष्ट तत्त्व का साधन और अनिष्ट तत्त्व का दूषण भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता॥३॥

क्योंकि स्वकीय इष्ट की सिद्धि करना और अनिष्ट तत्त्वों में दूषण देना संवेदना के आधीन है परन्तु सर्व शून्यतावादियों के ज्ञानात्मक संवेदन नहीं है, क्योंकि उनके सिद्धान्त में ज्ञानात्मक संवेदन का निषेध किया गया है इसलिए शून्यवादियों को सम्पूर्ण सत्पदार्थों का अपह्नव (लोप) करना युक्त नहीं है तथा दूसरों

ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यं संवित्तिमात्रकम् । न स्वतः सिद्धमारेकाभावापत्तेरशेषतः ॥ ४ ॥

परतो ग्रहणे तस्य ग्राह्यग्राहकतास्थितिः । परोपगमतः सा चेत्स्वतः सापि न सिध्यति ॥ ५ ॥

कुतश्चिद्ग्राहकात्सिद्धः पराभ्युपगमो यदि । ग्राह्यग्राहकभावः स्यात्तत्त्वतो नान्यथा स्थितिः ॥ ६ ॥

ग्राह्यग्राहकभावोतः सिद्धस्स्वेष्टस्य साधनात् । सर्वथैवान्यथा तस्यानुपपत्तिर्विनिश्चयात् ॥ ७ ॥

न हि ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यस्य संवेदनस्य स्वयमिष्टस्य साधनं स्वाभ्युपगमतः पराभ्युपगमतो वा स्वतः परतो वा परमार्थतः ग्राह्यग्राहकभावाभावे घटते, अतिप्रसंगात् । संवृत्या घटत एवेति चेत्, तर्हि संवेदनमात्रं परमार्थं सत् संवृत्तिसिद्धं । ग्राहकवेद्यत्वाद्भेदव्यवहारवत् स्वरूपस्य स्वतो गतिरितिचेत् , कुतस्तत्र

के लिए इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण भी वचनात्मक है, वह भी शून्यवादियों के घटित नहीं हो सकता। क्योंकि सत् मात्र का लोप करने पर सत्स्वरूप वचन कैसे घटित हो सकते हैं ?

''ग्राह्य-ग्राहक भाव, बाध्य-बाधक भाव, कार्य-कारण भाव, वाच्य-वाचक भावादि से शून्य होने के कारण संवेदन मात्र को शून्य तत्त्व कहते हैं।'' ऐसा बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते हैं:-

ग्राह्य-ग्राहकादि भावों से शून्य (रहित) संवित्तिमात्र (संवेदन) स्वतः सिद्ध नहीं है। यदि शून्य संवेदन की स्वतः सिद्धि होती है तो पूर्ण रूप से संशय होने के अभाव का प्रसंग आयेगा ॥४॥

यदि शून्य संवेदन का दूसरे के द्वारा ग्रहण होता है तो ग्राह्य ग्राहक भाव की सिद्धि हो जाती है अर्थात् संवेदन ग्राह्य हो जाता है और पर पदार्थ ग्राहक हो जाते हैं। यदि ग्राह्य-ग्राहक भाव स्वतः न मानकर दूसरे (स्याद्वादियों) के कथन से उसमें ग्राह्य-ग्राहक भाव स्वीकार किया जायेगा तो उसकी सिद्धि भी स्वतः नहीं हो सकती ॥५॥

यदि किसी अन्य ग्राहक ज्ञान से पराभ्युपगम (दूसरों की स्वीकृति को) सिद्ध हुआ मानोगे तो वास्तविक रूप से ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो जाता है। अन्यथा लोकप्रसिद्ध ग्राह्य-ग्राहक भाव की स्थिति नहीं हो सकती। अथवा अन्य प्रकार से इष्ट तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती अतः स्वकीय इष्ट पदार्थ के साधन से ही ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो जाता है। अन्यथा (ग्राह्य-ग्राहक भाव के अभाव में) सभी प्रकारों से उस इष्ट संवेदन मात्र तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती जो विशेष रूप से निश्चित है ॥६-७॥

ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव से शून्य स्वयं बौद्ध के द्वारा इष्ट संवेदन का साधन (सिद्ध) करना ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव के अभाव में स्वतः स्वीकार करने से अथवा दूसरे मीमांसक आदि के द्वारा स्वीकृत होने पर भी घटित नहीं हो सकता है। अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् प्रमाण और प्रमेय का ग्राह्य, ग्राहक भाव का अभाव मानने पर स्वेच्छानुसार अभीष्ट तत्त्व की सिद्धि हो जायेगी, सभी वादियों के मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। यदि कल्पित व्यवहार से ग्राह्य-ग्राहक भाव मानकर इष्ट तत्त्व का साधन घटित करते हैं तो वास्तविक रूप से सद्भूत संवेदन को भी कल्पित सिद्ध समझना पड़ेगा क्योंकि जैसे द्वैत रूप भेदों को जानने

संशय:? तथा निश्चयानुपपत्तेरिति चेन्न, सुगतस्यापि तत्र तत्प्रसंगात् । तस्य विधूतकल्पनाजालत्वान्न स्वरूपे संशय इति चेत्; तदिदमनवस्थितप्रज्ञास्यसुभाषितं संवेदनाद्वैततत्त्वं प्रतिज्ञाय विधूतकल्पनाजाल: सुगत:, पृथग्जना: कल्पनाजालावृत्तमनस इति भेदस्य कथनात्। कथं च संवेदनाद्वैतवादिन: संवृत्तिपरमार्थसत्यद्वयविभाग: सिद्ध: ? संवृत्त्येति चेत् , सोऽयमन्योन्यसंश्रय: । सिद्धे हि परमार्थसंवृत्तिसत्यविभागे संवृत्तिराश्रीयते तस्यां च सिद्धायां तद्विभाग इति कुत: किं सिद्ध्येत्, तन्न तत्त्वतो ग्राह्यग्राहकभावाभावे स्वेष्टसाधनं नामेति विनिश्चय: ॥

वाला व्यवहार वास्तविक नहीं ह, कल्पित है, उसी प्रकार कल्पना से कल्पित ग्राहक द्वारा जानने योग्य होने के कारण शुद्ध संवेदन भी पारमार्थिक नहीं हो सकेगा।

'शुद्ध संवेदन के स्वरूप की ज्ञप्ति स्वत: हो जाती है' ऐसा सौगत के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस शून्य संवेदन में संशय कैसे होता है ? अर्थात् स्वत: संवेद्यमान है, वह सर्वत्र प्रतिभासित रहता है। परन्तु सौगत के द्वारा स्वीकृत संवेदन में अनेक पुरुषों को संशय होता है। चूंकि शुद्ध संवेदन का सबको निश्चय नहीं होता है इसलिए किसी-किसी को संशय होता है ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर तो सुगत के भी उस संवेदन का निश्चय न होने से संशय होने का प्रसंग आयेगा अर्थात् बुद्ध के भी निर्विकल्प ज्ञान स्वीकार किया है, निश्चय ज्ञान नहीं माना है।

यदि कहो कि सौगत का ज्ञान विकल्प जाल से रहित है अत: स्वरूप में संशय नहीं है (संशय तो कल्पना ज्ञान है) तो यह अविचारशील (चंचलबुद्धिवाले) का कथन है अर्थात् जिसकी बुद्धि किसी निर्णीत मार्ग पर स्थित नहीं है, वे ही ऐसा कह सकते हैं, अन्य नहीं ।

संवेदना द्वैतवादी के मत का निराकरण

बौद्ध जन शुद्ध संवेदन तत्त्व के पूर्व में अद्वैत की प्रतिज्ञा करके पुन: ''बुद्धदेव कल्पना से रहित हैं और संसारी जीव कल्पना जाल से आवृत्त मन वाले हैं'' इस प्रकार भेद का कथन करते हैं। परन्तु अद्वैत को मानकर पुन: द्वैत को पुष्ट करना यह बुद्धिमान का काम नहीं है।

संवेदनाद्वैतवादी के यहाँ संवेदन के कल्पना सत्य और वास्तविक सत्य-ये दो विभाग सिद्ध कैसे हो सकते हैं। यदि संवृत्ति (व्यवहार) से कल्पनासत्य और वास्तविक सत्य यह विभाग किया जाता है तो यह अन्योऽन्याश्रय दोष है।

क्योंकि वास्तविक सत्य और कल्पना सत्य का विभाग सिद्ध हो जाने पर संवृत्ति (व्यवहार) का आश्रय लिया जाता है और संवृत्ति के सिद्ध हो जाने पर काल्पनिक सत्य और वास्तविक सत्य का विभाग करना सिद्ध होता है इस प्रकार परस्पराश्रय दोष के *उत्थान में किससे किसकी सिद्धि हो सकती है ? इसलिए* वास्तविक रूप से ग्राह्य-ग्राहक भाव के अभाव में अपने इष्ट साधन की नाम मात्र भी सिद्धि नहीं हो सकती है। ऐसा निश्चय करना चाहिए।

[1]बाध्यबाधकभावस्याप्यबाधेनिष्टसाधनं। स्वान्योपगमतः सिद्ध्येन्नेत्यसावपि तात्त्विकम्॥ ८॥

न हि बाध्यबाधकभावादेरनिष्टस्याबाधनं स्वतः सर्वेषां प्रतिभासते, विप्रतिपत्तावभावप्रसंगात्। संविन्मात्रप्रतिभासनमेव तत्प्रतिभासनमिति चेत् न, तस्यासिद्धत्वात्। परतो बाधकादनिष्टस्य बाधनमिति चेत् सिद्धस्तर्हि बाध्यबाधकभावः इति तन्निराकरणप्रकरणसंबंधं प्रलापमात्रं। संवृत्त्या अनिष्टस्य बाधनाददोष इति चेत् तर्हि तत्त्वतो न वा बाध्यबाधकभावस्य बाधनमिति दोष एव। पराभ्युपगमात् तद्बाधनमिति चेत् तस्य सांवृतत्वे दोषस्य तदवस्थत्वात्। पारमार्थिकत्वेपि तदनतिक्रम एवेति सर्वथा बाध्यबाधकभावाभावे तत्त्वतो नानिष्टबाधनमनुपपन्नम्॥

बाध्य-बाधक भाव के अबाधित होने पर ही अनिष्टतत्त्व की सिद्धि हो सकती है। बाध्य (असत्य ज्ञान और ज्ञेय) बाधक (समीचीन ज्ञान और ज्ञेय) दोनों के अभाव में भी अनिष्ट तत्त्व में बाधा कैसे दी जा सकेगी? केवल स्व-पर के स्वीकार कर लेने मात्र से तो अनिष्ट तत्त्व में बाधा सिद्ध नहीं हो सकती अतः वह बाध्य-बाधक भाव या अनिष्ट तत्त्व की बाधा करना भी तात्त्विक है॥८॥ अर्थात् अनिष्टतत्त्व या बाध्य-बाधक भाव के परमार्थभूत होने पर स्व इष्ट तत्त्व की सिद्धि कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

संवेदनाद्वैतवादियों को अनिष्ट ऐसे बाध्य-बाधक आदि भाव की बाधा स्वतः सभी को प्रतिभासित नहीं होती है, क्योंकि सभी को स्वतः बाधा का प्रतिभास हो जाता तो विवाद होने का प्रसंग भी नहीं आता।

''केवल शुद्ध संवेदन का ज्ञान होना ही उस अनिष्ट बाध्य-बाधक आदि की बाधा का प्रतिभास है'' -ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अकेले उस शुद्ध संवेदन के प्रतिभास की सिद्धि नहीं है।

दूसरों के द्वारा स्वीकृत बाधक भाव से अनिष्ट की बाधन है-ऐसा कहते हो तो बाध्य-बाधक भाव सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार बाध्य-बाधक भाव के खण्डन करने के प्रकरण का सम्बन्ध करना प्रलाप मात्र है।

यदि पूर्व के समान संवृत्ति (व्यवहार) रूप कल्पना से अनिष्ट तत्त्व की बाधा हो जाने के कारण उक्त दोष नहीं आते हैं-ऐसा कहोगे तो वास्तव रूप से बाध्य-बाधक भाव के बाधा नहीं हो सकती अतः दोष वैसे का वैसा रहता ही है अर्थात् वास्तविक रूप से बाध्य-बाधक भाव मानना पड़ेगा। यदि दूसरे वादियों के स्वीकृत किये बाध्य-बाधक भाव से उसकी बाधा करोगे तब तो उस दूसरों के स्वीकार को यदि कल्पित माना जायेगा तो वही दोष वैसे का वैसा अवस्थित रहेगा अर्थात् कल्पित बाध्य-बाधक भाव से अनिष्ट बाध्य-बाधक भाव की बाधा नहीं हो सकती है।

बाध्य-बाधक भाव को पारमार्थिक मान लेने पर भी दोषों का अतिक्रमण नहीं होता है। इसलिए, सर्वथा बाध्य-बाधक भाव के अभाव में वास्तविक रूप से अनिष्ट तत्त्व की बाधा करना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं है।

---

१. बाध्य-बाधक भावस्याप्यभावेनिष्टबाधनं। माणिकचन्द जी की प्रति में ऐसा पाठ है। परन्तु मूल पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

कार्यकारणभावस्याभावे संविदकारणा। सती नित्यान्यथा व्योमारविंदादिवदप्रमा॥ ९ ॥

सर्वथैवाफलत्वाच्च तस्याः सिध्येन्न वस्तुता। सफलत्वे पुनः सिद्धा कार्यकारणतांजसा॥ १० ॥

न संविदकारणा नापि सकारणा नाफला नापि सफला यतोऽयं दोषः। किं तर्हि ? संवित्संविदेवेति चेत्, नैवं परमब्रह्मसिद्धेः संविन्मात्रस्य सर्वथाप्यसिद्धेः समर्थनात्॥

वाच्यवाचकताप्येवमिष्टानिष्टात्मनोः स्वयम्। साधनाद्दूषणाच्चापि वाग्भिः सिद्धान्यथा न तत्॥११॥

यदि संवेदनाद्वैत वादी कार्य-कारण भाव को स्वीकार नहीं करते हैं तो कार्य-कारण भाव के अभाव में संवेदन सत् अकारण हो जाने से नित्य हो जायेगा क्योंकि जो अकारण होता है वह नित्य होता है अन्यथा (यदि संवेदन के कार्य-कारण भाव नहीं माना जायेगा तो) वह संवेदन आकाश के फूल के समान प्रमा रहित (ज्ञान का विषय नहीं) होने से असत् हो जायेगा॥९॥

यदि संवेदना सर्वथा फल रहित है तो उस संवेदना के वस्तुपना सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् अर्थक्रिया को करने वाले पदार्थ ही वस्तुभूत माने गये हैं। यदि संवेदना को फल सहित स्वीकार करते हैं तो निर्दोष कार्य-कारण भाव सिद्ध हो जाता है अर्थात् उत्तर फल को उत्पन्न करना ही संवेदना का कार्य है॥१०॥

भावार्थ : प्रत्येक द्रव्य अनादि काल से अनन्त कालपर्यन्त ध्रौव्य रहकर भी निरंतर परिणमन करता रहता है। उस परिणमन में पूर्ववर्त्ती पर्याय उपादान कारण है और उत्तरवर्त्ती पर्याय कार्य है। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का क्रम अनादि काल से है और यही द्रव्य का द्रव्यत्व है। संवेदन भी आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय होने से, उत्पाद व्यय से युक्त होने से कारण-कार्य भाव सहित है।

बौद्ध कहता है-संवेदना अकारण भी नहीं होती है और सकारण भी नहीं होती है, सफला भी नहीं है और निष्फला भी नहीं जिससे यह दोष लागू हो सके।

प्रश्न : संवित्ति का स्वरूप क्या है ?,

उत्तर : संविद् तो संविद् ही है, जैसे स्वानुभूति स्वानुभूति ही है ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार के कथन से परम ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है अर्थात् बौद्ध के समान ब्रह्मवादी भी कह सकते हैं कि ब्रह्म, ब्रह्म ही है अतः शुद्ध संवेदना की सिद्धि सर्वथा नहीं हो सकती है-ऐसा समर्थन कर दिया है।

तथा संवेदनाद्वैतवादियों के वाच्य-वाचक भाव भी सुलभता से सिद्ध हो जाता है क्योंकि इष्ट स्वरूप और अनिष्ट स्वरूप पदार्थों के साधन और दूषण देने का प्रयोग वचनों के द्वारा ही किया जाता है अर्थात् इष्ट को सिद्ध करने के लिए साधन (हेतु) का प्रयोग वचन के द्वारा ही होता है और अनिष्ट को दूषण देना भी वचन के द्वारा ही होता है। अन्यथा-(वाच्य-वाचक भाव के बिना) वक्ता इष्टसाधन और अनिष्ट दूषण का प्रतिपादन कर प्रतिपाद्य (शिष्य) को समझा नहीं सकते हैं अतः वाच्य-वाचक भाव सिद्ध है॥११॥

स्वयमिष्टानिष्टयो: साधनदूषणे परं प्रति वाग्भि: प्रकाशयित्वातीत्य वाचकभावं निराकरोति कथं स्वस्थ: । नो चेत् कथमिष्टानिष्टयो: साधनदूषणमिति चिंत्यं । संवृत्त्या चेत् न तया तस्योक्तस्याप्यनुक्तसमत्वात्। स्वप्नादिवत्संवृत्तेर्मृषारूपत्वात् । तदमृषारूपत्वे परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रं स्यात्ततो न ग्राह्यग्राहकभावादिशून्यं संवित्तिमात्रमपि शून्यसाधनाभावात् सर्वशून्यतावत्॥

तत्सत्प्ररूपणं युक्तमादावेव विपश्चिताम्। क्वान्यथा परधर्माणां निरूपणमनाकुलम्॥ १२ ॥

सत्प्ररूपणाभावेऽर्थानां धर्मिणामसत्त्वात् क्व संख्यादिधर्माणां प्ररूपणं सुनिश्चितं प्रवर्तते शशविषाणादिवत् । कल्पनारोपितार्थेषु तत्प्ररूपणमिति चेत् न तेष्वपि कल्पनारोपितेन रूपेणासत्सु न तन्निरूपणं

स्वयं इष्ट शुद्ध संवेदनाद्वैत का साधन और स्वयं को अनिष्ट द्वैत के दूषण को दूसरे वादी या शिष्य के प्रति वचनों के द्वारा प्रतिपादन करके भी वाच्य-वाचक भाव का उल्लंघन करके निराकरण करता है, वह बौद्ध स्वस्थ कैसे है (अर्थात् स्व वचन का विरोधक होने से उन्मत्त है।) यदि वे बौद्ध वचनों के द्वारा पर (दूसरों) के प्रति पदार्थों का प्रतिपादन करना नहीं मानते हैं तो स्वकीय इष्ट तत्त्व का साधन और अनिष्ट तत्त्व का दूषण कैसे कर सकेंगे ? इसका स्वयं बौद्धों को विचार करना चाहिए।

''परमार्थ से इष्ट का साधन और अनिष्ट का दूषण नहीं कहा जाता है, अपितु व्यवहार से कहा जाता हे'' ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहार (असत्यकल्पना) से कहा गया साधन और दूषण का वचन नहीं कहे हुए के समान है। स्वप्नावस्था या मूर्च्छावस्था में उच्चरित शब्द व्यर्थ होते हैं क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में संवृत्ति (व्यवहार) को सर्वथा असत्य माना है।

यदि संवृत्ति को सत्यरूप मानते हो तब तो परमार्थ का नामकरण मात्र ही संवृत्ति सिद्ध होती है अर्थात् संवृत्ति कहो या परमार्थ कहो, यह नाम मात्र में भेद रहेगा, वास्तव भेद नहीं है अत: संवृत्ति से वाच्य-वाचक भाव है। यह वास्तविक वाच्य वाचक भाव है इसलिए ग्राह्य-ग्राहक भाव आदि से शून्य भी संवित्ति मात्र सिद्ध नहीं है, क्योंकि सर्व शून्यता के समान ज्ञान से अतिरिक्त शून्यता के साधन का भी अभाव है।

सम्पूर्ण प्ररूपणा की आदि में विद्वज्जनों के लिए सत्प्ररूपणा (पदार्थों के सद्भाव का प्ररूपण करना) ही समुचित है। अन्यथा (वस्तु के सद्भाव के निर्णय हुए बिना) अन्य संख्या आदि धर्मों का आकुलता रहित प्रतिपादन हो नहीं सकता ॥१२॥

पदार्थों के सद्भाव का निरूपण किए बिना (सत्प्ररूपणा के अभाव में धर्मियों का असत्त्व होने से) संख्या आदि धर्मों की प्ररूपणा का सुनिश्चित प्रवर्त्तन कैसे हो सकता है ? अर्थात् सत्प्ररूपणा के बिना संख्या आदि धर्मों का प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि 'सत्' धर्म है और वह आधारभूत धर्मी के बिना संख्या आदि धर्मों का कथन नहीं कर सकता जैसे खरगोश के सींग का अस्तित्व ही नहीं है तो उनकी संख्या आदि का कथन नहीं हो सकता।

''कल्पना से आरोपित पदार्थों में 'सत्' की प्ररूपणा होती है'' ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि कल्पना से आरोपित स्वरूप वाले उन असत् पदार्थों में 'सत्' की प्ररूपणा करना युक्तिसंगत नहीं

युक्तमतिप्रसंगात्। सत्सु तन्निरूपणे सत्प्ररूपणमेवादौ प्रेक्षावतां युक्तमिति निराकुलम्॥

निर्देशवचनादेतद्भिन्नं द्रव्यादिगोचरात्। सन्मात्रविषयीकुर्वदर्थानस्तित्वसाधनम्॥ १३ ॥

निर्देशवचनात्सत्त्वसिद्धेः सद्वचनं पुनरुक्तमित्यसारं, निर्देशवचनस्य द्रव्यादिविषयत्वात् सद्वचनस्य सन्मात्रविषयत्वात् भिन्नविषयत्वेन ततस्तस्य पुनरुक्तत्वासिद्धेः। न हि यथा जीवादयोसाधारणधर्माधाराः प्रतिपक्षव्यवच्छेदेन निर्देशवचनस्य विषयास्तथा सद्वचनस्य तेन सर्वद्रव्यपर्यायसाधनेन सत्त्वस्याभिधानात्। तस्यापि स्वप्रतिपक्षासत्त्वव्यवच्छेदेन प्रवृत्तेरसाधारणविषयत्वमेवेति चेन्न, असत्त्वस्य संदतररूपत्वेन सद्वचनादव्यवच्छेदात् भवदपि सामर्थ्यान्नास्तित्वसाधनं सद्वचनं सप्रतिपक्षव्यवच्छेदेन सन्मात्रगोचरं निर्देशवचनाद्भिन्नविषयमेव ततो महाविषयत्वात्। निर्दिश्यमानवस्तुविषयं हि निर्देशवचनं न स्वामित्वादिविषयं,

---

है क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् असत् कल्पना कर लेने पर आकाश के फूल, गधे के सींग आदि के भी सत्प्ररूपणा की कल्पना करने का प्रसंग आयेगा।

यदि 'सत्' रूप का ही निरूपण किया जाता है ऐसा मानते हैं तो विद्वज्जनों (विचारशील पुरुषों) को सर्वप्रथम सत्प्ररूपणा का कथन करना ही उचित है। यह निराकुल होकर सिद्ध कर दिया गया है।

केवल द्रव्यादिगोचर (केवल स्थूल द्रव्य या सदृश व्यंजन पर्याय रूप कतिपय पदार्थों को विषय करने वाले) निर्देश वचन से यह सर्व वस्तुभूत अर्थों की केवल सत्ता को विषय करता हुआ अस्तित्व को सिद्ध करने वाला सत्ता का प्ररूपण पृथक् है॥१३॥

''सूत्र में कथित निर्देशवचन से सत्त्व की सिद्धि हो जाने से पुनः 'सत् संख्या' इस सूत्र के द्वारा सत्ता का निरूपण करना पुनरुक्त है।'' ऐसा कहना सार रहित है क्योंकि निर्देश वचन का द्रव्य, गुण, क्रिया आदि विषय है अर्थात् द्रव्य, गुण आदि विशेषों का विषय करना निर्देश है; जैसे यह आत्मा है, यह ज्ञान है, इत्यादि और अभेदरूप से सत्ता मात्र का विषय करना 'सत्' का प्ररूपण है अतः दोनों का भिन्न-भिन्न विषय होने से सत् की प्ररूपणा के पुनरुक्त की असिद्धि है क्योंकि जैसे असाधारण धर्मों के आधार कतिपय जीवादि पदार्थ प्रतिकूल पक्ष की व्यावृत्ति करके निर्देश वचन के विषय हैं, उसी प्रकार असाधारण धर्म के आधारभूत जीवादि पदार्थ 'सत्' वचन के विषय नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य, गुण और पर्यायों में व्याप कर रहने वाली सामान्य सत्ता का 'सत्' शब्द के द्वारा कथन किया जाता है अर्थात् निर्देश का विषय विशेष है और 'सत्' का विषय सामान्य है। यही दोनों में भेद है।

''सत् वचन की स्व प्रतिपक्षी असत्ता की व्यावृत्ति करके ही प्रवृत्ति होती है, अतः वह भी सम्पूर्ण सत् असत् पदार्थों में नहीं रहने से असाधारण सत् पदार्थों का ही विषय है''-ऐसा भी कहना उचित नहीं है-क्योंकि असत्ता तुच्छाभाव रूप पदार्थ नहीं है अपितु असत्त्व के भी दूसरे सत्त्व रूप से व्यवस्थित होने से असत्त्व का सत् वचन से व्यवच्छेद नहीं होता है अर्थात् असत्त्व भी किसी रूप से सत्त्व है।

अथवा-अर्थापत्ति प्रमाण के सामर्थ्य से प्रतिपक्षी के नास्तित्व को सिद्ध करने वाला और स्वकीय प्रतिपक्षी के व्यवच्छेद करके केवल सत्ता का विषय करने वाला 'सत्' वचन निर्देश वचन से भिन्न विषय वाला ही है क्योंकि कतिपय द्रव्य, गुण पर्याय का कथन करने वाले निर्देश से सत्ता महाविषय वाली है

सद्वचनं पुनः सर्वविषयमिति महाविषयत्वं। सत्त्वमपि निर्दिश्यमानं निर्देशवचनेन विषयीक्रियमाणं न तस्याविषय इति चेन्न, स्वामित्वादिवचनविषयसत्त्वस्य तदविषयत्वात्। किं सदिति हि प्रश्ने स्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति निर्देशवचनं, न पुनः कस्य सत् केन कस्मिन् कियच्चिरं किं विधानमिति प्रश्नेवतरति तत्र स्वामित्वादिवचनानामेवावतारात्। नैवं, सद्वचनं किमित्यनुयोग एव प्रवर्तते सर्वथा सर्वानुयोगेषु तस्य प्रवृत्तेः। संख्यादिवचनविषये सद्वचनस्याप्रवृत्तेर्न सर्वविषयत्वमिति चेन्न, तस्यासत्त्वप्रसंगात्। न ह्यसंत एव संख्यादयः

और निर्देश वचन तो शब्दों के द्वारा कथित वस्तु को ही विषय करता है, स्वामित्व, साधन, संख्या आदि का कथन नहीं करता है परन्तु सत्प्ररूपणा निर्देश, स्वामित्व,साधन, संख्या, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सब ही को विषय करता है निर्देश का विषय अल्प है और सत्ता का विषय महान् है अतः सत्ता का कथन पुनरुक्तदोष से युक्त नहीं है।

"शब्द के द्वारा निर्दिष्ट सत्ता भी निर्देश वचन के द्वारा विषय किया गया होने से निर्देश वचन का अविषय नहीं है अर्थात् जिस प्रकार सत् व्यापक है, संख्या आदि सभी में रहता है, उसी प्रकार निर्देश भी संख्या आदि को विषय करने वाला होने से महा विषय वाला होकर व्यापक है"-ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि स्वामित्व, साधन आदि को विषय करने वाली सत्ता उस निर्देश वचन का व्याप्य होकर विषय नहीं है।

सत्ता किसे कहते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं-उत्पादव्यय ध्रौव्य से युक्त को सत् कहते हैं अर्थात् जिसमें निरंतर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है-उसको सत् कहते हैं। यह निर्देश वचन ही उत्तर हो सकता है परन्तु सत् किसका है ? सत् का स्वामी कौन है ? किस कारण से सत् उत्पन्न होता है ? सत् का साधन क्या है ? सत् कहाँ रहता है ? सत् का अधिकरण क्या है ? सत् कितने काल तक (स्थिति) रहता है ? और सत् का विधान (प्रकार) क्या है ? इस प्रकार प्रश्नों का अवतार (उत्पन्न) होने पर 'सत् का स्वामी, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि वचनों का निर्देश रूप से उत्तर नहीं हो सकता अर्थात् स्वामित्व है, साधन है, आदि वचनों की उत्पत्ति होती है-इसलिए निर्देश आदि छह प्ररूपणा हैं। निर्देश आदि क्या हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर केवल निर्देश को ही सत् वचन की प्रवृत्ति नहीं होती है अपितु स्वामित्व, साधन, अधिकरण आदि के सभी प्रश्नों में सत् वचन की प्रवृत्ति होती है अतः सत् प्ररूपणा व्यापक है- और निर्देश व्याप्य है। सत् सामान्य है और निर्देश विशेष है इसलिए सत् और निर्देश का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है।

"निर्देश करने योग्य संख्या, क्षेत्र आदि के कथन के विषय में सत् वचन की प्रवृत्ति नहीं होती है- अतः सत्ता के सर्व विषयपना (सर्व पदार्थों को विषय करने वाली) नहीं हो सकता"-ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि संख्यादि वचनों के द्वारा असत् संख्यादि का विषय नहीं किया जाता है। अर्थात् असत् (अभाव) रूप संख्या, क्षेत्र आदि का वचनों के द्वारा कथन नहीं हो सकता अन्यथा (यदि असत्त्व का विषय किया जायेगा तो) संख्या आदि के असत्त्व का प्रसंग आयेगा।

संख्यादिवचनैर्निर्विषयीक्रियंते तेषामसत्त्वप्रसंगात्। सतां न तेषां निर्विषयीकरणे सिद्धं। सद्वचनेनापि विषयीकरणमिति तदेव सर्वविषयत्वेन महाविषयं ततो न पुनरुक्तम्॥

गत्यादिमार्गणास्थानैः प्रपंचेन निरूपणम्। मिथ्यादृष्ट्यादिविख्यातगुणस्थानात्मकात्मनः॥ १४॥

कृतमन्यत्र प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यशेषः। सोपस्कारत्वात् वार्तिकस्य सूत्रवत्।

संख्या संख्यावतो भिन्ना न काचिदिति केचन। संख्यासंप्रत्ययस्तेषां निरालंबः प्रसज्यते॥ १५॥

नैव संख्यासंप्रत्ययोस्तींद्रियजः तत्रैकस्मिन् स्वलक्षणप्रतिभासमाने स्पष्टमेकत्वसंख्यायाः प्रतिभासनाभावात्। न हीदं स्वलक्षणमियमेकत्वसंख्येति प्रतिभासद्वयमनुभवामः। नापि लिंगजोऽयं

यदि "सत्त्व स्वरूप संख्यादिक का वचनों के द्वारा विषय (कथन) किया जाता है"- ऐसा कहोगे तो सत्त्व का ही संख्या आदि वचनों के द्वारा विषय (कथन) किया गया है"-ऐसा सिद्ध होता है। इस प्रकार सत्प्ररूपणा ही सर्व पदार्थों को विषय करने वाली होने के कारण महाविषयवाली है अत: सत्वचन पुनरुक्त नहीं हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, और आहारक इन चौदह मार्गणास्थानों के द्वारा और मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरति सम्यग्दृष्टि, देश संयत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशांत मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोग केवली इन चौदह गुणस्थानों में स्थित जीवों की विस्तार रूप से प्ररूपणा करनी चाहिए।

अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में कौनसी गति का अस्तित्व है? कौन सी इन्द्रिय है? कौन सी काय है? इत्यादि का विस्तृतरूप से कथन करना चाहिए॥१४॥

सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक सत्प्ररूपणा का कथन किया गया है-वहाँ से जान लेना चाहिए। यह वाक्यविशेष ऊपर के श्लोक में लगा लेना चाहिए क्योंकि सूत्र के समान वार्त्तिक भी अपने अर्थ को व्यक्त करने के लिए सोपस्कारक (यथायोग्य परिशिष्ट वाक्यों का आकर्षण करने वाले) होते हैं।

कोई कहता है कि- संख्यावान पदार्थ से कोई भी **संख्या** भिन्न नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर संख्या के निरालंब ज्ञान का प्रसंग आता है अर्थात् गगन कुसुम के समान संख्या भी ज्ञान के विषय से रहित हो जायेगी॥१५॥

बौद्ध : पदार्थ से भिन्न संख्या का समीचीन ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय तो नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य एक प्रत्यक्ष में स्वलक्षण के स्पष्टरूप से प्रतिभासित हो जाने पर एकत्व संख्या का पृथक् प्रतिभास होने का अभाव है अर्थात् स्वलक्षण के प्रतिभास में अन्य संख्या का प्रतिभास नहीं हो सकता क्योंकि "यह स्वलक्षण तत्त्व है, और यह उसकी एकत्व संख्या है," इस प्रकार दो प्रतिभासों का हम अनुभव नहीं कर रहे हैं।

संख्यासंप्रत्ययः संख्याप्रतिबद्धलिंगस्य प्रत्यक्षसिद्धस्याभावात् । तत एव न शाब्दोऽयं प्रत्यक्षानुमानमूलः । योगिप्रत्यक्षमूलोऽयमिति चेन्न, तस्य तथावगंतुमशक्यत्वात् । ततोऽयं मिथ्याप्रत्ययो निरालंबन एवेति केचित् , तेषां तस्य दिशाविनियमो न स्यात्। कारणरहितत्वादन्यानपेक्षणात् सर्वदा सत्त्वमसत्त्वं वा प्रसज्येत। निरालंबनोपि समनंतरप्रत्ययनियमात् प्रतिनियतोयमिति चेन्न बहिः संख्यायाः प्रतिनियताया प्रतीयते ॥

वासनामात्रहेतुश्चेत्सा मिथ्याकल्पनात्मिका । वस्तु सापेक्षिकत्वेन स्थविष्ठत्वादिधर्मवत् ॥१६॥

संख्या का समीचीन ज्ञान हेतुजन्य अनुमान स्वरूप भी नहीं है अर्थात् अनुमान प्रमाण से भी संख्या नहीं जानी जाती है क्योंकि संख्या रूप साध्य के साथ व्याप्ति को रखने वाले और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हेतु का अभाव है।

प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान है मूल कारण जिसका, ऐसा शाब्द बोध (आगमज्ञान) भी संख्या को विषय करने वाला नहीं है अर्थात् संख्या का ज्ञान शाब्द बोध (आगम रूप) भी नहीं है।

''यह संख्या योगी प्रत्यक्ष के मूल शाब्द ज्ञान का विषय है ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि उस आगम को सर्वज्ञ को मूल मान कर प्रवर्त्तना जानने के लिए अशक्यता है क्योंकि सभी अपने-अपने आगमों को सर्वज्ञ प्रतिपादित मानते हैं किन्तु इसका निर्णय नहीं किया जा सकता हैं अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीनों ज्ञान संख्या को विषय नहीं करते हैं इसलिए यह संख्या मिथ्या प्रत्यय (मिथ्याज्ञान) है, निरालंब है (ज्ञेय विषय से रहित है) ऐसा कोई कहता है ?

अब इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर संख्या कारण रहित होने से और अन्य की अपेक्षा रहित होने से संख्या ज्ञान के उपदेश का विशेष नियम नहीं हो सकेगा। कारण रहित और अपेक्षा रहित होने से सर्वदा सत् या असत् का प्रसंग आयेगा अर्थात् यदि एक पदार्थ में दो चार आदि का ज्ञान होगा तो संख्या ज्ञान के नियत रहने की व्यवस्था नहीं रहेगी। तथा आलम्बन रहित होने से किसी से किसी का भी ज्ञान हो सकता है, परन्तु संख्या का ज्ञान अवस्थित नहीं है।

बौद्ध कहता है कि निरालम्ब होता हुआ भी संख्या का ज्ञान अव्यवहित्त पूर्ववर्त्ती ज्ञान होने से नियम से प्रतिनियत है अर्थात् अनादिकालीन वासनाजन्य अव्यवहित पूर्व समयों में संख्या का ज्ञान अपने उपादान कारणवश, वहीं पर उसी समय संख्या का ज्ञान करा देता है, सर्वत्र सर्वदा नहीं कराता है।

इसके प्रत्युत्तर में **जैनाचार्य** कहते हैं कि बौद्धों का ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि प्रतिनियत संख्या से बहिर्भूत संख्या का ज्ञान प्रतीत हो रहा है। अथवा परिगणित जीवादि पदार्थों में प्रतिनियत संख्यावान से कथञ्चित् बहिर्भूत संख्या की प्रतीति हो रही है अतः मिथ्या वासना के कारण संख्या काल्पनिक नहीं है। पुनः बौद्ध कहता है कि जैसे यह इससे लम्बा है, यह इससे अधिक मधुर है, इत्यादि बड़ा, छोटा आदि धर्म जैसे आपेक्षिक होने से काल्पनिक हैं वैसे ही दो तीन आदि संख्याओं का ज्ञान भी वासनामात्र हेतुओं से उत्पन्न होने से मिथ्या कल्पना स्वरूप है, वास्तविक नहीं है अर्थात् जो वस्तुभूत होते हैं वे दूसरों की अपेक्षा नहीं करते हैं जैसे रूप, रस, सुख आदि पदार्थ परन्तु दो, तीन आदि संख्या अपेक्षाकृत है अतः वास्तविक नहीं है ॥१६॥

नीरूपेषु शशाश्वादिविषाणेष्वपि किं न सा तत्कल्पनासु सत्यासु स्वरूपेण तु सांजसा।[१] बहिर्वस्तुषु संख्याध्यवसीयमाना वासनामात्रहेतुका मिथ्याकल्पनात्मिकैवापेक्षिकत्वादिधर्मवदिति चेन्न, नीरूपेषु शशादिविषाणेष्वपि तत्प्रसंगात्। तत्कल्पनास्वस्त्येवेति चेत् तर्हि ताः कल्पनाः स्वरूपेण सत्याः किं वा न सत्याः ? न तावदुत्तरः पक्षः स्वमतविरोधात्। कथमिदानीं स्वरूपेण सत्यासु कल्पनासु संख्या परमार्थतो न स्यात्, तास्वपि कल्पनांतरारोपितापेक्षिकत्वाविशेषात्। बहिर्वस्तुष्वेवेति चेत्, स्यादेवं यदि विकल्पनारोपितत्वेनापेक्षिकं व्याप्तं सिद्ध्येत्॥

न चापेक्षिकता व्याप्ता नीरूपत्वेन गम्यते। वस्तु सत्स्वपि नीलादिरूपेष्वस्याः प्रसिद्धितः॥१७॥

जैनाचार्य कहते हैं कि-स्वरूप रहित शश शृंग या अश्व शृंग आदि में भी वह मिथ्या कल्पना स्वरूप संख्या क्यों नहीं होगी। यदि कहो कि वह कल्पनाओं में ही है तब तो संख्या वस्तुभूत क्यों नहीं होगी। वस्तुभूत कल्पनाओं से स्वीकृत संख्या भी स्पष्ट रूप से वास्तविक स्वरूप समझी जाएगी, काल्पनिक नहीं।

"घट, पट आदि बाह्य वस्तुओं में निर्णीत संख्या वासनाओं के कारण उत्पन्न होने से, अपेक्षा से होने वाले स्थूलत्व, परत्व, अपरत्व, सूक्ष्मत्व आदि धर्मों के समान दो तीन आदि संख्या भी मिथ्या कल्पना स्वरूप है"- ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि सर्वथा स्वरूप रहित शश, अश्व आदि विषाणों में भी आपेक्षिक धर्मों के और उस संख्या के रहने का प्रसंग आयेगा।

"यदि कहो कि कल्पनाओं में ही संख्या है ?" तो वे कल्पनायें अपने स्वरूप से सत्य हैं कि असत्य हैं ? (सत्य है कि सत्य नहीं है। इसमें उत्तर पक्ष कल्पना सत्य नहीं है) तो स्वमत का विरोध होने से युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि बौद्धों ने कल्पनाओं को स्वकीय कल्पना रूप शरीर से सत्य स्वीकार किया है अतः इस समय स्वरूप से सत्य कल्पनाओं में संख्या परमार्थ क्यों नहीं होगी ? अर्थात् प्रथम पक्ष के अनुसार कल्पनाओं को सत्य स्वीकार करने पर संख्या भी सत्य होगी।

"बहिरंग वस्तुओं के समान उन स्वरूप सत्य कल्पनाओं में भी अन्य दूसरी कल्पनाओं से आरोपित आपेक्षिकता विशेषता रहित स्थित है अतः वे कल्पनाएँ कल्पित हैं और कल्पना से आरोपित द्वित्व त्रित्व आदि संख्या भी आपेक्षिक होने से कल्पित है।" सौगत के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तब हो सकता था कि यदि कल्पना द्वारा आरोपितपने करके आपेक्षिकपना व्याप्त सिद्ध हो जाता है परन्तु कल्पना से व्याप्त आपेक्षिकपना सिद्ध नहीं है।

आपेक्षिकता निःस्वरूपपने से व्याप्त हो रही नहीं जानी जा रही है क्योंकि वास्तवरूप से, वस्तु रूप से, सत्स्वरूप नील आदि में भी इस आपेक्षिकपने की सिद्धि है अर्थात् नील आदि रंग में भी रंग की तरतमता (नीलतर, नीलतम) गधे के सींग के समान निःस्वरूप नहीं है॥१७॥

१- नीरूपेषु शश्वादिविषाणेष्वपि किं न सा।
तत्कल्पनासु सत्यासु स्वरूपेण तु सांजसा॥१७॥ मा. प्र. में यह श्लोक रूप में है।

नीलनीलांतरयोर्हि रूपो यथा नीलापेक्षं नीलांतररूपं तथा नीलांतरापेक्षं नीलमिति नीलादिरूपेषु वस्तु सत्स्वपि भावादपेक्षिकताया न कल्पनारोपितत्वेन व्याप्तिरवगम्यते यतः संख्यांतरया बहिरंतर्नीरूपत्वं। यदि पुनरस्पष्टावभासित्वे सत्यापेक्षिकत्वादिति हेतुस्तदा साधनविकलो दृष्टांतः, स्थविष्ठत्वादिधर्माणां स्पष्टावभासित्वात् । तत्र भ्रांतमिति चेन्न, बाधकाभावात् । स्थविष्ठत्वादिधर्मप्रतिभासो न स्पष्टो विकल्पत्वादनुमानादिविकल्पवदित्यनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, पुरोवर्तिनि वस्तुनींद्रियजविकल्पेन स्पष्टेन व्यभिचारात् । तस्यापि पक्षीकरणादव्यभिचार इति चेत्तर्हि संभाव्यव्यभिचारो हेतुः स्पष्टत्वेन विकल्पत्वस्य

जैसे नील और नीलान्तर में नील की अपेक्षा नीलान्तर (अधिक नील) रूप है उसी प्रकार नीलान्तर की अपेक्षा नील है। इस प्रकार परमार्थ से सद्भूत नीलादि वस्तुओं में आपेक्षिकपना विद्यमान है इसलिए आपेक्षिकता की, कल्पनारोपितत्व के साथ व्याप्ति नहीं जानी जा सकती है। एतदर्थ अंतरंग और बहिरंग पदार्थों में रहने वाली संख्या को निस्वरूप न कहा जाये अर्थात् आपेक्षिक भी संख्या वस्तुभूत है स्वरूप शून्य नहीं है।

''यदि पुनः कल्पनारोपित साधन में अस्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने पर आपेक्षिकपना हेतु कहते हैं अर्थात् बौद्ध आपेक्षिकत्व हेतु से कल्पना आरोपित की सिद्धि नहीं करते हैं-अपितु कल्पनारोपितत्व साधन में अस्पष्ट रूप से प्रतिभासित आपेक्षिक है, ऐसा कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि इस साधन में सौगत के द्वारा कथित छोटा, बड़ा आदि वस्तु के स्थविष्ठ आदि दृष्टान्त साधन विकल हैं। साधन से रहित होने से विकल हैं क्योंकि स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व आदि धर्मों के स्पष्टावभासित्व विद्यमान है अतः हेतु का विशेषण अस्पष्ट प्रकाशित्व दृष्टान्त में न होने से साधन विकल दृष्टान्त है।

''उन स्थूलपना आदि धर्म में स्पष्टप्रकाशितपना भ्रान्त स्वरूप है''-ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि स्थूलत्व आदि धर्मों के स्पष्ट भासित्व में बाधक प्रमाण का अभाव है। सौगतानुयायी स्थूलत्व आदि धर्मों के स्पष्ट भासित्व को अनुमान के द्वारा बाधित कर रहा है-तथापि-स्थूलत्व आदि धर्मों का प्रतिभास स्पष्ट नहीं है-क्योंकि विकल्पात्मक है; जो विकल्प स्वरूप है- उसका प्रतिभास स्पष्ट नहीं होता है, जैसे विकल्प आदि अनुमान ज्ञान अर्थात् जैसे विकल्पात्मक होने से अनुमान स्मृति आदि ज्ञान स्पष्ट जानने वाले नहीं हैं। इस प्रकार स्थूल आदि धर्म स्पष्ट प्रतिभास अनुमान प्रमाण से बाधित है। जैनाचार्य कहते हैं कि सौगत का ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इस अनुमान में प्रत्यक्ष सामने रखी हुई वस्तु में इन्द्रियजन्य ज्ञान के विकल्प से व्यभिचार आता है अर्थात् सन्मुख रखे हुये घट, पट आदि में इन्द्रियजन्य विकल्प ज्ञान स्पष्ट दिख रहा है परन्तु उसमें स्पष्टपने का अभाव साध्य नहीं है अतः बाधक अनुमान का हेतु व्यभिचारी है। प्रमाण ज्ञान का बाधक झूठा ज्ञान नहीं हो सकता है।

बौद्ध कहता है कि ''उस इन्द्रियजन्य विकल्प को पक्षकोटि में रख देने से व्यभिचार नहीं आता है अर्थात् स्थूलत्व आदि धर्म के समान इन्द्रियजन्य विकल्प भी स्पष्ट नहीं हैं अतः साध्य में हेतु के रहने से हेतु व्यभिचारी नहीं है'' बौद्धों के इस कथन का खण्डन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो तुम्हारा हेतु संभाव्यव्यभिचारी[१] होता है क्योंकि विकल्पत्व का स्पष्टत्व के साथ कोई विरोध सिद्ध नहीं

१. व्यभिचार के सन्देह होने को संभाव्य व्यभिचारी कहते हैं।

विरोधासिद्धेः क्वचिद्विकल्पत्वस्यास्पष्टत्वेन दर्शनात्। स्पष्टत्वेन विरोधे चंद्रद्वयप्रतिभासत्वस्य सत्यत्वेनादर्शनात् स्वसंवित्प्रतिभासत्वस्यापि सत्यत्वं मा भूत् तथा तद्विरोधसिद्धेरविशेषात्। अथ प्रतिभासित्वाविशेषेपि स्वसंवित्प्रतिभासः सत्यः शशिद्वयप्रतिभासश्चासत्यः संवादादसंवादाच्चोच्यते तर्हि विकल्पत्वाविशेषेपींद्रियजविकल्पः स्पष्टः साक्षादर्थग्राहकत्वात् नानुमानादिविकल्पोऽसाक्षादर्थग्राहकत्वादित्यनुमन्यतां। तथा चेंद्रियजविकल्पे व्यभिचार एव निर्विकल्पत्वादिंद्रियजस्य ज्ञानस्यानिंद्रियजो विकल्पोस्तीतिचेन्न, तस्याग्रे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् ततो नावस्पष्टावभासित्वं दृष्टांतेस्तीति। साधनवैकल्यमेव सर्वत्र संख्यायां च तन्नास्तीति पक्षाव्यापको हेतुर्वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्। न हि स्पष्टावभासिष्वर्थेष्वस्पष्टावभासित्वं संख्यायाः प्रसिद्धं। न च तत्र

है। क्वचित् विकल्प ज्ञान भी अस्पष्टत्व रूप से दृष्टिगोचर होता है। स्पष्ट का विकल्प के साथ विरोध होने पर एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा के दृष्टिगोचर होने वाले प्रतिभासत्व का सत्य रूप से दर्शन नहीं हो सकता अतः स्वसंवेदन के प्रतिभास को सत्यपना नहीं हो सकता क्योंकि प्रतिभासपने का उस सत्यपने के साथ विरोध की सिद्धि होने में कोई अंतर नहीं है।

अथवा सामान्यरूप से प्रतिभासत्व के विशेषता रहित होने पर भी संवादक होने से स्वसंवेदन का प्रतिभास सत्य है और प्रमाणान्तर प्रवृत्ति या सफल प्रवृत्ति का जनक रूप संवादक न होने से दो चन्द्रमा का प्रतिभास असत्य कहा जाता है तो जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा होने पर तो विकल्प की विशेषता न होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान भी विकल्पात्मक स्पष्ट है क्योंकि इन्द्रियजन्यज्ञान विशद रूप से अर्थ का ग्राहक है।

अनुमान, स्मृति आदि विकल्प ज्ञान अविशद रूप से अर्थ के ग्राहक होने से स्पष्ट नहीं हैं ऐसा मानना चाहिए अतः इन्द्रियजन्य विकल्प ज्ञान में स्पष्टपना होने से संख्या को वास्तविक नहीं मानने में दिये गया व्यभिचार दोष का निराकरण नहीं हुआ।

"निर्विकल्प होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान के अनिंद्रियजन्य विकल्प है अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान निर्विकल्प है अतः विकल्प ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, अपितु विकल्प ज्ञान अनिन्द्रिय जन्य है।" ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि एकदेश विशद जानने वाला इन्द्रियजन्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान विकल्प स्वरूप है, इसकी आगे व्यवस्थापना (सिद्धि) की जाएगी। इसलिए विशद रूप से प्रकाशित स्थूलत्व आदि दृष्टान्त में अस्पष्ट भासित्व हेतु के नहीं रहने से सौगत के द्वारा दिया गया दृष्टान्त साधन विकल है।

अथवा-संख्या को निरूप सिद्ध करने में दिया गया अविशद प्रकाशत्व और आपेक्षिकत्व हेतु सम्पूर्ण संख्या में नहीं रहता है, अतः हेतु पक्ष में व्यापक नहीं है-जैसे वनस्पति को चैतन्य सिद्ध करने के लिये दिया गया स्वाप (शयन) हेतु सर्व वनस्पतियों में व्यापक नहीं है अर्थात् वनस्पति में चैतन्य सिद्धि करने के लिए दिया गया शयन हेतु सर्व वनस्पतियों में नहीं रहने से भागासिद्ध हेतु है। वैसे ही सभी संख्याओं में अस्पष्ट भासित्व नहीं है क्योंकि स्पष्ट प्रतिभासी घटादि पदार्थों में रहने वाली संख्या का अस्पष्टभासित्व

स्पष्टसंख्यानुभवाभावे तदनुसारी विकल्पः पाश्चात्यो युक्तः, पीतानुभवाभावे पीतविकल्पवत्। तदभिलाषविकल्पे वासना तस्माद्युक्त एवेति चेत् तर्हि पीतादिविकल्पोपि तत एवेति न पीताद्याकारो वास्तवोर्थेषु संख्यावदिति नीरूपत्वं। सत्येंद्रियज्ञानेवभासनात् पीताद्याकारो वास्तव एवेति चेत् तत एव संख्या वास्तवी किं न स्यात्। न हि सा तत्र नावभासते तदवभासाभावात् कस्यचित्तदक्षव्यापारांतरांतरं तदनिश्चयात् तदविज्ञाने तस्याः प्रतिभासनमिति चेत्, तत एव पीताद्याकारः स्यात्तत्र तन्मा भूत्। यदि पुनरभ्यासादिसाकल्ये सर्वस्याक्षव्यापारांतरं

प्रसिद्ध नहीं है। यदि वहाँ स्पष्ट संख्या के अनुभव का अभाव माना जायेगा तो उस अनुभव के अनुसार होने वाला पिछला विकल्प ज्ञान युक्त कैसे होगा ? जैसे पीत के अनुभव के अभाव में पीछे पीत का विकल्प ज्ञान नहीं हो सकता।

''संख्या के विकल्प में अथवा शब्द योजना के विकल्प में वासना लगी रहती है। उस वासना के कारण अवस्तुभूत संख्या का विकल्पज्ञान उत्पन्न होना युक्त ही है। बौद्ध के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो असत्य वासनाओं के कारण पीत, नील आदि का भी विकल्प ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि सौगत द्वारा स्वीकृत स्वलक्षण अर्थों में पीत आदि आकार भी वास्तविक नहीं हो सकते, जैसे कि पदार्थों में वे संख्या वास्तविक नहीं मान रहे हैं, इस तरीके तो पीतादिक आकार भी निःस्वरूप हो जाएंगे अथवा पीत नीलादि आकारों से रहित वह स्वलक्षण निःस्वरूप हो जाएगा जो बौद्धों को इष्ट नहीं है।

यदि कहो कि इन्द्रियजन्य सत्य ज्ञान में प्रकाशित होने के कारण पीत, नील आदि आकार वास्तविक हैं, तब तो सत्य इन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिभासित होने के कारण संख्या भी वास्तविकी क्यों नहीं होगी। वह संख्या उस सत्य इन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होती है-ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर जगत् प्रसिद्ध उस संख्या के प्रतिभास का अभाव हो जाएगा।

यदि कहो कि किसी-किसी पुरुष के इन्द्रिय व्यापारान्तर संख्या का निश्चय नहीं हो पाता है इसलिए उस इन्द्रियजन्य ज्ञान में उस संख्या का प्रतिभास होना नहीं माना है। तब तो किसी मनुष्य को इन्द्रिय व्यापार के अनन्तर पीतादि का शीघ्र निर्णय नहीं होता है, अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान में पीतादि का प्रतिभास भी नहीं मानना चाहिए। यदि पीतादि का प्रतिभास वास्तविक है तो संख्या का प्रतिभास भी वास्तविक होगा।

यदि कहो कि पुनः अभ्यास आदि सकल कारणों की पूर्णता होने से सभी प्राणियों को इन्द्रिय व्यापार के अनन्तर पीतादि आकारों में निश्चय उत्पन्न हो जाता है अतः उस इन्द्रियजन्य ज्ञान में उन वस्तुभूत पीतादि आकारों का प्रतिभास है, तब तो अभ्यास आदि सामग्री की पूर्णता होने पर संख्या का सभी को निश्चय हो जाने से संख्या की ज्ञप्ति भी इन्द्रियजन्य ज्ञान में मान लेना चाहिए क्योंकि अभ्यास आदि कारणों की समग्रता होने पर सभी जीवों के अक्ष व्यापार द्वारा संख्या का निर्णय हो जाना असिद्ध नहीं है तथा पीतादि आकारों से संख्या में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् पीतादि आकारों के समान संख्या भी वस्तुभूत है।

पीताद्याकारेषु निश्चयोत्पत्तेस्तद्वेदने तत्प्रतिभासनमिति मतं तदा संख्याप्रतिभासनमपि तत एवानुमन्यतां। न हि तदभ्यासादिप्रत्ययासाकल्ये सर्वस्याक्षव्यापारान्निश्चयः संख्यायामसिद्ध इति कश्चित् पीताद्याकाराद्विशेषः संख्यावत्पीताद्याकाराणामपि वस्तुन्यभाव एवेति वायुक्तं, सकलाकाररहितस्य वस्तुनोऽप्रतिभासनात् पुरुषाद्वैतवत्। विधूतसकलकल्पनाकलापं स्वसंवेदनमेव स्वतः प्रतिभासमानं सकलाकाररहितं वस्तु मतमिति चेत् तदेव ब्रह्मतत्त्वमस्तु न च तत्प्रतिभासते कस्यचिज्ज्ञानैकात्मन एव सर्वदा प्रतीतेः। सर्वस्य प्रतीत्यनुसारेण तत्त्वव्यवस्थायां बहिरंतश्च वस्तुभेदस्य सिद्धेः। कथं पीताद्याकारवत् संख्यायाः प्रतिक्षेपः प्रतीत्यतिक्रमे कुतः स्वेष्टसिद्धिरित्युक्तप्रायं। ततः—

सा चैकत्वादिसंख्येयं सर्वेष्वर्थेषु वास्तवी। विद्यमानापि निर्णीतिं कुर्याद्धेतोः कुतश्चन ॥ १८ ॥

प्रतिक्षणविनाशादि बहिरंतर्यथास्थितेः। स्वावृत्त्यपायवैचित्र्याद्बोधवैचित्र्यनिष्ठितेः॥ १९ ॥

संख्या के समान पीतादि आकारों का भी वस्तुभूत पदार्थों में अभाव ही है-ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि पुरुषाद्वैत के समान सकल आकारों से रहित वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है।

सम्पूर्ण कल्पनाओं के समुदाय से विशेष रूप से रहित स्वसंवेदन ज्ञान ही स्वयमेव प्रतिभासमान सकल आकारों से रहित वस्तुभूत है, स्वलक्षण नीलाकार, पीताकार, संख्यादि पदार्थ वस्तुभूत नहीं हैं। इस प्रकार बौद्धों के कथनानुसार ब्रह्माद्वैतवादियों का परम ब्रह्म तत्त्व भी वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है परन्तु वह ब्रह्माद्वैत किसी को भी प्रतिभासित नहीं होता है क्योंकि **एक और अनेक रूप से पदार्थ सदा प्रतिभासित होता है-ऐसी प्रतीति होती है।**

सभी प्रामाणिक पुरुषों की प्रतीति के अनुसार तत्त्वों की व्यवस्था होने पर बहिरंग, अंतरंग वस्तुओं के भेद की सिद्धि होती है। इसलिए पीतादि आकारों के समान संख्या का खण्डन कैसे कर सकते हैं ? यदि प्रतीतियों का अतिक्रमण किया जायेगा तो अभीष्ट तत्त्वों की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इसका कथन पूर्व में कर चुके हैं।

ये प्रसिद्ध एकत्व, द्वित्व आदि संख्यायें सम्पूर्ण अर्थों में वास्तविक रूप से विद्यमान होकर भी किसी विशिष्ट ज्ञान रूप कारणवश अपना निर्णय कराती हैं जैसे कि अंतरंग और बहिरंग सभी पदार्थ बौद्धमतानुसार प्रत्येक क्षण में नष्ट हो जाने से वर्तमान रूप से स्थित हैं अर्थात् क्षण-क्षण में विनश जाना ही वर्तमान है और क्षणिकपना विशिष्ट ज्ञान से ही जाना जाता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप नाश की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता होना प्रतिष्ठित ही है।

प्रत्येक पदार्थ एक दो आदि संख्या रूप है, जैसे शुद्ध दृष्टि से जीव एक ही है, परन्तु विशिष्ट दृष्टि से संसारी, मुक्त ; त्रस, स्थावर आदि अनेक भेद पाये जाते हैं। वे संख्या के बिना ज्ञात नहीं हो सकते ॥१८-१९॥ अर्थात् जाने नहीं जा सकते। अथवा प्रमेय पदार्थ की सत्ता ही प्रमाताओं को निश्चय कराने में हेतु नहीं है क्योंकि यदि सत्ता ही पदार्थों के निश्चय कराने में कारण होती तो सर्वदा सभी जीवों के सभी पदार्थों के

न हि प्रमेयस्य सत्तैव प्रमातुर्निश्चये हेतुः सर्वस्य सर्वदा सर्वनिश्चयप्रसंगात् । नापींद्रियादिसामग्रीमात्रं व्यभिचारात् । स्वावरणविगमाभावे तत्सद्भावेपि प्रतिक्षणविनाशादिषु बहिरंतश्च निश्चयानुत्पत्तेः, स्वावरणविगमविशेषवैचित्र्यादेव निश्चयवैचित्र्यासिद्धेरन्यथानुपपत्तेः । तथा सति नियतमेकत्वाद्यशेषं संख्या सर्वेष्वर्थेषु विद्यमानापि निश्चयकारणस्य क्षयोपशमलक्षणस्याभावे निश्चयं जनयति तद्भाव एव कस्यचित्तदनिश्चयात् ॥

यत्रैकत्वं कथं तत्र द्वित्वादेरपि संभवः । परस्परविरोधाच्चेत्तयोर्नैवं प्रतीतितः ॥ २० ॥

प्रतीते हि वस्तुन्येकत्वसंख्या द्वितीयाद्यपेक्षायां द्वित्वादिसंख्या वा नैकस्थत्वात्तस्यास्ततो न विरोधः ॥

निश्चय का प्रसंग आता। इन्द्रिय, प्रकाश आदि सामग्री मात्र भी पदार्थों के निर्णय की कारण नहीं है क्योंकि इन्द्रिय, प्रकाश आदि सामग्री के होने पर भी सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान नहीं होता अतः इन्द्रिय, आलोक आदि को प्रमेय के निश्चय का कारण मानना अनैकान्तिक दोष से युक्त है।

स्वकीय ज्ञान के आवरण के अभाव में इन्द्रियों के विद्यमान होने पर भी प्रतिक्षण विनाश आदिमें बहिरंग और अंतरंग पदार्थों का निश्चय नहीं होता है तथा ज्ञानावरण के क्षयोपशम या क्षय होने पर इन्द्रियों के अभाव में पदार्थों का निश्चय हो जाता है।

भावार्थ : जैसे अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान इन्द्रियों के अभाव में भी पदार्थों का निश्चय कर लेते हैं अतः इन्द्रियाँ और प्रकाश भी पदार्थों के निश्चय कराने में कारण नहीं हैं। स्वकीय आवरण क्षयोपशम और क्षय की विचित्रता से ही पदार्थों के निश्चय के विचित्रता की सिद्धि होती है; अन्यथा (यदि क्षयोपशम की विशेषता न हो तो) मन्द, मन्दतर आदि ज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। सो क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान होने की व्यवस्था हो जाने पर पदार्थों में नियत एकत्व आदि संख्यायें सारे पदार्थों में विद्यमान हैं फिर भी निश्चयज्ञान के कारणभूत क्षयोपशम लक्षण के अभाव में निश्चय को उत्पन्न नहीं कराती हैं और क्षयोपशम के होने पर किसी व्यक्ति को संख्या का निश्चय हो जाता है।

शंका : जिस पदार्थ में एकत्व संख्या विद्यमान है, उसमें दो तीन आदि संख्या का रहना कैसे संभव है ? क्योंकि एकत्व और दो तीन आदि में परस्पर विरोध है।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि संख्या की प्रमाणों से प्रतीति हो रही है और प्रतीति से प्रसिद्ध का विरोध नहीं होता है ॥२०॥

प्रमाण से प्रतीत (निर्णीत) वस्तु में एकत्व संख्या है, और दूसरे, तीसरे आदि पदार्थों की अपेक्षा द्वित्व आदि संख्या भी है। वे द्वित्व आदि संख्यायें अनेकस्थ होने से एक पदार्थ में अनेक संख्या के रहने का विरोध नहीं है। जैसे वैशेषिक मत में एक समवाय अनेक पदार्थों में रहता है।

वस्तुन्येकत्र दृष्टस्य परस्परविरोधिनः । वृत्तिधर्मकलापस्य नोपालंभाय कल्पते ॥ २१ ॥

स्याद्वादविद्विषामेव विरोधप्रतिपादनात् । यथैकत्वं पदार्थस्य तथा द्वित्वादि वांछताम् ॥ २२ ॥

ये खलु पदार्थस्य येन रूपेणैकत्वं तेनैव द्वित्वादि वांछंति तेषामेव स्याद्वादविद्विषां विरोधस्य प्रतिपादनात्। "विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां" इति वचनात् न स्याद्वादिनामेकत्वादिधर्मकलापस्य परस्परं प्रतिपक्षभूतस्य वृत्तिरेकत्रैकदा विरुध्यते तथा दृष्टत्वात् । ततो नोपालंभः प्रकल्पनीयः॥

स्याद्वादिनां कथं न विरुद्धता उभयैकात्म्याविशेषादिति चेत् ;—

येनैकत्वं स्वरूपेण तेन द्वित्वादि कथ्यते। नैवानंतात्मनोऽर्थस्येत्यस्तु क्वेयं विरुद्धता ॥ २३ ॥

द्वितीयाद्यनपेक्षेण हि रूपेणार्थस्यैकत्वं तदपेक्षेण द्वित्वादिकमिति दूरोत्सारितैव विरुद्धताऽनयोः

प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले परस्पर विरोधी धर्मों के समूह का एक वस्तु में रहने का उलाहना देना कल्पित नहीं है (अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्त में एक में परस्पर विरोधी धर्म कैसे रहते हैं-ऐसा उलाहना नहीं दे सकते।) प्रत्युत् स्याद्वाद से द्वेष रखने वाले के ही विरोध का प्रतिपादन (विरोध आता) है क्योंकि स्याद्वाद से द्वेष रखने वाले जिस प्रकार से पदार्थ का एकत्व मानते हैं उसी प्रकार से दो तीन आदि संख्या का सद्भाव मानते हैं परन्तु स्याद्वादियों के सिद्धान्त में भिन्न-भिन्न स्वभावों से एकत्व, द्वित्व आदि संख्याओं की वृत्ति मानी गई है, अतः स्याद्वाद में विरोध नहीं है॥२१-२२॥

जो प्रतिवादी नियम से पदार्थ का जिस स्वरूप से एकत्व मानते हैं उसी स्वरूप से दो, तीन आदि रूप संख्या की वाञ्छा करते हैं, उन्हीं स्याद्वाद से द्वेष रखने वाले वादियों के विरोध दोष कहा जाता है। **श्री समन्तभद्राचार्य ने देवागमस्तोत्र** में कहा है कि "स्याद्वाद सिद्धान्त के साथ विरोध रखने वाले एकान्तवादियों के एकत्व, अनेकत्व, उभयत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि का एक पदार्थ में रहने का विरोध है," किन्तु स्याद्वादियों के सिद्धान्तानुसार परस्पर प्रतिपक्षीभूत एकत्व आदि धर्मों के समूह की एक पदार्थ में एक साथ एक समय में वृत्ति होना विरुद्ध नहीं है क्योंकि इस प्रकार एक ही वस्तु में एक समय में नित्य, अनित्य, सत्, असत् , एक, अनेक आदि अनेक धर्मों का आधार दृष्टिगोचर हो रहा है अतः स्याद्वाद सिद्धान्त में विरोध का उलाहना नहीं दे सकते।

शंका : स्याद्वाद सिद्धान्त में परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक पदार्थ में रहना विरोधी क्यों नहीं है ? क्योंकि स्याद्वाद और एकान्त सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् उभय (दोनों ही) एक स्वरूप हैं। **समाधान :** जैनाचार्य कहते हैं **स्याद्वाद सिद्धान्त में जिस स्वरूप से एकत्व है, उस स्वरूप से द्वित्व आदि का कथन नहीं किया जाता है। क्योंकि अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अन्य धर्मों की अपेक्षा परस्पर विरुद्ध धर्मों के रहने में विरुद्धता कैसे आ सकती है-अर्थात् नहीं आ सकती** जैसे एक ही वस्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है, इसमें कोई विरोध नहीं है॥२३॥

द्वितीय आदि की अपेक्षा नहीं करके कथन करने पर पदार्थत्व के एकत्वपना है और द्वितीय आदि

स्वरूपभेद: पुनरनंतात्मकत्वात्तस्य तत्त्वतो व्यवतिष्ठते कल्पनारोपितस्य तस्य निराकरणात् भवंश्चैकत्वादीनामेकत्र सर्वथाप्यसतां विरोध: स्यात्सतां वा। किं चात:॥

सर्वथैवासतां नास्ति विरोध: कूर्मरोमवत्। सतामपि यथा दृष्टस्वेष्टतत्त्वविशेषवत् ॥ २४ ॥

न सर्वथाप्यसतां विरोधो नापि यथा दृष्टसतां । किं तर्हि, सहैकत्रादृष्टानामिति चेत् कथमिदानीमेकत्वादीनामेकत्र सकृदुपलभ्यमानानां विरोध: सिद्ध्येत् ? मूर्तत्वादीनामेव तत्त्वतो भेदनयात्तत्सिद्धे:। ननु च यथैकस्यार्थस्य सर्वसंख्यात्मकत्वं तथा सर्वार्थात्मकत्वमस्तु तत्कारणत्वादन्यथा तदयोगात्॥

की अपेक्षा करने पर अर्थ की द्वित्व, त्रित्व आदि संख्यायें हैं अत: विरुद्धता को दूर भगा दिया है। यद्यपि एकत्व, अनेकत्व, नित्य, अनित्यत्व आदि में अपने स्वरूप की अपेक्षा भेद है तथापि अनन्त धर्मात्मक धर्मी वस्तु के साथ तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा भेद नहीं है। अत: एकत्व के साथ द्वित्व आदि संख्या विरुद्ध तथा कल्पना आरोपित नहीं है अर्थात् वास्तविक रूप से एक धर्मी में परस्पर विरोधी धर्म रहने में कोई विरोध नहीं है।

एकत्व आदि धर्मों का एक पदार्थ में रहने का विरोध सत् पदार्थों का विरोध है? या असत् पदार्थों का विरोध है ? ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं:-

कछुए के रोम के समान सर्वथा असत् पदार्थों का विरोध नहीं हो सकता। तथा जैसे दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सत्पदार्थों का भी परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि अपने-अपने अभीष्ट तत्त्वों के विशेषों का विरोध किसी ने भी नहीं माना है॥२४॥

सभी प्रकारों से असत् पदार्थों का विरोध नहीं है और जिस प्रकार वे दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सत् पदार्थों का विरोध भी नहीं है। **प्रश्न :** तो फिर विरोध किसका है ?

उत्तर : एक अर्थ (पदार्थ) में एक साथ दृष्टिगोचर नहीं होने वाले धर्मों का विरोध है तो एक धर्मी मे एक साथ दृष्टिगोचर होने वाली एकत्व, द्वित्व आदि संख्याओं का विरोध कैसे सिद्ध हो सकता है ?

अत: मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व आदि का वास्तव में भेदनय की अपेक्षा विरोध सिद्ध होता है वह एक स्थलपर नहीं दीख रहा है।

शंका : जैसे एक अर्थ का सम्पूर्ण संख्याओं के साथ तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध है, उसी प्रकार एक अर्थ का सम्पूर्ण अर्थों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होना चाहिए क्योंकि उन पौद्गलिक कार्यों के कारण सभी पुद्गल हो सकते हैं। अन्यथा (उनके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं माना जाता है तो) उसके कारणत्व का अयोग होता है अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध के बिना परस्पर नियत कार्य कारण भाव के अभाव का प्रसंग आता है।

समाधान : इस प्रकार शंकाकार के कथनानुसार सभी पृथक्-पृथक् पदार्थ दूसरे पदार्थों के साथ तदात्मक सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार तो अतीव आकुलता बढ़ जायेगी अर्थात् सर्व पदार्थ एकमेक हो जायेंगे। किसी भी वादी को ऐसी पदार्थों की संकरता इष्ट नहीं है।

सर्वं सर्वात्मकं सिद्ध्येदेवमित्यतिसाकुलम् । सर्वकार्योद्भवे सत्त्वस्यार्थस्येदृक्षशक्तितः ।। २५ ।।

भवदपि हि सर्वं सर्वकार्योद्भवे शक्तं सर्वकार्योद्भावनशक्त्यात्मकं सिध्येद्यथा सर्वसंख्याप्रत्ययविषय भूतं सर्वसंख्यात्मकमिति शक्त्यात्मना सर्वं सर्वात्मकत्वमिष्टमेव ।।

व्यक्त्यात्मनानुभावस्य सर्वात्मत्वं न युज्यते। सांकर्यप्रत्ययापत्तेरव्यवस्थानुषंगतः ।। २६ ।।

न हि सर्वथा शक्तिव्यक्त्योरभेदो येन व्यक्त्यात्मनापि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे सांकर्येण प्रत्ययस्यापत्तेर्भावस्याव्यवस्थानुषज्यते कथंचिद्भेदात् । पर्यायार्थतो हि शक्तेर्व्यक्तिर्भिन्ना तदप्रत्यक्षत्वेपि प्रत्यक्षादभेदेन तदघटनात् । ननु च यथा प्रत्ययनियमाद्व्यक्तय: परस्परं न संकीर्यते तथा शक्तयोपि तत एवेति

अथवा, सम्पूर्ण कार्यों के उत्पन्न कराने में द्रव्य दृष्टि से सत्त्व अर्थ के इस प्रकार की शक्ति मानी गई है अर्थात् सत्ता संग्रह नय की अपेक्षा सत्त्व सामान्य से सर्व जड़ चेतन पदार्थ एक हैं।।२५।।

सर्व पदार्थ सर्व कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं अत: सर्व कार्य उद्भावन शक्ति से तदात्मक सिद्ध हैं जैसे कि सर्व संख्या ज्ञानों के विषयभूत पदार्थ सम्पूर्ण संख्याओं के साथ तदात्मक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ शक्ति रूप से सर्व के साथ तदात्मक इष्ट ही हैं अर्थात् सामान्य सत्ताग्राही नय की अपेक्षा सर्व तदात्मक हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

शक्ति (द्रव्य) दृष्टि से सर्व पदार्थ एक होते हुए भी व्यक्तिस्वरूप (पर्याय दृष्टि) से पदार्थों का सर्वात्मकपना (एकत्व) मानना युक्त (सुसंगत) नहीं है क्योंकि व्यक्तिरूप से सर्व पदार्थों का परस्पर एकत्व मान लेने पर सांकर्य के ज्ञान होने की आपत्ति होने के कारण पदार्थों की अव्यवस्था होने का प्रसंग आयेगा अर्थात् गोरस की अपेक्षा दूध और दही में एकत्व होते हुए भी पर्याय रूप दूध और दही में एकत्व नहीं है। क्योंकि स्वकीय पर्याय की अपेक्षा दोनों एक हो जाने पर दूध और दही की व्यवस्था का अभाव हो जायेगा।।२६।।

सर्वथा व्यक्ति और शक्ति में अभेद नहीं है। जिससे शक्ति के समान व्यक्ति आत्मकत्व के साथ भी सर्व पदार्थों का सर्वात्मकत्व हो जाने से सांकर्यज्ञान (सर्व पदार्थों के एक ज्ञान) होने की आपत्ति (प्रतिपत्ति) होती है अर्थात् सभी पदार्थों का एकत्व रूप से ज्ञान होने का और सर्व पदार्थों की नियत व्यवस्था के अभाव का प्रसंग आता है, अत: शक्ति और व्यक्ति में परस्पर कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा शक्ति (द्रव्य) से व्यक्ति (पर्याय) भिन्न है क्योंकि उन शक्तियों के अप्रत्यक्ष होने पर भी व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष होना प्रतीत होता है। सर्वथा अभेद या भेद घटित नहीं होता है। सर्वथा व्यक्ति के भेद होने पर शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता।

शंका : जैसे प्रतिनियत ज्ञान के नियम से व्यक्तियाँ परस्पर एकमेक नहीं होती हैं उसी प्रकार शक्तियाँ भी उसी ज्ञान के नियम से संकीर्ण (एकत्व) नहीं होंगी। अत: शक्ति रूप से सर्व पदार्थ सर्वात्मक

कथं शक्त्यात्मकं सर्वं स्यात्। न हि दहनस्य दहनयुक्तावनुमानप्रत्ययः स एवोद्यानशक्तौ यत्सूत्रप्रत्ययप्रतिनियमो न भवेदिति कश्चित्, सोप्युक्तानभिज्ञ एव। न हि वयं शक्तीनां संकरं ब्रूमो व्यक्तीनामिव तासां कथंचित्परस्परमसांकर्यात्। किं तर्हि, भावस्यैकस्य यावंति कार्याणि कालत्रयेपि साक्षात्पारंपर्येण वा तावंत्यः शक्तयः संभाव्यंत इत्यभिदध्महे प्रत्येकं सर्वभावानां कथंचिदनुकार्यस्य कस्यचिदभावात्। सर्वं कृतकमेकांततस्तथा स्यादितिचेन्न, सर्वथा सर्वेण सर्वस्योपकार्यत्वासिद्धेः। द्रव्यार्थतः कस्यचित्केनचिदनुपकरणात्। न चोपकार्यत्वानुपकार्यत्वयोरेकत्र विरोधः, संविदि वेद्यवेदकाकारवत् प्रत्यक्षेतरस्वसंविद्वेद्याकारविवेकवद्वा निर्बाधनात्प्रत्ययात्तथा सिद्धेः। अन्यथा कस्यचित्तत्त्वनिष्ठानासंभवात्। नन्वेवं सर्वत्र सर्वसंख्यया संप्रत्ययासत्त्वात्

(एकमेक) कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि अग्नि की दाह करने रूप शक्ति में जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, वही अनुमान ज्ञान अग्नि की निस्सरण या ऊर्ध्वज्वलन शक्ति में ज्ञापक नहीं है जिससे कि वहाँ ज्ञान के होने का प्रतिनियम नहीं होता हो अर्थात् भिन्न-भिन्न शक्तियों में जब भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है तो शक्ति रूप से सर्व शक्तियों को सर्वात्मकपना क्यों इष्ट किया जाता है ? ऐसा कोई कहता है ?

समाधान : जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला हमारे अभिप्राय को नहीं समझता है क्योंकि हम शक्तियों का भी परस्पर में संकर हो जाना नहीं कहते हैं। व्यक्तियों के समान उन शक्तियों के भी परस्पर में कथंचित् असंकर रूप से परस्पर भेद है।

प्रश्न : जैन क्या मानते हैं ? **उत्तर :** **''एक पदार्थ के तीनों काल में भी अव्यवहित रूप से या परम्परा से जितने भी कार्य हो चुके हैं या हो रहे हैं अथवा होंगे, उतनी ही शक्तियाँ उस पदार्थ की संभावित होती हैं''** ऐसा हम मानते हैं। प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थों का कथंचित् अनुकरण करने योग्य कार्य होय, ऐसे किसी भी पदार्थ का सद्भाव नहीं माना है अर्थात् सभी कार्यों में से कोई भी एक कार्य (पर्याय) सम्पूर्ण भावों (पदार्थों) का अनुकरण करे ऐसा जैन सिद्धान्त नहीं है।

''ऐसा मानने पर तो सम्पूर्ण पदार्थ एकान्त रूप से कृतक ही हो जाएंगे''। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वथा सर्व पदार्थों के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के उपकारत्व का अयोग है। (उपकारत्व की असिद्धि है।) क्योंकि, अनादि अनन्त द्रव्यार्थ (द्रव्यार्थ नय) की अपेक्षा किसी का किसी के द्वारा उपकार नहीं होता है। (द्रव्य नित्य और अकारण है) पर्याय दृष्टि से उपकारक उपकार्य भाव है। एक पदार्थ में उपकार्यत्व और अनुपकार्यत्व का विरोध नहीं है जैसे सौगत के द्वारा स्वीकृत संवेदन में वेद्याकार और वेदकाकार दोनों अविरोध रूप से रहते हैं। अथवा, वेद्य वेदक आकारों से रहित शुद्ध संवेदन ज्ञान में स्वसंवेदन अंश प्रत्यक्ष रूप माना है वे और वेद्य, वेदक, संवित्ति आदि आकारों के पृथक्पने को परोक्ष रूप माना है।

इसी प्रकार बाधारहित ज्ञान से गोचर उपकार्य अनुपकार्यपने की एक पदार्थ में सिद्धि हो रही है। अन्यथा (यदि बाधारहित ज्ञान से वस्तु की व्यवस्था नहीं मानते हैं तो) किसी भी वादी के स्वकीय अभीष्ट तत्त्वों का प्रतिष्ठित होना संभव नहीं है।

कथमेकत्वादिसंख्या सर्वा सर्वत्र व्यवतिष्ठते अतिप्रसक्तेरिति चेन्न, एकत्रैकप्रत्ययवद्द्वितीयाद्यपेक्षया द्वित्वादिप्रत्ययानामनुभवात् । सकृत्सर्वसंख्यायाः प्रत्ययो नानुभूयते एवेति चेत्, सत्यं । क्रमादभिव्यक्तिः क्वचिद्द्वित्वसंख्या हि द्वितीयाभिव्यक्ता द्वित्वप्रत्ययविज्ञेया, तृतीयाद्यपेक्षया तु त्रित्वादिसंख्याभिव्यक्ता त्रित्वादिप्रत्ययवेद्या । तथानभिव्यक्तायास्तस्याः तत्प्रत्ययाविषयत्वादसकृत्सर्वसंख्यासंप्रत्ययः । ननु संख्याभिव्यक्तः प्राक्कुतस्तनी कुतः सिद्धा ? तदा तत्प्रत्ययस्यासंभवात् । तत्संभवे वा कथं नाभिव्यक्ता ? यदि पुनरसती सदा कुतोऽभिव्यक्तिस्तस्याः मंडूकशिखावदित्येकांतवादिनामुपालंभः न स्याद्वादिनां सदसदेकांतानभ्युपगमात् । सा हि शक्तिरूपतया प्राक्कुतस्तनी परापेक्षातः पश्चादभिव्यक्त्यान्यथानुपपत्त्या सिद्धा

प्रश्न : इस प्रकार सभी पदार्थों में सम्पूर्ण संख्याओं के ज्ञान होने का सद्भाव नहीं है तो फिर एकत्व, द्वित्व आदि सभी संख्यायें सभी पदार्थों में कैसे व्यवस्थित हो जाती हैं ? यदि ज्ञान के बिना ही संख्याएँ सिद्ध हो जाती हैं तो अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् पुद्गल आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञान स्वरूप हो जायेंगे।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि एक ही पदार्थ में एकत्व ज्ञान के समान द्वितीय आदि पदार्थों की अपेक्षा से द्वित्व आदि संख्या का भी ज्ञान अनुभव में आ रहा है।

प्रश्न : एक साथ सर्व संख्याओं का ज्ञान अनुभव में नहीं आ रहा है।

उत्तर : तुम्हारा यह कहना सत्य है क्योंकि यद्यपि एक साथ सर्व संख्या नहीं होती है परन्तु क्रम से संख्याओं की अभिव्यक्ति होती है। किसी एक पदार्थ में क्वचित् दूसरे पदार्थ से अभिव्यक्त हुई द्वित्वादि संख्या द्वित्व ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है। तृतीयादि पदार्थों की अपेक्षा से अभिव्यक्त हुई त्रित्व आदि संख्या त्रित्वादि ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है अतः अनभिव्यक्त हुई उन संख्या का उन ज्ञान का अविषय होने से एक साथ सम्पूर्ण संख्या का ज्ञान नहीं होता है।

प्रश्न : संख्या की अभिव्यक्ति पूर्व किस पदार्थ से कौनसी संख्या उत्पन्न होती है (अभिव्यक्त होती है)? यह किस प्रमाण से सिद्ध है? क्योंकि अभिव्यक्ति के पूर्व काल में उस संख्या का ज्ञान होना असंभव है। यदि उनके पूर्व ज्ञान होना संभव है, तो वह संख्या अभिव्यक्त कैसे नहीं है? यदि उस समय संख्या अभिव्यक्त नहीं है, तो वह संख्या पदार्थ में किस कारण से अभिव्यक्त होती है। जैसे सर्वथा असत् रूपा मेंढक की चोटी की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है।

उत्तर : इस प्रकार का उलाहना एकान्तवादियों के प्रति लागू हो सकता है। यह उलाहना अनेकान्त वादियों के प्रति नहीं हो सकता क्योंकि स्याद्वादियों ने सर्वथा सत् और असत् को एकान्त से स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि वह संख्या किसी-न-किसी हेतु से शक्ति रूप से पूर्व में विद्यमान है अन्यथा संख्या के पीछे दूसरों की अपेक्षा से अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वह संख्या व्यक्ति रूप से पूर्व में विद्यमान नहीं थी

व्यक्तिरूपतया त्वसती साक्षात्स्वप्रत्ययाविषयत्वादिति द्रव्यार्थप्राधान्यादुपेयते। पर्यायार्थप्राधान्यात्तु सापेक्षा कार्या तद्भावभावात्। न ह्यसत्यामपेक्षायां द्वित्वादिसंख्योत्पद्यत इति न भावस्य व्यक्तसंख्यापेक्षया सर्वसंख्यात्मकत्वं यतस्तद्वत् सर्वं सर्वात्मकत्वं यतस्तद्वत्प्रसज्यते। तत्प्रसंग एव च सर्वत्र सर्वसंख्याप्रत्ययस्य यथासंभवमनुभूयमानस्य बाधकः स्यात् तदबाधिताच्च संख्याप्रत्ययात् सिद्धा वास्तवी संख्या।

ततो निर्बाधनादेव प्रत्ययात्तत्त्वनिष्ठितौ। संख्यासंप्रत्ययात्सत्या तात्त्विकीति व्यवस्थितम्॥ २७॥

यत्र निर्बाधः प्रत्ययस्तत्तात्त्विकं यथोभयप्रसिद्धं वस्तुरूपं, निर्बाधप्रत्ययश्च संख्यायामिति सा तात्त्विकी सिद्धा॥

सा नैव तत्त्वतो येषां तेषां द्रव्यमसंख्यकम्। संख्यातोत्यन्तभिन्नत्वाद्गुणकर्मादिवन्न किम्॥ २८॥

क्योंकि साक्षात् (अव्यवहित रूप से) अपने संख्या ज्ञान में विषयभूत नहीं हुई थी। इस प्रकार तीनों काल में अन्वित रहने वाले द्रव्य रूप अर्थ की प्रधानता से संख्या को नित्य स्वीकार करते हैं। अल्प काल रहने वाली पर्यायरूप अर्थ की प्रधानता से संख्या कारणों की अपेक्षा रखने वाली होने से कार्य भी है। अपेक्षा के होने पर (उन दो, तीन आदि पदार्थों के होने पर) ही संख्या का सद्भाव पाया जाता है। अपेक्षा के नहीं होने पर द्वित्व, त्रित्व आदि संख्या कभी भी उत्पन्न नहीं होती है अतः पदार्थों की व्यक्त हुई संख्याओं की अपेक्षा से सम्पूर्ण संख्याओं के साथ तदात्मकता नहीं है जिससे कि उस शक्ति के समान व्यक्ति रूप से भी पदार्थों के सर्व स्वरूप हो जाने का प्रसंग आवेगा और सम्पूर्ण पदार्थों में यथायोग्य संभव होकर असंभव किये जाने वाले सम्पूर्ण संख्याओं के ज्ञान का वह प्रसंग बाधक हो जावे अर्थात् सर्व संख्याओं के ज्ञान का प्रसंग नहीं आता है अतः बाधा रहित संख्या ज्ञान से (वास्तविक संख्या ज्ञान से) वास्तविक संख्या सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार सौगत ने द्वित्व आदि संख्या को सर्वथा अनित्य माना है और सांख्य ने संख्या को सर्व प्रकार नित्य ही माना है परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार संख्या कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

बाधा रहित प्रमाण ज्ञानों के द्वारा यदि तत्त्वों की व्यवस्था होना माना जाता है तो संख्या के समीचीन ज्ञान से संख्या भी वास्तविक सिद्ध होती है। इस प्रकार संख्या द्वारा तत्त्वों का प्ररूपण करना व्यवस्थित है॥२७॥

जिस विषय में निर्बाध प्रमाण है, वह पदार्थ वास्तविक है। जैसे वादी और प्रतिवादी दोनों के यहाँ प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप वास्तविक है। संख्या भी निर्बाध प्रमाण से सिद्ध है-अतः वह वास्तविक है और वह परमार्थभूत सिद्ध है।

जिन वैशेषिक आदि के सिद्धान्त में संख्या वास्तविक नहीं है, उनके सिद्धान्त में संख्या से अत्यन्त भिन्न होने के कारण गुण, कर्म, सामान्य आदि के समान द्रव्य संख्या रहित क्यों नहीं होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे॥२८॥

समवायवशादेवं व्यपदेशो न युज्यते। तस्यैकरूपताभीष्टे नियमाकारणत्वत: ॥ २९ ॥

संख्या तद्वतो भिन्नैव भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवदित्येके, तेषां द्रव्यमसंख्यं स्यात् संख्यातोत्यंतभिन्नत्वाद्गुणादिवत्। तत्र संख्यासमवायात्ससंख्यमेव तदिति चेत् न, तद्वशादेवं व्यपदेशस्यायोगात्। न समवाय: संख्यावद्द्रव्यमिति व्यपदेशनिमित्तं नियमाकारणत्वात् । प्रतिनियमाकारणं समवाय: सर्वसमवायिसाधारणैकरूपत्वात् सामान्यादिमत्तु द्रव्यमिति प्रतिनियतव्यपदेशनिमित्तं समवाय इत्यप्यनेनापास्तं।

''समवाय के वश से (समवाय सम्बन्ध से) संख्या वाले द्रव्य का व्यवहार हो जायेगा''- ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि वैशेषिक ने उस समवाय को एकस्वरूप अभीष्ट किया है अर्थात् **वैशेषिकों ने सर्व जगद्व्यापी समवाय एक ही माना है।** ''एक एव समवायस्तत्त्वं भावेन'' ऐसा कणाद का सूत्र है इसलिए समवाय भी अनेक स्थानों पर नियमित व्यवहार का कारण नहीं हो सकता॥२९॥

संख्या वाले द्रव्यों से संख्या गुण भिन्न ही है क्योंकि संख्या और संख्यावान का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होता है, जैसे सह्याचल और विन्ध्याचल का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होने से वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा कोई (वैशेषिक) कहता है। जैनाचार्य कहते हैं, ऐसा कहने वालों के गुणादिक के समान संख्या से अत्यन्त भिन्न होने से द्रव्य असंख्यात हो जायेंगे। संख्या के समवाय सम्बन्ध से द्रव्य संख्यात हो जायेंगे ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि संख्या के ''संयोग से संख्यावान है'' ऐसा व्यपदेश नहीं हो सकता। अर्थात् जिस प्रकार भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानवान नहीं होता है, तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञानवान है, उसी प्रकार संख्या के सम्बन्ध से द्रव्य संख्यावान है, ऐसा व्यपदेश नहीं होता है-संख्या के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से संख्यावान कहलाता है।

तथा नियम का कारण न होने से समवाय सम्बन्ध ''संख्यावान द्रव्य है'' इस व्यपदेश का निमित्त नहीं हो सकता है, इसी को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं-समवाय सम्बन्ध पदार्थों के संयोग कराने में प्रतिनियमित कारण नहीं है अर्थात् ज्ञान का संयोग आत्मा के साथ कराना और रूप, रस आदि का पुद्गल के साथ सम्बन्ध कराना, यह समवाय का नियम नहीं है क्योंकि समवाय सर्व द्रव्यों में साधारण रूप से एक ही है।

भावार्थ : जो एक रूप होता है वह भिन्न-भिन्न अधिकरणों में संयोग कराने का नियामक नहीं होता है।

''सामान्य (जाति), गुण, कर्म आदि सहित जीवादि द्रव्यों में 'द्रव्यं' यह द्रव्य है, इस प्रकार प्रतिनियत व्यपदेश (व्यवहार) का कारण समवाय है'' इस प्रकार का वैशेषिक का कथन भी उक्त कथन से खण्डित हो जाता है।

केनचिदंशेन क्वचिन्नियमहेतुः समवाय इति चेन्न, तस्य सावयवत्वप्रसक्तेः स्वसिद्धान्तविरोधात्। निरंश एव समवायस्तथा शक्तिविशेषान्नियमहेतुरित्ययुक्तं, अनुमानविरोधात्॥

समवायो न संख्यादि तद्वतां घटने प्रभुः। निरंशत्वाद्यथैवैकः परमाणुः सकृत्तव ॥ ३० ॥

न हि निरंशः सकृदेकः परमाणुः संख्यादि भवतां परस्परमिष्टव्यपदेशनघटने समर्थः सिद्धः तद्वत्समवायोपि विशेषाभावात्। शक्तिविशेषयोगात् समवायस्तत्र परिवृढ इति चेत्, परमाणुस्तथास्तु। सर्वगतत्वात्स तत्र समर्थ इति चेन्न, निरंशस्य तदयोगात् परमाणुवत्। ननु निरंशोपि समवायो यदा यत्र ययोः

"सर्वत्र व्यापक समवाय भी किसी विवक्षित एक अंश के कारण किसी वस्तु में नियम करने का निमित्त हो जाता है"-ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने पर समवाय के अवयव सहित होने का प्रसंग आयेगा। तथा समवाय को अवयव वा अंश सहित मानना वैशेषिक सिद्धान्त के विरुद्ध है अतः ऐसा मानना स्वसिद्धान्त विरुद्ध है।

"निरंश समवाय भी उस प्रकार की शक्ति विशेष से "संख्यावान, ज्ञानवान" आदि व्यवहारों के नियम करने का हेतु बन जाता है" ऐसा कहना भी उचित नहीं है (अयुक्त है) क्योंकि यह कथन अनुमान के विरुद्ध है। अर्थात् अनुमान प्रमाण से बाधित है।

समवाय संख्यादि और संख्यावानादि पदार्थों में सम्बन्ध कराने के लिए समर्थ नहीं है-क्योंकि समवाय निरंश है। जैसे तेरे (वैशेषिक) मत में निरंश एक परमाणु संख्यादि और संख्यावान आदि पदार्थों में एकबार सम्मेलन कराने में समर्थ नहीं है॥३०॥

निरंश एक परमाणु एक ही समय में संख्यादि और संख्यावान आदि में परस्पर इष्ट सम्बन्ध कराने में समर्थ नहीं है अर्थात् जैसे हाथ एक है, अंगुली पाँच हैं इस प्रकार के अभीष्ट व्यवहार को कराने के लिए निरंश परमाणु समर्थ नहीं है। उसी प्रकार निरंश समवाय भी संख्या, संख्यावान, ज्ञान, ज्ञानवान, आदि अभीष्ट व्यवहार को कराने में समर्थ नहीं है क्योंकि निरंश की अपेक्षा परमाणु में और समवाय में कोई विशेषता नहीं है।

यदि वैशेषिक कहे कि एक ही निरंश समवाय स्वकीय शक्ति विशेष के संयोग से नियत गुण-गुणी का सम्बन्ध कराने में दृढ़ (समर्थ) है तो फिर निरंश परमाणु भी गुण, गुणी, पर्याय, पर्यायी के सम्बन्ध कराने में समर्थ हो जायेगा। "समवाय सर्वगत है इसलिए सर्व गुण-गुणियों का सम्बन्ध करा देता है"-ऐसा कहना भी उचित नहीं है। "क्योंकि परमाणु के समान निरंश समवाय के सर्वव्यापी होने का अयोग है। निरंश पदार्थ सारे जगत् में व्याप्त होकर नहीं रह सकते।

प्रश्न : निरंश समवाय भी जिस समय जिस देश में जिन समवायियों का विशेषण होता है, उस काल में उस स्थान पर उन समवाय, समवायियों के प्रतिनियत व्यवहार का कारण माना जाता है। समवाय और अभाव का तद्वान (अभाववान और समवायवान) के साथ विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध है अतः प्रतिनियामक विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध से समवाय सम्बन्ध स्वयं उस संयोग का प्रतिनियत है।

समवायिनोर्विशेषणं तदा तत्र तयोः प्रतिनियतव्यपदेशहेतुर्विशेषणविशेष्यभावात् प्रतिनियामकात् स्वयं तस्य प्रतिनियतत्वादिति चेन्न, असिद्धत्वात्।।

युगपन्न विशेष्यंते तेनैव समवायिनः। भिन्नदेशादिवृत्तित्वादन्यथातिप्रसंगतः ।। ३१ ।।

न खादिभिरनेकांतस्तेषां सांशत्वनिश्चयात्। निरंशत्वे प्रमाभावाद्व्यापित्वस्य विरोधतः।। ३२ ।।

विशेषणविशेष्यत्वं संबंधः समवायिभिः। समवायस्य सिद्ध्येत द्वौ वः प्रतिनियामकः ।। ३३ ।।

न हि भेदैकांते समवायसमवायिनां विशेषणविशेष्यभावः प्रतिनियतः संभवति यतः समवायस्य क्वचिन्नियमहेतुत्वे प्रतिनियामकः स्यात्।।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यह कथन असिद्ध है अर्थात् समवाय और समवायियों का विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध भी अनवस्था होने के कारण सिद्ध नहीं हो सकता, अतः अनुमान का प्रतिनियत हेतु पक्ष में नहीं रहने से असिद्ध हेत्वाभास है।

एक विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध के द्वारा समवाय वाले अनेक पदार्थ एक समय में एक साथ विशिष्ट नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि पदार्थ भिन्न-भिन्न काल-क्षेत्र में अवस्थित हैं। अन्यथा (यदि एक ही विशेष्य विशेषण भाव से अनेक भिन्न क्षेत्र-काल वाले पदार्थों का गुण, कर्म, संख्या आदि से सहित होना मान लिया जायेगा तो) अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् जिस किसी के साथ परस्पर सम्बन्ध हो जायेगा।।३१।।

"आकाश, देश, दिशा आदि के साथ भी अनेकान्त हेत्वाभास नहीं है अर्थात् आकाश, दिशा आदि एक होते हुए भी अनेक के साथ सम्बन्ध रखते हैं अतः जो एक होता है वह अनेक के साथ सम्बन्ध नहीं रखता यह हेतु व्यभिचार ही है क्योंकि आकाश एक होते हुए भी बहुतों के साथ सम्बन्ध रखता है" ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि आकाश, दिशा आदि के भी सांशत्व (अंश सहितपना) निश्चित है।

आकाश आदि को निरंश मानने पर प्रमा (प्रमिति) का अभाव होने से आकाश आदि के व्यापित्व का विरोध आता है अर्थात् निरंश आकाश सारे जगत् में व्यापक नहीं हो सकता। जो सांश होता है वही अनेक देशों में व्यापक हो सकता है, निरंश एक प्रदेश में ही रहता है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में स्थित होने पर सांशता सिद्ध हो जाती है।।३२।।

तुम्हारा (वैशेषिकों का) समवायियों के साथ समवाय का विशेष्य विशेषण सम्बन्ध प्रतिनियामक सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् विशेष्य और विशेषण दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकते ?।।३३।।

समवाय और समवायियों के एकान्त से भेद मान लेने पर विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध भी प्रतिनियत नहीं संभवता है। जिससे कि कहीं पर भी समवाय का नियम कराने के हेतुपन की व्यवस्था करने में नियामक होता।

भावार्थ : सर्वथा भिन्न विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध के द्वारा पृथक् स्थित समवाय की नियत व्यवस्था नहीं हो सकती और सर्वथा न्यारे समवाय द्वारा आत्मा, संख्या संख्यावान आदि के संयोजन की नियति नहीं बन सकती है।

सन्नप्ययं ततस्तावन्नाभिन्न: स्वमतक्षते: । भिन्नश्चेत्स स्वसंबंधिसंबंधोन्योस्य कल्पनात् ।। ३४ ।।

सोपि तद्भिन्नरूपश्चेदनवस्थोपवर्णिता । तादात्म्यपरिणामस्य समवायस्य तु स्थिति: ।। ३५ ।।

सुदूरमपि गत्वा विशेषणविशेष्यभावस्य स्वसंबंधिभ्यां कथंचिदनन्यत्वोपगमे समवायस्य स्वसमवायिभ्यामन्यत्वसिद्धे: सिद्ध: कथंचित्तादात्म्यपरिणाम: समवाय इति संख्या तद्वत: कथंचिदन्या ।।

गणनामात्ररूपेयं संख्योक्तात: कथंचन । भिन्ना विधानतो भेदगणनालक्षणादिह ।। ३६ ।।

निर्देशादिसूत्रे विधानस्य वचनादिह संख्योपदेशो न युक्त: पुनरुक्तत्वाद्विधानस्य संख्यारूपत्वादिति न चोद्यं, तस्य तत: कथंचिद्भेदप्रसिद्धे: । संख्या हि गणनामात्ररूपा व्यापिनी, विधानं तु प्रकारगणनारूपं तत: प्रतिविशिष्टमेवेति युक्त: संख्योपदेशस्तत्त्वार्थाधिगमे हेतु: ।।

सत् रूप विशेषण-विशेष्य भाव अपने सम्बन्धियों से अभिन्न है, ऐसा तो कह नहीं सकते-क्योंकि ऐसा मानने पर स्वमत (वैशेषिक मत) की क्षति होती है क्योंकि वैशेषिक सम्बन्ध और सम्बन्धी में सर्वथा भेद ही मानता है, यदि समवाय सम्बन्धियों से विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं तो उन विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध का अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध कराने वाले दूसरे सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी और वह सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से भिन्न होगा। उसका सम्बन्ध कराने के लिए दूसरे सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिए अनवस्था दोष आयेगा। जैन सिद्धान्त के अनुसार गुण-गुणी में संख्या और संख्यावान आदि में तादात्म्य परिणाम समवाय की स्थिति है अर्थात् गुण गुणी, संख्या और संख्यावान में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है, यही कथन निर्दोष है।।३४-३५।।

बहुत दूर जाकर भी विशेषण-विशेष्य भाव का स्व सम्बन्धियों के साथ कथञ्चित् अभेद स्वीकार करते हैं तब तो समवाय का अपने आधारभूत समवायियों के साथ कथंचित् भिन्नत्व (भेदपना) सिद्ध हो जाता है अत: सम्बन्धियों का कथंचित् तदात्मकत्व से परिणमन होना ही समवाय है, यह सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार संख्या भी संख्या विशिष्ट पदार्थों से कथञ्चित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है।

अर्थात् कथंचित् भेद होने से "संख्यावान द्रव्य की संख्या है" यह भेद निर्देश सिद्ध होता है और कथंचित् अभेद होने से संख्यावान द्रव्यों की विशेष परिणति संख्या है, यह सिद्ध होता है।

"सत्संख्या" इस सूत्र में संख्या का अर्थ केवल गणना करना मात्र है अत: भेदों की गणना करना है लक्षण जिसका ऐसे विधान से संख्या कथञ्चित् भिन्न है।।३६।।

कोई कहता है कि "निर्देश, स्वामित्व आदि सूत्र में भेद गणना रूप विधान का कथन हो चुका है, अत: पुन: इस सूत्र में संख्या का उपदेश करना पुनरुक्त दोष होने के कारण युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि विधान संख्यारूपत्व ही है" जैनाचार्य कहते हैं-ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि संख्या और विधान में कथंचित् भेद की प्रसिद्धि है। संख्या गणना मात्र रूप होने से व्यापिनी (व्यापक) है। परन्तु विधान प्रकारों की गिनती स्वरूप प्रति विशिष्ट है अत: व्याप्य है।

भावार्थ : संख्या सर्वत्र रहती है अत: व्यापक है और कतिपय नियत भेदों की गणना करने वाला विधान कुछ विशिष्ट पदार्थों में रहता है अत: व्याप्य है।

निवासलक्षणं क्षेत्रं पदार्थानां न वास्तवम् । स्वस्वभावव्यवस्थानादित्येके तदपेशलम् ।। ३७ ।।

राज्ञः सति कुरुक्षेत्रे तन्निवासस्य दर्शनात् । तस्मिन्नसति चादृष्टे वास्तववस्याप्रबाधनात् ।। ३८ ।।

नन्वेवं राज्ञः कुरुक्षेत्रं कारणमेव तत्र निवसनस्वभावस्य तस्य तेन जन्यमानत्वादिति चेत् किमनिष्टं, कारणविशेषस्य क्षेत्रत्वोपगमात् कारणमात्रस्य क्षेत्रत्वेतिप्रसंगः ।।

प्रमाणगोचरस्यास्य नावस्तुत्वं स्वतत्त्ववत् । नानुमागोचरस्यापि वस्तुत्वं न व्यवस्थितम् ।। ३९ ।।

न वास्तवं क्षेत्रमापेक्षिकत्वात् स्थौल्यादिवदित्ययुक्तं, तस्य प्रमाणगोचरत्वात् स्वतत्त्ववत् । न ह्यापेक्षिकमप्रमाणगोचरः सुखनीलेतरादेः प्रमाणविषयत्वसिद्धेः । संविन्मात्रवादिनस्तस्यापि तदविषयत्वमिति

संख्या और विधान में व्यापक व्याप्य भेद है अतः विधान से अतिरिक्त संख्या का उपदेश देना युक्तिसंगत है और वह तत्त्वार्थों के विशद रूप से ज्ञान कराने में निमित्त कारण है। यहाँ तक संख्या का व्याख्यान कर दिया गया है। अब **क्षेत्र** का प्ररूपण करते हैं।

पदार्थों का निवास लक्षण क्षेत्र वास्तविक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ स्वकीय-स्वकीय स्वरूप में व्यवस्थित रहते हैं। ऐसा कोई (सौगत मतानुयायी) कहते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना भी अपेशल (सुन्दर नहीं) है ।।३७।। वास्तविक कुरुक्षेत्र के होने पर ही यहाँ निवास करने वाले राजा का दर्शन होता है। तथा कुरुक्षेत्र के नहीं होने पर राजा का निवास नहीं देखा जाता है अतः वास्तविक क्षेत्र किसी प्रमाण से बाधित नहीं है ।।३८।।

प्रश्न : इस प्रकार कुरुक्षेत्र राजा का ही कारण है क्योंकि वहाँ कुरुक्षेत्र में उस राजा के निवसन स्वभाव का जन्यमानत्व है अर्थात् कुरुक्षेत्र में उस राजा के निवास करना रूप स्वभाव की क्षेत्र रूप से उत्पत्ति होती है अतः राजा के क्षेत्र में आ जाने पर क्षेत्र स्थिति राजा की परिणति का उत्पादक कारण है। कारण से अतिरिक्त क्षेत्र कोई वस्तुभूत नहीं है।

उत्तर : जैनाचार्य कहते हैं कि यह कथन हमको (जैनों को) अनिष्ट क्यों है ? अर्थात् अनिष्ट नहीं है क्योंकि कारण विशेष को हमने क्षेत्ररूप से स्वीकार किया है। कारण मात्र को क्षेत्र मानने में अति प्रसंग दोष आता है अतः कथञ्चित् कारण विशेष को क्षेत्र कहना हमें (जैनाचार्यों को) अभीष्ट ही है।

स्वतत्त्व के समान प्रमाण गोचर (समीचीन ज्ञान का विषयभूत) यह क्षेत्र अवस्तु नहीं है। तथा अनुमान गोचर (अनुमान प्रमाण का विषय) होने से इस क्षेत्र के वस्तुत्व व्यवस्थित नहीं है (कल्पित है) ऐसा भी नहीं कह सकते ।।३९।।

''आपेक्षिकत्व (क्षेत्र की अपेक्षा कल्पित) होने से निवासस्थान रूप क्षेत्र वास्तविक नहीं है। जैसे स्थूलत्व (स्थूलपना), छोटापना आदि कल्पित होने से वास्तविक नहीं हैं।'' ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रमाण का विषय होने से क्षेत्र पारमार्थिक है। जैसे समीचीन ज्ञान का विषय होने से स्वकीय अभीष्ट तत्त्व वास्तविक है।

चेन्न तस्या निरस्तत्वात्। ननु च क्षेत्रत्वं कस्य प्रमाणस्य विषयः स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षस्य तत्र तस्यानवभासनात्। न हि प्रत्यक्षभूभागमात्रप्रतिभासमाने कारणविशेषरूपे क्षेत्रत्वमाभासते कार्यदर्शनात्त्वनुमीयमानं कथं वास्तवमनुमानस्यावस्तुविषयत्वादिति कश्चित्, सोप्ययुक्तवादी। वस्तुविषयत्वादनुमितेरन्यथा प्रमाणतानुपपत्तेरिति वक्ष्यमाणत्वात्॥

ननु निर्देशादिसूत्रेधिकरणवचनादिह क्षेत्रस्य वचनं पुनरुक्तं तयोरेकत्वादिति शंकामपनुदन्नाह;—

"तथा अपेक्षाकृत माने गए पदार्थ प्रमाण के विषय नहीं हैं" ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि अपेक्षा से होने वाला सुख, उससे अधिक सुख, नील, नीलतर (अधिक नीला रंग), नीलतम (उससे भी अधिक नीला) आदि के प्रमाण के विषय होने की सिद्धि है।

"शुद्ध संवेदन को मानने वाले सौगत के सुख सुखतर, नील नीलतर आदि आपेक्षिक वस्तु ज्ञान का विषय नहीं है" ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ग्राह्य ग्राहक भाव आदि से रहित शुद्ध संवेदन अद्वैत का पूर्व में खण्डन कर दिया गया है।

अर्थात् जो आपेक्षिक होता है वह ज्ञान का विषय नहीं होता है-ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि "नील है, यह अधिक नील है"- इत्यादि आपेक्षिक नील आदि पदार्थ प्रमाण के विषय होते ही हैं।

प्रश्न : क्षेत्र किस प्रमाण का विषय है? क्षेत्र प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय तो हो नहीं सकता, क्योंकि उस प्रत्यक्ष (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) ज्ञान में क्षेत्र का प्रतिभास नहीं होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सामान्य भू (पृथ्वी) भाग का प्रतिभास हो जाने पर भी विशेष कारण रूप क्षेत्र का प्रतिभास नहीं होता है।

भावार्थ : जैसे सामान्य दो पुरुषों को देखने पर कौन गुरु है और कौन शिष्य है? ऐसा विभाग प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर सकता, उसी प्रकार सामान्य पृथ्वी के दृष्टिगोचर होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान कारण विशेषक्षेत्र का ज्ञान नहीं कर सकता। यद्यपि निवासस्थान रूप कार्य के दृष्टिगोचर होने से कारण स्वरूप क्षेत्र अनुमान ज्ञान का विषय होता है परन्तु अनुमान ज्ञान का विषय अवस्तु है, कल्पित है अतः अनुमान ज्ञान का विषयभूत क्षेत्र वास्तविक कैसे हो सकता है, ऐसी किसी (बौद्ध) की शंका है। अर्थात् बौद्ध कहता है कि क्षेत्र अनुमान ज्ञान का विषय होने से वास्तविक नहीं है।

उत्तर : जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला बौद्ध युक्तिवादी नहीं है क्योंकि अनुमान प्रमाण वास्तविक अर्थ को विषय करता है। अन्यथा (यदि अनुमान ज्ञान वास्तविक अर्थ को विषय नहीं करता है तो) अनुमान ज्ञान प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसका कथन आगे ज्ञान का वर्णन करते समय करेंगे।

निर्देशादि सूत्र में अधिकरण का कथन है। उस अधिकरण के कथन से क्षेत्र का कथन हो ही जाता है, पुनः क्षेत्र का कथन करना पुनरुक्त दोष से युक्त है क्योंकि क्षेत्र और अधिकरण इन दोनों में एकत्व है, इस प्रकार की शंका को दूर करते हुए आचाय कहते हैं:-

सामीप्यादिपरित्यागाद्व्यापकस्य परिग्रहात् । शरीरे जीव इत्यधिकरणं क्षेत्रमन्यथा ।। ४० ।।

शरीरे जीव इत्यधिकरणं व्यापकाधाररूपमुक्तं, सामीप्याद्यात्मकाधाररूपं तु क्षेत्रमिहोच्यते ततोन्यथैवेति न पुनरुक्तता क्षेत्रानुयोगस्य ।।

त्रिकालविषयार्थोपश्लेषणं स्पर्शनं मतम् । क्षेत्रादन्यत्वभाग्वर्तमानार्थश्लेषलक्षणात् ।। ४१ ।।

त्रिकालविषयोपश्लेषणं स्पर्शनं, वर्तमानार्थोपश्लेषणात् क्षेत्रादन्यदेव कथंचिदवसेयं। सर्वस्यार्थस्य वर्तमानरूपत्वात्स्पर्शनमसदेवेति चेन्न, तस्य द्रव्यतोऽनादिपर्यंतरूपत्वेन त्रिकालविषयोपपत्तेः। नन्विदमयुक्तं वर्तते वस्तु त्रिकालविषयरूपमनाद्यनंतं चेति । तद्धि यद्यतीतरूपं कथमनंतं ? विरोधात् । तथा यद्यनागतं कथमनादि ? ततो न त्रिकालवर्तीति ।।

यह समीप है, यह दूर है, यह दूरतर है इत्यादिक का परित्याग करने से और केवल व्यापक आधार को ग्रहण करके जो कथन किया जाता है वह अधिकरण है जैसे इस शरीर में जीव है, इत्यादि कथन अधिकरण रूप है। उससे अन्यथा (समीपता, दूरता आदि से कथन करना) क्षेत्र है। अर्थात् समीप आदि के सम्बन्ध से क्षेत्र की व्यवस्था होती है।।४०।।

शरीर में जीव है, ग्राम में वृक्ष है, इत्यादि व्यापक आधारात्मक अधिकरण होता है और समीपता, अन्तराल, दूर इत्यादि परक आधार रूप क्षेत्र कहलाता है। अत: अधिकरण से क्षेत्र भिन्न है; अन्य प्रकार का है। अत: 'सत्संख्या' इत्यादि सूत्र में क्षेत्रानुयोग की प्ररूपणा पुनरुक्त नहीं है।

भावार्थ : अधिकरण से क्षेत्र विशेष अधिक है, विशाल है। अधिकरण में केवल आधेय ही रहता है परन्तु क्षेत्र में आधेय से भिन्न पदार्थ भी रहते हैं। जैसे सम्यग्दर्शन का बाह्य अधिकरण त्रस नाली है, और अंतरंग क्षेत्र आत्मा है। परन्तु त्रस नाली रूप क्षेत्र में सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी रह सकते हैं। क्षेत्र में समीपता आदि का कथन है; अधिकरण में केवल आधार का ही कथन है।

भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप तीनों कालों में पदार्थों का आधेयरूप से संसर्ग रखने वाला **स्पर्श** कहा जाता है जो वर्तमान काल में पदार्थों का संसर्ग रखने वाले क्षेत्र से अन्यत्व भाग (भिन्नत्व धारण करने वाला) है।।४१।।

वर्तमानकालीन पदार्थों के संसर्ग रखने वाले क्षेत्र से त्रिकाल संसर्ग रखने वाला स्पर्श कथंचित् अन्य (भिन्न) ही है ऐसा समझना चाहिए।

''सारे पदार्थों का वर्तमान स्वरूप ही है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ एक क्षण रहकर नष्ट हो जाते हैंअत: स्पर्शन का कथन करना असत् स्वरूप है। वे तीनों काल में रह नहीं सकते ?''-ऐसा कहना उचित नहीं है-क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि काल पर्यन्त अन्वित रहने से त्रिकाल विषय (त्रिकाल में रहना) सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न : वस्तु त्रिकालगोचर अनादि अनन्त स्वरूप है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो अनन्त रूप है वह अतीत कैसे हो सकता है? अर्थात् जो अनन्त रूप है उसका अन्त कैसे हो सकता है?

द्रव्यतोऽनादिपर्यंते सिद्धे वस्तुन्यबाधिते। स्पर्शनस्य प्रतिक्षेपस्त्रिकालस्य न युज्यते ॥ ४२ ॥

न हि येनात्मनातीतमनागतं वा तेनानंतमनादि वा वस्तु ब्रूमहे, यतो विरोध: स्यात्। नापि स तदात्मा वस्तुनो भिन्न एव, येन तस्यातीतत्वेऽनागतत्वे च वस्तुनोऽनंतत्वमनादित्वं च कथंचिन्न सिध्येत्। ततोऽनाद्यनंतवस्तुन: कथंचित्त्रिकालविषयत्वं न प्रतिक्षेपार्हमविरुद्धत्वादिति श्लेषांशस्तल्लक्षण: स्पर्शनोपदेश:॥

स्थितिमत्सु पदार्थेषु योवधिं दर्शयत्यसौ। काल: प्रचक्ष्यते मुख्यस्तदन्य: स्वस्थिते: पर: ॥ ४३ ॥

न हि स्थितिरेव प्रचक्ष्यमाण: काल: स्थितिमत्सु पदार्थेष्ववधिदर्शनहेतु: कालत्वात् स्थानक्रियैव व्यवहारकालो नातोऽन्यो मुख्य इति चेन्न, तदभावे तदनुपपत्ते:॥ तथाहि;—

न क्रियामात्रकं कालो व्यवहारप्रयोजन:। मुख्यकालादृते सिद्ध्येद्वर्तनालक्षणात्क्वचित् ॥ ४४ ॥

क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है और जो अनादि है वह अनागत कैसे हो सकता है ? अत: वस्तु त्रिकालवर्ती कैसे हो सकती है ?

उत्तर : द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अबाधित रूप से अनादि अनन्त पर्यन्त रहने वाली वस्तु सिद्ध हो जाने पर त्रिकालवर्ती स्पर्शन का खण्डन करना युक्तिसंगत नहीं है॥४२॥

''जिस परिणाम से वस्तु अतीत और अनागत है, उसी रूप से वस्तु अनादि, अनन्त है'' ऐसा स्याद्वादी नहीं मानते हैं जिससे कि विरोध आता है तथा अतीत अनागत परिणामों से वस्तु सर्वथा भिन्न है ऐसा भी नहीं है जिससे कि उन परिणामों को अतीतपना और भविष्यपना होने से वस्तु को कथंचित् अनन्तपना और कथंचित् अनादिपना सिद्ध नहीं होता है। इसलिए अनादि काल से अनन्त काल तक स्थित वस्तु का किसी अपेक्षा तीन काल गोचर वस्तु का खण्डन करना योग्य नहीं है अत: त्रिकाल वस्तु के रहने में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार तीनों काल में श्लेष होने रूप अंश से उस वस्तु की सिद्धि होती है।

यहाँ तक स्पर्शन का वर्णन किया गया है। **अब काल का वर्णन करते हैं।**

जो त्रिकाल रहने वाले पदार्थों में रहने वाली अवधि को दिखाता है, वह काल कहा जाता है। पदार्थों की स्वकीय-स्वकीय स्थिति से यहाँ सत्संख्या से अवस्थित काल मुख्य काल है और वह व्यवहार काल से भिन्न है॥४३॥

कुछ काल तक स्थित रहने रूप व्याख्यान किया जाने वाला काल पदार्थ नहीं है क्योंकि स्थिति वाले पदार्थों में मर्यादा को दिखाने वाले कारण में कालपना व्यवस्थित है अर्थात् पदार्थों के कुछ समय तक रहने को स्थिति कहते हैं और स्थितिमान पदार्थ के एक समय, वर्ष आदि के परिमाण को काल कहते हैं।

''वस्तु के स्थान क्रिया को व्यवहार काल कहते हैं, इस व्यवहार काल से भिन्न कोई मुख्य काल नहीं है?-ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि मुख्य काल के अभाव में व्यवहार काल उत्पन्न नहीं हो सकता। सो ही कहते हैं-व्यवहार का प्रयोजक क्रिया मात्र (समय, घड़ी, घण्टा आदि काल) काल वर्तना लक्षण मुख्य काल के बिना कहीं पर भी सिद्ध नहीं हो सकता॥४४॥

न हि व्यावहारिकोपि काल: क्रियामात्रं समकालस्थितिरिति कालविशेषणाया: स्थितेरभावप्रसंगात्। परम: सूक्ष्म: कालो हि समय: सकलतादृशक्रियाविशेषणतामात्मसात् कुर्वंस्ततोऽन्य एव व्यवहारकालस्यावलिकादेर्मूलमुन्नीयते। स च मुख्यकालं वर्तनालक्षणमाक्षिपति तस्मादृते क्वचित्तदघटनात्। न हि किंचिद्गौणं मुख्यादृते दृष्टं येनातस्तस्यासाधनं॥

परत्वमपरत्वं च समदिग्नतयो: सतो:। समानगुणयो: सिद्धं तादृक्कालनिबंधनं॥ ४५॥

परापरादिकालस्य तत्त्वहेत्वंतरान्न हि। यतोऽनवस्थितिस्तत्राप्यन्यहेतुप्रकल्पनात्॥ ४६॥

स्वतस्तत्त्वतथात्वे च सर्वार्थानां न तद्भवेत्। व्याप्त्यसिद्धेर्मनीषादेरमूर्तत्वादिधर्मवत्॥ ४७॥

यथाप्रतीतिभावानां स्वभावस्य व्यवस्थितौ। काले परापरादित्वं स्वतोस्त्वन्यत्र तत्कृतम्॥ ४८॥

व्यवहार रूप प्रयोजन सिद्ध करने वाला काल केवल क्रिया मात्र नहीं है क्योंकि इन पदार्थों की समान काल में स्थिति है, इस प्रकार काल है विशेषण जिसका ऐसी स्थिति के अभाव का प्रसंग आता है।

परम सूक्ष्म काल समय कहलाता है। सम्पूर्ण क्रियाओं के विशेषणों को आत्मसात् (अपने आधीन) करता हुआ उससे पृथक् (अन्य) ही व्यवहार काल का मूल आवलि, मुहूर्त्त, दिवस आदि से जाना जाता है। वह व्यवहार काल वर्त्तना लक्षण मुख्य काल का आक्षेप (अनुमान) कर लेता है। क्योंकि वर्तना लक्षण मुख्य काल के बिना व्यवहार काल घटित नहीं होता है क्योंकि मुख्य के होने पर (मुख्य सिंह के होने पर) ही गौण(बच्चे में सिंह) की कल्पना की जाती है मुख्य के अभाव में गौण की कल्पना नहीं होती है। जिससे कि इस व्यवहार काल से उस मुख्य काल का साधन नहीं किया जा सके।

समान दिशा में प्राप्त और समान गुण वाले सत्स्वरूप पदार्थ के व्यवहार काल को कारण मानकर परत्व (बड़ा), अपरत्व (छोटा) का व्यवहार सिद्ध होता है। वह परत्व, अपरत्व दिशाकृत वा गुणकृत नहीं है अपितु कालकृत परत्व अपरत्व है। काल में स्थित परत्व और अपरत्व दूसरे हेत्वन्तर से प्राप्त नहीं होता है जिससे उसमें अन्य हेतु की कल्पना करने से अनवस्था दोष आता हो॥४५-४६॥

"जिस प्रकार दीपक स्व-पर प्रकाशक है उसी प्रकार ज्येष्ठ कनिष्ठ, परत्व, अपरत्व व्यवहार काल से होते हैं, परन्तु काल का परिवर्तन स्वत: होता है तथा काल का परत्व अपरत्व भी स्वत: होता है। काल के समान सभी पदार्थों का परत्व, अपरत्व स्वत: नहीं होता है, क्योंकि कोई ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं। जैसे कि विचार शालिनी बुद्धि, उदारता आदि के अमूर्तत्व आदि धर्म हैं वे धर्म घट, पट आदि के नहीं हो सकते हैं। स्वपर दोनों की ज्ञप्ति करना ज्ञान का स्वभाव है वह घट का स्वभाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार प्रमाणों से सिद्ध पदार्थों के स्वभावों की व्यवस्था है उसी प्रकार व्यवहार काल में परत्व अपरत्व परिणाम स्वत: हैं। अन्य पदार्थों के परिवर्तन का निमित्त कारण काल कृत है" ऐसा समझना चाहिए॥४७-४८॥

क्वान्यथा व्यवतिष्ठंते धर्माधर्मनभांस्यपि । गत्यादिहेतुतापत्तेर्जीवपुद्गलयोः स्वतः ।। ४९ ।।

शरीरवाङ्मनःप्राणापानादीनपि पुद्गलाः । प्राणिनामुपकुर्युर्न स्वतस्त्वेषां हि देहिनः ।। ५० ।।

जीवा वा चेतना न स्युः कायाः संतु स्वकास्तथा । निंबादिर्मधुरस्तिक्तो गुडादिः कालविद्विषाम् ।।५१।।

एकत्रार्थे हि दृष्टस्य स्वभावस्य कुतश्चन । कल्पना तद्विजातीये स्वेष्टतत्त्वविघातिनी ।। ५२ ।।

तस्माज्जीवादिभावानां स्वतो वृत्तिमतां सदा । कालः साधारणो हेतुर्वर्तनालक्षणः स्वतः ।। ५३ ।।

न हि जीवादीनां वृत्तिरसाधारणादेव कारणादिति युक्तं, साधारणकारणाद्विना कस्यचित्कार्यस्यासंभवात्

अन्यथा (यदि प्रामाणिक प्रतीति के अनुसार स्वभावों की व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तो) धर्म,अधर्म और आकाश द्रव्य के भी जीव, पुद्गल के गति, स्थिति में उदासीन कारणत्व, अवगाहनत्व की व्यवस्था कैसे हो सकती है। जीव और पुद्गल की गति, स्थिति, अवगाहन के कारण का प्रसंग स्वयमेव जीव और पुद्गल को प्राप्त हो जाएगा।।४९।।

जैसे कि आकाश स्वयं अपना अवगाह कर लेता है। तथा पुद्गल द्रव्य भी प्राणियों के शरीर वचन मन, प्राण, अपान (श्वासोच्छ्वास) सुख, दुःख, आदि उपकारों को नहीं कर सकेंगे। तथा शरीरधारी प्राणी भी स्वतः उन पुद्गलों का प्रक्षालन, मार्जन आदि द्वारा नियम से उपकार नहीं कर सकेंगे। स्वतः अपना उपकार करेंगे।।५०।।

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण सिद्ध पदार्थों के स्वभावों की प्रतीति के अनुसार व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तो जीव पदार्थ चेतन स्वरूप नहीं हो सकेंगे। वा जड़ शरीर चेतनस्वरूप हो जायेगा। नीम आदि मधुर हो जायेंगे और गुड़ आदि मधुर पदार्थ तिक्त (कषायले) हो जायेंगे तथा काल द्रव्य से द्वेष करने वालों के किसी भी तत्त्व की व्यवस्था नहीं होगी।।५१।।

भावार्थ : काल को मानने वाले स्याद्वादियों के वस्तु-व्यवस्था बन सकती है, अन्यथा वस्तु व्यवस्था नहीं हो सकती।

एक अर्थ में देखे गये स्वभाव की किसी भी कारण से यदि उस विजातीय पदार्थ में कल्पना की जाती है तो स्वकीय इष्ट तत्त्व की विघात करने वाली होती है। इसलिए सर्वदा स्वयं अपने स्वरूप से वर्त्तना को प्राप्त जीव, पुद्गल आदि पदार्थों के परिवर्तन में साधारण हेतु वर्त्तना लक्षण काल है। वह काल अन्य पदार्थों के परिवर्तन में कारण है और स्व के परिवर्तन में कारण है। अन्य पदार्थों का परिवर्तन कराता है और अपनी भी वर्त्तना करता है।।५२-५३।।

'' जीव, अजीव आदि पदार्थों की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वर्त्तना केवल असाधारण कारण से ही होती है'' -ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि, साधारण कारण के बिना किसी भी कार्य का उत्पाद होना संभव नहीं है जैसे करणज्ञान (इन्द्रियजन्य ज्ञान) साधारण कारण के बिना नहीं हो सकता।

करणज्ञानवत् । तत्र हि मनःप्रभृति साधारणं कारणं चक्षुराद्यसाधारणमन्यतरापाये तदनुपपत्तेः। तद्वत्सकलवृत्तिमतां वृत्तौ कालः साधारणं निमित्तश्चोपादानमसाधारणमिति युक्तं पश्यामः । खादि तन्निमित्तं साधारणमितिचेन्न, तस्यान्यनिमित्तत्वेन प्रसिद्धेः। केनचिदात्मना तत्तन्निमित्तत्वमपीतिचेत् स एवात्मा काल इति न तद्भावः। तथा सति कालो द्रव्यं न स्यादिति चेन्न, तस्य द्रव्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्॥

स्वहेतोर्जायमानस्य कुतश्चिद्विनिवर्तते। पुनः प्रसूतितः पूर्वं विरहोंतरमिष्यते॥ ५४ ॥

काल एव स चेदिष्टं विशिष्टत्वान्न भेदतः। सूचनं तस्य सूत्रेस्मिन् कथंचिन्न विरुध्यते ॥ ५५ ॥

क्योंकि उस करण ज्ञान में मन, इन्द्रिय आदि साधारण कारण हैं और चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के आवरण का क्षयोपशम असाधारण कारण हैं। भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय रूप वा साधारण और असाधारण कारण में से किसी भी कारण का अपाय (अभाव) होने पर जैसे कारण ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्पूर्ण वर्त्तना वाले पदार्थों की परिणति होने में काल द्रव्य साधारण कारण है, निमित्त कारण है और पदार्थों की परिवर्तन करने की स्वकीय शक्ति असाधारण उपादान कारण हैं। यह हम युक्तिपूर्वक देखते हैं।

पदार्थों के परिवर्तन में आकाश आदि निमित्त कारण (साधारण कारण) हैं-ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उन आकाश आदि की अन्य अवगाह आदि कार्यों के निमित्तपने से सिद्धि है ही अर्थात् ''यदि कहो कि किसी एक स्वरूप से वह आकाश उस वर्त्तना का भी निमित्त हो जायेगा'' -ऐसा कहने पर तो वह काल द्रव्य ही है। उस काल द्रव्य के अभाव में पदार्थों की वर्त्तना नहीं हो सकती। अतः काल द्रव्य का अभाव नहीं हो सकता।

''ऐसा होने पर काल द्रव्य सिद्ध नहीं होता है ?'' ऐसा कहना उचित नहीं है-क्योंकि पाँचवें अध्याय में मुख्य काल द्रव्य का वर्णन करेंगे।

भावार्थ : द्रव्यों के परिवर्तन में कारणभूत काल द्रव्य तत्त्वों के कथन में निमित्तभूत है-पदार्थों के *जानने का साधन काल है। इस प्रकार काल का कथन समाप्त हुआ।*

अब **अन्तर** को कहते हैं:-

स्वकीय अंतरंग, बहिरंग कारणों से उत्पन्न पदार्थों की किसी विनाश-कारण से निवृत्ति हो जाने पर पुनः कालान्तर में उसकी उत्पत्ति होने पर पूर्व का व्यवहित समय अन्तर माना जाता है॥५४॥

''उत्पन्न पदार्थ के नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होने के व्यवधान को यदि अन्तर कहा जाता है तो वह अन्तर काल ही है। अर्थात् काल से भिन्न दूसरा अन्तर नहीं है। अतः सूत्र में काल से पृथक् अन्तर का निरूपण करना व्यर्थ है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि सामान्य काल से अन्तर काल में विशिष्टता होने के कारण अन्तर का पृथक् कथन करना हमने इष्ट किया है। अतः सूत्र में अन्तर का कथन करना कथञ्चित् विरुद्ध नहीं है॥५५॥

ननु न केवलं विरहकालोन्तरं। किं तर्हि छिद्रं मध्यं वा अंतरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेश्छिद्रमध्यविरहेष्वन्यतमग्रहणमिति वचनात्। न चेदं वचनमयुक्तं कालव्यवधानवत्क्षेत्रस्य व्यवधायकस्य भागस्य च पदार्थेषु भावादिति कश्चित्। सोपि यदि मुख्यमंतरं छिद्रं मध्यं वा ब्रूयात् तदानुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनमिति विरुध्यते। विरहकालाख्यस्यांतरस्यानेन समर्थनात्। अथाप्रधानं तदिष्टमेव। सांतरं काष्ठं सच्छिद्रमिति प्रतीतेर्मुख्यं छिद्रमिति चेन्न, तत्रापि विरहस्य तथाभिधानात्। द्रव्यविरहः छिद्रं न कालविरह इति चेन्न, द्रव्यविरहस्य पदार्थप्ररूपणानंगत्वात्। क्षेत्रं व्यवधायकं छिद्रमिति

विरह काल को केवल अन्तर ही नहीं कहते। **प्रति शंका :** काल ही अन्तर नहीं है, तो अन्तर का अर्थ क्या है ?

उत्तर : छिद्र, मध्य, आदि अनेक अर्थों में अन्तर शब्द की वृत्ति (प्रवृत्ति) होने से छिद्र, मध्य और विरह काल इनमें से किसी एक को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा कहा गया है। और वचन युक्तिरहित नहीं है। अर्थात् अकलंकदेव ने अन्तर शब्द के छिद्र, मध्य, विरह आदि अनेक अर्थ किये हैं। कहीं छेद अर्थ में जैसे यह काठ सान्तर (छेद सहित) है। कहीं भेद अर्थ में "द्रव्य से यह द्रव्यान्तर है।" कहीं विशेष अर्थ में, जैसे इस मनुष्य की अपेक्षा इस मनुष्य में अन्तर (विशेषता) है। कहीं बहिर्योग अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग होता है, जैसे ग्राम के अन्तर (बाह्य) कुआ है इत्यादि। ये अकलंकदेव के वचन अयुक्त भी नहीं हैं। क्योंकि पदार्थों में जैसे कालकृत व्यवधान है उसी प्रकार व्यवधान करने वाला क्षेत्र का विभाग भी पदार्थों में विद्यमान है।

अन्तर का अर्थ केवल काल व्यवधान ही ग्रहण नहीं करना अपितु व्यवधान करने वाले क्षेत्रान्तर आदि को भी ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वह क्षेत्र भी पदार्थों में स्थित है। ऐसा कोई वादी कहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि वह शंकाकार भी छिद्र अथवा मध्य को यदि मुख्य रूप से अन्तर कहता है तो "नहीं प्रकट हुई है शक्ति जिसकी, ऐसे द्रव्य की निमित्त कारणवश किसी पर्याय के तिरोभाव हो जाने पर अन्य निमित्तों से उसी पर्याय का प्रकट होना देखा जाता है। यह सूत्र में अन्तर कहा गया है" वादी के कथन का अकलंकदेव के वार्त्तिक से विरोध आता है। क्योंकि उन्होंने अन्तर का अर्थ 'विरह काल' नाम से समर्थन किया है। यदि उन छिद्र और मध्य को अन्तर का गौण अर्थ मानते हो तो हम (जैनों) को इष्ट ही है। अतः मुख्य रूप से अन्तर का अर्थ विरह काल है।

"काठ सान्तर है (छेद सहित है) इस प्रकार प्रतीति होने के कारण अन्तर शब्द का मुख्य अर्थ छिद्र है" -ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि सूत्र के अर्थ में अन्तर शब्द का अर्थ विरह (व्यवधान) किया गया है। छेद सहित काठ में द्रव्य का विरह (व्यवधान) रूप छेद लिया गया है, विरह का अर्थ काल नहीं किया गया है"-ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि, द्रव्य का विरह (व्यवधान) होना पदार्थ की प्ररूपणा का अंग (कारण) नहीं है। "व्यवधान करने वाला क्षेत्र छिद्र है"-ऐसा कहना भी अयुक्त है। क्योंकि ऐसा

चायुक्तं तस्य मध्यव्यपदेशप्रसंगात्। भागो व्यवधायको मध्यमिति वायुक्तिकं हिमवत्सागरांतरमित्यादिषु मध्यस्यांतरस्य व्यवधायकभागस्याप्रतीतेः। पूर्वापरादिभागविरहोंतरालभागो मध्यमितिचेत् तर्हि सर्व एव क्षेत्रविरहोंतरालरूपः छिद्रं इति विरह एवांतरं न्याय्यं तत्र छिद्रमध्ययोः कथंचिद्विरहकालादनन्यत्वेपि जीवतत्त्वाधिगमानंगत्वादिहानधिकारादवचनं। विरहकालस्य तु तदंगत्वादुपदेश इति युक्तं। पुद्गलतत्त्वनिरूपणायां तु छिद्रमध्ययोरपि वचनं वार्तिककारस्य सिद्धम्॥

अत्रौपशमिकादीनां भावानां प्रतिपत्तये। भावो नामादिसूत्रोक्तोप्युक्तस्तत्त्वानुयुक्तये॥ ५६ ॥

नामादिषु भावग्रहणात्पुनर्भावग्रहणमयुक्तमिति न चोद्यं, अत्रौपशमिकादिभावापेक्षत्वात्तद्ग्रहणस्य

कहने पर उस छिद्र के मध्यपने के व्यवहार का प्रसंग आता है। परन्तु शंकाकार ने छेद को मध्य से भिन्न माना है। तथा "व्यवधान करने वाला भाग (हिस्सा) मध्य है" इस प्रकार मध्य को छेद्र से भिन्न कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि "हिमवत्सागरान्तरं" इत्यादि प्रयोग में अन्तर शब्द का अर्थ मध्य अभीष्ट है, परन्तु समुद्र के मध्य में हिमवान पर्वत के रहने का व्यवधान करने वाले भाग (हिस्से) की प्रतीति नहीं होती है।

अतः व्यवधान करने वाला भाग मध्य नहीं है। यदि पूर्वापर (पूर्व पश्चिम) आदि भागों (हिस्सों) का विरहस्वरूप मध्यवर्त्ती अन्तराल भाग मध्य कहा जाता है, तो सभी क्षेत्र मध्य हो जायेंगे। ऐसी अवस्था में अन्तराल स्वरूप क्षेत्रविरह को छिद्रपना कैसे रह सकता है अतः इस सूत्र में अन्तर शब्द का अर्थ विरह काल (व्यवधान) करना ही न्याय्य (उचित) है। उन अन्तरों में छिद्र और मध्य के विरह काल से कथञ्चित् अभेद होने पर भी जीवादि तत्त्वों की अधिगति (ज्ञान) में छिद्र और मध्य कारण न होने से इस सूत्र में छिद्र और मध्य का अधिकार नहीं है (उपयोग नहीं है) अतः छिद्र और मध्य का यहाँ ग्रहण नहीं है (अवचन है) परन्तु जीवादि तत्त्वों के अधिगम का उपाय (कारण) होने से विरह काल का उपदेश (कथन) किया गया है। इसलिए अन्तर का अर्थ विरह (काल व्यवधान) कहना युक्त है।

तथा पुद्गल तत्त्व का निरूपण करने पर तो छिद्र और मध्य को भी ग्रहण करना वार्त्तिककार (अकलंक देव) को सिद्ध है, इष्ट है। अर्थात् पुद्गल तत्त्व के अधिगम में छिद्र और मध्य भी अन्तर शब्द से ग्रहण करना आचार्य देव को इष्ट है।

इस प्रकार अन्तर का प्रकरण समाप्त हो गया। अब भावों का वर्णन करते हैं:-

यद्यपि "**नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः**" सूत्र में वस्तु की वर्तमान पर्याय रूप भाव का कथन हो चुका है तथापि इस "**सत्संख्या**..." सूत्र में औपशमिक, क्षायिक आदि भावों का ज्ञान कराने के लिए भाव का निरूपण किया है। शिष्यों को विशद रूप से तत्त्वों का अनुयोग कराने के लिए महर्षियों ने उद्योग किया है॥५६॥

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों में 'भाव' का ग्रहण हो जाने से पुनः भाव का ग्रहण करना युक्त नहीं है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस सूत्र में औपशमिकादि भावों की अपेक्षा

विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः सर्वोऽयमित्यनुपालंभः ॥

एतेल्पे बहवश्चैतेऽमीभ्योऽर्थातिविविक्तये। कथ्यतेल्पबहुत्वं तत्संख्यातो भिन्नसंख्यया ॥ ५७ ॥

प्रत्येकं संख्यया पूर्वं निश्चितार्थेपि पिंडतः । कथ्यतेल्पबहुत्वं यत्ततः किं न भिद्यते ॥ ५८ ॥

ननु यथा विशेषतोऽर्थानां गणना संख्या तथा पिंडतोपि ततो न संख्यातोल्पबहुत्वं भिन्नमितिचेन्न,कथंचिद्भेदस्य त्वयैवाभिधानात् । न हि सर्वथा ततस्तदभेदविशेषे संख्या पिंडं संख्येति वक्तुं शक्यम् ॥

इति प्रपंचतः सर्वभावाधिगतिहेतवः । सदादयोनुयोगाः स्युस्ते स्याद्वादनयात्मकाः ॥ ५९ ॥

सकलं हि वस्तुसत्त्वादयोऽनुयुंजानाः स्याद्वादात्मका एव विकल्पयंतु नयात्मका एवेति न प्रमाणनयेभ्यो भिद्यंते। तत्प्रभेदास्तु प्रपंचतः सर्वे तत्त्वार्थाधिगमहेतवोऽनुवेदितव्याः ॥

होने के कारण 'भाव' का ग्रहण करना सार्थक है। अथवा विनीत शिष्यों के अभिप्राय के आधीन तत्त्वाधिगम कराने वाले हेतुओं की कल्पना होती है अत: स्याद्वाद सिद्धान्त में यह उलहना नहीं है।

भावार्थ : भाव प्ररूपणा से वस्तु-स्वरूप व आत्मतत्त्व का भान होता है। इस आठवें सूत्र में कथित अनुयोग के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है।

अब **अल्पहुत्व** का कथन करते हैं-

उन पदार्थों से ये पदार्थ अल्प संख्या वाले हैं, ये पदार्थ इन पदार्थों से बहुत है। इस प्रकार पदार्थों के पृथक् भाव कराने के लिए अल्पबहुत्व कहा जाता है। यह अल्पबहुत्व संख्या प्ररूपणा से भिन्न है। पूर्व में प्रत्येक पदार्थ जो संख्या प्ररूपणा के द्वारा निश्चित हो चुका है उसमें भी पिण्ड रूप से परस्पर अल्पबहुत्व कहा जाता है अत: संख्या से अल्पबहुत्व भिन्न क्यों नहीं होगा (अवश्य होगा)। प्रत्येक पदार्थ की गणना करने वाली संख्या से पिण्डरूप से मिले हुए अनेक पदार्थों की अपेक्षा न्यूनता और अधिकता का कथन करने वाला अल्पबहुत्व भिन्न ही है॥५७-५८॥

शङ्का : जैसे विशेष रूप से पदार्थों की गणना करना संख्या है, उसी प्रकार पिण्ड (समुदाय) रूप से पदार्थों की अल्पबहुत्व रूप से गणना करना भी संख्या है, इसलिए संख्या से अल्पबहुत्व भिन्न नहीं है।

समाधान : ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि आपने भी संख्या और अल्पबहुत्व में कथञ्चित् भेद स्वीकार किया है। यदि ऐसा भेद स्वीकार नहीं किया जाएगा तो 'यह संख्या का पिण्ड है और यह संख्या है' इस प्रकार भेद रूप से कथन करना शक्य नहीं होगा। अत: संख्या का विशेष रूप से ज्ञान कराने के लिए अल्पबहुत्व का उल्लेख किया है।

इस प्रकार भेद, प्रभेद के विस्तार से सर्व पदार्थों की ज्ञप्ति (अधिगम) के कारणभूत सत् संख्या आदि आठ अनुयोग होते हैं। वे सर्व स्याद्वाद (प्रमाण) और नयात्मक हैं अर्थात् जगत् के सम्पूर्ण अधिगति के (जानने के) उपाय प्रमाण और नय से बहिर्भूत नहीं हैं प्रमाण और नयात्मक ही हैं॥५९॥

सम्पूर्ण वस्तुओं के सत् संख्या आदि अनुयोग को प्राप्त धर्म स्याद्वादात्मक (श्रुतज्ञान) स्वरूप और एकदेश से विवक्षित सत्त्वादि नय स्वरूप है, ऐसी कल्पना करनी चाहिए अत: सत्त्वादि प्रमाण और नयों

सत्त्वेन निश्चिता भावा गम्यंते संख्यया बुधैः। संख्याताः क्षेत्रतो ज्ञेयाः स्पर्शनेन च कालतः ॥ ६० ॥

तथांतराच्च भावेभ्यो ज्ञायंतेल्पबहुत्वतः। क्रमादिति तथैतेषां निर्देशो व्यवतिष्ठते ॥ ६१ ॥

प्रश्नक्रमवशाद्वापि विनेयानामसंशयम्। नोपालंभमवाप्नोति प्रत्युत्तरवचः क्रमः ॥ ६२ ॥

ततो युक्त एव सूत्रे सदादिपाठक्रमः शब्दार्थन्यायाविरोधात्।

सामान्येनाधिगम्यंते विशेषेण च तैर्यथा। जीवादयस्तथा ज्ञेया व्यासेनान्यत्र कीर्तिताः ॥ ६३ ॥

जीवस्तत्र संसारी मुक्तश्च, संसारी स्थावरश्च त्रसश्च, स्थावरः पृथिवीकायिकादिरेकेंद्रियः सूक्ष्मो बादरश्च, सूक्ष्मः पर्याप्तकोपर्याप्तकश्च, तथा बादरोपि, त्रसः पुनर्द्वीन्द्रियादिः पर्याप्तकोऽपर्याप्तकश्चेति सामान्येन विशेषेण

से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार विस्तारपूर्वक प्ररूपित किये गए तत्त्वार्थों के अधिगति के हेतु जानना चाहिए अर्थात् नाम आदि निक्षेप, निर्देश आदि अनुयोग और सत् संख्यादि सर्व वस्तु के जानने के उपाय तथा नैगमादिनय सभी प्रमाण के ही भेद हैं।

'सत्' के द्वारा निश्चित हुए पदार्थ को बुद्धिमान, संख्या के द्वारा जान जाते हैं। संख्या के द्वारा निश्चित पदार्थ क्षेत्र के द्वारा, स्पर्शन के द्वारा, काल के द्वारा तथा अन्तर काल, भाव और अल्पबहुत्व के द्वारा जाने जाते हैं इस प्रकार उक्त क्रम से पदार्थों का निर्णय होता है। विनीत शिष्यों के प्रश्नों के क्रमवश प्रत्युत्तर वचनों का क्रम निःसंशय है अतः सूत्र में कथित सत् आदि अनुयोगों का क्रम किसी भी उलाहने को प्राप्त नहीं होता है॥६०-६१-६२॥

इसलिए सूत्र में शब्द सम्बन्धी और अर्थ सम्बन्धी न्याय के अविरोध होने से सत् संख्या आदि के पढ़ने का क्रम युक्त ही है।

भावार्थ : शब्द शास्त्र की दृष्टि से शिष्यों की व्युत्पत्ति की वृद्धि के लिए तथा शिष्यों के प्रश्नानुसार उत्तर देने के लिए अर्थदृष्टि से सत्संख्यादि का क्रम रखना युक्त ही है।

यहाँ सामान्य और विशेष रूप से जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है। इस ग्रन्थ में संक्षेप से कथन किया है, विस्तार से कथन अन्यत्र (अन्य ग्रन्थों से) जानना चाहिए॥६३॥

इन सात तत्त्वों में जीव संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। संसारी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। स्थावर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक एकेन्द्रिय सूक्ष्म बादर हैं। सूक्ष्म, पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। बादर भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। इस प्रकार सामान्य और विशेष के द्वारा जीव सत्ता रूप से जाने जाते हैं। उसी प्रकार संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन आदि के द्वारा भी जीवादि तत्त्वों का अधिगम होता है। इसी प्रकार अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों का कथन भी सत् संख्या आदि के द्वारा करना चाहिए।

च यथा सत्त्वेनाधिगम्यंते संख्यादिभिश्च तथा संक्षेपेणाजीवादयोपीहैव। व्यासेन तु गत्यादिमार्गणासु सामान्यतो विशेषतश्च जीववदजीवादयोऽन्यत्र कीर्तिता विज्ञातव्या:॥

इत्युद्दिष्टौ त्र्यात्मके मुक्तिमार्गे सम्यग्दृष्टेर्लक्षणोत्पत्तिहेतून्।

तत्त्वन्यासौ गोचरस्याधिगंतुं हेतुर्नानानीतिकश्चानुयोग: ॥१॥

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

विस्तार से गति आदि मार्गणाओं में, मिथ्यादर्शन आदि गुणस्थानों में भी सत् संख्या आदि का निरूपण करना चाहिए। जीव के समान अजीव, आस्रव आदि का कथन अन्य सर्वार्थसिद्धि, गोम्मट्टसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन स्वरूप मोक्षमार्ग का उद्देश (कथन) कर चुकने पर पुन: सम्यग्दर्शन का लक्षण और उसकी उत्पत्ति के कारणों का प्रदर्शन कराने वाले दो सूत्रों का कथन किया। तदनन्तर जीवादि सात तत्त्वों का और निक्षेपों का कथन सूत्र में किया। उसके पश्चात् रत्नत्रय के विषय को समझाने के वा जानने के कारणभूत और लौकिक शास्त्रीय अनेक नीतियों से युक्त यह अनुयोग तीन सूत्रों के द्वारा कहा गया है। यह आठ सूत्रों का संक्षिप्त कथन है।

इस प्रकार श्री विद्यानन्द स्वामी विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक ग्रन्थ में प्रथम अध्याय सम्बन्धी दूसरा आह्निक पूर्ण हुआ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत - श्लोकसूची

— द्वितीय खंड —

श्लोक	पृष्ठ सं.
(अ)	
अक्षेणानुगत: शब्दो	८९
अगोनिवृत्तिमप्य	११८
अत्रौपशमिकादीनां	३८१
अर्थग्रहणतोऽनर्थ-	२
अर्थस्वव्यंजकाधीनं	२२
अद्वयस्यापि जीवस्य	५०
अन्तर्दर्शनमोहस्य	३४
अन्ये त्वत्तो न संतीति	५१
अन्यापोहे प्रतीते च	१२४
अन्वयप्रत्ययात्सिद्धं	१३७
अभावस्याविनाभाव-	६८
असद्रूपप्रतीतिर्हि	६६
अस्थिरत्वात्पदार्थानां	३३६
(आ)	
आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी	१३५
आत्मानं संविदन्त्यन्ये	५२
आधाराधेयभावस्य	३३२
आस्रवोऽपि च बंधस्य	३९
आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं	५३
(इ)	
इच्छा श्रद्धानमित्येके	१०
इति प्रपंचत: सर्व-	३८२
इत्येवमाकृतिं शब्द-	११४
इंद्रियाणि च सम्यंचि	२२
(ए)	
एकत्वारोपमात्रेण	१२५
एकत्रार्थे विरोधश्चेत्	१५१
एकस्य भावतोक्षीण-	१५३
एकत्रार्थे हि दृष्टस्य	३७८
एतेन संचिताशेष-	४२
एतेन तद्द्वयस्यैव	११०
एतेल्पे बहवश्चैते-	३८२
एवं प्रयोजनापेक्षा-	४३
एवं पचतिशब्दोधि-	११३
(क)	
कतिधेदमिति प्रश्ने	२८८
कर्मप्राधान्यतस्तत्र	७३
कल्पनारोपितोंशी चेत्	१७०
कल्पने वानवस्थानात्	२१३
कस्य चेत्यनुयोगे स-	२८७

श्लोक	पृष्ठ सं.
क्रमो हेतुविशेषात्स्यात्	४४
क्रमेण यौगपद्याद्वा	२२१
कार्यकारणभावस्या-	३५१
काल एव स चेदिष्टं	३७९
किं तत्त्वं नाम येनार्य-	३८
क्रियावान् पुरुषोऽसर्व-	६०
कुंडलीत्यादयः शब्दा	७३
कुतश्चिद्ग्राहकात्सिद्धः	३४८
क्वान्यथा व्यवतिष्ठंते	३७८
क्वेति पर्यनुयोगे तु	२८८
(क्ष)	
क्षणक्षयादिरूपस्य	२११
क्षणमात्रस्थितिः सिद्धै-	३४१
क्षयोपशममायाति	३५
(ग)	
गणनामात्ररूपेयं	३७२
गत्यादिमार्गणास्थानैः	३५५
गुडशब्दाद्यथा ज्ञाने	१०७
गुणे कर्मणि वा नाम	७३
गुणप्राधान्यतो वृत्तो	७३
गुणे समाश्रितत्वेन	१११
गोत्वरूपात्तदावेशात्	११२
ग्राह्यग्राहकभावादि-	३४८
ग्राह्यग्राहकभावोऽतः	३४८

श्लोक	पृष्ठ सं.
(च)	
चक्षुरादिप्रमाणं चेत्	२१५
चितस्तु भावनेत्रादेः	२१५
(ज)	
जातावेव तु यत्संज्ञा	७३
जातिद्वारेण शब्दो हि	७२
जातिः सर्वस्य शब्दस्य	८५
जातिराकृतिरित्यर्थ	११४
जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु	१२८
जीवो जीवश्च बंधश्च	४०
जीवादीनामिह ज्ञेयं	४३
जीवत्वं तत्त्वमित्यादि	४८
जीव एवात्र तत्त्वार्थ-	४८
जीवाजीवप्रभेदानां	७०
जीवा वा चेतना न स्युः	३७८
ज्ञानादिलक्षणं तस्य	९
ज्ञानावृत्यादिभेदेन	१३६
ज्ञानं मत्यादिभेदेन	२१९
(त)	
ततो नाप्रतिभातेर्थे	३०
तत्संपत्संभवो येषां	३६
तत्त्वं सतश्च सद्भावो	६६
तत्रानध्यवसायस्य	६७

श्लोक	पृष्ठ सं.
तत्र स्याद्वादिनः प्राहुः	१३१
तत्प्रमाणान्नयाच्च स्यात्	२१९
तत्र प्रश्नवशात्कश्चित्	२२१
तत्सत्प्ररूपणं युक्तं	३५२
ततो निर्बाधनादेव	३६८
तथैवेंद्रियसम्यक्त्वात्	२२
तथाचानंतपर्यायं	३८
तथा सति न शब्दानां	७४
तथा ह्यनुमितेरर्थो	८९
तथा च सकलः शाब्द-	१०८
तथा डित्थादि शब्दाश्च	११४
तथा स्याद्वादसंबंधो	३०६
तथांतराच्च भावेभ्यो	३८३
तदाहंकारसम्यक्त्वात्	१५
तदसत्तस्य जीवादि-	७०
तदप्यसंगतं जाति-	१०८
तदावेशात्तथा तत्र	१११
तदयुक्तमनेकांत-	१४७
तद्भेदश्च पदार्थेभ्यः	१४९
तदा नामादयो न स्युः	१५३
तदुपग्रहहेतुत्वात्	४४
तदेवं मानतः सिद्धै-	३४३
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे	१६९

श्लोक	पृष्ठ सं.
तन्नांशिन्यपि निश्शेष-	१९४
तन्न युक्तं निरंशायाः	२१०
तस्य भावो भवेत्तत्वं	४७
तस्माप्यन्यैरसंवित्तेः	५१
तस्य चेद् दृश्यसामान्यै-	१२५
तस्माज्जीवादिभावानां	३७८
तादात्म्यपरिणामस्य	१९२
तेन नानादिता तस्य	२५
तेनानागतबंधस्य	४२
तेनानिषेधतान्यस्य-	५३
तेन पंचतयी वृत्तिः	७४
तेनेच्छामात्रतंत्रं यत्	१३१
तेषां दर्शनजीवादि-	१४५
तेभ्योपि भेदरूपेण	१४९
तेनेह सूत्रकारस्य	१९९
तैरर्थाधिगमो भेदात्	२८९
त्रिकालगोचराशेष-	१९८
त्रिकालविषयार्थोप-	३७५
(द)	
दृग्मोहस्तु क्वचिज्जातु	३५
द्रव्यादिषट्पदार्थानां	६८
द्रव्यांतरमुखे तु स्यात्	७३
द्रव्यमेव पदार्थोस्तु	९३

श्लोक	पृष्ठ सं.
द्रव्यपर्यायतो वाच्यो	१४६
द्रव्यार्थिकनयात्तावत्	१४७
द्रव्यत: क्षेत्रत: काल-	३०८
द्रव्यतोऽनादिपर्यंते	३७६
(ध)	
धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं	६५
धर्मिधर्मसमूहस्य	१९४
(न)	
न कश्चित्कस्यचित्स्वामी	३०५
न किंचित्केनचिद्वस्तु	३२०
न कायादिक्रियारूपो	६०
न च प्रधानधर्मत्वं	२२
न च तत्त्वांतराभाव:	६६
न श्रद्धत्ते प्रधानं वा	२२
न सम्यग्दर्शनं नित्यं	२३
न जीवा बहव: संति	४९
नन्वेवं सप्ततत्त्वार्थ-	६९
नन्वनाहितनाम्नोपि	१३३
नन्वनंत: पदार्थानां	१४६
ननु न्यास: पदार्थानां	१४७
ननु नामादय: केन्ये	१४९
न क्रियामात्रकं कालो	३७६
न चापेक्षिकता व्याप्ता	३५७
न खादिभिरनेकांत:	३७१
नाम्नो वक्तुरभिप्रायो	७२
नामोक्तं स्थापनाद्रव्यं	१४३
नामेंद्रादि: पृथक्तावत्	१४९
नामादेरविभिन्नश्चेत्	१५२
नायं वस्तु न चावस्तु	१६८
नान्योनुभाव्यो बुध्यास्ति	१८५
नात्र संवेदनं किंचित्	१९२
नाप्रमाणं प्रमाणं वा	१९५
नाशेषवस्तुनिर्णीति:	१९६
नायं दोषस्ततो नैव	२१३
नानवस्था प्रसंगोत्र	३३४
नास्तित्वैकांतविच्छित्यै	३४६
नांशेभ्योऽर्थान्तरं कश्चित्	१६९
निर्देशाल्पबहुत्वादि	१२
निसर्गादिति निर्देशो	२७
निर्हेतुकस्य नाशस्य	४२
निश्शेषदेशकालार्था-	१९७
निर्देश्याद्यैश्च कर्तव्यो-	२८७
निश्शेषधर्मनैरात्म्यं	३०२
नित्यसर्वगतात्मेष्टौ	३३२
निरन्वयक्षयैकांते	३३६
निर्देशवचनादेतत्	३५३

श्लोक	पृष्ठ सं.
निवासलक्षणं क्षेत्रं	३७३
नीरूपेषु शशाश्वादि-	३५७
नैकत्वाध्यवसायोपि	१२५
नैतत्सन्नामसामान्य-	१३४
नो आगमपुनस्त्रेधा	१३५
नोआगम: पुनर्भावो	१४१
(प)	
परतो ग्रहणे तस्य	३४८
परार्था जीवसिद्धिर्हि	४९
पर्यायार्थनयाद्भेदे	१४८
परार्थं निर्णयोपायो	५५
पर्यायार्थार्पणाद्भेदो	२१७
परोक्षाकारतावृत्ते:	१९८
परत्वमपरत्वं च	३७७
परापरादिकालस्य	३७७
पापापायाद् भवत्येष	३४
पारम्पर्येण चेच्छब्दात्	१०९
पुण्यपापपदार्थौ तु	४०
पुद्गलद्रव्यमाहार-	१३६
प्रधानस्य विवर्तोयं	२१
प्रधानस्यैव सम्यक्त्वात्	२१
प्रतिपक्षविशेषोऽपि	३५
प्रमाणादय एव स्यु:	६७
प्रमाणविधिसामर्थ्यात्	६८
प्रमाणवृत्तिहेतुत्वात्	६८
प्रतीतया पुनर्जात्या	१०८
प्रमाणं च नयाश्चेति	१६७
प्रमाणं सकलादेशि	१६७
प्रत्यासन्नेष्वयुक्तेषु	१८१
प्रमाणेन गृहीतस्य	१९६
प्रमाणेन नयैश्चापि	१९९
प्रतिकर्म व्यवस्थान-	२११
प्रमाणं योग्यतामात्रात्	२१२
प्रतिक्षणविनाशादि	३६१
प्रमाणगोचरस्यास्य	३७३
प्रत्येकं संख्यया पूर्वं	३८२
प्रश्नक्रमवशाद्वापि	३८३
(ब)	
बहि: कारणसाकल्ये	३४
बंधहेतुनिरोधश्च	३९
बंधो मोक्षस्तयोर्हेतू	४१
बंधश्चास्रवकार्यत्वात्	४४
बंध: पुंधर्मतां धत्ते	६४
बाध्यबाधक भावस्या-	३५०
बाह्येंद्रिय परिच्छेद्य:	५७

श्लोक	पृष्ठ सं.
(भ)	
भावस्य तद्वतो भेदात्-	४७
भावांशोसत्सदाभाव-	६६
भावा येन निरूप्यंते	२९४
भाविनोआगमद्रव्यं	१३६
भ्रांतिरिंद्रियजेयं चेत्	१८१
भिन्नाभिन्नो विरोधश्चेत्	१५२
भिन्न एवेति चायुक्त	२१५
भेदप्रभेदरूपेणा	१४८
भेदे नामादितस्तस्य	१४७
भेदैकांते पुनर्न स्यात्	२१७
(म)	
मनः सम्यक्त्वतः सम्यक्	२१
मध्यमोक्त्यापि तद्व्यादि-	३८
मतेरवधितो वापि	१९७
मोहारेकाविपर्यास-	८
मोक्षस्तावद्विनेयेन	३९
मोक्षसंपादिके चोक्ते	४२
मोक्षादिसाधनाभ्यासा-	३३१
(य)	
यत्त्वेनावस्थितो भावः	७
यतश्चानागताद्यौघ-	४२

श्लोक	पृष्ठ सं.
यत्र शब्दात्प्रतीतिः स्यात्	९१
यत्स्वतोऽभिमुखं वस्तु	१३४
यत्किमित्यनुयोगेर्थ-	२८७
यत्तदेकमनेकं च	२९४
यन्न प्रकाशसामान्यं	१९२
यत्रैकत्वं कथं तत्र	३६२
यथा पावकशब्दस्य	९
यथैव मम संवित्ति-	५१
यथैव च ममाध्यक्षं	५४
यथा हि सति सत्त्वेन	६६
यथा जात्यादयो द्रव्ये	७४
यथांशिनि प्रवर्त्तस्य	१९३
यथा चैकक्षणस्थायी	३४०
यथागममुदाहार्या	३४४
यथाप्रतीति भावानां	३७७
यद्यस्पष्टावभासित्वात्	९०
यदि गौरित्ययं शब्दो	११८
युगपन्न विशेष्यंते	३७१
येनैवार्थो मया ज्ञातः	२१७
येनैकत्वं स्वरूपेण	३६३
योपि ब्रूते पृथिव्यादिः	५८
(र)	
राज्ञः सति कुरुक्षेत्रे	३७३

श्लोक	पृष्ठ सं.
(ल)	
लक्षणस्य ततो नाति-	३
लोहिताकृतिमाचष्टे	१११
लोहितप्रत्ययं रक्त-	११२
(व)	
वक्तुरिच्छां विधत्तेऽसौ	११९
वस्तुनः कृतसंज्ञस्य	१३२
वस्तुन्येकत्र दृष्टस्य	३६३
वाक्येऽवधारणं तावत्	२४१
वांछितार्थप्रवृत्यादि	९३
वाच्यवाचकताप्येवं	३५१
वासनामात्रहेतुश्चेत्	३५६
विना परोपदेशेन-	३०
विधात्रहं सदैवान्य-	५५
विकल्प्यदृश्यसामान्यै-	१२५
विना हेतुविशेषेण	२१०
विश्वमेकं सदाकारा-	३४१
विशेषणविशेष्यत्वं	३७१
विज्ञानप्रचयोप्येऽष	१८२
व्यभिचारविनिर्मुक्तेः	५०
व्यक्तिसामान्यतो व्यक्ति	९१
व्यक्तावेकत्र शब्देन	१०७
व्यक्तेः प्रख्यापकांश्चान्यान्	१३१

श्लोक	पृष्ठ सं.
व्यक्त्यात्मनानुभावस्य	३६५
व्यापकं पचिसामान्यं	११३
व्योमवत्सर्वभावानां	३३५
(श)	
शब्देन लक्षिता जातिः	८८
शब्दप्रतीतया जात्या	९१
शरीरवाङ्मनःप्राणा-	३७८
(स)	
सम्यक्शब्दे प्रशंसार्थे	१
सरागे वीतरागे च	१४
स च द्रव्यं भवेत्क्षेत्रं	३६
सम्यग्दर्शनशक्तेर्हि	३७
सप्त जीवादयस्तत्त्वं	३८
सत्यं किंत्वास्रवस्यैव	४१
सत्त्वेन निश्चिता भावा	३८३
सन्नप्यसौ भवत्येव	४२
सदादिभिः प्रपंचेन	३४६
सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि	२५४
सदाकाराविशेषस्य	३४१
सन्मात्रापह्नवे संवित्	३४७
सर्वथैवाफलत्वाच्च	३५१
सर्वथैवासतां नास्ति	३६४
सर्वं सर्वात्मकं सिध्येत्	३६५

श्लोक	पृष्ठ सं.
समवायवशादेवं	३६९
समवायो न संख्यादि	३७०
सन्नप्ययं ततस्तावत्	३७२
संचितस्य स्वयं नाशात्	४२
संवरे सति संभूते:	४४
संति सत्यास्ततो नाना-	५५
संवरो जीवधर्म: स्यात्	६५
संशीतिवत्प्रमेयांत-	६७
संशयस्य तदात्रैव	६८
संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव	७१
संयोगिद्रव्यशब्द: स्यात्	७३
संयोगबलतश्चैवं	७४
संविच्चेत्संविदेवेति	३३१
संख्या संख्यावतो भिन्ना	३५५
सामर्थ्यादादिसूत्रे तत्	९
सादरानुग्रहाकांक्षा	१३३
सांप्रतो वस्तुपर्यायो	१४१
सारूप्यस्य प्रमाणस्य	२०९
सा चैकत्वादिसंख्येयं	३६१
सा नैव तत्त्वतो येषां	३६८
सामीप्यादिपरित्यागात्	३७५
सामान्येनाधिगम्यन्ते	३८३

श्लोक	पृष्ठ सं.
सिद्धं भावमपेक्ष्यैव	१३४
स्थितिमत्सु पदार्थेषु	३७६
सूत्रकारोत्र तत्त्वार्थ-	१
सूत्रेवधारणाभावात्	६८
सूत्रे नामादिनिक्षिप्त-	१६५
सोपि तद्भिन्नरूप	३७२
सोयमित्यवसायस्य	१३३
सोप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञै:	२६१
स्याद्वादाश्रयणे युक्तं	२१६
स्यान्नास्त्येव विपर्यासात्	२२१
स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति	२२१
स्याच्छब्दादप्यनेकांत-	२६०
स्याद्वादविद्विषामेव	३६३
स्वतस्तत्त्वं तथात्वे च	३७७
स्वहेतोर्जायमानस्य	३७९
स्वसंवेदनमेवैकं	१८२
स्वरूपेपि च सारूप्यात्	२१२
स्वांशेषु नांशिनो वृत्तौ	१९२
स्वार्थनिश्चायकत्वेन	१६८
स्फुटं द्रव्यगुणादीनां	३३२
(ह)	
हानादिवेदनं भिन्नं	२१६

卐卐卐